हरिवंश कोछड़

अपभ्रंश-साहित्य

भारती साहित्य मंदिर, दिल्ली

अपभ्रंश - साहित्य

अनुसन्धान परिषद् का आठवाँ ग्रन्थ

अपभ्रंश-साहित्य

(दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत निबन्ध)

प्रो० हरिवंश कोछड़,
एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत),
पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गवर्नमैण्ट कॉलेज, नैनीताल

हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
की ओर से
भारती साहित्य मन्दिर
फव्वारा - दिल्ली
द्वारा प्रकाशित

एस० चंद एंड कंपनी

आसफ अली रोड — नई दिल्ली
फव्वारा — दिल्ली
माई हीरां गेट — जलंधर
लालबाग — लखनऊ

मूल्य १०)

गौरीशंकर शर्मा, भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली–६ द्वारा प्रकाशित एवं
सुरेन्द्र प्रिंटर्स प्राइवेट लि०, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

हमारी योजना

'अपभ्रंश साहित्य' हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला का आठवाँ ग्रंथ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय की संस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—हिन्दी वाङ्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रंथ दो प्रकार के ह—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया ह; दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथ हैं—'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' तथा 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित'। इस वर्ग का आगामी प्रकाशन विस्तृत सैद्धान्तिक भूमिका-युक्त 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' प्रेस में है। 'अनुसन्धान का स्वरूप' पुस्तक में अनुसन्धान के स्वरूप पर मान्य आचार्यों के निवन्ध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथ हैं:—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (२) हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास (३) सूफीमत और हिन्दी-साहित्य। इसी वर्ग का यह चौथा प्रकाशन 'अपभ्रंश साहित्य' आपके सामने प्रस्तुत है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें दिल्ली की कई प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थाओं से सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा ह। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र

अध्यक्ष,
हिन्दी अनुसन्धान परिषद्,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली—७

आमुख

डा० हरिवंश कोछड़ की शिक्षा प्रथम गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) में हुई। उसके उपरान्त इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की बी० ए० की उपाधि सम्मानपूर्वक प्राप्त की। एम० ए० की पढ़ाई के लिए आप प्रयाग आए और १९३५ में संस्कृत विषय लेकर यह उपाधि भी आपने प्रथम श्रेणी में ली। उसके बाद प्रयाग, गोरखपुर, दिल्ली और नैनीताल में आप अध्यापन-कार्य करते रहे हैं। आपने हिन्दी में भी कई वर्ष पहले एम० ए० कर लिया था।

डा. कोछड़ स्वभाव से मृदु, मितभाषी और विनयशील हैं। भारतीय संस्कृति के 'सभेय युवा' का आदर्श आप में घटित होता है। अध्यापक को सदा अध्ययनशील होना चाहिए इस ध्येय को आपन अपन सामने रक्खा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को आपने दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए निबन्ध स्वरूप लिखा था। आपके परीक्षकों ने इसकी प्रशंसा की थी। प्रसन्नता की बात है कि यह प्रकाशित हो रहा है।

इस ग्रन्थ में अपभ्रंश भाषा और साहित्य का विशद वर्णन किया गया है। भाषा-सम्बन्धी सामग्री अन्यत्र भी सुलभ है पर साहित्य-सम्बन्धी सामग्री अब भी अधिकांश में बिखरी हुई और दुष्प्राप्य ह। इस ग्रन्थ के पढ़ने से पाठक को मालूम होगा कि यह साहित्य भारतीय परम्परा की एक ऐसी कड़ी है जिसको पकड़े बिना वर्तमान आर्य-भाषाओं का साहित्य ठीक स्वरूप में नहीं समझा जा सकता। इसके अतिरिक्त इस साहित्य में उच्च वर्ग का उतना चित्रण नहीं है जितना मध्यम श्रेणी के लोगों का। एक प्रकार से यह भी कह सकते हैं कि यह अपने समय के समाज का सच्चा चित्र ह। इस कारण इसका विवेचन उपादेय था।

लेखक ने आवश्यक परिशिष्ट देकर इसको और भी उपयोगी बना दिया ह। विश्वास है कि विद्वत्समाज इस ग्रन्थ-रत्न का आदर करेगा। शुभं भूयात्।

बाबूराम सक्सेना
अध्यक्ष
संस्कृत-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्य के अध्ययन के साथ-साथ विदेशी विद्वानों में प्राकृत साहित्य के अध्ययन का भी प्रचलन हुआ। इसी के परिणामस्वरूप विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। वस्तुतः इस साहित्य का श्रीगणश पिशेल और याकोबी जैसे विद्वानों से ही हुआ। भाषा-विज्ञान तथा साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में अपभ्रंश का प्रवेश १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पूर्व न हो सका।

रिचर्डस् पिशेल ने हेमचन्द्र के शब्दानशासन और अन्य वैयाकरणों के प्राकृत ग्रन्थों के अध्ययन के अनन्तर 'ग्रमेटिक डेयर प्राकृत स्प्राखन' नामक ग्रन्थ सन् १९०० में प्रकाशित कराया। इसके थोड़े समय बाद ही पिशल ने उस समय तक उपलव्ध सम्पूर्ण अपभ्रंश सामग्री को एकत्र कर 'मेटिरिएलिन त्सुर केंटनिस डेस अपभ्रंश' नामक ग्रन्थ सन् १९०२ में वर्लिन से प्रकाशित कराया। पिशल के समान हेरमन याकोबी न भी अनेक प्राकृत कथाओं का संग्रह और अनेक प्राकृत ग्रन्थों का सम्पादन कर उनका प्रकाशन कराया।

उपरिलिखित विद्वानों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अनेक भारतीय और अन्य विदेशी विद्वानों का ध्यान भी अपभ्रंश की ओर आकृष्ट हुआ। प्रो. पिशेल के व्याकरण ग्रन्थ के विद्वानों के समक्ष आने पर अन्य व्याकरण ग्रन्थों का सम्पादन भी आरम्भ हुआ। श्री चन्द्र मोहन घोष ने सन् १९०२ में 'प्राकृत पैंगलम्' और देवकरण मूलचन्द ने सन् १९१२ में हेमचन्द्र के 'छन्दोऽनुशासन' का सम्पादन किया। इन ग्रन्थों के प्रकाश में आने पर अन्य अपभ्रंश ग्रन्थों की खोज और सम्पादन भी आरम्भ हुआ। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने १९१६ ई० में बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता से 'बौद्धगान ओ दोहा' नाम से बौद्ध सिद्धों के अपभ्रंश दोहों और गानों का बंगला अक्षरों में प्रकाशन कराया। सन् १९१८ में डा० याकोबी ने धनपाल की 'भविसयत्त कहा' का म्यूनिख 'जर्मनी' से प्रकाशन कराया। भूमिका और अनुवाद जर्मन भाषा में हैं। सन् १९२१ में इसी विद्वान् ने हरिभद्र सूरि के नेमिनाथ चरित्र के एक अंश सनत्कुमार चरित को, जो अपभ्रंश भाषा में है, मुंशेन 'जर्मनी' से प्रकाशित किया। इसकी भी भूमिका, अनुवाद और टिप्पणी जर्मन भाषा में है। दोनों ग्रन्थों की भूमिका बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण और उपादेय ह। सन् १९१४ म बड़ौदा के महाराज सर सयाजी गायकवाड़ के आदेश से श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण (पत्तन) के जन ग्रंथ भंडार की पुस्तकों की छानबीन करके कुछ अपभ्रंश ग्रंथों का पता लगाया। श्री दलाल ने जैन भंडारों में हस्तलिखित अपभ्रंश ग्रंथों की खोज से प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर 'भविसयत्त कहा' का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित करना प्रारम्भ भी किया किन्तु बीच में ही उनके स्वर्गवास हो जाने पर डा० पांडुरंग दामोदर गणे ने उसे सन् १९२३ में पूरा कर प्रकाशित किया। इस ग्रंथ की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भूमिका में

लेखक ने अपभ्रंश-साहित्य, अपभ्रंश साहित्य का इतिहास, अपभ्रंश काल, व्याकरण, छन्द एवं उसका आभीर-जाति से सम्बन्धादि विषयों पर भी प्रकाश डाला। इस विद्वत्तापूर्ण भूमिका द्वारा डा० गुणे ने अपभ्रंश के भावी विद्वानों के लिए अपभ्रंश के अध्ययन का मार्ग सुप्रशस्त कर दिया। इसके बाद इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के तत्कालीन रिसर्च स्कालर श्री हीरालाल जैन ने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ भाग १, सन् १९२५ में 'अपभ्रंश लिटरेचर' नामक लेख द्वारा अनेक अपभ्रंश ग्रन्थों की सूचना दी। सन् १९२६ में रा० ब० हीरालाल ने 'कटलोग आफ संस्कृत एंड प्राकृत मैनस्क्रिप्ट्स इन दि सी. पी. एंड वरार', नागपुर से प्रकाशित करवाया जिससे कुछ और अपभ्रंश ग्रन्थ और उनके कवि प्रकाश में आये। सन् १९२७ में श्री एल० बी० गांधी ने 'अपभ्रंश काव्यत्रयी' तथा 'प्राचीन गर्जर काव्य-संग्रह' का सम्पादन कर प्रकाशन करवाया। इस से कतिपय अन्य अपभ्रंश कवि और उनकी रचनाओं का परिचय मिला। सन् १९२८ में डा० पी० एल० वैद्य ने 'हेमचन्द्र-प्राकृत व्याकरण' का सम्पादन किया, जिससे अपभ्रंश के अध्ययन म और सहायता मिली।

इस समय तक भारतीय विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश की तरफ आकृष्ट हो चका था। डा० बाबूराम सक्सेना न विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' का सम्पादन कर नागरी प्रचारिणी सभा काशी से सन् १९२९ में उसे प्रकाशित कराया। डा० हीरालाल जन ने 'सावयधम्म दोहा' (सन् १९३२), 'पाहुड दोहा' (सन् १९३३), 'णाय कुमार चरिउ' (१९३३), 'करकंड चरिउ' (१९३४) आदि ग्रंथों का सम्पादन कर प्रकाशन कराया। डा० परशराम वैद्य ने पुष्पदन्त के 'जसहर चरिउ' का (सन् १९३१) में और 'महा-पुराण' के तीन भागों का (सन् १९३७, १९४० और १९४१ में) सम्पादन किया। डा० आ० नें० उपाध्ये ने सन् १९३७ में 'परमात्म प्रकाश' और 'योगसार' का प्रकाशन कराया। महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री के बाद डा० शहीदुल्ला ने पेरिस से सन् १९२८ में और डा० प्रबोधचन्द्र वागची न सन् १९३८ में कलकत्ता से कुछ सिद्धों के दोहे और गान प्रकाशित कराये। श्री राहुल सांकृत्यायन ने सिद्धों की रचनाओं के विषय में तिब्बती ग्रन्थों के आधार पर, पहले गंगा पुरातत्वांक द्वारा और पीछे से पुरातत्व निवन्धावली (सन् १९३७) में 'हिन्दी के प्राचीनतम कवि' नामक लेख द्वारा विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

उपरिनिर्दिष्ट विद्वानों के अतिरिक्त लुडविग आल्सडर्फ, श्री मुनि जिन विजय, श्री भायाणी' डा० हरि दामोदर वेलणकर प्रभृति विद्वान् अब भी अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अध्ययन में संलग्न ह और अनेक विद्वानों के लेख समय-समय पर अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते ह। सन् १९५० में श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने जयपुर से आमेर शास्त्र भंडार के अनेक हस्तलिखित संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ग्रंथों की प्रशस्तियों का संग्रह प्रकाशित किया। इससे अनेक अपभ्रंश कवियों और उनके ग्रंथों पर प्रकाश पड़ा।

अपभ्रंश की ओर विद्वानों का ध्यान सर्वप्रथम भाषा विज्ञान के कारण गया। तदनंतर

विद्वान् इसके साहित्य की ओर भी आकृष्ट हुए। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका नवीन संस्करण भाग २ में कई वर्ष पूर्व 'पुरानी हिन्दी' नाम का एक प्रबन्ध लिखा था। इसम उन्होंने प्राचीन भारतीय आर्य-भाषाओं के प्रवाह-क्रम में अपभ्रंश का महत्त्व दिखाया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के नाम से कुछ कवियों और ग्रंथों का निर्देश किया। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सन् १९४० में अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक पुस्तक में भारतीय भाषा, साहित्य और विचारधारा के पूर्वापर विकास में अपभ्रंश के महत्त्व की ओर निर्देश किया।

अपभ्रंश का इतना महत्त्व होते हुए भी अभी तक कोई इस साहित्य का विकासात्मक ग्रंथ या इतिहास प्रकाशित न हो सका। पं० नाथूराम प्रेमी ने 'जैन साहित्य और इतिहास' सन् १९४२ में प्रकाशित कराया था। उसमें अनेक संस्कृत, प्राकृत-अपभ्रंश के जन लेखकों का परिचय मिलता है। श्री राहुल जी ने सन् १९४५ में प्रयाग से 'हिन्दी काव्य-धारा' का प्रकाशन करवाकर अनेक अपभ्रंश कवियों की रचनाओं का संग्रह प्रस्तुत किया। सन् १९४७ में श्री कामताप्रसाद जैन ने 'हिन्दी जन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' लिखा। इसम लेखक ने अपभ्रंश काल से लेकर १९ वीं सदी तक जैन धर्मानुयायी विद्वानों की हिन्दी साहित्य सम्बन्धी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दिया है। सन् १९५१ में डा० रामसिंह तोमर ने 'प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और उसका हिन्दी पर प्रभाव' नामक निबन्ध लिखा। यह निबन्ध अतीव परिश्रम और योग्यता से लिखा गया है किन्तु अभी तक अप्रकाशित हैं। सन् १९५२ म बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वावधान में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने महत्त्वपूर्ण भाषणों में अपभ्रंशकाल के कवियों पर यथेष्ट प्रकाश डाला।

यद्यपि अनेक विद्वानों ने अपभ्रंश-साहित्य के अध्ययन को अत्यन्त आवश्यक वताया है तथापि अभी तक एतद्विषयक कोई ग्रंथ प्राप्य नहीं। हिन्दी ही नहीं अपितु अन्य प्रांतीय भाषाओं के विकास के लिए भी अपभ्रंश साहित्य का ज्ञान अतीव आवश्यक है। अपभ्रंश के इस महत्त्व को समझते हुए और एतद्विषयक ग्रंथ के अभाव का अनुभव करते हुए मैंने इस विषय पर कुछ लिखने का प्रयास किया ह।

इस निबन्ध में अपभ्रंश-साहित्य का अध्ययन विशेषतः साहित्यिक दृष्टि से किया गया है। अद्यावधि प्रकाश में आए हुए अपभ्रंश-साहित्य के अनेक ग्रंथों का चाहे साहित्यिक दृष्टि से कोई महत्त्व न हो किन्तु भाषा-विकास की दृष्टि से इनकी उपादेयता कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अपभ्रंश-साहित्य का महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक काव्यों की दृष्टि से वर्गीकरण करते हुए संक्षेप में उसकी संस्कृत और प्राकृत से तुलना करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश ने कौन सी प्रवृत्तियाँ प्राचीन परम्परा से प्राप्त कीं और कौन सी स्वतंत्र रूप से स्वयं विकसित कीं, इसको समझने का प्रयास किया गया है। इतना ही नहीं अपभ्रंश की किन प्रवृत्तियों ने हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया इसकी ओर भी संक्षेप में निर्देश किया गया है।

अपभ्रंश के अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं; अनक अभी तक हस्तलिखित प्रतियों के रूप में अप्रकाशित पड़ हैं। कितने ही ग्रंथ जैन भण्डारों में अभी तक लुप्त पड़े हैं। इस सारे साहित्य का गंभीर और विवेचनात्मक अध्ययन अद्यावधि संभव नहीं। इस निबन्ध में अपभ्रंश के प्रकाशित तथा अप्रकाशित मूल ग्रंथों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही प्रकाशित और अप्रकाशित प्राप्य अपभ्रंश-ग्रंथों का साहित्यिक दृष्टि से वर्गीकरण किया गया ह। इस सामग्री के अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित परिणामों की ओर संकेत मिलता है —

१. संस्कृत और प्राकृत काव्यों का वर्णनीय विषय सामान्यतः राम कथा, कृष्ण कथा, प्राचीन उपाख्यान, धार्मिक महापुरुष, प्रसिद्ध राजा आदि से संबद्ध कोई विषय होता था, परन्तु अपभ्रंश में इन सबके साथ-साथ सामान्यवर्ग के पुरुषों को भी काव्य में नायक बनाया गया। इसके अतिरिक्त अपभ्रंश-साहित्य में जन-धर्म सम्बन्धी कथानकों का वर्णन विपुल मात्रा में पाया जाता ह।

२. प्रबन्ध काव्यों में चरित नायक के वर्णन के साथ-साथ जिन अन्य दृश्यों के वर्णन की परम्परा अभी तक चली आ रही थी उनको मानव-जीवन के दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न अपभ्रंश काव्यों से हुआ। यद्यपि प्राकृत में ही इस प्रवृत्ति के बीज विद्यमान थ किन्तु उसका विकास अपभ्रंश साहित्य में ही हुआ।

३. अपभ्रंश के अधिकांश काव्यों में शृंगार और वीररस से परिपोषित निर्वेदभाव या शान्त रस की ही प्रधानता है।

४. अपभ्रंश साहित्य में तीन धाराएँ बहती हुई प्रतीत होती हैं—प्रथम रूढ़िवादी कवि जिनकी संख्या अल्प ह, द्वितीय क्रांतिवादी—जो बहुसंख्यक ह और तृतीय मिश्रित—जिनकी संख्या रूढ़िवादियों से कुछ अधिक है।

५. लौकिक जीवन और ग्राम्य जीवन से संबद्ध वर्णनों का प्रभाव अपभ्रंश की मुक्तक काव्य शली में अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है।

६. प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में या अलंकार-विधान में लौकिक जीवन से संबद्ध उपमानों का प्रयोग अपभ्रंश कवियों की विशेषता थी।

७. अपभ्रंश में अनेक नये छन्दों का प्रादुर्भाव हुआ जिनका संस्कृत में अभाव है

८. छन्दों के समान नवीन अलंकारों को भी अपभ्रंश न जन्म दिया। अपभ्रंश विषयक अलंकार ग्रंथों के अभाव से यद्यपि उन अलंकारों का नामकरण भी न हो सका तथापि इस प्रकार के कुछ अलंकारों का प्रयोग हिन्दी में भी पाया जाता है।

९. हिन्दी छन्दों में मात्रिक छन्दों की अधिकता और उनमें अन्त्यानुप्रास का प्रयोग अपभ्रंश से ही आया। हिन्दी के अनक मात्रिक छन्द अपभ्रंश से ही विकसित हुए।

१०. हिन्दी के भिन्न-भिन्न काव्य-रूपों, काव्य-पद्धतियों और काव्य-शैलियों को अपभ्रंश ने प्रभावित किया।

११. हिन्दी कवियों की विचारधारा पर भी अपभ्रंश कवियों का प्रभाव पड़ा।

१२. भरत खंड में चिरकाल से भारतीय साहित्य की धारा अविच्छिन्न गति से

प्रवाहित होती चली आ रही है। वह धारा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के अनन्तर आज हिन्दी-साहित्य के रूप में हमें दिखाई देती है।

अपभ्रंश ग्रंथों के अध्ययन के लिए मुझे भारतीय विद्या भवन बम्बई, बम्बई म्यूज़ियम, आमेर शास्त्र भंडार, श्री वीर सेवा मंदिर सरसावा तथा अन्य जैन भंडारों में जाने का अवसर मिला। इन स्थानों के संचालकों ने जिस सौजन्य का परिचय दिया उसके लिए मैं उनका सदा कृतज्ञ रहूँगा। मैं श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री परमानन्द जैन और श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल का विशेष रूप से अनुग्रहीत हूँ जिन्होंने समय-समय पर हस्तलिखित ग्रंथों को जुटाने का प्रयत्न किया।

सौभाग्य से दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष, महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री के निरीक्षण म दीर्घकाल तक इस विषय पर निरन्तर कार्य करने का मुझे अवसर प्राप्त हुआ। उनकी सहायता, सतत प्रेरणा और सत्परामर्शों के फलस्वरूप ही यह निबन्ध प्रस्तुत हो सका। उनका आशीर्वाद और वरद हस्त मुझ पर सदा ही बना रहा किन्तु जिस परिश्रम और लगन से इस कार्य में उनका सहयोग मिला है उसके लिए मैं उनका सदा कृतज्ञ और ऋणी रहूंगा।

जो निबन्ध दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया था उसी को यत्र-तत्र संशोधित कर अब प्रकाशित कराया जा रहा है। इस अवधि में जो भी हस्तलिखित ग्रंथ एवं नवीन सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उसका भी यथास्थान उपयोग किया गया है। एतदर्थ जिन विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ है—जिन लेखकों और ग्रंथकारों के लेखों एवं ग्रंथों का उपयोग किया गया है—उन सब का मैं हृदय से आभारी हूँ।

मैं श्रद्धेय गुरुवर डा० बाबूराम सक्सेना का परम अनुग्रहीत हूँ जिन्होंने अत्यन्त कार्यव्यस्त रहते हुए भी इस ग्रंथ का आमुख लिखने की कृपा की। डाक्टर साहब न ग्रंथ को आद्योपान्त पढ़कर जो सुझाव दिये उनके अनुसार मूल निबन्ध में परिवर्त्तन और परिवर्धन किया गया है। आचार्य चन्द्रबली पांडे न भी अपना बहुमूल्य समय निकालकर जो सत्परामर्श देने की कृपा की उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार स्वीकार करता हूँ।

यह ग्रंथ दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी-अनुसंधान-परिषद् के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो रहा है, अतः मैं परिषद् के अध्यक्ष डा० नगेन्द्र का अत्यन्त आभारी हूँ। इस के प्रकाशक न बड़े प्रयास के साथ इस ग्रंथ की रूपरेखा को आकर्षक बनाया है अतः मैं उन्हें भी धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। अपभ्रंश-भाषा से अपरिचित होने के कारण प्रूफरीडरों के यथासंभव प्रयत्न करने पर भी ग्रंथ में यत्र-तत्र अशुद्धियाँ रह गई हैं। इसके लिए मैं पाठकों से क्षमा चाहता हूँ।

जन्माष्टमी, संवत् २०१३ विक्रमी

हरिवंश कोछड़

विषय-सूची

* ओ३म् *

पहला अध्याय

अपभ्रंश-विषयक निर्देश

अप्रभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पतंजलि (ई० पू० दूसरी शती) से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है। 'वाक्यपदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्त्ती 'संग्रहकार' व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुए अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है[1]।

अपभ्रंश शब्द का उल्लेख पतंजलि के महाभाष्य में भी मिलता है—

एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद् यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। म. भा. १.१.१.

इन शब्दों में से अनेक शब्द भिन्न-भिन्न प्राकृतों में मिलते हैं। प्राकृत भाषा के व्याकरणकार चंड और हेमचन्द्र ने अपने-अपने व्याकरणों में उक्त रूपों में से कुछ प्राकृत के सामान्य रूप स्वीकार किये हैं। जैसे—

"गोर्गाविः", चंड—प्राकृत लक्षण २. १६

"गोणादयः गोः, गोणी, गावी, गावः, गावीओ", हेमचन्द्र—प्राकृत व्याकरण, ८. २. १७४

इससे प्रतीत होता है कि पतंजलि और उनके पूर्व के आचार्य उन सब शब्दों को अपभ्रंश समझते थे, जो शिष्ट-संमत संस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट होते थे।

भरत अपने नाट्य-शास्त्र में संस्कृत के अनन्तर प्राकृत पाठ्य का निर्देश करते हुए कहते हैं—

---

१. "शब्द संस्कार हीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम्॥

वार्तिक—शब्दप्रकृतिरपभ्रंशः इति संग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंशः स्वतंत्रः कश्चिद्विद्यते। सर्वस्यैव हि साधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृतिः। प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते। तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गाव्यादयस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशाः प्रयुज्यन्ते।"

भर्तृहरि—वाक्यपदीयम्, प्रथमकाण्ड, कारिका १४८, लाहौर संस्करण
सं० पं० चारुदेव शास्त्री

नामवरसिंह—हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५२ ई०, पृ० २-३ से उद्धृत।

एतदेव विपर्यस्तं संस्कारगुणवर्जितम् ।
विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम् ॥
त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः ।
समान शब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च ॥

नाट्य० १७. २-३

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—(१) जिसमें संस्कृत के समान शब्दों का प्रयोग हो, (२) संस्कृत से विकृत शब्दों का प्रयोग हो, और (३) जिसमें देशी भाषा के शब्दों का प्रयोग हो। दूसरे शब्दों में प्राकृत में तीन प्रकार के शब्दों का प्रयोग होता है—तत्सम, विभ्रष्ट या तद्भव और देशी। एवं जिसे पतंजलि ने अपभ्रंश कहा, भरत के अनुसार वही विभ्रष्ट है।

भरत ने नाट्य-शास्त्र में सात भाषाओं का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्त्तिताः ॥

नाट्य० १७. ४९

इन सात भाषाओं के अतिरिक्त उन्होंने कुछ विभाषाओं का भी निर्देश किया है—

शकाराभीर चांडाल शबर द्रमिलान्ध्रजाः ।
(शबराभीर चांडाल सचर द्रविडोद्रजाः)
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ॥

नाट्य० १७. ५०

आगे चलकर इन विभाषाओं का स्थान-निर्देश करते हुए भरत ने बताया है—

हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः ।
उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥

नाट्य० १७. ६२

उत्तरकालीन लेखकों ने अपभ्रंश को उकार-बहुला माना है, अतः भरत के उपरिलिखित निर्देश से स्पष्ट होता है कि उनके समय यद्यपि अपभ्रंश नाम की कोई भाषा विकसित न थी, तथापि बीज रूप में वह हिमवत् (हिम-प्रदेश), सिन्धु और सौवीर में वर्तमान थी।

भरत के भाषा-सम्बन्धी निर्देशों से यही प्रतीत होता है कि उनके समय संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत का प्रचार था। प्राकृत को भाषा कहा जाता था और भिन्न-भिन्न देशों के अनुसार उसे सात प्रकार की माना जाता था। इनके अतिरिक्त शकाराभीर आदि कुछ विभाषाएँ भी थीं। अभिनवगुप्त अपनी विवृति में भाषा और विभाषा का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

"भाषा संस्कृतापभ्रंशः, भाषापभ्रंशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनां प्राकृतवासिनां च, एता एव नाट्ये तु।"

भरत नाट्य-शास्त्र, पृ० ३७६

अर्थात् संस्कृत से विकृत या अपभ्रष्ट प्राकृत का नाम भाषा और प्राकृत से विकृत बोली विभाषा कहाती है।

इससे प्रतीत होता है कि ये विभाषाएँ कभी साहित्यिक रूप से प्रचलित न थीं। संभवतः देश के साथ भी इनका सम्बन्ध आरम्भ में न था। अशिक्षित वनवासी आदि ही इनका व्यवहार करते थे।

भामह (६ठी शताब्दी) अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप मानते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा॥

काव्यालंकार, १. १६, २८

दंडी (७ वीं शताब्दी) का विचार है—

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्॥

काव्यादर्श १. ३६

अर्थात् भाषाशास्त्र या व्याकरण में अपभ्रंश का अर्थ है संस्कृत से विकृत रूप। काव्य में आभीरादि की बोलियाँ अपभ्रंश कहलाती हैं। दंडी ने समस्त वाङ्मय को चार भागों में विभक्त किया है—

तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम्॥

काव्या० १. ३२

अपभ्रंश भी वाङ्मय का एक भेद है। इनके समय साहित्यिक नाटकों में निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा ही इसका प्रयोग न होता था अन्यथा वाङ्मय के भेदों में अपभ्रंश की गणना न होती। दंडी ने अपभ्रंश में प्रयुक्त होने वाले ओसरादि कुछ छन्दों या विभागों का भी निर्देश किया है—

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादि यत्।
ओसरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम्॥

काव्या० १. ३७

उपरिलिखित उद्धरणों से प्रतीत होता है कि अपभ्रंश का आभीरों के साथ संबंध बना हुआ था और इसीसे अपभ्रंश 'आभीरोक्ति' या 'आभीरादिगीः' कही गई है। किन्तु आभीरोक्ति होते हुए भी इस समय अपभ्रंश में काव्य रचना होने लग गई थी।

वलभी (सौराष्ट्र) का राजा धरसेन द्वितीय अपने पिता गुहसेन के विषय में कहता है कि वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में प्रबन्ध-रचना में निपुण था।

संस्कृतप्राकृतापभ्रंशभाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्धरचना निपुणतरान्तःकरणः इत्यादि।[1]

वलभी के धरसेन द्वितीय का दानपत्र

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, भाग १०, अक्तू० १८८१, पृ० २८४।

यद्यपि इस शिलालेख का समय दानपत्र में ४०० शक सं० मिलता है किन्तु प्रो० व्यूलर इसको जाली समझते हैं।[1] जाली होते हुए भी उनके विचार में यह दानपत्र शक संवत् ४०० के सौ दो सौ वर्ष बाद लिखा गया।[2] उनके कथनानुसार भी इतना तो निश्चित है कि शक संवत् ६०० या ६७८ ई० तक अपभ्रंश में रचना करना हेय नहीं समझा जाता था।

कुवलयमाला कथा के लेखक उद्योतन सूरि (वि० सं० ८३५) अपभ्रंश को आदर की दृष्टि से देखते हैं और उसके काव्य की प्रशंसा भी करते हैं।[3]

नवीं शताब्दी में रुद्रट अपने काव्यालंकार में काव्य को गद्य और पद्य में विभक्त करने के अनन्तर भाषा के आधार पर उसका छः भाग में विभाजन करते हैं—

भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति।

२. ११

प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः॥

२. १२

इस प्रकार रुद्रट अपभ्रंश को अन्य साहित्यिक प्राकृतों के समान गौरव का पद देते हैं और देश-भेद के कारण विविध अपभ्रंश भाषाओं का उल्लेख करते हैं।

पुष्पदन्त (लगभग १० वीं शताब्दी) ने अपने महापुराण में संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। उस समय संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश का ज्ञान भी राजकुमारियों को कराया जाता था।[4]

प्रायः इसी समय राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में अनेक स्थलों पर अपभ्रंश का निर्देश किया है।[5] अपने पूर्ववर्ती आलंकारिकों की तरह इन्होंने भी संस्कृत, प्राकृत और पैशाची के समान अपभ्रंश भाषा को भी पृथक् साहित्यिक भाषा स्वीकार

---

१. इंडियन एंटिक्वेरी, भाग १०, अक्तूबर १८८१, पृ० २७७।
२. वही पृ० २८२।
३. ता किं अवहंसं होहिइ ? हूं। तं पि णो जेण तं सक्कयपाय-उभय सुद्धासुद्ध पयसम तरंग रंगंत वग्गिरं णव पाउस जलय पवाह पूरपव्वालिय गिरिणइ सरिसं सम विसमं पणय कुविय पियपणइणी समुल्लाव सरिसं मणोहरं। लालचन्द भगवानदास गान्धी—अपभ्रंश काव्यत्रयी, गायकवाड़ सीरीज, सं० ३७, भूमिका पृ० ९७-९८ से उद्धृत।
४. सक्कउ पायउ पुण अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ
महापुराण, ५. १८. ६।
५. काव्यमीमांसा, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, संख्या १, बड़ौदा, १९२४ ई० अध्याय ३, पृ० ६ पर काव्यपुरुष का वर्णन,
अध्याय १०, पृ० ५४-५५, अध्याय ९, पृ० ४८।

किया है। काव्य-पुरुष के शरीर का वर्णन करते हुए राजशेखर कहते हैं—

शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः,
जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्॥

अ. ३, पृ० ६

राजशेखर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के क्षेत्र का निर्देश करते हुए सकल मरु भूः, टक्क और भादानक को अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा का प्रयोग करने वाला क्षेत्र घोषित किया है।[1] एक दूसरे स्थल पर सुराष्ट्र और त्रवण को अपभ्रंश भाषाभाषी कहा है।[2]

नमि साधु (१०६९ ई०) काव्यालंकार २.१२ पर टीका करते हुए काव्यालंकार वृत्ति में लिखते हैं—

तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यावभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। कुतो देशविशेषात्। तस्य च लक्षणं लोकोदेव सम्यगवसेयम्।

नमि साधु अपभ्रंश को एक प्रकार से प्राकृत ही मानते हैं। अपने पूर्वकालिक ग्रंथकारों के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रंश—उपनागर, आभीर और ग्राम्या—का निर्देश करते हुए स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंश के इससे भी अधिक भेद हैं। इनकी दृष्टि में अपभ्रंश को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है, क्योंकि उस समय तक अपभ्रंश लोक भाषा के रूप में प्रचलित हो गई थी।

नमि साधु ने एक और स्थल पर ऐसा उल्लेख किया है—

आभीरी भाषापभ्रंशस्था कथिता क्वचिन्मागध्यामपि दृश्यते।

पृ० १५

इससे प्रतीत होता है कि अपभ्रंश का कोई रूप इस काल में मगध तक फैल गया था और उसी की कोई बोली मगध में भी बोली जाने लगी थी।

इसके अनन्तर मम्मट (११ वीं शताब्दी), वाग्भट (११४० ई०), विष्णुधर्मोत्तर का कर्त्ता, हेमचन्द्र, नाट्यदर्पण में रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र (१२ वीं शताब्दी) और काव्यलता परिमल में अमरचन्द्र (१२५० ई०) सब अपभ्रंश को संस्कृत और प्राकृत की कोटि की साहित्यिक भाषा स्वीकार करते हैं।

वाग्भट अपभ्रंश को देश भाषा कहते हैं—

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।

वाग्भटालंकार, २.३

विष्णुधर्मोत्तर के कर्त्ता की दृष्टि में देशभेदों की अनन्तता के कारण अपभ्रंश भी अनन्त हैं—

---

१. वही, अध्याय १०, पृ० ५१, "सापभ्रंश प्रयोगाः सकल मरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।"

२. वही अध्याय ७, पृ० ३४।

अपभ्रष्टं तृतीयं च तदनन्तं नराधिप ।
देशभाषा विशेषेण तस्यान्तो नेह विद्यते ॥[1]

विष्णु ३. ३.

नाट्य-दर्पण में अपभ्रंश को देशभाषा कहा गया है ।[2]

अमरचन्द्र षड् भाषाओं में अपभ्रंश की भी गणना करते हैं—

संस्कृतं प्राकृतं चैव शोरसेनी च मागधी ।
पैशाचिकी चापभ्रंशं षड् भाषाः परिकीर्त्तिताः ॥

काव्यकल्पलतावृत्ति पृ० ८.

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग यद्यपि महाभाष्य से भी कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है तथापि अपभ्रंश शब्द का व्यवहार भाषा के रूप में कब से प्रयुक्त होने लगा, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । भाषा-शास्त्र के विद्वानों ने अपभ्रंश-साहित्य का आरम्भ ५०० या ६०० ई० से माना है । किन्तु अपभ्रंश भाषा के जो लक्षण वैयाकरणों ने निर्दिष्ट किये हैं उनके कुछ उदाहरण हमें अशोक के शिलालेखों में मिलते हैं । उदाहरण के लिए संयुक्त र और उकारान्त पदों का प्रयोग । इसी प्रकार धम्मपद में भी अनेक शब्दों में अपभ्रंश-रूप दिखाई देते हैं । ललित विस्तर और महायान संप्रदाय के अन्य बौद्ध ग्रंथों की गाथा संस्कृत में भी अपभ्रंश रूप दृष्टिगोचर होते हैं । प्रसिद्ध ऐतिहासिक तारानाथ ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि बौद्धों के सम्मितीय समुदाय के त्रिपिटक के संस्करण पाली, संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी लिखे गये ।

अपभ्रंश विषयक इन भिन्न-भिन्न निर्देशों से निम्न-लिखित परिणाम निकलते हैं—

(क) आरम्भ में अपभ्रंश का अर्थ था, शिष्टेतर या शब्द का बिगड़ा हुआ रूप और यह शब्द अपाणिनीय रूप के लिए प्रयुक्त होता था ।

(ख) भरत के समय में विभ्रष्ट शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था । उस काल में अपभ्रंश बीज रूप से वर्त्तमान थी और इसका प्रयोग शबर, आभीर आदि वनवासियों के द्वारा किया जाता था । साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश का प्रयोग अभी तक आरम्भ नहीं हुआ था ।

(ग) छठी शताब्दी में अपभ्रंश शब्द वैयाकरणों और आलंकारिकों के ग्रंथों में भी प्रयुक्त होने लग गया था और यह शब्द साहित्य की भाषा का सूचक भी बन गया था । उस समय तक अपभ्रँश का स्वतन्त्र साहित्य विकसित हो गया था और भामह तथा दंडी जैसे आलंकारिकों की स्वीकृति प्राप्त कर चुका था । इतना होने पर भी अपभ्रंश का आभीरों के साथ सम्बन्ध अभी तक बना हुआ था ।

(घ) नवीं शताब्दी में अपभ्रंश का आभीर, शबर आदि की ही भाषा माना

---

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका पृ० ९६ ।

२. नाट्य दर्पण, भाग १, गायकवाड़ सिरीज़, संख्या ४८, १९२९ ई०, भाग १, पृ० २०९ ।

जाना बन्द हो गया था। यह सर्वसाधारण की भाषा मानी जाने लगी थी। इस समय तक यह सुराष्ट्र से लेकर मगध तक फैल गई थी। स्थान-भेद से इसमें भिन्नता आ गई थी किन्तु काव्य में आभीरादि की अपभ्रंश का ही प्रयोग होता था।

(ङ) ग्यारहवीं शताब्दी में आलंकारिकों, वैयाकरणों और साहित्यिकों ने स्वीकार किया कि अपभ्रंश एक ही भाषा नहीं अपितु स्थान-भेद से अनेक प्रकार की है। इस समय तक अपभ्रंश व्यापक रूप में प्रयुक्त होने लग गई थी। इसी का एक रूप मगध में भी प्रचलित था। सिद्धों की रचनाओं से इसकी पुष्टि होती है।

दूसरा अध्याय

अपभ्रंश-भाषा का विकास

आर्यभाषा की भिन्न-भिन्न परम्पराओं में भाषा का प्राचीनतम रूप हमें वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद ही सब से प्राचीन ग्रंथ माना गया है। इसमें भी कुछ ऋचायें ऐसी हैं जिनकी भाषा बहुत प्रौढ़ एवं प्रांजल है और कुछ ऐसी हैं जिनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक सरल, अधिक सुबोध और चलती हुई है। जिस वैदिक भाषा में वेद उपलब्ध होते हैं वह उस समय के शिक्षित और शिष्ट लोगों की भाषा थी। उस काल में भी इस साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त एक या अनेक विभाषाओं और बोलियों की कल्पना की गई है।[1] वैदिक भाषा में एक ही शब्द के अनेक रूपों (जैसे गत्वा, गत्वी, गत्वाय) का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने वैदिक काल एवं उससे पूर्व की सभी बोलचाल की भाषाओं—बोलियों—को प्रथम प्राकृत (Primary Prakrits)[2] का नाम दिया है। इन प्रथम प्राकृत श्रेणी की विभाषाओं का काल २००० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक माना गया है। इस काल को प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल कहा जा सकता है। स्वर एवं व्यंजनादि के उच्चारण में तथा विभक्तियों के प्रयोग में इन प्रथम प्राकृत की विभाषाओं में समानता थी। ये विभाषाएँ संयोगात्मक और विभक्तिबहुल कही जाती हैं।

वैदिककालीन विभाषाओं—बोलियों—का धीरे-धीरे विकास होने लगा। आर्यों की भाषा भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेश से धीरे-धीरे पूर्व की ओर फैली। गौतम बुद्ध की उत्पत्ति के समय तक यह भाषा विदेह (उत्तरी बिहार) और मगध (दक्षिणी बिहार) तक फैल गई थी। इस आर्यभाषा का रूप उत्तरी भारत एवं वजीरीस्तान तथा पेशावर प्रदेश, मध्यदेश और पूर्वीय भारत में बुद्ध के समय तक पर्याप्त परिवर्तित हो गया था। इस परिवर्तन के कारण भारत के इन प्रदेशों की भाषा को क्रमशः उदीच्या, मध्यदेशीया और प्राच्या कहा गया।

---

१. मैकडौनल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, १९२८ ई०, पृ० २४; डा० सुनीति कुमार चैटर्जी—इंडो आर्यन एंड हिन्दी, १९४२ ई०, पृ० ४७।

२. ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द १, भाग १, सन् १९२७, पृ० १२१।

उदीच्या (अर्थात् आधुनिक पेशावर प्रदेश और उत्तरीय पंजाब की भाषा) में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। प्राचीन रूढ़ि और आर्यभाषा की परंपरा इस देश में चिरकाल तक प्रचलित रही। ब्राह्मण ग्रंथों में इस प्रदेश की भाषा की उत्कृष्टता और शुद्धता की ओर निर्देश किया गया है। [1]

तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव
यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वा तत आगच्छति तस्य वा
शुश्रूषन्त इति।

शांखायन-कौषीतकी ७. ६.

प्राच्या के बोलने वाले वैदिक मर्यादा का, ब्राह्मणों की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का पालन न करते थे। उन्हें व्रात्य (सावित्रीभ्रष्ट) कहा जाता था। इन लोगों की और इनकी भाषा की निन्दा की गई है। ब्राह्मणों में निर्देश है कि ये लोग कठिन शब्द के न होते हुए भी उसे कठिन समझते थे। अदीक्षित होते हुए भी दीक्षितों की वाणी का प्रयोग करते थे। [2]

अदुरुक्त वाक्यं दुरुक्तमाहु:। अदीक्षिता दीक्षित वाचं
वदन्ति।

ताण्ड्य-पंचविंश ब्राह्मण १७. ४.

इस देश में संभवतः प्राकृत भाषा के वे लक्षण प्रकट हो गये थे जिनके अनुसार संयुक्त व्यंजनों का समीकरण हो जाता है। समस्त शब्दों या संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में भी शिथिलता प्रस्फुटित हो रही थी। प्राच्य देशवासी उदीच्यों के संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण या अन्य ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं से अपने आप को परिचित न कर सके। मध्यदेशीया, उदीच्या और प्राच्या के मध्य का मार्ग था। उदीच्यों के चरम रूढ़िपालन और प्राच्यों के शिथिल उच्चारण के बीच का मार्ग मध्यदेशीया ने अनुसरण किया।

उदीच्या और प्राच्या में व्यंजन समीकरण के अतिरिक्त र और ल के प्रयोग में भी भिन्नता थी। उदीच्या में र के प्रयोग की प्रचुरता थी (जैसे राजा), प्राच्या में र के स्थान पर ल (राजा=लाजा) और मध्यदेशीया में र एवं ल दोनों का प्रयोग था। इस भेद के अतिरिक्त उदीच्या और प्राच्या में एक भिन्नता और विकसित हो गई थी। र और ऋ के बाद दन्त्य व्यंजन के स्थान पर मूर्धन्य व्यंजन के प्रयोग की प्रवृत्ति प्राच्या में परिलक्षित होने लग गई थी। वैदिक भाषा के कृत, अर्थ, अर्ध आदि शब्द प्राच्या में कट, अट्ठ, अड्ढ रूप में प्रयुक्त होने लग गये थे, मध्यदेशीया में कत या कित, अत्थ, अद्ध रूप में और उदीच्या में उसी शुद्ध रूप में। [3] उत्तर भारत में यात्रा के मार्ग ऐसे न थे जिनसे पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम आने-जाने में बाधा

१. इंडो आर्यन एंड हिन्दी, पृ० ५६ तथा वहीं से उद्धृत।
२. वही पृ० ५६।
३. वही पृ० ५७।

दूसरा अध्याय

अपभ्रंश-भाषा का विकास

आर्यभाषा की भिन्न-भिन्न परम्पराओं में भाषा का प्राचीनतम रूप हमें वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद ही सब से प्राचीन ग्रंथ माना गया है। इसमें भी कुछ ऋचायें ऐसी हैं जिनकी भाषा बहुत प्रौढ़ एवं प्रांजल है और कुछ ऐसी हैं जिनकी भाषा अपेक्षाकृत अधिक सरल, अधिक सुबोध और चलती हुई है। जिस वैदिक भाषा में वेद उपलब्ध होते हैं वह उस समय के शिक्षित और शिष्ट लोगों की भाषा थी। उस काल में भी इस साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त एक या अनेक विभाषाओं और बोलियों की कल्पना की गई है।[1] वैदिक भाषा में एक ही शब्द के अनेक रूपों (जैसे गत्वा, गत्वी, गत्वाय) का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने वैदिक काल एवं उससे पूर्व की सभी बोलचाल की भाषाओं—बोलियों—को प्रथम प्राकृत (Primary Prakrits)[2] का नाम दिया है। इन प्रथम प्राकृत श्रेणी की विभाषाओं का काल २००० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक माना गया है। इस काल को प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल कहा जा सकता है। स्वर एवं व्यंजनादि के उच्चारण में तथा विभक्तियों के प्रयोग में इन प्रथम प्राकृत की विभाषाओं में समानता थी। ये विभाषाएँ संयोगात्मक और विभक्तिबहुल कही जाती हैं।

वैदिककालीन विभाषाओं—बोलियों—का धीरे-धीरे विकास होने लगा। आर्यों की भाषा भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेश से धीरे-धीरे पूर्व की ओर फैली। गौतम बुद्ध की उत्पत्ति के समय तक यह भाषा विदेह (उत्तरी विहार) और मगध (दक्षिणी विहार) तक फैल गई थी। इस आर्यभाषा का रूप उत्तरी भारत एवं वजीरीस्तान तथा पेशावर प्रदेश, मध्यदेश और पूर्वीय भारत में बुद्ध के समय तक पर्याप्त परिवर्तित हो गया था। इस परिवर्तन के कारण भारत के इन प्रदेशों की भाषा को क्रमशः उदीच्या, मध्यदेशीया और प्राच्या कहा गया।

---

१. मैकडौनल—हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, १९२८ ई०, पृ० २४; डा० सुनीति कुमार चैटर्जी—इंडो आर्यन एंड हिन्दी, १९४२ ई०, पृ० ४७।

२. ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, जिल्द १, भाग १, सन् १९२७, पृ० १२१।

उदीच्या (अर्थात् आधुनिक पेशावर प्रदेश और उत्तरीय पंजाब की भाषा) में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। प्राचीन रूढ़ि और आर्यभाषा की परंपरा इस देश में चिरकाल तक प्रचलित रही। ब्राह्मण ग्रंथों में इस प्रदेश की भाषा की उत्कृष्टता और शुद्धता की ओर निर्देश किया गया है।[१]

> **तस्मादुदीच्यां प्रज्ञाततरा वागुद्यते। उदञ्च उ एव यन्ति वाचं शिक्षितुम्, यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति।**
>
> शांखायन-कौषीतकी ७. ६.

प्राच्या के बोलने वाले वैदिक मर्यादा का, ब्राह्मणों की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का पालन न करते थे। उन्हें व्रात्य (सावित्रीभ्रष्ट) कहा जाता था। इन लोगों की और इनकी भाषा की निन्दा की गई है। ब्राह्मणों में निर्देश है कि ये लोग कठिन शब्द के न होते हुए भी उसे कठिन समझते थे। अदीक्षित होते हुए भी दीक्षितों की वाणी का प्रयोग करते थे।[२]

> **अदुरुक्त वाक्यं दुरुक्तमाहुः। अदीक्षिता दीक्षित वाचं वदन्ति।**
>
> ताण्ड्य-पंचविंश ब्राह्मण १७. ४.

इस देश में संभवतः प्राकृत भाषा के वे लक्षण प्रकट हो गये थे जिनके अनुसार संयुक्त व्यंजनों का समीकरण हो जाता है। समस्त शब्दों या संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण में भी शिथिलता प्रस्फुटित हो रही थी। प्राच्य देशवासी उदीच्यों के संयुक्त व्यंजनों के उच्चारण या अन्य ध्वनि-सम्बन्धी विशेषताओं से अपने आप को परिचित न कर सके। मध्यदेशीया, उदीच्या और प्राच्या के मध्य का मार्ग था। उदीच्यों के चरम रूढ़िपालन और प्राच्यों के शिथिल उच्चारण के बीच का मार्ग मध्यदेशीया ने अनुसरण किया।

उदीच्या और प्राच्या में व्यंजन समीकरण के अतिरिक्त र और ल के प्रयोग में भी भिन्नता थी। उदीच्या में र के प्रयोग की प्रचुरता थी (जैसे राजा), प्राच्या में र के स्थान पर ल (राजा=लाजा) और मध्यदेशीया में र एवं ल दोनों का प्रयोग था। इस भेद के अतिरिक्त उदीच्या और प्राच्या में एक भिन्नता और विकसित हो गई थी। र और ऋ के बाद दन्त्य व्यंजन के स्थान पर मूर्धन्य व्यंजन के प्रयोग की प्रवृत्ति प्राच्या में परिलक्षित होने लग गई थी। वैदिक भाषा के कृत, अर्थ, अर्ध आदि शब्द प्राच्या में कट, अट्ठ, अड्ढ रूप में प्रयुक्त होने लग गये थे, मध्यदेशीया में कत या कित, अत्थ, अद्ध रूप में और उदीच्या में उसी शुद्ध रूप में।[३] उत्तर भारत में यात्रा के मार्ग ऐसे न थे जिनसे पश्चिम से पूर्व और पूर्व से पश्चिम आने-जाने में बाधा

---

१. इंडो आर्यन एंड हिन्दी, पृ० ५६ तथा वहीं से उद्धृत।

२. वही पृ० ५६।

३. वही पृ० ५७।

पड़ती। अतएव भाषा-सम्बन्धी विशेषता का आदान-प्रदान निर्बाध रूप से हो सकता था। संभवत: इसी कारण विकट (विकृत), निकट (निःकृत) कीकट (किंकृत) आदि शब्द वैदिक भाषा में भी प्रवेश पा गये।

इन भिन्न-भिन्न परिवर्तनों के अनेक कारणों में से एक विशेष कारण भारत के उन आदिम निवासियों का प्रभाव था जो कि आर्यों की श्रेणी में प्रविष्ट हो गये थे और जिन्होंने धीरे-धीरे विजेता की भाषा को अपनाया। उन लोगों ने अपने अनेक शब्द विजेता की भाषा में मिलाये। उन्हीं लोगो के संपर्क से तत्कालीन आर्यभाषा में ध्वनि-सम्बन्धी तथा उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन हो गये। आर्यभाषा के अनेक संयुक्ताक्षरों का उच्चारण भारत के आदिम निवासियों के लिए कठिन था इसलिए भाषा में उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तनों का होना स्वाभाविक था।

इस प्रकार १५०० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक प्रथम प्राकृतों या विभाषाओं में अनेक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप गौतम बुद्ध के समय भारत में भाषा के निम्नलिखित रूपों की ओर डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने निर्देश किया है—

१. उदीच्या, मध्यदेशीया और प्राच्या रूप में तीन विभाषायें विकसित हो गई थीं।
२. वैदिक सूक्तों की प्राचीन भाषा छान्दस। इसका स्वाध्याय ब्राह्मणों में अभी तक चल रहा था।
३. छान्दस भाषा के नवीन रूप और उदीच्या विभाषा के प्राचीन रूप से विकसित भाषा। इसमें मध्यदेशीया और प्राच्या विभाषाओं के तत्त्वों का भी मिश्रण था। यही ब्राह्मणों की शिष्ट और परस्पर व्यवहार योग्य भाषा थी। इसी में वैदिक ग्रंथों के भाष्य लिखे गये।

इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर द्रविड़ और 'औस्ट्रिक' विभाषाओं का भी प्रयोग होता था।

गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी ने अपनी-अपनी बोलचाल की भाषाओं को अपने उपदेशों का माध्यम बनाया। उनके प्रोत्साहन से तत्कालीन प्रान्तीय भाषाओं (देशभाषाओं) का विकास द्रुतगति से प्रारम्भ हुआ। उनके विकास में एक क्रान्ति सी पैदा हो गई। भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्यिक विकास का सूत्रपात हो गया। गौतम बुद्ध के समय प्राच्या विभाषा, प्राचीन छान्दस भाषा और उसके नवीन विकसित रूप से इतनी पृथक् हो गई थी कि उदीच्य से आये एक व्यक्ति के लिए प्राच्या समझना सरल न था।

तत्कालीन सामाजिक अवस्था में ब्राह्मणों के कर्म-काण्ड से सामान्य जनता आकृष्ट न हो सकी। बौद्धों के प्रचार के कारण सामाजिक और साहित्यिक विकास में भी परिवर्तन हुआ। ब्राह्मणों ने अपने विचारों के प्रचार के लिए और प्राचीन रूढ़ि से प्रेम करने वाले समाज का ध्यान रखते हुए अपनी प्राचीन छान्दस या वैदिक भाषा को अपनाना ही ठीक समझा। किन्तु तत्कालीन भाषा-सम्बन्धी परिवर्तनों से ब्राह्मण

भी मुक्त न रहे और उन्होंने तत्कालीन भाषा-सम्बन्धी परिवर्तनों को दृष्टि में रखते हुए प्राचीन छान्दस या वैदिक भाषा को आधार मानकर उदीच्य देश में प्रचलित जन-साधारण की बोलचाल की भाषा का आश्रय लिया। यह बोलचाल की भाषा अभी तक प्राचीन वैदिक भाषा या छान्दस के समान ही थी। इस लौकिक या जनसाधारण की बोलचाल की भाषा को पाणिनि जैसे वैयाकरण ने संस्कृत रूप दिया। यह तत्कालीन शिक्षित ब्राह्मण समाज की संस्कृत भाषा बन गई। यह भाषा भी तत्कालीन बोलियों, प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों और वाग्धाराओं (मुहावरों) आदि के प्रभाव से वंचित न रह सकी। इस भाषा को उत्तर भारत के सब ब्राह्मणों ने अपनाया। पश्चिम के ब्राह्मणों ने भी इसका स्वागत किया। यह भाषा छान्दस और ब्राह्मण ग्रंथों की ब्राह्मी भाषा के अनन्तर विकास में आई। यह उदीच्य प्रदेशीय साधारण बोलचाल की भाषा के ऊपर आश्रित थी।

संस्कृत, शिक्षित और शिष्ट समुदाय की भाषा थी और वैदिक संस्कृति की पृष्ठ-भूमि पर खड़ी थी अतएव इसका प्रभाव चिरकाल तक बना रहा। जनसाधारण में यह आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त अर्थ-शास्त्र, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, काम-शास्त्र-संबन्धी ग्रंथों का भी संस्कृत में प्रणयन इस भाषा के विस्तृत प्रचार एवं गौरव का प्रमाण है।

संस्कृत को बौद्धों और जैनों ने पहले तो उदासीनता की दृष्टि से देखा किन्तु पीछे से वे भी इसके प्रभाव से न बच सके। बौद्धों की 'गाथा' भाषा संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित हुई। संस्कृत साहित्य में अनेक बौद्धों और जैनों का सहयोग भी इसी दशा की ओर संकेत करता है।

यहां तक कि संस्कृत धीरे-धीरे भारत से बाहर मध्य एशिया, लंका, बृहत्तर भारत तक भी फैल गई। चीन में प्रविष्ट होकर उसने जापान को भी प्रभावित किया।

ई० पू० छठी शताब्दी से लेकर ईसा की १० वीं शताब्दी तक प्रचलित भाषाओं को ग्रियर्सन ने द्वितीय श्रेणी की प्राकृत (Secondary Prakrits)[१] कहा है। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने इस काल की भाषा को Middle Indo Aryan Speech कहा है। इस काल को मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा काल कहा जा सकता है। इस काल की भाषा को उन्होंने तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है।

१. मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा की प्रारंभिक अवस्था (Old or Early M. I. A.) यह काल ४०० ई० पू० से लेकर १०० ई० तक प्राकृतों की प्रारम्भिक अवस्था का था।
२. मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा की मध्यकालीन अवस्था (Transitional or Second M. I. A.) यह काल १०० ई० से लेकर ५०० ई० तक साहित्यिक प्राकृतों का काल था।

---

१. ग्रियर्सन—लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया, १९२७ ई०, पृ० १२१।

३. मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा की उत्तरकालीन अवस्था (Third or Late M. I. A.) यह काल ५०० ई० से लेकर १००० ई० तक अपभ्रंश का काल था।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा की प्रारंभिक अवस्था में द्विवचन और आत्मनेपद का ह्रास हो गया था। विभक्तियों में षष्ठी और चतुर्थी का एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग होने लग गया था। सर्वनाम के परप्रत्यय संज्ञा के परप्रत्ययों के लिए प्रयुक्त होने लग गये थे। क्रिया के लकारों में लुट्, लङ्, लिट्, और लृङ् के रूपों का लोप हो गया था। विधिलिङ् और आशीर्लिङ् का प्रायः एकीकरण हो गया था। गुणों के भेद से उत्पन्न क्रियारूपों की जटिलता और व्यंजनान्त संज्ञारूपों की बहुलता प्रायः कम हो गई थी। स्वरों में ऐ, औ, ऋ और लृ विलुप्त हो गये थे। ह्रस्व ए और ओ का आविर्भाव हो गया था। विसर्ग का अभाव, व्यंजनों का समीकरण, संयुक्त व्यंजनों का बहिष्कार और अनेक स्वरों का साथ-साथ प्रयोग होने लग गया था।[1] मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल की भाषाएँ भी प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल की भाषाओं के समान संयोगात्मक ही बनी रहीं।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल की प्रारंभिक अवस्था में पाली और अशोक के शिलालेखों की प्राकृत मिलती है। पाली में तृतीया बहुवचन में अकारान्त शब्दों का **एभिः** रूप, प्रथमा बहुवचन में **आसः** का विकल्प से प्रयोग, लङ् और लुङ् लकारों में अडागम का प्रायः अभाव आदि उदाहरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पाली के विकास में संस्कृत की अपेक्षा वैदिक भाषा और प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल की बोलियों का अधिक प्रभाव है।[2]

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल की मध्यकालीन अवस्था में जैन प्राकृतों और शौरसेनी आदि साहित्यिक प्राकृतों का प्रचार हुआ। इस काल की भाषाओं में परिवर्तन की मात्रा और भी अधिक हो गई। संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर व्यंजन समीकरण की प्रवृत्ति इस काल से पूर्व ही आरंभ हो गई थी। इस काल में संयुक्त व्यंजनों में केवल अनुनासिक और उस वर्ग का स्पर्श वर्ण, म्ह, ण्ह और ल्ह दिखाई देते हैं। दो स्वरों के बीच के स्पर्श वर्णों का प्रायः लोप इस काल की विशेषता है। (काकः=काओ, कति=कहइ, पूपः=पूओ, नदी=नई इत्यादि)। विभक्तियों में चतुर्थी विभक्ति का पूर्ण रूप से लोप हो गया। पंचमी का प्रयोग बहुत कम मिलता है। इसी प्रकार क्रियारूपों की जटिलता भी बहुत कम हो गई। क्रिया और संज्ञाओं के बाद परसर्गों का प्रयोग भी इस काल से आरंभ होने लग गया।

पाणिनि ने संस्कृत को व्याकरण से परिष्कृत कर उसके रूप को स्थिर कर दिया। व्याकरण के अध्ययन के विकास के साथ संस्कृत भाषा के प्रयोग और नियम

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा विज्ञान, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, २००६ वि० सं०, पृ० २६१।

२. वही पृ० २६३।

स्थिर एवं निश्चित होते रहे। अतः जिनका व्याकरण के ज्ञान से निरन्तर सम्बन्ध न था उनके लिए क्रमशः अधिक कठिनता उपस्थित होती गई। व्याकरण-शिक्षित जनता की भाषा ज्यों-ज्यों एक ओर शुद्ध और परिमार्जित होती गई त्यों-त्यों दूसरी ओर व्याकरण की शिक्षा से रहित जनता के अधिकांश भाग के प्रयोग के लिए अनावश्यक होती गई। इस प्रकार शुद्ध और परिमार्जित भाषा ने अपने आपको क्रमशः सामान्य जनता की बोलचाल की भाषाओं से अलग कर लिया। यह व्याकरण सम्मत और शुद्ध भाषा एकमात्र एवं सुशिक्षित लोगों की संपत्ति हो गई। ज्यों-ज्यों सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषाएँ उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रयोग में आती गईं, इन में भेद भी क्रमशः अधिकाधिक बढ़ता गया।

इसी से मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल की मध्यकालीन अवस्था में संस्कृत भाषा के अतिरिक्त अनेक जैन प्राकृत और साहित्यिक प्राकृतों का उल्लेख तत्कालीन वैयाकरणों और आलंकारिकों के ग्रंथों में मिलता है। इनमें से मुख्य प्राकृत निम्न-लिखित हैं—

शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी और पैशाची।

शौरसेनी—संस्कृत के नाटकों में स्त्री-पात्रों तथा मध्य कोटि के पुरुष पात्रों द्वारा शौरसेनी का प्रयोग किया जाता था। यही भाषा साहित्यिक रूप में चिरकाल तक भारत के विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होती रही। दो स्वरों के बीच में संस्कृत के त् और थ् का क्रमशः द् और ध् हो जाना इस भाषा की विशेषता है। दो स्वरों के बीच में स्थित द् और ध् वैसे ही रहते हैं। उदाहरणार्थ—

गच्छति=गच्छदि, यथा=जधा, जलदः=जलदो, क्रोधः=कोधो इत्यादि।

महाराष्ट्री—यह काव्य की पद्यात्मक भाषा है। काव्य के पद्यों में इसी का प्रयोग होता था। हाल रचित गाथा सप्तशती और प्रवरसेन रचित सेतुबन्ध या रावण वध जैसे उत्कृष्ट कोटि के काव्य इसी भाषा में रचे गये। दो स्वरों के बीच के अल्पप्राण स्पर्श वर्ण का लोप और महाप्राण का ह हो जाना महाराष्ट्री की विशेषता है। उदाहरणार्थ गच्छति=गच्छइ, यथा=जहा, जलदः=जलओ, क्रोधः=कोहो।

डा० मनमोहन घोष का विचार है कि महाराष्ट्री, महाराष्ट्र की भाषा नहीं अपितु शौरसेनी के विकास का उत्तरकालीन रूप है। डा० सुनीतिकुमार भी इस आधार पर इसे शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था मानते हैं।[1]

मागधी—यह मगध देश की भाषा थी। नाटकों के निम्न वर्ग के पात्र इसी भाषा का प्रयोग करते थे। इसके मुख्य ये लक्षण हैं—

क—संस्कृत ऊष्म वर्णों के स्थान पर श् का प्रयोग। यथा सप्त=शत्त

ख—र् के स्थान पर ल् का प्रयोग। यथा—राजा=लाआ

ग—अन्य प्राकृतों में य् के स्थान पर ज् का प्रयोग होता है इसमें य् ही रहता है। प्राकृत के शब्द जिनमें ज् और ज्ज् का प्रयोग होता है इसमें य् और

1. इंडो आर्यन एंड हिन्दी, पृ० ८६।

य्य् रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे—यथा=यधा, जानाति=याणदि, अदय=अय्य,

घ—ण्ण् के स्थान पर ञ्ञ् का प्रयोग। यथा—पुण्य=पुञ्ञ्।

ङ—अकारान्त संज्ञा के प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ओ के स्थान पर ए का रूप। यथा देवो=देवे।

मागधी प्राकृत में साहित्य उपलब्ध नहीं होता। व्याकरण के ग्रंथों और नाटकों में ही इसका प्रयोग मिलता है।[1]

अर्ध-मागधी—शौरसेनी और मागधी प्रदेशों के बीच के कुछ भाग में दोनों भाषाओं का मिश्रित रूप मिलता है। इसको अर्ध-मागधी कहा गया है। जैनादि धार्मिक साहित्य में मुख्य रूप से इसी का प्रयोग किया गया है। इस में भी मागधी के समान अकारान्त संज्ञा के प्रथमा का एकवचन में एकारान्त रूप मिलता है। कहीं-कहीं र् के स्थान पर ल् भी प्रयुक्त हुआ है। किन्तु मागधी के समान श् का प्रयोग न होकर स् का ही प्रयोग किया गया है।

पैशाची—गुणाढ्य ने वृहत्कथा इसी भाषा में लिखी थी। यह ग्रंथ अब प्राप्त नहीं। पैशाची की मुख्य विशेषता है कि दो स्वरों के मध्य, वर्गों का तीसरा, चौथा (सघोष स्पर्श) वर्ण, पहला और दूसरा (अघोष स्पर्श) वर्ण हो जाता है। जैसे गगनं=गकनं, मेघो=मेखो, राजा=राचा, वारिदः=वारितो इत्यादि

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की उत्तरकालीन अवस्था को अपभ्रंश का नाम दिया गया है। इस काल की भाषा में परिवर्तन की मात्रा और भी अधिक बढ़ गई। व्यंजन समीकरण जो इस काल से पूर्व ही प्रारम्भ हो चुका था अब चरम सीमा पर पहुँच गया था। व्यंजन समीकरण से उत्पन्न द्वित्व व्यंजन के स्थान पर एक व्यंजन की प्रवृत्ति इस काल में आरम्भ हो गई, यद्यपि इसका पूर्ण विकास आगे चल कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल में हुआ। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप व्यंजनों का पूर्व स्वर दीर्घ होने लगा (यथा—सप्त=सत्त=सात, कर्म=कम्म=काम आदि)। ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ और दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व के प्रयोग की प्रवृत्ति प्रचुरता से दिखाई देने लगी। प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल के अन्दर वैदिक भाषा में और तदुपरान्त संस्कृत में कुछ सीमित अवस्थाओं में ही दन्त्य व्यंजनों के स्थान पर मूर्धन्य व्यंजनों का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति अब उन नियमों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी प्रचुरता से दिखाई देने लगी। (पत्=पड़, दुल=डोल, त्रुट्=टुट्ट इत्यादि)।

इस काल में षष्ठी विभक्ति के स्य=स्स के स्थान पर और सप्तमी के स्मिन्=स्सिं के स्थान पर ह का प्रयोग होने लगा। (यथा पुत्रस्य=पुत्तस्य=पुत्तह, तस्मिन्=तस्सिं=तहिं आदि)। सुबन्त और तिङन्त पदों में प्रत्ययांशों के न, ण, म के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होने लग गया (देवेन=देवेण=देवें, धरामि=धरउं)।

---

१. इंडो आर्यन एण्ड हिन्दी, पृ० २६६।

प्रथमा विभक्ति के एकवचन में ओ के स्थान पर उ का और सप्तमी के एकवचन में ए के स्थान पर इ का व्यवहार चल पड़ा (देवो=देवु, देवे=देवि आदि)। संज्ञा रूपों और धातुरूपों की जटिलता और अनेकरूपता इस काल में और भी कम हो गई। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति का रूप एक समान हो गया। पंचमी, षष्ठी और सप्तमी के बहुवचन के रूप भी समान से हो गये। (पंचमी बहु० गिरिहुं, षष्ठी बहु० गिरिहं—गिरिहुं, सप्तमी बहु० गिरिहुं आदि)। विभक्तिरूपों की समानता के कारण शब्दों के अर्थ-ज्ञान में कठिनता होने लगी और परिणाम-स्वरूप अनेक परसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। (मणमहि=मन में, मइतणि=मेरा इत्यादि)। धातु रूपों में भी भिन्न-भिन्न कालों को सूचित करने वाले अनेक लकारों का अभाव हो गया। वर्त्तमान काल (लट्), सामान्य भविष्य (लृट्) और आज्ञा (लोट्) के ही रूप अधिकता से प्रयुक्त होने लगे। भूतकाल सूचक भिन्न-भिन्न लकारों के स्थान पर क्त प्रत्यय या निष्ठा का ही प्रयोग चल पड़ा। इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल की भाषाओं में दिखाई देता है, जैसा हम आगे चल कर स्पष्ट रूप से देख सकेंगे।

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल में संस्कृत के अतिरिक्त द्राविड़ और 'आस्ट्रिक' भाषाओं से भी शब्द लेने में संकोच न रहा। इन भाषाओं के प्रभाव के कारण अनेक अनुरणनात्मक शब्द (यथा तडि, तड़, यडइ, फणि फुप्फुयंतु आदि) इस काल की भाषाओं में आ गये। संस्कृत-भाषा भी मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल की भाषाओं से प्रभावित हुई, जिससे मनोरथ,=मनोर्थ भट्टारक=भर्त्ता, वट, नापित, पुत्तलिका आदि शब्द संस्कृत में प्रवेश पा गये।

समय पाकर साहित्यिक प्राकृतों के व्याकरण बने। वैयाकरणों के आग्रह में बंध जाने के कारण इन प्राकृतों का स्वाभाविक विकास रुक गया। इनकी भी वही अवस्था हुई जो संस्कृत की हुई थी। इधर तो साहित्यिक प्राकृतों में साहित्य रचा जा रहा था और उधर सर्व साधारण की बोल-चाल की भाषाएँ व्यवहार में आगे बढ़ रही थीं। साहित्यिक प्राकृतों के विकास के रुक जाने पर ये बोलचाल की भाषाएँ और भी आगे बढ़ीं और अपभ्रंश के नाम से ख्यात हुईं। धीरे-धीरे अपभ्रंश ने भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान पाया और अपभ्रंश में भी साहित्य रचा जाने लगा।

आरम्भ में अपभ्रंश को आभीरों की भाषा माना जाता था। 'आभीरोक्ति' या 'आभीरादिगिरः' का यही अभिप्राय है कि अपभ्रंश वह भाषा है जिसका काव्य में आभीरादि निम्नवर्ग के लोग प्रयोग करते थे। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अपभ्रंश आभीर लोगों की निजी भाषा थी। या आभीरादि लोग इस भाषा को अपने साथ कहीं से लाये। वास्तव में आभीर या उनके साथी जहाँ-जहाँ गये, उन्होंने तत्तत्स्थानीय प्राकृत को अपनाया और उसमें निज स्वभावानुकूल स्वर या उच्चारण-संबन्धी परिवर्तन कर दिये। आभीर स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत या विकसित

भाषा को ही अपभ्रंश का नाम दिया गया।[1]

आजकल प्रत्येक प्राकृत के एक अपभ्रंश रूप की कल्पना की गई है किन्तु व्याकरण के प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार का विभाग नहीं दिखाई देता। हाँ, रुद्रट ने अपने काव्यालंकार में देश भेद से अपभ्रंश के अनेक भेदों की ओर निर्देश किया है।[2] शारदा तनय (१३ वीं शताब्दी) ने अपभ्रंश के नागरक, ग्राम्य और उपनागरक भेदों का उल्लेख किया है।[3] पुरुषोत्तम देव (१२ वीं शताब्दी) ने अपने प्राकृतानुशासन में अपभ्रंश के नागरक, व्राचट और उपनागरक इन तीनों भेदों का उल्लेख किया है और इन तीनों में से नागरक को मुख्य माना है। मार्कंडेय (१७ वीं शताब्दी ई० के लगभग) ने अपने प्राकृत सर्वस्व में भी नागर, व्राचड और उपनागर तीन भेद बताये हैं।

अतएव इन वैयाकरणों के आधार पर नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने अपभ्रंश भाषा का कोई देशगत विभाजन किया है। प्रतीत तो ऐसा होता है कि इन्होंने अपभ्रंश का विभाजन उसके संस्कार या प्रसार को दृष्टि में रख कर किया है।

भाषा-शास्त्रियों ने मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा काल की मध्यकालीन अवस्था की साहित्यिक प्राकृतों का समय ५०० ई० तक और उत्तरकालीन अवस्था की अपभ्रंशों का समय ५०० ई० से १००० ई० तक माना है। किन्तु प्राकृत का साहित्य ५०० ई० के बाद भी लिखा गया मिलता है। गौडवहो का समय ७वीं–८वीं सदी माना जाता है। कौतूहल कृत लीलावती-कथा भी निस्संदेह उत्तरकाल की रचना है। प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के फलस्वरूप दक्षिण भारत में १८वीं शताब्दी तक प्राकृत काव्यों की रचना होती रही।[4]

अपभ्रंश का उदयकाल ईसा की प्रथम सहस्री का लगभग मध्य माना गया है। भामह ने अपभ्रंश को भी काव्योपयोगी भाषा माना है।[5] किन्तु इस समय का लिखा कोई अपभ्रंश ग्रंथ उपलब्ध नहीं। कालिदास के विक्रमोर्वशीय के अपभ्रंश पद्य भी

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९४८ ई०, पृ० २४-२५।

२. षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः। २. १२

३. एता नागरक ग्राम्योपनागरकभेदतः।
त्रिधा भवेयुरेतासां व्यवहारो विशेषतः॥
भावप्रकाशन, गायकवाड़, ओरियंटल सिरीज, संख्या ४५, ओरियंटल इंस्टिट्यूल, बड़ौदा सन् १९३०, पृ० ३१०।

४. डा० रामसिंह तोमर ने डा० आ. ने. उपाध्ये द्वारा संपादित रामपाणिवाद की उसाणिरुद्ध और कंसवहो नामक दो रचनाओं का निर्देश किया है। रामपाणिवाद १८ वीं शताब्दी का कवि था।

५. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यद् अपभ्रंश इति त्रिधा॥
काव्या० १. १६

विवादग्रस्त हैं। डा० उपाध्ये ने योगीन्दु के परमप्पयासु और योगसार का समय ईसा की छठी शताब्दी के लगभग माना है किन्तु अन्य विद्वान् इस काल से सहमत नहीं। लगभग ईस्वी सन् ८०० से लेकर १३०० या १४०० तक अपभ्रंश साहित्य का विशेष प्रचार रहा था। यद्यपि भगवतीदास का मृगांकलेखा चरित्र या चन्द्रलेखा वि० सं० १७०० में लिखा गया। इस प्रकार प्राकृत और अपभ्रंश में रचना कुछ काल तक समानान्तर चलती रही, उसी प्रकार जिस प्रकार कुछ दिनों तक हिन्दी अथवा आधुनिक देश-भाषाओं के साथ अपभ्रंश चलती रही। संभवतः यही कारण है कि रुद्रट ने संस्कृत और प्राकृत के साथ अपभ्रंश को भी साहित्यिक भाषा स्वीकार किया। नमि साधु अपभ्रँश को प्राकृत ही मानते हैं। लक्ष्मीधर ने अपनी षड्भाषा चन्द्रिका में अपभ्रंश को प्राकृत ही स्वीकार किया है।[1]

द्वितीय श्रेणी की प्राकृत भाषाओं से भिन्न-भिन्न प्रादेशिक अपभ्रंशों का जन्म माना जाता है। ये अपभ्रंश सन् ८०० ईस्वी से लेकर १५वीं शताब्दी तक स्वतंत्र रूप से या पूर्वकाल में संस्कृत और उत्तरकाल में आरम्भिक हिन्दी के साथ या राजस्थानी पिंगल के साथ मिलकर प्रयोग में आती रहीं।

संस्कृत और प्राकृत व्याकरणों के समान हेमचन्द्र, त्रिविक्रम (१४०० ई० के लगभग), लक्ष्मीधर (१५वीं शताब्दी ई० का उत्तरार्ध), मार्कण्डेय (१७वीं शताब्दी ई० के लगभग) आदि वैयाकरणों ने अपभ्रंश को भी व्याकरण के नियमों से बाँधने का प्रयत्न किया। फलतः अपभ्रंश की वृद्धि भी अवरुद्ध हो गई। कालान्तर में अपभ्रंश से ही भिन्न-भिन्न वर्त्तमान-भारतीय-प्रान्तीय-साहित्यों का विकास हुआ।

---

१. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिका पैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्॥
१. २६.

तीसरा अध्याय
अपभ्रंश और हिन्दी

भारतीय आर्य भाषाओं के विकास में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल के अनन्तर वर्तमान काल की देश-भाषाओं का काल आता है। डा० सुनीति कुमार ने इसको New Indo Aryan Period कहा है।[1] इस काल को आधुनिक आर्य-भारतीय आर्यभाषा काल कह सकते हैं।[2] इस काल में भारत की वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं की गणना की गई है।

वर्तमान प्रान्तीय आर्यभाषाओं का विकास अपभ्रंश से हुआ। शौरसेनी अपभ्रंश से ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजावी, गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध है। इनमें से गुजराती और राजस्थानी का सम्बन्ध विशेषतया शौरसेनी के नागर अपभ्रंश रूप से माना जाता है। मागध अपभ्रंश से भोजपुरी, उड़िया, बंगाली, आसामी, मैथिली, मगही का विकास हुआ और अर्ध-मागधी से पूर्वी हिन्दी —अवधी आदि का। महाराष्ट्री से मराठी का सम्बन्ध जोड़ा जाता था[3] किन्तु आजकल विद्वान् इसमें सन्देह करने लगे हैं और इन दोनों में परस्पर सम्बन्ध नहीं मानते।[4] सिन्धी का व्राचड अपभ्रंश से सम्बन्ध कहा गया है। पंजाबी, शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित समझी जाती है।

इन भिन्न-भिन्न भाषाओं का विकास, तत्कालीन अपभ्रंश के साहित्यिक रूप धारण कर लेने पर, तत्कालीन प्रचलित सर्वसाधारण की बोलियों से हुआ। इन का आरम्भ काल १००० ईस्वी माना गया है। इस काल के बाद १३ वीं १४ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश के ग्रंथों की रचना होती रही। इन प्रान्तीय भाषाओं के विकास

---

१. डा० सुनीति कुमार चैटर्जी— इंडो आर्यन एंड हिन्दी, पृष्ठ ९७

२. डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९४०, भूमिका, पृष्ठ ४८

३. स्टेन कोनो—महाराष्ट्री एण्ड मराठी, इंडियन एंटिक्वेरी जिल्द ३२, १९०३, पृ० १८०–१९२

४. वही, जिल्द ३०, १९०१, पृ० ५५३ और जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट आफ लैटर्स, कलकत्ता, जिल्द २३, १९३३।

के पूर्वकाल में ये सब भिन्न-भिन्न अपभ्रंशों से प्रभावित हुई दिखाई देती हैं। उत्तरकाल का अपभ्रंश साहित्य भी इन प्रान्तीय भाषाओं से प्रभावित होता रहा। इस प्रकार प्रान्तीय भाषाओं के प्रारम्भिक रूप में और अपभ्रंश काल के उत्तर रूप में दोनों के साहित्य चिरकाल तक समानान्तर रूप से चलते रहे।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल में आकर भाषाएँ संयोगात्मक से वियोगात्मक या विश्लेषात्मक हो गई थीं। इस काल की सभी भाषाएँ अपभ्रंश से प्रभावित हैं। इस अध्याय में हिन्दी को दृष्टि में रख कर उसका अपभ्रंश से भेद निर्दिष्ट किया गया है।

हिन्दी में ध्वनियाँ प्रायः वही हैं जो मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल में मिलती थीं। स्वरों में ऋ का प्रयोग संस्कृत के तत्सम शब्दों में मिलता है किन्तु इसका उच्चारण रि होता है। ऐ और औ का उच्चारण संस्कृत के समान अइ, अउ न हो कर अए, (ऐसा) अओ, (औरत) रूप में परिवर्त्तित हो गया है। अंग्रेजी के प्रभाव से फुटबॉल कॉलिज आदि शब्दों में व्यवहृत ऑ ध्वनि हिन्दी के पढ़े लिखे लोगों में प्रचलित हो गई है। व्यंजनों में श् और ष् में भेद नहीं रहा। ष् का उच्चारण भी प्रायः श् के समान ही होता है। संयुक्ताक्षर ज्ञ का उच्चारण ग्यँ, दयँ, ग्य, ज्यँ आदि रूपों में स्थान भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता। व्यंजनों में ड़ और ढ़ नई ध्वनियाँ हैं। इसी प्रकार अरबी और फारसी के प्रभाव से क़् ख़् ग़् ज़् फ़् आदि ध्वनियों का भी विकास हुआ। इन का प्रयोग अरबी और फारसी के तत्सम शब्दों में होता है किन्तु रूढ़िवादी इनका उच्चारण देशी ध्वनियों के समान क् ख् ग् फ् ज् ही करते हैं। (यथा क़ाग़ज़ के स्थान पर कागज)।

अपभ्रंश में शब्दों के बीच में व्यंजनों के लोप हो जाने से स्वरों की बहुलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लग गई थी। इन स्वरों की बहुलता से स्वरों के संयोग से उत्पन्न संयुक्त ध्वनियाँ भी उस भाषा में उत्पन्न हो गई थीं। इसी के परिणामस्वरूप स्वरों का लोप भी होने लग गया था, जिसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। आदि स्वर लोप के उदाहरण अपि=पि या वि, अरण्य=अरण्ण=रण्ण आदि शब्दों में दिखाई देते हैं। हिन्दी में इसके उदाहरण भीतर=अभ्यंतर, भी=अपि, रु=अरु आदि शब्दों में दिखाई देते हैं।

आदि स्वर लोप के अतिरिक्त मध्यस्वर लोप और अन्त्य स्वर लोप भी हिन्दी के शब्दों में दिखाई देता है। चलना, कमरा आदि शब्दों का उच्चारण चल्ना, कम्रा रूप से और चल, घर, केवल आदि शब्दों का उच्चारण चल् घर्, केवल् रूप से किया जाता है। यद्यपि लिखने में यह परिवर्तन नहीं दिखाया जाता।[1]

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल में व्यंजन-समीकरण अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया था। अनुस्वारस्थान-वर्त्ती वर्ग का पंचम अक्षर ही अधिकतर संयुक्ताक्षर रूप में दिखाई देता है (पङ्क, चञ्चल, इत्यादि)। हिन्दी में बहुधा वर्ग

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास पृ० १४६.

का पंचम अक्षर प्रयुक्त न होकर केवल अनुस्वार का ही प्रयोग होता है (यथा पंक, चंचल, दंत आदि)।

व्यंजन समीकरण के चरम सीमा पर पहुँच जाने के परिणाम-स्वरूप द्वित्व व्यंजन के स्थान पर एक व्यंजन की प्रवृत्ति अपभ्रंश काल के उत्तर भाग में ही प्रारम्भ हो गई थी। दो व्यंजनों के स्थान पर एक व्यंजन होने से पूर्व स्वर अधिकतर दीर्घ किया गया।

णीसरन्ति=निस्सरन्ति प० च० ५९. २

तासु=तस्स=तस्य; नीसास=निस्सास प० सि० च० १. १३

दीह=दिग्घ=दीर्घ इत्यादि।

इस प्रवृत्ति का पूर्णरूपेण विकास आधुनिक काल की भारतीय आर्यभाषाओं में दिखाई देता है। पंजाबी भाषा में इस प्रवृत्ति का अभाव है।

संस्कृत		पंजाबी		हिन्दी
अद्य	=	अज्ज	=	आज
कर्म	=	कम्म	=	काम
हस्त	=	हत्थ	=	हाथ

इत्यादि

संयुक्त वर्णों में से एक को ही रख कर भी पूर्ववर्त्ती स्वर को लघु बनाये रखने की प्रवृत्ति भी अपभ्रंश में दिखाई देती है।' थक्कइ, विषमत्थण के साथ-साथ थकइ, विषमथण भी प्रयुक्त किये गये। इसी प्रकार उन्मुक्त=उम्मुक्क=उमुक्क, उच्छ्वास=उसास आदि शब्दरूप भी अपभ्रंश ग्रंथों में मिलते हैं। हिन्दी में इसी प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप उछाह=उच्छाह=उत्साह, भगतबछल=भगतवच्छल=भक्तवत्सल, समुद=समुद्द=समुद्र आदि शब्द प्रचलित हो गये। डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी इस प्रकार के शब्द-रूपों के प्रचलन में पंजाबी भाषा की प्रवृत्ति का प्रभाव मानते हैं। पंजाबी में व्यंजन समीकरण तो मिलता है किन्तु संयुक्त वर्णों में से एक को ही रख कर पूर्ववर्त्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति का अभाव है। पंजाबी की इस प्रवृत्ति ने हिन्दी के अनेक शब्दों को प्रभावित किया है।[1] हिन्दी में सत्य=सच्च=सच, कल्य=कल्ल=कल आदि शब्द इसी प्रवृत्ति के कारण साच और काल न बन पाये।

अपभ्रंश भाषा में स्वार्थ में अ, ड़, अल, इल्ल, उल्ल आदि प्रत्ययों का प्रयोग अनेक शब्दों में मिलता है। इस प्रकार के प्रत्ययों का प्रयोग कदाचित् छन्द के अनुरोध से किया जाता होगा। 'अलंकृत' शब्द का अपभ्रंश रूप 'अलंकियु' होगा किन्तु स्वार्थ सूचक अ प्रत्यय लगने पर 'अलंकियउ'। इसी प्रकार 'सुत' के स्थान पर अपभ्रंश में सुत्तु और सुत्तउ दोनों रूप मिलते हैं।

तुहु ण सुत्तु सुत्तउ महि मंडल। प० च० ७९·३

इसी प्रकार के गयउ, चलियउ आदि प्रयोग परवर्त्ती व्रजभाषा की कविता में

१. चैटर्जी—इंडो आर्यन एण्ड हिन्दी पृ० ११४

प्रचुरता से पाये जाते हैं। जायसी के संदेसड़ा और कबीर के जियरा आदि शब्दों में भी स्वार्थ-सूचक ड़ प्रत्यय का रूप ही दृष्टिगत होता है।

अपभ्रंश में ह्रस्व और दीर्घ स्वर के व्यत्यय के नियम का हेमचन्द्र ने निर्देश किया है। इसके अनेक उदाहरण अपभ्रंश शब्दों में मिलते हैं। जैसे—

सरस्वती=सरसइ, माला=माल, ज्वाला=जाल, हुअ=हुआ, मारिअ=मारिआ आदि।

छन्द-पूर्ति के लिये इस प्रकार स्वर व्यत्यास प्रायः करना पड़ता था।

"तुहु पडिऊसि ण पडिउ पुरंदरु" प० च० ७६·३

एक ही चरण में पडिउ और पडिऊ (पतितः) दो रूपों का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार का स्वर व्यत्यास शब्द के अन्त में और चरण के अन्त में किया जाता था। हिन्दी कविता में भी इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं। कवित्त और सवैया जैसे छन्दों में प्रायः अनेक शब्दों में ए और ओ को ह्रस्व रूप में पढ़ना पड़ता है। इसी प्रकार तुलसी, जायसी आदि कवियों के काव्य में चरण के अन्त में हाथा, फूला, नहाहू, विरोधू, हारू आदि ऐसे शब्द मिलते हैं जिन में छन्द के अनुरोध से ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर का प्रयोग किया गया है।

अपभ्रंश में यह स्वरव्यत्यास चरण के बीच शब्द के मध्य में भी कहीं-कहीं मिल जाता है। जैसे गभीर=गहिर, प्रसाधन=पासाहण, पूरिस आदि। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि 'संभवतः इस प्रथा का पुराना अवशेष संस्कृत के 'पद्मावती' जैसे शब्दों में खोजा जा सकता है जिस के तौल पर 'कनकावती' 'मुग्धावती' जैसे शब्द हिन्दी में चल पड़े।'[1]

अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा के प्रभाव से शब्द रूपों में तीनों लिंग चले आ रहे थे। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में नपुंसक लिंग में शब्दों के रूप का विधान किया है। हिन्दी में नपुंसक लिंग का विधान नहीं है। हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी तथा सिंधी में दो लिंग ही होते हैं। बंगाली, आसामी, बिहारी तथा उड़िया में, संभवतः समीपवर्ती तिब्बत और वर्मा प्रदेशों की अनार्य भाषाओं के या कोल भाषाओं के प्रभाव के कारण, लिंगभेद बहुत शिथिल हो गया है।[2] गुजराती, मराठी, सिंहली तथा पश्चिमोत्तर हिमालय की कुछ बोलियों में नपुंसक लिंग के कुछ चिह्न अब भी मिलते हैं।[3]

अपभ्रंश में विशेषण और संज्ञा का लिंग साम्य चला आ रहा था। जैसे—

'रावणु दहमुहु वीस हत्थु' प० च० १.१०।

'रोवइ अवरा इव रामजणणि' प० च० ६९.१३।

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, सन् १९५२ ई०, पृष्ठ ४४।

२. डा० धीरेन्द्र वर्मा—हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० २५१।

३. डा० बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा विज्ञान, पृ० २६९।

'एां घरगिरि वासिरिए जक्खपत्ति' म० पु० २०.६ ।
हिन्दी में प्राचीन परम्परावादी ही विशेषण और संज्ञा में लिंग साम्य का प्रयोग करते हैं (जैसे सुन्दरी बालिका), किन्तु अन्य लोग इस प्रकार का प्रयोग नहीं करते ।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल में संज्ञा की आठ विभक्तियाँ हुआ करती थीं और इस संज्ञा के २४ रूप हुआ करते थे, जिनमें से कुछ समान होते थे । मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल में विभक्तियों की संख्या घट गई और उनके रूपों में समानता और भी बढ़ गई । आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल में हिन्दी में संज्ञा के केवल तीन रूप ही रहे (यथा घोड़ा, घोड़े, घोड़ों) और कहीं-कहीं दो ही (जैसे विद्वान्, विद्वानों आदि) । शेष रूपों के अर्थ ज्ञान के लिए पर-सर्गों का प्रयोग प्रचुरता से चल पड़ा ।

क्रिया रूपों की जटिलता और लकारों की विविध-रूपता अपभ्रंश में ही कम हो गई थी । हिन्दी में आते-आते मुख्यतया चार लकार रह गये—सामान्य लट् (वर्त्तमान काल), सामान्य भूत, सामान्य लृट् (भविष्य काल) और लोट् । इनमें से सामान्य भूत के लिए क्त प्रत्यय—भूतकालिक कृदंत—का प्रयोग ही अधिकता से हिन्दी में दिखाई देता है और सामान्य लट् के लिए शतृप्रत्ययरूप के साथ 'होना' क्रिया का प्रयोग होता है । क्रिया के सूक्ष्म भेदों का अर्थ बोध कराने के लिए संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग हिन्दी में पाया जाता है ।

संस्कृत में क्रियारूपों में धातु के साथ कृ, भू और अस् धातु का अनुप्रयोग, परोक्षभूत—लिट् लकार—में कुछ बड़ी-बड़ी धातुओं के साथ होता था । इन में से कृ का अनुप्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ । छांदस भाषा में कृ धातु का अनुप्रयोग अन्य स्थलों पर भी होता था । यह अनुप्रयोग का सिद्धान्त अपभ्रंश में भी चला । जैसे—

कवलु किउ—खा लिया । जस० च० २.३७.५

हल्लोहलि हूयउ—विक्षुब्ध हुआ । कर० च० ७.१०.६

सुखु करंतु—सुख देता हुआ । कर० च० ४.७.३

इत्यादि अनेक प्रयोग अपभ्रंश में मिलते हैं । अपभ्रंश के बाद हिन्दी में भी यही परम्परा अधिकता से दिखाई देती है (चोरी करना, स्नान करना आदि) ।

शतृरूप—वर्तमान कालिक कृदंत—के साथ इस कृ के अनुप्रयोग के कारण हिन्दी में क्रिया रूपों में भी लिंग भेद चला । शुद्ध धातु रूपों में यह लिंग-भेद नहीं दिखाई देता । वर्तमानकालिक कृदंत रूपों में लिंग-भेद संस्कृत और प्राकृत में ही वर्तमान था अतएव वह हिन्दी में भी उसी रूप में दिखाई देता है (जैसे संस्कृत में गच्छन्–गच्छन्ती, हिन्दी में जाता है, जाती है इत्यादि) ।

अपभ्रंश और हिन्दी की पद-योजना में मुख्य भेद यह है कि अपभ्रंश म संस्कृत और प्राकृत के तद्भव रूपों का प्रयोग प्रधानतया मिलता है । हिन्दी में प्राकृत के तद्भव शब्दों के स्थान पर संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रचुरता से प्रयोग पाया जाता है । हिन्दी में यह प्रवृत्ति चाहे मुसलमानों के धार्मिक आक्रमण की प्रतिक्रिया के

रूप में आई चाहे किसी और कारण से किन्तु यह प्रवृत्ति स्पष्ट है और अपभ्रंश के तद्भव शब्दों के स्थान पर तत्सम शब्दों के प्रयोग से अपभ्रंश भाषा के उद्धरणों को स्पष्टतया हिन्दी में परिवर्तित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए—

सो सिव संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध॥

योगसार १०५

इस दोहे का हिन्दी रूप होगा—

सो शिव शंकर विष्णु सो, सो रुद्रउ सो बुद्ध।
सो जिन ईश्वर ब्रह्म सो, सो अनंत सो सिद्ध॥[1]

अनेक अपभ्रंश पद्य, जो अपभ्रंश ग्रंथों में मिलते हैं, परवर्ती हिन्दी ग्रंथों में भी कुछ परिवर्तित रूप में पाये जाते हैं। इन से दोनों भाषाओं की मध्यवर्ती श्रृंखला का रूप देखा जा सकता हैं। उदाहरण के लिए कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड़त्ति॥

हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण, ८.४.३५२

इसी पद्य का उत्तरकाल में राजपूताने में निम्नलिखित रूप हो गया—

काग उड़ावण जांवती पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी काग गल आधी टूट तड़त्ति॥

इसी प्रकार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण (८.४.३९५) में एक दोहा इस प्रकार है—

पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा वप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

इसका परिवर्तित रूप निम्नलिखित प्रकार से दिखाई देता है—

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण।
जो ऊभाँ घर आपणी गंजीजै अवरेण॥[2]

इसी प्रकार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण (८.४.४३९) में एक दोहा निम्नलिखित रूप में उद्धृत मिलता है—

बाह-बिछोडवि जाहि तुंह, हउं तेवइँ को दोसु।
हिअय-ट्ठिउ जइ नीसरहि, जाणउं मुंज सरोसु॥

अर्थात हे मुंज! तुम बाँह छुड़ाकर जा रहे हो, मैं तुम्हें क्या दोष दू ? हे मुंज! मैं तुम्हें तब कुद्ध समझूँगी जब हृदय स्थित तुम निकल सको।

---

१. इस प्रकार के अन्य उद्धरणों के लिए देखिए राहुल सांकृत्यायन, हिंदी काव्यधारा, प्रयाग।

२. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—प्राचीन हिन्दी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् २००५, पृष्ठ १५-१६ से उद्धृत।

इसी का आगे चल कर सूरदास के यहाँ निम्नलिखित रूप हो गया—

बांह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि ।
हिरदै ते जब जाहुगे सबल जाँनुगो तोहि ॥

इस पद से प्रतीत होता है कि हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सूरदास तक अपभ्रंश की चेतना बनी थी । इसी प्रकार के अन्य पद भी खोजने से हिन्दी साहित्य में उपलब्ध हो सकेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं ।

पं० केशव प्रसाद मिश्र ने अपभ्रंश भाषा साथ पूर्वी हिन्दी का सम्बन्ध दिखाते हुए हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत अनेक दोहों को पूर्वी हिन्दी में परिणत करके दिखाया है ।[1]

सन्ता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
तसु दइवेएावि मुण्डिअउं जसु खल्लिहडउं सीसु ॥
हेम० ८.४.३८९

इसका हिन्दी रूप होगा—

आछत भोग जे छोड़य तेह कन्ताक बलि जावँ ।
तेकर देवय (से) मूंड़ल जेकर खल्लड़ सीस ॥

अपभ्रंश भाषा के शब्दों और हिन्दी के शब्दों में समानता की सूचना अपभ्रंश ग्रंथों में प्राप्त अनेक शब्दों से मिलती है । ऐसे शब्दों का निर्देश आगे अपभ्रंश ग्रंथों के प्रकरण में कर दिया गया है ।

---

१. केशव प्रसाद मिश्र—डा० कीथ ऑन अपभ्रंश, इंडियन एंटिक्वेरी, भाग ५९, सन् १९३० ई०, पृ० १ ।

चौथा अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य की पृष्ठभूमि

अपभ्रंश-साहित्य के निर्माण में जैनियों और बौद्धों का विशेष योग है अतः उस में धार्मिक साहित्य की ही प्रचुरता है। साहित्य के रचयिताओं का धार्मिक दृष्टिकोण होने के कारण इस साहित्य की पृष्ठभूमि में धार्मिक विचारधारा अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। यद्यपि इस साहित्य में राजनीतिक चेतना का अभाव ही है तथापि अपभ्रंशकालीन इस परिस्थिति का विवरण अपभ्रंश-साहित्य के अध्ययन में सहायक ही होगा अत एव पहिले इसी का संक्षेप में विवेचन किया गया है।

राजनीतिक अवस्था

गुप्त साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने पर ईसा की छठी शताब्दी में मगध पर गुप्तों का ही राज्य था और मध्यदेश में मौखरियों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। इसी शताब्दी में पंजाब से गुजरात—काठियावाड़—तक गुर्जर जाति का भी बोल बाला हो गया था। पंजाब में गुजरात और गुजरांवाला प्रान्त, दक्षिण मारवाड़ में भिन्नमाल और भरुच में गुर्जरत्रा (गुजरात) इन के गढ़ थे। ये ही तीन बड़ी शक्तियाँ उत्तर भारत में प्रबल थीं। मौखरियों के प्रताप से अब कन्नौज की प्रायः वही स्थिति थी जो इससे पूर्व काल में पटना की थी।

सातवीं शताब्दी के आरम्भ में थानेसर (कुरुक्षेत्र) में प्रभाकर वर्धन ने उत्तरापथ की ओर अपनी शक्ति बढ़ाई। इस शताब्दी में उसका पुत्र हर्ष ही एक ऐसा बलवान् राजा था जिसने उत्तर भारत की बिखरी राजकीय सत्ता को संभाले रखा। इसने चीन में भी अपने दूत भेजे और चीन के दूत भी कन्नौज आये। हर्षवर्धन के समान पुलकेशी द्वितीय भी दक्षिण में शक्तिशाली राजा था। इस के दरबार में ईरान के राजा खुसरो ने अपने दूत भेजे।

आठवीं शताब्दी में भारत को एक नई शक्ति का सामना करना पड़ा। बात यह है कि छठी शताब्दी में हूणों को परास्त कर भारत कुछ काल तक निश्चिंत हो गया था किन्तु ७१० ई० में अरबों की सिन्ध विजय से भारत फिर चौकन्ना हुआ। अरबों ने सिन्ध से आगे बढ़ने का भी यत्न किया किन्तु उन्हें सफलता न मिली। आठवीं शताब्दी के मध्य तक उनके भिन्नमाल राज्य और सुराष्ट्र पर हमले होते रहे।

अरबों के भारत में प्रवेश करने से हिन्दु और अरब संस्कृतियों का मेल हुआ। भारत से अनेक हिन्दु विद्वान् बगदाद गये और अनेक अरब विद्यार्थी पढ़ने के लिए भारत आये। संस्कृत के दर्शन, वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, काव्य आदि के अनेक ग्रंथों का अरबी में अनुवाद हुआ। भारत से गणित आदि का ज्ञान अरब लोग ही योरुप में ले गये। पंचतन्त्र आदि की कहानियाँ भी उन्हीं के द्वारा विदेशों में पहुंची।[1]

नवीं शताब्दी में कन्नौज पर प्रतिहारों का आधिपत्य हुआ। कारण यह था कि हर्ष के साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर उत्तर भारत अनेक राज्यखंडों में विभक्त हो गया था। इनमें से पूर्व में बिहार-बंगाल के पाल, पश्चिम में गुजरात-मालवा के प्रतिहार और दक्षिण में मान्यखेट के राष्ट्रकूट मुख्य थे। ये तीनों कन्नौज को हस्तगत करना चाहते थे किन्तु नवीं शताब्दी में भोज और उसके वंशजों ने कन्नौज पर आधिपत्य प्राप्त किया। इनके शासन में कन्नौज भारत के सबसे प्रतापी राजाओं की राजधानी बन गया। इन सब शक्तियों और राष्ट्रों में से प्रतिहार और राष्ट्रकूट ही भौगोलिक स्थिति के कारण भारत में बाह्य आक्रमण को रोकने में समर्थ थे। इनके आधीन अनेक छोटे-छोटे राजा थे। उनमें प्रायः परस्पर युद्ध भी होते र ते थे।

दसवीं शताब्दी में छोटे-छोटे राज्य आपस में लड़ते रहे, इससे उनमें क्षत्रियोचित वीरता और पराक्रम की भावना सदैव प्रदीप्त रही। राज्य को उन्नत रखने की प्रवृत्ति भी इससे बनी रही। कभी-कभी एक राज्य दूसरे को पराजित करने के लिए विदेशियों की सहायता भी ले लेते थे। अपने देश या प्रान्त की भावना अधिक उद्बुद्ध थी किन्तु इन राज्यों में सच्ची राष्ट्रियता की लगन न थी। अब भी राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था अतः राजा के प्रति आदर-भाव था। राष्ट्र की भावना जागृत न हो पाई थी।

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। मालवा का राजा भोज भारत में पर्याप्त प्रसिद्ध है। चेदि का राजा कर्ण भी ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में बहुत प्रतापी राजा था। इस काल में प्रतिहार शक्ति बहुत कुछ क्षीण हो गई थी और उसके क्षीण होने पर उसके आधीन रहने वाले चन्देल (कालिंजर), कलचुरी (त्रिपुरी) तथा चौहान (सांभर, अजमेर) स्वतन्त्र होने लगे। ये सब स्वतन्त्र तो हो गये किन्तु किसी में बाह्य आक्रमण को रोकने की शक्ति न थी।

इसी शताब्दी में उत्तर भारत में पालों, गहड़वारों, चालुक्यों, चंदेलों और चौहानों के अतिरिक्त गुर्जर-सौलंकी और मालवा के परमार भी अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर गये। ११वी-१२वीं शताब्दी में उत्तरी भारत की शक्ति और भी अधिक छिन्न-भिन्न हो गई थी। उपरिलिखित सात राज्यों के शासक चक्रवर्ती-रूप प्राप्त करने की चेष्टा में लगे रहते थे। चक्रवर्ती राजा दूसरे राजाओं के ऊपर शासन नहीं करना चाहता था, न

१. जयचन्द्र विद्यालंकार—इतिहास-प्रवेश, सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, सन् १९४१, पृष्ठ १७८

उनके राज्य को हस्तगत करना चाहता था। वह केवल यही चाहता था कि अन्य राजा उसके चक्रवर्तित्व को स्वीकार कर लें। इसी कारण इन भिन्न-भिन्न राज्यों में परस्पर प्रतिस्पर्धा और संघर्ष चलता रहता था। किन्तु इनमें से कोई भी किसी एक बड़ी शक्ति के आधीन रह कर काम करने के लिए तैयार न था। इन में से अनेक राज्य इतने विस्तृत थे कि यदि वे सहज ही संगठित हो पाते तो भारतीय स्वतन्त्रता को बनाये रख सकते थे किन्तु तो भी अन्त में तुर्कों और पठानों के आगे झुक गये।

बारहवीं शताब्दी में अजमेर के चौहानों में से बीसलदेव और पृथ्वीराज ने तुर्कों को दबाने का प्रयत्न कर भारत की प्रतिष्ठा को स्थिर रखने का साहस किया।

तेरहवीं शताब्दी से हिन्दुओं की राजशक्ति पूर्ण रूप से अस्त-व्यस्त एवं छिन्न-भिन्न हो गई थी। यदि इस काल में भारतीय राजाओं में राजनीतिक जागरूकता रहती—वे सब अपने आप को एक राष्ट्र और एक ही आर्य धर्म के सदस्य समझते तो वे मिल कर विदेशी प्रभाव और आक्रमण का मुकाबला कर सकते। इस काल की भारतीय सभ्यता भी पहले सी सजीव और सप्राण न रही जो शकों और हूणों की तरह तुर्कों को भी अपने ही रंग में रंग लेती। क्योंकि इस समय में जाति-पांति के संकीर्ण क्षेत्र में हिन्दू जाति भली भाँति विभक्त हो गई थी। खान-पान में भी संकीर्णता आगई थी। चित्त की उदारता और भ्रातृत्व का व्यापक दृष्टिकोण जाता रहा।

धार्मिक अवस्था

उपर्युक्त विवेचन से इतना अवगत हो गया कि इस अपभ्रंश काल में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म के साथ ही इस्लाम धर्म का भी प्रचार हो गया। फलतः उक्त धर्मावलम्बियों की भाँति इस धर्म के भी कवियों ने अपभ्रंश में रचना की। अतएव इन सभी धर्मों की स्थिति का सामान्य परिचय यहां अनावश्यक न होगा।

होते-होते बौद्धधर्म हर्षवर्धन के समय में ही यहां तक अवनत हो गया था कि उस काल के चीनी यात्री युवानच्वाङ् ने सिन्धु प्रान्त के बौद्धों के विषय में स्पष्टतया कहा कि वहां के भिक्खु-भिक्खुनी निठल्ले, कर्त्तव्य-विमुख और पतित हो गये थे। पहिले बौद्धधर्म हीनयान और महायान, इन दो विभागों में विभक्त हुआ था। कालान्तर में महायान भी अनेक उपयानों में विभक्त हुआ। महायान के शून्यवाद और विज्ञानवाद जनता को अधिक प्रभावित न कर सके। इसमें महासुखवाद के संमिश्रण से वज्रयान का आविर्भाव हुआ। जिसमें भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति वाले लोगों के लिये भिन्न-भिन्न साधन थे—योग, देवपूजा, मन्त्र, सिद्धि, विषय-भोग इत्य दि। वज्रयान में से ही सहजयान का भी आविर्भाव हुआ। इस ने वज्रयान के विभिन्न प्रतीकों की दूसरे रूप में व्याख्या की। महामुद्रा, मंत्र साधनादि बाह्य साधनाओं की अपेक्षा यौगिक और मानसिक शक्तियों के विकास पर बल दिया। यद्यपि वज्रयान और सहजयान दोनों का लक्ष्य एक ही था—'महासुख' या पूर्ण आनन्द की प्राप्ति तथापि दोनों के दृष्टिकोण में भेद था।

सहजयान का लक्ष्य था कि सहज मानव की जो आवश्यकताएँ हैं, उन्हें

सहजरूप से पूरा होने दिया जाय। मठों के अप्राकृतिक जीवन से उत्पन्न अनेक बुराइयों को दूर कर मानव को सहज-स्वाभाविक जीवन पर लाने की कामना से संभवतः सहजयान का जन्म हुआ किन्तु शीघ्र ही यह सब काम सहज-स्वाभाविक रूप में न हो कर अस्वाभाविक रूप में होने लगा। इस सहजमार्ग ने शीघ्र ही पाखंड मार्ग का आश्रय लिया। यही सहजयान तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेत, देवी-देवता, जादू-टोना, ध्यान-धारणा, सम्बन्धी हजारों मिथ्या विश्वासों और ढोंगों के प्राबल्य का कारण बना। अवनति की ओर बढ़ते हुए बौद्धधर्म के लिए लोगों को आकृष्ट करने के लिए इसके अतिरिक्त और साधन भी क्या था ?

आठवीं शताब्दी में बंगाल में पाल राज्य ही बौद्धधर्म का अन्तिम शरणदाता रहा। यहाँ आकर और यहाँ से नेपाल और तिब्बत में जाकर बौद्धधर्म का सम्बन्ध तंत्रवाद से और भी अधिक बढ़ गया। चिरकाल तक बंगाल, मगध और उड़ीसा में अनेक बौद्धविहार मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि विद्याओं से और नाना प्रकार के रहस्यपूर्ण तांत्रिक अनुष्ठानों से जन समुदाय पर अपना प्रभाव डालने का प्रयत्न करते रहे। किन्तु बौद्धधर्म का प्रभाव चिरकाल तक न रह सका। नालन्दा एवं विक्रमशिला के ध्वंस के साथ ही प्रायः वह भी ध्वस्त हो गया और उसके पाँच छः पीढ़ियों के बाद भारत में नाममात्र को ही शेष रह गया।

जैनधर्म का उदय यद्यपि उन्हीं परिस्थितियों में हुआ था जिनमें बौद्धधर्म का तथापि उसमें संयम की मात्रा अधिक थी और फलतः कभी उसका पतन भी उतना नहीं हुआ जितना बौद्धधर्म का। इस काल के राष्ट्रकूट और गुर्जर-सोलंकी राजाओं में से कुछ का जैनधर्म पर बहुत अनुराग था, किन्तु इन राजाओं पर जैनधर्म की अहिंसा का अधिक प्रभाव न पड़ा था। जैन गृहस्थ ही नहीं जैन मुनि भी तलवार की महिमा गाते हुए पाये जाते हैं। बौद्धों की तरह इनमें भी प्रारम्भ में जाति-पाँति का झगड़ा न था किन्तु पीछे से वे भी इसके शिकार हो गये। जैनधर्म में व्यापारी वर्ग भी अधिकता से मिलता है। किन्तु अनेक व्यापार करने वाली ज्ञातियों ने, जिन्होंने जैनधर्म को स्वीकार किया, इस धर्म के अहिंसा सिद्धान्त को खूब निभाया। इनमें से अनेक ज्ञातियों ने, जो पहले क्षत्रिय जातियाँ थीं, किसी समय शकों और यवनों के दाँत खट्टे किये थे। अब लक्ष्मी की शरण में जाकर उन्होंने अपने क्षत्रियोचित पराक्रम को खो दिया।

जैनों ने अपभ्रंश साहित्य की रचना में और उसकी सुरक्षा में सबसे अधिक सहयोग दिया। जैनों ने केवल संस्कृत में ही नहीं लिखा, प्राकृत में भी उनके अनेक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं। जैनियों में व्यापारी-वर्ग भी था, जिनके लिए पंडितों की भाषा का ज्ञान न सरल था न संभव। उनके लिए अनेक ग्रंथ देशभाषा में—अपभ्रंश में—लिखे गये। जैनाचार्यों ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए अनेक ग्रंथ लिखे। किन्तु दार्शनिक ग्रंथों के अतिरिक्त जैन सम्प्रदाय के बाहर काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, कोष, अलंकार, गणित और राजनीति आदि विषयों पर भी इन आचार्यों ने लिखा। बौद्धों की अपेक्षा वे इस क्षेत्र में अधिक उदार हैं। संस्कृत,

प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी, तेलगु, तामिल और विशेष रूप से कन्नड़ी साहित्य में भी उनका योग अत्यधिक है।[1]

साहित्य की दृष्टि से जैनों ने साहित्य के सभी अंगों पर लेखनी उठाई। महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, नाटक, चम्पू, गद्यकाव्य, कथाकोश आदि सभी अंगों पर जैनाचार्यों ने रचनायें कीं। काव्य-नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दू और बौद्ध आचार्यों की भाँति विशाल स्तोत्र-साहित्य की भी रचना की। नीति-ग्रंथों की भी जैन साहित्य में कमी नहीं। जैनाचार्यों ने अपनी भिन्न-भिन्न रचनाओं के लिए हिन्दुओं की रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाओं को भी लिया, किन्तु जैन-साहित्य में इनका रूप परिवर्तित हो गया है।

जैन-धर्म भी धीरे-धीरे दो शाखाओं में विभक्त हो गया था। दक्षिण में दिगम्बर और गुजरात-राजपूताना में श्वेताम्बर सम्प्रदाय वालों का प्राधान्य था। इस काल से पूर्व दक्षिण में जैनियों ने अनेक हिन्दू राजाओं को प्रभावित कर उनका आश्रय प्राप्त कर लिया था। तमिल—चेर, पांड्य और चोल—राजाओं ने जैन गुरुओं को दान दिया, उनके लिए मंदिर और मठ बनवाये। जैनाचार्य अपने पाण्डित्य से अनेक राजाओं के कृपापात्र बने और उनसे अनेक ग्राम दान रूप में पाये। दक्षिण में शैव-धर्म के प्रबल होने से जैन-धर्म को धक्का लगा। शैव-धर्म ही जैन-धर्म के दक्षिण से उखाड़ने का प्रधान कारण है।

गुजरात और राजपूताना में, जहाँ राजपूत-क्षत्रिय अपनी तलवार और शस्त्र-विद्या के लिए प्रसिद्ध थे, जैन-धर्म का प्रचार होना आश्चर्य ही है। हिंसा और अहिंसा की लहर भारत में क्रम-क्रम से आती-जाती रही। इस काल में फिर अहिंसा की लहर ज़ोर से आई, जिससे सारा भारत प्रभावित हो गया। गुजरात, मालवा और राजपूताना में इसी लहर के प्रभाव से जैन-धर्म फिर चमक पड़ा और इसमें जैनाचार्य हेमचन्द्र जैसे अनेक आचार्यों का भी बहुत कुछ हाथ रहा।

यद्यपि जैन-धर्म उत्तर भारत के अन्य देशों में और बंगाल में न फैल सका, तथापि अनेक जैन व्यापारी इन प्रदेशों में भी फैले और अहिंसा का प्रचार वैष्णव-धर्म के साथ सिन्धु नदी से लेकर ब्रह्मपुत्र तक हो गया। अहिंसा के साथ पशु-हिंसा और मांस-भक्षण भी रुक गये। वैष्णव-धर्म में जैनियों के समान तप और त्याग की वह कठोरता न थी, अतएव जन सामान्य ने इसे शीघ्रता और सरलता से अपना लिया।

इस प्रकार ११ वीं-१२ वीं शताब्दी में पश्चिम-भारत में जैन-धर्म, दक्षिण में शैव-धर्म, पूर्व में और उत्तर में वैष्णव-धर्म विशेष रूप से फैला हुआ था। वैष्णव और शैव भी अनेक मतों में बट गये थे। उन सबके अपने-अपने धार्मिक सिद्धान्त, विचार और धारणाएँ बन गई थीं। इन्हीं से उत्पन्न भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचारधाराओं में विद्वान् उलझ गये। परस्पर भेद-भावना बढ़ गई। भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं की पूजा के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आगम एवं तंत्र-ग्रंथों की उत्पत्ति हो गई। विचार-भेद के

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी-साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २२४।

अनुसार समाज में भी अनेक परिवर्तन हो गये। समाज की एकता भी इसी कारण नष्ट हो गई। इन सब भिन्न-भिन्न मतों और विचारधाराओं में एक ही समानता थी—सब में एकान्तसाधना की प्रधानता थी। इस विचारधारा ने भारतीय समाज को, जो कि विचार-भेद से पहले ही शिथिल और निर्बल हो गया था और भी निर्बल कर दिया।

प्राचीन वैदिक-धर्म में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा। परमात्मा के भिन्न-भिन्न नामों को देवता मानकर उनकी पृथक्-पृथक् उपासना आरम्भ हो गई थी। ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों और देवताओं की पत्नियों की भी पूजा होने लगी। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, बाराही, नारसिंही और ऐंद्री—इन सात शक्तियों को मातृका का नाम दिया गया है। काली, कराली, चामुंडा और चंडी नामक भयंकर और रुद्र शक्तियों की भी कल्पना की गई। आनंद-भैरवी, त्रिपुर-सुन्दरी और ललिता आदि विषयविलास-परक शक्तियों की भी कल्पना की गई। इनके उपासक शाक्त, शिव और त्रिपुर-सुन्दरी के योग से ही संसार की उत्पत्ति मानते थे।[1]

क्रमशः वैदिक ज्ञान के मंद पड़ जाने पर पुराणों का प्रचार हुआ। पौराणिक संस्कारों का प्रचलन चल पड़ा। पौराणिक देवताओं की पूजा बढ़ गई। यज्ञ कम हो गये—श्राद्ध-तर्पण बढ़ गया। मंदिरों और मठों का निर्माण बढ़ता गया। व्रतों, प्रायश्चितों का विधान स्मृतियों में होने लगा।

बौद्ध और जैन, वैदिकधर्म के प्रधान अंग ईश्वर और वेद को न मानते थे। जनता की आस्था इन दोनों पर से उठने लगी। कुमारिल भट्ट ने ७ वीं शताब्दी के अन्त में पुनः वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न किया। यज्ञों का समर्थन और बौद्धों के वैराग्य-संन्यास का विरोध किया।

शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी में बौद्धों और जैनों के नास्तिकवाद को दूर करने का प्रयत्न किया किन्तु अपना आधार ज्ञान कांड और अहिंसा को रखा। संन्यास मार्ग को भी प्रधानता दी। उनका सिद्धान्त जनता को अधिक आकृष्ट कर सका।

ब्राह्मण, बौद्ध और जैन इनकी अवान्तर शाखायें भी हो गई थीं। इन में यद्यपि कभी-कभी संघर्ष भी हो जाते थे तथापि धार्मिक असहिष्णुता का भाव नहीं था। ब्राह्मण-धर्म की विभिन्न शाखाओं में परस्पर भिन्नता होते हुए भी उनमें एकता थी। पंचायतन पूजा इसी एकता का परिणाम था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार किसी देवता की पूजा कर सकता था। सभी देवता ईश्वर की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतिनिधि थे। कन्नौज के प्रतिहार राजाओं में यदि एक वैष्णव था, तो दूसरा परम शैव, तीसरा भगवती का उपासक, चौथा परम आदित्य भक्त।[2] जैनाचार्यों ने माता-पिता के विभिन्न धर्मावलम्बी होने पर भी उनके आदर-सत्कार आ स्पष्ट उपदेश दिया है।

तेरहवीं शताब्दी से पूर्व देवी-देवताओं की मूर्तियां प्रायः भिन्न-भिन्न भावों के

---

१. गौरीशंकर हीराचंद ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग, सन् १६२८, पृ० २७।

२. वही पृ० ३७।

मूर्त्त प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित थीं। इस के पश्चात् साधारण जनता में यह मूर्त्ति-पूजा निरी जड़-पूजा के रूप में रह गई। मुसलमानों की धर्मान्धता ज्यों-ज्यों मूर्त्तियों को तोड़ने में अग्रसर हुई त्यों-त्यों मूर्त्तियों की रक्षा की भावना भी जड़ पकड़ती गई और आते-आते प्रायः इस शती के अन्त में लोग मूर्त्ति को ही सब कुछ समझने लगे। पूजा में आडम्बर आ गया। अनेक प्रकार के कुत्सित मार्ग धर्म-मार्ग के नाम से चल पड़े। कर्मकाण्ड का जंजाल खड़ा हो गया जिससे धर्म का आन्तरिक रूप लुप्त हो गया और केवल वाह्य-रूप ही प्रधान माना जाने लगा। पौराणिक धर्म के इस अर्थहीन क्रियाकलाप का अनुष्ठान सबके लिए संभव न था। इस प्रवृत्ति के विरुद्ध देश में एक लहर चली जिसके प्रवर्त्तक मुख्यतः सन्त लोग थे। इन्होंने धर्म के इस क्रिया-कलाप-परक वाह्य-रूप की अपेक्षा भक्ति-भाव-परक आन्तरिक-रूप पर ज़ोर दिया। इस्लाम के सूफ़ी सम्प्रदाय ने भी यही किया। इन सन्तों ने भक्ति के लिए जात-पाँत की संकीर्णता को दूर कर धर्म का मार्ग प्रशस्त किया।

आठवीं शती के आरम्भ में ही अरबों के भारत प्रवेश से भारत और बगदाद में संपर्क स्थापित हो गया था। बगदाद के खलीफाओं के समय अनेक भारतीय विद्वान् बगदाद बुलाये गये और वहां जाकर उन्होंने भारतीय दर्शन, वैद्यक, गणित और ज्योतिष के अनेक ग्रंथों के अरबी अनुवाद में सहयोग दिया।

यद्यपि ८ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही अरब भारत में प्रविष्ट हो गये थे तथापि १० वीं शताब्दी तक वे सिन्ध और मुल्तान से आगे न बढ़ पाये थे। किन्तु ११ वीं शताब्दी के आरम्भ में ही लाहौर में भी मुस्लिम राज्य स्थापित हो गया। सूफियों का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव मुस्लिम संस्कृति के भारत में प्रवेश होने से ही पड़ा। १२ वीं शताब्दी के अंत में दिल्ली और कन्नौज भी इस्लाम झंडे के नीचे चले गये। मुस्लिम शासकों के आक्रमणों और मंदिरों को लूटने का जो परिणाम हुआ उसका प्रभाव हिन्दू संतों पर भी पड़ा। इस्लाम की प्रतिष्ठा हो जाने पर भी अनेक हिन्दू और मुस्लिम संत ऐसे थे जिन्होंने दोनों के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया। इन्होंने परलोकवाद और मानव की सहज-सहृदयता के आधार पर दोनों को, भेदभाव दूर करने का उपदेश दिया।

सामाजिक अवस्था

इस काल में प्रत्येक वर्ग अनेक जातियों और उपजातियों में विभक्त हो गया था। यह भेदभाव धीरे-धीरे निरन्तर बढ़ता ही गया। परिणामस्वरूप समस्त जाति इतनी शिथिल हो गई कि वह मुसलमान आक्रान्ताओं का सामना सफलता के साथ न कर सकी।

मुख्यतया प्रत्येक वर्ण स्मृति-प्रतिपादित धर्म का ही अनुष्ठान करता था किन्तु ब्राह्मण अपने पुरोहित-कर्म के अतिरिक्त अन्य वर्णों के पेशे को भी स्वीकार करता था और क्षत्रिय भी अपने कर्त्तव्य के साथ-साथ शास्त्र-चिन्तन में लीन था। अनेक राजपूत शासक अपने बलपराक्रम के अतिरिक्त अपनी विद्या और पाण्डित्य में भी प्रसिद्ध हुए।

इस काल में अनेक राजाओं ने शस्त्र-विद्या और शास्त्र-विद्या दोनों में समान रूप से प्रतिभा प्रदर्शित कर अपना नाम अमर कर दिया। भोज पंडितों के आश्रयदाता ही न थे स्वयं भी विद्वान् और पंडित थे। अलंकारशास्त्र पर उनका सरस्वती-कंठाभरण, योग पर राजमार्त्तण्ड और ज्योतिष पर राजमृगांक करण ग्रंथ प्रसिद्ध ही हैं। भोज के समान गोविन्दचन्द्र, बल्लालसेन, लक्ष्मणसेन, विग्रहराज चतुर्थ, राजेन्द्र चोल आदि अनेक राजा अपने पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध हुए।

कृषि-कर्म प्रारम्भ में वैश्यों का ही कार्य था, किन्तु अनेक वैश्य बौद्ध और जैन-धर्म के प्रभाव के कारण इस कर्म को हिंसायुक्त और पापमय समझ कर छोड़ बैठे थे। यह कर्म भी शूद्रों को करना पड़ा। किन्तु ९वीं-१०वीं शताब्दी में कृषि-कर्म का विधान ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए भी होने लग गया था।[1]

किन्तु खान-पान, छुआ-छूत, अन्तर-जातीय विवाह आदि की प्रथाओं में धीरे-धीरे कट्टरता आने लगी और भेदभाव बढ़ता गया। बाल-विवाह, विशेषकर कन्याओं का बाल्यावस्था में विवाह भी प्रारम्भ हो गया।[2] इस काल में राजाओं और धनाढ्यों में बहुपत्नीविवाह की प्रथा प्रचलित थी जैसा कि अनेक अपभ्रंश ग्रंथों से सिद्ध होता है।

इस प्रकार १४वीं-१५वीं शताब्दी तक राजनीतिक-जीवन के साथ-साथ भारतीयों का सामाजिक जीवन भी जीर्ण-शीर्ण हो गया था। यद्यपि समाज का ढाँचा इस प्रकार शिथिल हो गया था तथापि उसमें बाह्य प्रभाव से आक्रान्त न होकर अपनी सत्ता बनाये रखने की क्षमता अब भी आंशिक रूप में बनी रही। हिन्दू-समाज आक्रान्ताओं के हस्तावलेप से बराबर टक्कर लेता रहा। समाज ने दृढ़ता से विदेशियों की सभ्यता और संस्कृति का सामना किया।

साहित्यिक अवस्था

गुप्त-युग में ज्ञान, कला और साहित्य अतीव उन्नत थे। दर्शन, गणित, ज्योतिष, काव्य-साहित्य सभी अंगों में भारतीयों ने गुप्त-युग में जो उन्नति की उसका क्रम एक-दो शताब्दी बाद तक चलता रहा। नालन्दा और विक्रमशिला के विहार प्रसिद्ध ज्ञान के केन्द्र थे। कन्नौज भी वैदिक और पौराणिक शिक्षा का केन्द्र था। धीरे-धीरे ज्ञान-सरिता का प्रवाह कुछ मन्द हो गया। अलंकारों के आधिक्य से काव्यों में वह स्वाभाविकता और वह ओज न रहा। भाष्यों और टीका-टिप्पणियों के आधिक्य से मौलिकता का अभाव सा हो गया।

११वीं-१२वीं शताब्दी में काश्मीर और काशी ही नहीं बंगाल में नदिया, दक्षिण भारत में तंजोर और महाराष्ट्र में कल्याण भी विद्या के केन्द्रों के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। कन्नौज और उज्जैन भी पूर्ववत् विद्या-केन्द्र बने रहे। अलंकार-शास्त्र, दर्शन, धर्मशास्त्र, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वैद्यक और संगीत आदि विषय ज्ञान के क्षेत्र थे।

---

१. सी. वी. वैद्य—हिस्ट्री आफ मिडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग २, ओरियंटल बुक सप्लाइंग एजेन्सी पूना, सन् १९२४, पृ० १८३.

२. वही पृष्ठ १८९.

इस प्रकार गुप्त-युग की तरह इस काल में भी भारतीयों के मस्तिष्क ने काव्यप्रकाश, सिद्धान्तशिरोमणि, नैषधचरित, गीत गोविन्द, राजतरंगिणी जैसे अनेक ग्रंथ प्रदान किये। इन्हें देखकर हम सरलता से कह सकते हैं कि भारतीय प्रतिभा इस काल में भी अकुंठित रही।

भाषा की दृष्टि से यद्यपि संस्कृत अब उतनी प्रचलित न रही किन्तु तो भी जन-साधारण में उसका गौरव और मान वैसा ही बना रहा। चिरकाल तक संस्कृत भाषा में ग्रंथों का प्रणयन इस बात का साक्षी है। ब्राह्मणों ने ही संस्कृत का आश्रय लिया हो ऐसी बात नहीं, जैनाचार्यों ने भी अपने सिद्धान्तों के प्रचार और अपने तीर्थंकरों की स्तुति के लिए संस्कृत का ही आश्रय लिया। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृतों का व्यवहार भी इस काल में होता था और साथ ही अपभ्रंश में भी ग्रंथ रचनायें हो रही थीं।

बंगाल में ८४ सिद्धों ने अपभ्रंश में रचनायें कीं। पाल वंशी बौद्ध थे, उन्होंने लोकभाषा को प्रोत्साहित किया। स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे अपभ्रंश भाषा के क्रान्त-दर्शी कवियों ने भी राष्ट्रकूट राजाओं के आश्रय में अपभ्रंश साहित्य को समृद्ध किया। मुंज और भोज प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश के भी प्रेमी थे। अपभ्रंश के इन कवियों ने संस्कृत कवियों का अध्ययन किया था। बाण की श्लेष-शैली पुष्पदन्त में स्पष्ट दिखाई देती है। स्वयंभू ने संस्कृत के पुराने कवियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। किन्तु इन अपभ्रंश कवियों को तत्कालीन राजवर्ग का वैसा प्रोत्साहन न मिल सका। राजा लोग अभी तक संस्कुत और प्राकृत की ओर ही अधिक आकृष्ट थे।

१४ वीं शताब्दी में भी भानुदत्त जैसे प्रसिद्ध आलंकारिक हुए। इन्हीं का लिखा गीत गौरीपति प्रसिद्ध है। इसके बाद भी नलाभ्युदय, कार्त्तवीर्यविजय आदि संस्कृत काव्य १६ वीं-१७वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे। अपभ्रंश काव्यों की परम्परा भी १७वीं शताब्दी तक चलती रही। इन काव्यों में भाषा की दृष्टि से वह प्रौढ़ता नहीं। १४ वीं-१५वी शताब्दी का साहित्य प्रादेशिक-भाषाओं के काव्यों से प्रभावित होने लग गया था। इस समय प्रादेशिक-भाषायें भी साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थी।

पाँचवाँ अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य का संक्षिप्त परिचय

अपभ्रंश भाषा का समय भाषा विज्ञान के आचार्यों ने ५०० ई० से १००० ई० तक बताया है किन्तु इसका साहित्य हमें लगभग ८ वीं सदी से मिलना प्रारम्भ होता है। प्राप्त अपभ्रंश साहित्य में स्वयंभू सबसे पूर्व हमारे सामने आते हैं । अपभ्रंश-साहित्य का समृद्ध युग ९ वीं से १३ वीं शताब्दी तक है । इसी काल में पुष्पदन्त, धवल, धनपाल, नयनन्दी, कनकामर, धाहिल इत्यादि अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए ह । इनमें से यदि पुष्पदन्त को अपभ्रंश-साहित्य का सर्वश्रेष्ठ कवि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । पुष्पदन्त की प्रतिभा का मूल्य इसी बात से आंका जा सकता है कि इनको अपने महापुराण में एक ही विषय—स्वप्न दर्शन—को चौबीस बार अंकित करना पड़ा । प्रत्येक तीर्थंकर की माता जन्म संबंधी स्वप्न में अनेक पदार्थ देखती है, इसका वर्णन प्रत्येक तीर्थंकर के चरित वर्णन के साथ आवश्यक था। इसी से पुष्पदन्त को स्वप्न का चौबीस बार वर्णन करना पड़ा[1] किन्तु फिर भी एक-आध स्थल को छोड़कर सर्वत्र नवीन छन्दों और नवीन पदावलियों की योजना मिलती है और कहीं पिष्ट पेषण नहीं प्रतीत होता । पुष्पदन्त के बाद के कवियों ने इनका आदरपूर्वक स्मरण किया है।

जैनों द्वारा लिखे गये महापुराण, पुराण, चरिउ आदि ग्रंथों में, बौद्ध सिद्धों द्वारा द्वारा लिखे गये स्वतन्त्र पदों, गीतों और दोहों में, कुमार पालप्रतिबोध, विक्रमोर्वशीय, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि संस्कृत एवं प्राकृत ग्रंथों में जहाँ तहां कुछ स्फुट पद्यों में और वैयाकरणों द्वारा अपने व्याकरण ग्रंथों में उदाहरणों के रूप में दिये गये अनेक फुटकर पद्यों के रूप में हमें अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त विद्यापति को 'कीर्तिलता' और अब्दुलरहमान के 'संदेशरासक' आदि

---

१. महापुराण के निम्नलिखित स्थलों की तुलना कीजिये—

३·५,	३८·१२,	४१·४,	४२·४,	४३·५,
४४·४,	४६·३,	४७·७,	४८·६,	४९·६,
५३·५,	५५·५,	५८.५,	५९·३,	६३·२,
६४·४'	६५·३,	६७·४,	६७·५,	६८·४,
८०·६,	८७·१२,	९४·१४,	९६·८,	

काव्य ग्रंथों में अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध है। संस्कृत और प्राकृत में लिखे गये अनेक शिलालेख उपलब्ध होते हैं किन्तु अपभ्रंश में लिखा हुआ कोई शिलालेख अभी तक प्रकाश में नहीं आ सका। बम्बई के संग्रहालय (अजायबघर) में धारा से प्राप्त एक अपभ्रंश शिलालेख विद्यमान है।[1] इसी प्रकार अपभ्रंश के एक शिलालेख की ओर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी हिन्दी साहित्य की भूमिका में निर्देश किया है।[2]

अपभ्रंश-साहित्य की सुरक्षा का श्रेय वस्तुतः जैन भंडारों को है। इन्हीं भण्डारों में से प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य का अधिकांश भाग प्रकाश में आ सका है और भविष्य में भी अनेक बहुमूल्य ग्रंथों के प्रकाश में आने की संभावना है। अपभ्रंश-साहित्य की पर्याप्त सामग्री इन भंडारों में छिपी पड़ी है। किसी ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति करवाकर किसी भंडार में श्रावकों के लाभ के लिए रखवा देना, जैनियों में परोपकार और धर्म का कार्य समझा जाता था। यही कारण है कि अनेक भंडारों में इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथ मिलते हैं।

जिस प्रकार जैनाचार्यों ने संस्कृत वाङ्मय में अनेक काव्य लिखे—अनेक पुराण ग्रंथों का प्रणयन किया–पार्श्वाभ्युदय, द्विसंधान काव्य, शान्ति नाथ चरित्रादि कलात्मक काव्य साहित्य का सृजन किया–चन्द्रदूत, सिद्ध दूतादि अनेक दूतकाव्य और उपमिति भव प्रपंच कथा आदि रूपक काव्यों का निर्माण किया—इसी प्रकार इन्होंने अपभ्रंश में भी इस प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन कर अपभ्रंश-साहित्य को समृद्ध किया।

जैनियों के अपभ्रंश को अपनाने का कारण यह था कि जैनाचार्यों ने अधिकांश ग्रंथ प्रायः श्रावकों के अनुरोध से ही लिखे। ये श्रावक तत्कालीन बोलचाल की भाषा से अधिक परिचित होते थे अतः जैनाचार्यों द्वारा और भट्टारकों द्वारा श्रावकगण के अनुरोध पर जो साहित्य लिखा गया वह तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश में ही लिखा गया। इन कवियों ने ग्रंथ के आरम्भ में अपने आश्रयदाता श्रावकों का भी स्पष्ट परिचय दिया है। कवि के कुल एवं जाति के परिचय के साथ साथ इन श्रावकों का भी विशद वर्णन ग्रन्थारम्भ की प्रशस्तियों में मिलता है।

जैन, बौद्ध और इतर हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमानों ने भी अपभ्रंश में रचना की। संदेशरासक का कर्ता अब्दुर्रहमान इसका प्रमाण है। मुसलमान होते हुए भी इसके ग्रंथ में मंगलाचरण की कुछ पंक्तियों को छोड़कर अन्यत्र कहीं धर्म का कोई चिह्न भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

संस्कृत में यद्यपि जैनाचार्यों ने अनेक स्तोत्र, सुभाषित, गद्यकाव्य, आख्यायिका, चम्पू, नाटकादि का भी निर्माण किया किन्तु अपभ्रंश में हमें कोई भी गद्य ग्रंथ और

---

१. यह शिलालेख १३वीं शताब्दी के देवनागरी अक्षरों में लिखा हुआ है। इसमें राधे रावल के वंशज राजकुमार के सौन्दर्य का वर्णन है।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, १९४८ ई., पृ० २२।

नाटक नहीं उपलब्ध होता।

जैन कवियों ने किसी राजा, राजमन्त्री या गृहस्थ की प्रेरणा से काव्य रचना की है अतः इन कृतियों में उन्हीं की कल्याण कामना से किसी व्रत का माहात्म्य-प्रतिपादन या किसी महापुरुष के चरित का व्याख्यान किया गया है। राजाश्रय में रहते हुए भी इन्हें धन की इच्छा न थी क्योंकि ये लोग अधिकतर निष्काम पुरुष थे। और न इन कवियों ने अपने आश्रयदाता के मिथ्या यश का वर्णन करने के लिए या किसी प्रकार की चाटुकारी के लिए कुछ लिखा। संस्कृत साहित्य में यद्यपि अनेक काव्यों का प्रणयन रामायण, महाभारत, पुराण आदि के किसी कथानक या उपाख्यान के आधार पर ही हुआ है तथापि ऐसे भी अनेक काव्य हैं जिनमें कवि ने अपने आश्रयदाता की विजय और वीरता का वर्णन किया है। जैनों ने संस्कृत में उपरिलिखित कथानकों या उपाख्यानों के अतिरिक्त अनेक ऐसे भी काव्य लिखे जिनमें किसी तीर्थंकर या जैनों के महापुरुष का जीवन चरित्र अंकित किया गया है। हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित, वाग्भट का नेमिनिर्वाण, माणिक्य सूरि का यशोधर-चरित्र आदि इसके उदाहरण हैं। जैनों ने तीर्थंकरों और महापुरुषों के वर्णन के अतिरिक्त जैन धर्म के उपदेश की दृष्टि से भी सिद्धर्षिरचित उपमिति भव प्रपंच कथा, वीरनन्दी कृत चन्द्रप्रभ चरित आदि कुछ ग्रंथ लिखे। अपभ्रश में संस्कृत-प्राकृत की परम्परा न बनी रह सकी। पूर्व भारत में सिद्धों की रचनायें सहजयान के प्रचार अथवा अपने मत का प्रतिपादन करने के लिए लिखी गईं। जैनियों के भी अधिकांश ग्रंथ किसी तीर्थंकर या जैन महापुरुष का चरित वर्णन करने, किसी व्रत का माहात्म्य वतलाने या अपने मत का प्रतिपादन करने की दृष्टि से लिखे गये। किन्तु ऐसा होते हुए भी जैन कवि धर्मान्ध या कट्टर साम्प्रदायिक न थे। इनमें सामाजिक सहिष्णुता और उदार भावना दृष्टिगत होती है। इनकी सदा यह अभिलाषा रही कि नैतिक और सदाचार सम्बन्धी जैन धर्म के उपदेश अधिक से अधिक जनसाधारण तक पहुँचें। हिन्दुओं के शास्त्रों और पुराणों का अध्ययन उन्होंने किया हुआ था, इसका निर्देश इनकी रचनाओं में ही मिलता है।

सभी देशों और सभी युगों में काव्य के प्रधान विषय मानव और प्रकृति ही रहे हैं। इनके अतिरिक्त मानव से ऊपर श्रौर प्रकृति को वश में करने वाले देवी-देवता भी अनेक काव्यों के विषय हुआ करते थे। अधिकाँश संस्कृत काव्यों में किसी महापुरुष के महान् और वीर कार्यों का चित्रण ही दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि कृत रामायण का विषय महापुरुष रामचन्द्र ही है। इस प्रकार प्राचीन काल में किसी महापुरुष का महान् और वीर कार्य ही काव्य का विषय होता था। कालान्तर में कोई देवी देवता या तज्जन्य मानव भी काव्य का विषय होने लगा। कालिदास के कुमारसंभव में भगवान् शंकर और पार्वती की अवतारणा है। भारवि के किरातार्जुनीय में भगवान् शंकर और देवसंभव अर्जुन का वर्णन है। कालान्तर में जब साहित्य को राजाश्रय प्राप्त हुआ तब उच्चकोटि के कवियों ने महान् और यशस्वी राजाओं को भी काव्य का विषय बना दिया। काव्य का नायक धीरोदात्त क्षत्रिय होने लग गया। अनेक संस्कृत

काव्य इसके प्रमाण हैं। इन काव्यों में प्रकृति भी स्वतन्त्र रूप से या गौण रूप से वर्णन का विषय रही है। प्रकृति का वर्णन महाकाव्य का एक अंग बन गया। महाकाव्यों में वन, नदी, पर्वत, संध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि के वर्णन आवश्यक हो गये। इन विषयों के अतिरिक्त प्रेम भी कवियों का वर्ण्य विषय रहा। महाकाव्यों में यह तत्व इतना अधिक स्पष्ट नहीं दिखाई देता जितना कि नाटकों में। 'स्वप्नवासवदत्ता', 'विक्रमोर्वशीय', 'शकुन्तला', 'मालती माधव', 'रत्नावली' आदि नाटकों में इसी प्रेम तत्व की प्रधानता है। महाकाव्यों के अतिरिक्त अनेक इस प्रकार के मुक्तक काव्य भी लिखे गये जिनमें नीति, वैराग्य या शृंगारादि का वर्णन है। इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत के काव्यों का मुख्य विषय—महापुरुष वर्णन, देवी-देवता वर्णन, प्रकृति-वर्णन और प्रेम ही रहा। गौण रूप से नीति, वैराग्य, शृंगारादि का भी वर्णन हुआ। इनका सम्बन्ध भी मानव के सा ही है। इन विषयों के कारण काव्य में वीर, शृंगार या शान्त रस ही प्रधान रूप से प्रस्फुटित हुआ।

अपभ्रंश साहित्य में भी संस्कृत और प्राकृत की परम्परा के अनूकूल ही जैनियों ने या तो किसी महापुरुष के अथवा किसी तीर्थंकर के चरित्र का वर्णन या किसी महापुरुष के चरित्र द्वारा व्रतों के माहात्म्य का प्रतिपादन किया है। सिद्धों की कविता का विषय अध्यात्मपरक होने के कारण उपरिलिखित विषयों से भिन्न है। अपनी महत्ता प्रतिपादन के लिए प्राचीन रूढ़ियों का खंडन, गुरु की महिमा का गान और रहस्यवाद आदि इनकी कविता के मुख्य विषय हैं।

जैन प्रबन्ध काव्यों के कथानक की रचना का आधार जैनियों के कर्म विपाक का सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसी को सिद्ध करने के लिए जैन कवि इतिहास के इतिवृत्त की उपेक्षा कर उसे स्वेच्छा से तोड़ मरोड़ देता है। इसी कर्म सिद्धान्त की पुष्टि के लिए जैन कवि स्थल-स्थल पर पुनर्जन्मवाद का सहारा लेता है। अपभ्रंश साहित्य की रचना की पृष्ठभूमि प्रायः धर्मप्रचार है। जैनधर्मलेखक प्रथम प्रचारक है फिर कवि।

अपभ्रंश साहित्य में हमें महापुराण, पुराण और चरित-काव्य के अतिरिक्त रूपक-काव्य, कथात्मक ग्रंथ, सन्धि-काव्य रास ग्रंथ, स्तोत्र आदि भी उपलब्ध होते हैं। इनमें से महापुराणों का विषय—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ वासुदेव, नौ बलदेव और नौ प्रतिवासुदेवों का वर्णन है। इस प्रकार ६३ महापुरुषों के वर्णन के कारण ऐसे ग्रंथों को त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित या तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार भी कहा गया है। पुराणों में पद्मपुराण और हरिवंश पुराण के रूप में ही लिखे पुराण मिलते हैं। पद्म पुराण में प्राचीन रामायण कथा का और हरिवंश पुराण में प्राचीन महाभारत की कथा का जैन धर्मानुकूल वृत्तान्त मिलता है। ये दोनों कथायें जैनियों ने कुछ परिवर्त्तन के साथ अपने पुराणों में लीं।

जैनियों ने रामकथा के पात्रों को अपने धर्म में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। राम, लक्ष्मण और रावण केवल जैन धर्मावलम्बी ही नहीं माने गये अपितु इनकी गणना त्रिषष्टि महापुरुषों में की गई है। प्रत्येक कल्प के त्रिषष्टि महापुरुषों में से नौ बलदेव

नौ वासुदेव और नौ प्रति वासुदेव माने जाते हैं। ये तीनों सदा समकालीन होते हैं। राम, लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रति वासुदेव माने गये हैं। जैन-धर्मानुसार बलदेव और वासुदेव किसी राजा की भिन्न-भिन्न रानियों के पुत्र होते हैं। वासुदेव अपने बड़े भाई बलदेव के साथ प्रतिवासुदेव से युद्ध करते हैं और अन्त में उसे मार देते हैं। परिणाम-स्वरूप जीवन के बाद वासुदेव नरक में जाते हैं। बलदेव अपने भाई की मृत्यु के कारण दुःखाकुल होकर जैनधर्म में दीक्षित हो जाते हैं और अन्त में मोक्ष प्राप्त करते हैं।

स्थूल दृष्टि से रामायण में दो संप्रदाय दृष्टिगत होते हैं—एक तो विमल सूरि की परम्परा और दूसरी गुणभद्राचार्य की। साहित्यदृष्टि से आचार्य गुणभद्र की कथा की अपेक्षा विमल सूरि की कथा अनेक सुन्दर वर्णनों से युक्त है और अधिक चित्ताकर्षक है। अतएव गुणभद्र की कथा की अपेक्षा विमल सूरि की कथा कवियों में विशेषरूप से और लोक में सामान्यरूप से अधिक आदृत हुई। विमल सूरि के पद्मचरिय का संस्कृत रूपान्तर रविषेणाचार्य ने पद्म चरित नाम से ६६० ई० में किया।

विमल सूरि की कथा में रावण का चरित्र उदात्त और उज्ज्वल अंकित किया गया है। इसमें रावण सौम्याकार, सौजन्य, दया, क्षमा, धर्मभीरुत्व, गांभीर्य आदि सद्गुणों से युक्त एक श्रेष्ठ पुरुष और महात्मा चित्रित किया गया है।

विमल सूरि की परम्परा के अनुसार राम कथा का स्वरूप इस प्रकार का है—

राजा रत्नश्रवा और केकसी की चार संतान हुईं—रावण, कुम्भकर्ण, चन्द्रनखा और विभीषण। जब रत्नश्रवा ने प्रथम बार नन्हें पुत्र रावण को देखा तो उसके गले में एक माला पड़ी हुई थी। इस माला में बच्चे के दस सिर दिखाई दिये, इसलिए पिता ने उसका नाम दशानन या दशग्रीव रखा। विमलसूरि ने इन्द्र, यम, वरुण आदि को देवता न मान कर राजा माना है। हनुमान् ने रावण की ओर से वरुण के विरुद्ध युद्ध करके चन्द्रनखा की पुत्री अनंगकुसुमा से विवाह किया। खरदूषण किसी विद्याधरवंश का राजकुमार था (रावण का भाई नहीं)। उसका रावण की बहिन चन्द्रनखा से विवाह हुआ। इनके पुत्र का नाम शम्बूक था।

पउमचरिय में बतलाया गया है कि राजा दशरथ की—कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा नामक चार रानियों से क्रमशः राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नामक पुत्र उत्पन्न हुए।

राज जनक की विदेहा नामक रानी से एक पुत्री सीता और एक पुत्र भामंडल उत्पन्न हुआ। सीता-स्वयंवर, कैकेयी का वर मांगना आदि प्रसंग वाल्मीकि रामायण के अनुसार ही हैं किन्तु वनवास का अंश नितान्त भिन्न है।

विमलसूरि के अनुसार सीताहरण का कारण, सूर्यहास खड्ग की प्राप्ति के लिए तपस्या करते हुए शम्बूक का लक्ष्मण द्वारा भूल से मारा जाना था। शम्बूक शूद्र न होकर चन्द्रनखा तथा खरदूषण का पुत्र था। रावण यह समाचार सुन वहाँ पहुँचा और सीता को दखकर उस पर आसक्त हो गया। सीताहरण के समय लक्ष्मण

जंगल में थे और राम सीता के पास पर्णकुटी में। लक्ष्मण ने राम को बुलाने के लिये सिंहनाद का संकेत बताया था। रावण ने लक्ष्मण के समान सिंहनाद किया, जिसे लक्ष्मण का सिंहनाद समझकर राम व्याकुल हो सीता को जटायु की रक्षा में छोड़ वहाँ से चल पड़ा। पीछे से रावण ने सीताहरण कर लिया।

रामायण के युद्धकांड की घटनाएं भी पउमचरिय में कुछ परिवर्त्तित हैं। समुद्र एक राजा का नाम था, जिसके साथ नील ने घोर युद्ध किया और उसे हराया। जब लक्ष्मण को शक्ति लगी तो द्रोणमेघ की कन्या विशल्या की चिकित्सा से वह अच्छा हुआ और लक्ष्मण ने विशल्या के साथ विवाह कर लिया। अन्त में लक्ष्मण ने रावण का संहार किया।

अयोध्या में लौटकर राम अपनी आठ हजार और लक्ष्मण अपनी तेरह हजार पत्नियों के साथ राज्य करने लगे। लोकापवाद के कारण सीता-निर्वासन और सीता की अग्नि-परीक्षा का प्रसंग वाल्मीकि-रामायण के अनुसार ही है। अग्नि-परीक्षा में सफल होकर सीता ने एक आर्यिका के पास जैनधर्म में दीक्षा ले ली और बाद में स्वर्ग को सिधारी।

एक दिन दो स्वर्गवासी देवों ने बलदेव और वासुदेव के प्रेम की परीक्षा के लिये लक्ष्मण को विश्वास दिलाया कि राम का देहान्त हो गया। इस से शोकाकुल होकर लक्ष्मण मर गये और अन्त में नरक को सिधारे। लक्ष्मण की अन्त्येष्टि के पश्चात् राम ने जैनधर्म में दीक्षा ले ली और साधना करके मोक्ष को प्राप्त किया।

गुणभद्र की परम्परा के अनुसार राम कथा का रूप निम्नलिखित है। वाराणसी के राजा दशरथ की सुबाला नामक रानी से राम, कैकयी से लक्ष्मण और बाद में साकेतपुरी में किसी अन्य रानी से भरत और शत्रुघ्न नामक पुत्र उत्पन्न हुए। गुणभद्र के अनुसार सीता, रावण की रानी मंदोदरी की पुत्री थी। सीता को अमंगलकारिणी समझकर इन्होंने उसे एक मंजूषा में डलवाकर मारीच द्वारा मिथिला देश में गड़वा दिया। हल की नोक में उलझी वह मंजूषा राजा जनक के पास ले जाई गई। जनक ने उसमें एक कन्या को देखा और उसका नाम सीता रख कर पुत्री की तरह पालन-पोषण किया। चिरकाल के पश्चात् राजा जनक ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिये राम और लक्ष्मण को बुलाया। यज्ञ समाप्ति पर राम और सीता का विवाह हुआ। राम-लक्ष्मण दोनों दशरथ की आज्ञा से वाराणसी में रहने लगे। कैकयी के हठ करने, राम को वनवास देने आदि का इस परम्परा में कोई निर्देश नहीं। पंचवटी, दण्डक वन, जटायु, शूर्पणखा, खरदूषण आदि के प्रसंगों का भी अभाव है।

राजा जनक ने रावण को अपने यज्ञ में निमन्त्रित नहीं किया था। इस पराभव से जल कर और नारद के मुख से सीता के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर रावण ने, स्वर्ण मृग का रूप धारण किये हुए मारीच द्वारा, सीता का अपहरण कर लिया। सीताहरण के समय राम और सीता वाराणसी के निकट चित्रकूट वाटिका में विहार कर रहे थे।

गुणभद्र की कथा में हनुमान ने राम की सहायता की। लंका में जाकर सीता

को सांत्वना दी। लंका दहन के प्रसंग का निर्देश नहीं किया गया। युद्ध में लक्ष्मण ने रावण का सिर काटा।

राम और लक्ष्मण दोनों अयोध्या लौटे। राम की आठ हज़ार और लक्ष्मण की सोलह हज़ार रानियों का उल्लेख किया गया है। लोकापवाद के कारण सीता-निर्वासन की इसमें चर्चा नहीं। लक्ष्मण एक असाध्य रोग से मर कर रावणवध के कारण, नरक को गये। इससे विक्षुब्ध होकर राम ने लक्ष्मण के पुत्र पृथ्वीसुन्दर को राज्य पद पर और सीता के पुत्र अजितंजय को युवराज पद पर अभिषिक्त करके स्वयं जैन धर्म में दीक्षा ले ली और अन्त में मुक्ति प्राप्त की। सीता ने भी अनेक रानियों के साथ जैन धर्म में दीक्षा ले ली और अन्त में अच्युत स्वर्ग प्राप्त किया।

जैन-राम कथा में कई असंभव घटनाओं की संभव रूप में व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। इस में वानर और राक्षस दोनों विद्याधर वंश की भिन्न-भिन्न शाखायें मानी गई हैं। जैनियों के अनुसार विद्याधर मनुष्य ही माने गये हैं। उन्हें कामरूपत्व, आकाशगामिनी आदि अनेक विद्यायें सिद्ध थीं अतएव उनका नाम विद्याधर पड़ा। वानर वंशी विद्याधरों की ध्वजाओं, महलों और छतों के शिखर पर वानरों के चिह्न हुआ करते थे, अतएव उन्हें वानर कहा जाता था।[1]

अपभ्रंश के कवियों नें इन्हीं में से किसी परम्परा को लेकर राम कथा रची। स्वयंभू ने विमलसूरि के पउम चरिय की और पुष्पदन्त ने गुणभद्र के उत्तर पुराण की परंपरा का अपने पुराणों में अनुगमन किया है।

चरित ग्रंथों में किसी तीर्थंकर या महापुरुष के चरित्र का वर्णन मिलता है। जैसे जसहर चरिउ, पासणाह चरिउ, वड्ढमाण चरिउ, णेमिणाह चरिउ इत्यादि। उपरिनिर्दिष्ट ६३ महापुरुषों के अतिरिक्त भी अन्य धार्मिक पुरुषों के जीवन चरित से संबद्ध चरितग्रंथ लिखे गये। जैसे—पउम सिरी चरिउ, भविसयत्त चरिउ, सुदंसण चरिउ इत्यादि। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य में अनेक कथात्मक ग्रंथ भी मिलते हैं। अपभ्रंश-साहित्य के कवियों का लक्ष्य जनसाधारण के हृदय तक पहुँच कर उनको सदाचार की दृष्टि से ऊँचा उठाना था। जैनाचार्यों ने शिक्षित और पंडित वर्ग के लिए ही न लिख कर अशिक्षित और साधारण वर्ग के लिए भी लिखा।[2] जनसाधारण को प्रभावित करने के लिए कथात्मक साहित्य से बढ़ कर अच्छा और कोई साधन

---

१ के. भुजबली शास्त्री—जैन रामायण का रावण; जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ६, किरण १, पृष्ठ १; नाथूराम प्रेमी—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २७९; रेवरेंड फॉदर कामिल बुल्के—राम कथा, प्रकाशक हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय प्रयाग, सन् १९५० ई०, पृष्ठ ६०-७१.

२ Maurice Winternitz, A History of Indian Culture, अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् १९३३, भाग २, पृ० ४७५

नहीं। यही कारण है कि पुराण, चरितादि सभी ग्रंथ अनेक कथाओं और अवान्तर कथाओं से ओतप्रोत हैं। धार्मिक विषय का प्रतिपादन भी कथाओं से समन्वित ग्रंथों द्वारा किया गया है। श्रीचन्द्र का लिखा हुआ 'कथाकोष' अनेक धार्मिक और उपदेशप्रद कथाओं का भंडार है। अमरकीर्ति रचित 'छक्कम्मोवएस' (षट् कर्मोपदेश) में कवि ने गृहस्थों को देव-पूजा, गुरुसेवा, शास्त्राभ्यास, संयम, तप और दान इन षट्कर्मों के पालन का उपदेश अनेक सुन्दर कथाओं द्वारा दिया है। इस प्रकार के कथा ग्रंथों के अतिरिक्त भविसयत्त कहा, पज्जुण्ह कहा, स्थूलिभद्र कथा आदि स्वतन्त्र कथा ग्रंथ भी लिखे गये। कथायें किसी प्रसिद्ध पुरुष के चरित वर्णन के अतिरिक्त अनेक व्रतादि के माहात्म्य को प्रदर्शित करने के लिए भी लिखी गईं।

जैनियों के लिखे चरिउ ग्रंथों में किसी महापुरुष का चरित अंकित होता है। इन ग्रन्थों को कवियों ने रास नहीं कहा यद्यपि रास ग्रन्थों में भी चरित वर्णन मिलता है जैसे पृथ्वीराज रासो। ये चरिउ काव्य तथा कथात्मक ग्रन्थ प्रायः धर्म के आवरण से आवृत हैं। अधिकांश चरिउ काव्य प्रेमाख्यानक या प्रेमकथापरक काव्य हैं। इनमें वर्णित प्रेमकथाएँ या तो उस काल में प्रचलित थीं या इन्हें प्रचलित कथाओं के आधार पर कवियों ने स्वयं अपनी कल्पना से एक नया रूप दे डाला। जो भी हो इन सुन्दर और सरस प्रेम कथाओं को उपदेश, नीति और धर्मतत्त्वों से मिश्रित कर कवियों ने धर्मकथा बना डाला। जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत में लिखित 'समराइच्च कहा' और 'वसुदेव हिण्डि' जैसी आदर्श धर्म कथाओं की परम्परा इन अपभ्रंश के चरित काव्यों में चलती हुई प्रतीत होती है। इन विविध चरित काव्यों में वर्णित प्रेम कथा में प्रेम का आरम्भ प्रायः समानरूप से ही होता है—गुण श्रवण से, चित्र दर्शन से या साक्षा-द्दर्शन से। इस प्रेम की परिणति विवाह में होती है।

नायक और नायिका के संमिलन में कुछ प्रयत्न नायक की ओर से भी होता है। अनेक नायकों को सिंहल की यात्रा करनी पड़ती है और अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। प्रेम कथा में प्रतिनायक की उपस्थिति भी अनेक चरित ग्रंथों में मिलती है। प्रतिनायक की कल्पना नायक के चरित्र को उज्ज्वल करने के लिए ही की जाती है किन्तु अपभ्रंश काव्यों में प्रतिनायक का चरित्र पूर्ण रूप से विकसित हुआ नहीं दिखाई देता। नायक को नायिका की प्राप्ति के अनन्तर भी अनेक बार संकट भोगने पड़ते हैं। इसका कारण पूर्व जन्म के कर्मों का विपाक होता है।

इन सब चरित काव्यों में आश्चर्यतत्त्व अथवा चमत्कार बहुलता से दिखाई देते हैं।[1] विद्याधर, यक्ष, गन्धर्व, देव आदि समय-समय पर प्रकट होकर पात्रों की सहायता

---

१. कालि पाद मित्र—Magic and Miracle in Jain Literature, Jain Antiquary,
भाग ७, संख्या २, पृष्ठ ८८; भाग ८, संख्या १, पृष्ठ ९;
भाग ८, संख्या २, पृष्ठ ५७-६८।

करते रहते हैं। धर्म की विजय के लिए कवि ने इन्हीं तत्त्वों का आश्रय लिया है। विद्याधर, देव आदि का समय पड़ने पर उपस्थित हो जाना संभवतः कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता हो किन्तु इन चरित काव्यों में उनकी उपस्थिति का सम्बन्ध पूर्व जन्म के कर्मों से बतलाकर उस अस्वाभाविकता को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। तंत्र-मंत्र में विश्वास, मुनियों की वाणी में श्रद्धा, स्वप्नफल और शकुनों में विश्वास करने वाले व्यक्ति भी इन प्रबंध काव्यों में दिखाई देते हैं।

अपभ्रंश साहित्य में धर्म-निरपेक्ष लौकिक-कथानक को लेकर लिखे गये प्रबन्ध-काव्यों की संख्या अति स्वल्प उपलब्ध हुई है। विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' में राजा के चरित का वर्णन है वह ऐतिहासिक प्रबन्ध-काव्य कहा जा सकता है। अब्दुल रहमान के सन्देश-रासक में एक विरहिणी का अपने प्रियतम के प्रति सन्देश है। यह सन्देश-काव्य ही पूर्ण रूप से लौकिक प्रबन्ध-काव्य है। इस प्रकार के अन्य प्रबन्ध काव्य भी लिखे गये होंगे जिनका जैन भण्डारों के धार्मिक ग्रन्थ समुदाय के साथ प्रवेश न हो सका होगा और अतएव वे सुरक्षित न रह सके।

कथात्मक ग्रन्थों के अतिरिक्त अपभ्रंश में 'जीवनःकरण संलाप कथा' नामक एक रूपक-काव्य भी लिखा गया। यह सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक प्राकृत ग्रंथ का अंश है। इसमें जीव, मन, इन्द्रियों आदि को पात्र का रूप देकर उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार हरिदेव कृत 'मदन पराजय' भी इसी प्रकार का एक रूपक-काव्य है। इसमें कवि ने काम, मोह, अहंकार, अज्ञान, रागद्वेष आदि भावों को पात्रों का रूप देकर प्रतीक रूपक-काव्य की रचना की है।

अपभ्रंश साहित्य में कुछ रासा ग्रंथ भी उपलब्ध हुए हैं। 'पृथ्वीराज रासो', मूलरूप में जिसके अपभ्रंश में होने की कल्पना दृढ़ होती जा रही है, और 'सन्देश रासक', जो एक सन्देश काव्य है, को छोड़कर प्रायः सभी उपलब्ध रासा ग्रंथों का विषय धार्मिक ही है। जिनदत्तसूरि कृत 'उपदेशरसायन' रास में धार्मिकों के कृत्यों का उल्लेख किया है और गृहस्थों को सदुपदेश दिये हैं। इसके अतिरिक्त जिनप्रभरचित 'नेमि रास' और 'अन्त-रंगरास' नामक दो अन्य अपभ्रंश रासग्रंथों का भी उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त 'जंबू स्वामि रास', 'समरा रास', 'रेवंत गिरि रास' आदि कुछ प्राचीन गुजराती से प्रभावित अपभ्रंश रास भी लिखे गये। इन सब में राजयश के स्थान पर धार्मिकता का अंश है। रासा ग्रंथों में धार्मिक पुरुष के चरित वर्णन के अतिरिक्त गुरु स्तुति, धार्मिक उपदेश, व्रत दान सम्बन्धी कथाओं का उल्लेख भी मिलता है।

रासा ग्रंथों के अतिरिक्त अपभ्रंश साहित्य में कुछ स्तोत्र ग्रंथ भी मिलते हैं। इनमें किसी तीर्थंकर, पौराणिक पुरुष या गुरु की स्तुति मिलती है। अभयदेव सूरि-कृत जय तिहुयण स्तोत्र, ऋषभजिन स्तोत्र, धर्मसूरि स्तुति आदि इसी कोटि के ग्रंथ हैं। धर्मसूरि स्तुति में कवि ने बारह मासों में गुरु के नामों से स्तुति की है। अपभ्रंश के सन्धि ग्रंथ भी अनेक मिले हैं। इनमें एक या दो सन्धियों में किसी पौराणिक पुरुष या प्रसिद्ध पुरुष का चरित संक्षेप में वर्णित है।

उपरिनिर्दिष्ट अपभ्रंश ग्रंथों के अतिरिक्त चूनरी, चर्चरी, कुलक इत्यादि नामांकित कुछ अपभ्रंश ग्रंथ भी मिले हैं। विनयचन्द्र मुनि की लिखी चूनरी में लेखक ने धार्मिक भावनाओं और सदाचारों की रंगी चूनरी ओढ़ने का उपदेश दिया है। जिनदत्त सूरि रचित चर्चरी में कृतिकार ने अपने गुरु का गुणगान किया है। सोलण कृत चर्चरिका-चर्चरी में भी स्तुति ही मिलती है। इसके अतिरिक्त चाचरि स्तुति और गुरु स्तुति चाचरि का उल्लेख भी पत्तन भंडार की ग्रंथ सूची में मिलता है। जिनदत्त सूरि कृत काल-स्वरूप कुलक में भी श्रावकों-गृहस्थियों के लिए धर्मोपदेश दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त भावनाकुलक, नवकार फल कुलक, पश्चात्ताप कुलक आदि कुलक ग्रंथों का निर्देश पत्तन भंडार की ग्रंथ सूची में मिलता है।

ऊपर अपभ्रंश साहित्य के जिन ग्रंथों का निर्देश किया गया है वे सब अपभ्रंश के महाकाव्य, खंड काव्य और मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रंथों में अनेक काव्यात्मक सुन्दर स्थल मिलते हैं। महाकाव्य प्रतिपादित लक्षण इनमें भी न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं। किसी नायक के चरित का वर्णन, शृङ्गार, वीर, शान्तादि रसों का प्रतिपादन, सन्ध्या, रजनी, सूर्योदय, चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन इत्यादि सब लक्षण इन काव्यों में मिलते हैं। इनमें धार्मिक तत्व के प्रतिपादन द्वारा यद्यपि काव्य पूर्ण रूप से परिस्फुटित नहीं हो सका तथापि ये सुन्दर काव्य हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन प्रबन्धकाव्यों में से कतिपय प्रबन्धकाव्यों में कवि ने नायक के चरित वर्णन के साथ-साथ उसके पूर्व जन्म की अनेक कथाओं और अवान्तर कथाओं का भी मिश्रण कर दिया है, जिससे उनके कथात्मक सम्बन्ध का भली प्रकार निर्वाह नहीं हो सका। इसी कारण प्रबन्ध-काव्य के वाह्यरूप संघठन में संस्कृत-प्राकृत प्रबन्ध-काव्यों की अपेक्षा कुछ शिथिलता आ गई है।

उपरिलिखित विषयों के अतिरिक्त अपभ्रंश में अनेक उपदेशात्मक ग्रंथ भी मिलते हैं। इन ग्रंथों में काव्य की अपेक्षा धार्मिक उपदेश भावना प्रधान है। काव्य-रस गौण है धर्म-भाव प्रधान। इस प्रकार की उपदेशात्मक कृतियां अधिकतर जैन धर्म के उपदेशकों की ही लिखी हुई हैं। इनमें से कुछ में आध्यात्मिक तत्व प्रधान है कुछ में आधिभौतिक उपदेश तत्व। प्रथम प्रकार की कृतियों में आत्म-स्वरूप, आत्म-ज्ञान, संसारनश्वरता, विषयत्याग, वैराग्यभावना आदि का प्रतिपादन है। जैसे योगीन्दु का परमात्म प्रकाश और योग सार, मुनि रामसिंह का पाहुड़ दोहा, सुप्रभाचार्य का वैराग्य सार इत्यादि। दूसरे प्रकार की कृतियों में श्रावकोचित कर्त्तव्यों और धर्मों के पालन का विधान है। नैतिक और सदाचारमय जीवन को उन्नत करने वाले उपदेशों का प्रतिपादन है। इस प्रकार की रचनाओं में देवसेन का सावयधम्मदोहा, जिनदत्त सूरि के उपदेश रसायन रास और कालस्वरूप कुलक, जयदेव मुनि की भावना संधि प्रकरण और महेश्वर सूरि की संयममंजरी आदि रचनाओं का अन्तर्भाव किया जा सकता है।

जैन धर्म सम्बन्धी उपदेशात्मक रचनाओं के समान बौद्ध सिद्धों की भी कुछ फुटकर

रचनायें मिलती हैं जिनमें उन्होंने वज्रयान या सहजयान के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इनकी रचनाओं का संग्रह 'दोहा कोष' और 'बौद्ध गान ओ दोहा', 'चर्यापद' आदि नामों से हुआ है। इन्होंने अधिकतर दोहों और भिन्न-भिन्न राग रागनियों में ही लिखा। सिद्धों की रचनायें दो प्रकार की मिलती हैं कुछ में सिद्धान्तों का प्रतिपादन है और कुछ में ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का और प्राचीनरूढ़ि का कटुता से खंडन। रहस्यवाद, सहज मार्ग, गुरु महत्ता, मंत्र तंत्रादि खंडन, काया तीर्थ, कर्म के वाह्यरूप का खंडन आदि इनकी कविता का मुख्य विषय था।

बौद्ध सिद्धों की दोहात्मक और गानबद्ध रचनाओं के अतिरिक्त शैवमतानुयायियों के शैव सिद्धान्त प्रतिपादक कुछ अपभ्रंश पद्य काश्मीर में लिखे संस्कृत और काश्मीरी भाषा के तन्त्र सार, लल्लावाक्यानि आदि कुछ ग्रन्थों में इतस्ततः विकीर्ण मिले हैं। जिनसे अपभ्रंश के क्षेत्र के विस्तार पर प्रकाश पड़ता है।

धार्मिक कृतियों का भाषा की दृष्टि से उतना महत्व नहीं जितना भावधारा की दृष्टि से। इनकी रचनाओं में भाषा का विचार गौण है और भावधारा विकास का विचार मुख्य है।

इन उपदेशात्मक धार्मिक कृतियों के अतिरिक्त इस प्रकार के फुटकर पद्य भी अन्य प्राकृत के ग्रन्थों में इतस्ततः विकीर्ण मिलते हैं, जिनमें प्रेम, शृंगार, वीर आदि किसी भाव की तीव्रता से और सुन्दरता से व्यंजना मिलती है। इनमें से अनेक पद्य सुन्दर सुभाषित रूप में दिखाई देते हैं। इस प्रकार के मुक्तक पद्य व्याकरण के और छन्दों के ग्रन्थों में उदाहरणस्वरूप भी पाये जाते हैं।

रस की दृष्टि से अपभ्रंश काव्यों में हमें मुख्य रूप से शृंगार, वीर और शान्त का ही वर्णन मिलता है। सौन्दर्य वर्णन में शृंगार, पराक्रम और युद्ध के वर्णनों में वीर और संसार की असारता नश्वरता आदि के प्रतिपादन में शांत रस दृष्टिगोचर होता है। शृंगार और वीर रसों के वर्णन होने पर भी प्रधानता शान्त रस की ही रखी गई है। जीवन में यौवन के सुखभोग तथा सुन्दरियों के साथ भोगविलास के प्रसंगों द्वारा शृंगार रस की व्यंजना की गई है। जीवन के कर्म क्षेत्र में अवतरित होकर कर्मभूमि में पराक्रम के प्रदर्शन द्वारा वीर रस की व्यंजना मिलती है। जहां वीरता के प्रदर्शन से चमत्कृत नायिका आत्म समर्पण कर बैठती है, वहां वीर रस, शृंगार रस का सहायक होकर आता है। जहां झरोखे में बैठी सुन्दरी की कल्पना से नायक वीरता प्रदर्शन के लिए संग्रामभूमि में उतरता है, वहां शृंगार-रस वीर-रस का सहायक होकर आता है। दोनों रसों की कोई भी स्थिति हो—दोनों का पर्यवसान शान्त रस में दिखाई देता है। जीवनकाल में राज्य प्राप्ति के उपरान्त, वीरता से शत्रुओं का उच्छेद कर, विषय सुख का उपभोग करते हुए अन्त में किसी मुनि के उपदेश-श्रवण द्वारा जीवन और संसार से विरक्त हो जाना, यही संक्षेप में प्रायः सब काव्यों का कथानक है। इसी से इन काव्यों में शान्त रस अंगी और शेष रस उसके अंग हैं।

संस्कृत महाकाव्यों की सर्गबद्ध शैली की तरह अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्य अनेक

सन्धियों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक सन्धि कुछ कड़वकों से मिलकर बनती है। कड़वक की समाप्ति घत्ता से होती है। कहीं कहीं पर सन्धि के प्रारम्भ में दुवई या घत्ता भी मिलता है जिसमें संक्षेप से सन्धि का सार दिया होता है। प्रत्येक सन्धि में कितने कड़वक हों ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं मिलता। कड़वक का मूलभाग पज्झटिका, पादाकुलक, वदनक, पाराणक, अलिल्लह आदि छंदों से बनता है। कुछ महापुराण और पुराण ग्रंथ कांडों में भी विभक्त मिलते हैं। प्रत्येक कांड कई सन्धियों से मिल कर बनता है।

कृति के आरम्भ में मंगलाचरण मिलता है। सज्जन दुर्जन स्मरण, आत्म विनय आदि भी काव्य के आरम्भ में प्रदर्शित किये गये हैं।

अपभ्रंश काव्यों में हमें भाषा की दो धाराएं बहती हुई दिखाई देती हैं। एक तो प्राचीन संस्कृत-प्राकृत परिपाटी को लिये साहित्यिक भाषा है; जिसमें पदयोजना, अलंकार, शैली आदि प्राचीन अलंकृत शैली के अनुसार हैं। दूसरी धारा अपेक्षाकृत अधिक उन्मुक्त और स्वछंद है। इसमें भाषा का चलता हुआ और सर्वसाधारण का बोलचाल वाला रूप मिलता है। कुछ कवियों ने एक धारा को अपनाया कुछ ने दूसरी को पसंद किया। पुष्पदंत जैसे प्रतिभाशाली कवियों की रचनाओं में दोनों धारायें बहती हुई दिखाई देती हैं।

अपभ्रंश कवियों की एक विशेषता यह रही है कि इन्होंने रूढ़ि का पालन न करते हुए प्रत्यक्ष अनुभूत और लौकिक जीवन से संबद्ध घटनाओं का वर्णन किया है। किसी दृश्य का वर्णन हो कवि की आँखों से यह लौकिक जीवन ओझल नहीं हो पाता। लौकिक जीवन की अनुभूति उसकी भाषा में उसके भावों में और उसकी शैली में समान रूप से अभिव्यक्त हुई है। कवि चाहे स्वर्ग का वर्णन कर रहा हो, चाहे पर्वत के उत्तुंग शिखर का, चाहे कान्तार प्रदेश का, वह मानव जीवन की—ग्राम्य जीवन की—घटनाओं को नहीं भूल पाता। यह प्रवृत्ति उसकी भाषा में मिलती है, उसके विषयवर्णन में मिलती है और उसकी अलंकार योजना में मिलती है। अलंकारों में अप्रस्तुत विधान के लिए कवि प्राचीन, परंपरागत उपमानों का प्रयोग न कर जीवन में साक्षात् अनुभूत और दृश्यमान उपमानों का प्रयोग करता है।

अपभ्रंश भाषों में एक और प्रवृत्ति दिखाई देती है वह है ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की। भावानुकूल शब्द योजना के लिए इस से अच्छा और कोई साधन नहीं हो सकता। अर्थ की व्यंजना के लिए तदनुकूल ध्वनिसूचक शब्दों का प्रयोग उत्तर काल में जाकर मन्द हो गया।

भाषा को प्रभावमयी बनाने के लिए शब्दों की और शब्द-समूहों की आवृत्ति के अनेक उदाहरण अपभ्रंश काव्यों में मिलते हैं। इसी प्रकार भाषा में अनेक लोकोक्तियों और वाग्धाराओं का प्रयोग इन अपभ्रंश कवियों ने किया है। इनके प्रयोग से भाषा चलती हुई और आकर्षक हो गई है। खेद है कि खड़ी बोली हिन्दी ने अपभ्रंश भाषा की इस प्रवृत्ति को न अपनाया। इन वाग्धाराओं के प्रयोग से भाषा सजीव और

सप्राण हो जाती है।

अपभ्रंश काव्यों में अनेक छंदों का प्रयोग यिलता है। संस्कृत के वर्णवृत्तों की अपेक्षा मात्रिक छन्दों का अधिकता से प्रयोग पाया जाता है, किन्तु वर्णवृत्तों का पूर्णरूप से अभाव नहीं। संस्कृत के उन्हीं वर्णवृत्तों को अपभ्रंश कवियों ने ग्रहण किया है जिनमें एक विशेष प्रकार की गति इन्हें मिली। 'भुजंग प्रयात' इन कवियों का प्रिय छन्द था। संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी इन्हों ने अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल परिवर्त्तन कर दिये। छन्दों में अन्त्यानुप्रास अपभ्रंश कवियों की विशेषता है। इस प्रकार छन्दों को गान और लय के अनुकूल वना लिया गया। पद्य की गेयता इस गुण से और भी अधिक बढ़ गई। संस्कृत के वर्णवृत्तों में भी इस प्रकार के अन्त्यानुप्रास का प्रयोग इन कवियों ने किया। इतना ही नहीं कि यह अन्त्यानुप्रास प्रत्येक चरण के अन्त में मिलता हो किन्तु चरण के मध्य में भी इसका प्रयोग मिलत है। संस्कृत के वर्णवृत्तों के नियमानुसार चरण में जहाँ यति का विधान किया गया है वहां भी अन्त्यानुप्रास का प्रयोग कर उस छन्द को एक नया ही रूप दे डाला। छन्द का एक चरण, दो चरणों में परिवर्तित कर दिया।

इतना ही नहीं कि अपभ्रंश कवियों ने एक ही छन्द में नवीनता उत्पन्न की, अनेक नवीन छन्दों की सृष्टि भी उन्होंने की। दो छंदों को मिला कर अनेक नये छन्दों का निर्माण अपभ्रंश काव्यों में मिलता है। छप्पय, कुंडलिक, चन्द्रायन, वस्तु या रड्डा, रासाकुल इत्यादि इसी प्रकार के छन्द हैं।

अपभ्रंश काव्यों में प्राकृत के गाथा छन्द का भी प्रयोग कवियों ने किया है। अनेक गाथाओं की भाषा प्राकृत संस्कार के कारण प्राकृत से प्रभावित है।

अपभ्रंश चरित काव्यों में निम्नलिखित छन्दों का प्रयोग अधिकता से मिलता है–

पज्झटिका, पादाकुलक, अलिल्लह, घता, अडिला, सिंहावलोक, रड्डा, प्लवंगम, भुजंग प्रयात, कामिनी मोहन, तोटक, दोधक, चौपाई इत्यादि।

पज्झटिका, अलिल्लह आदि छन्दों की कुछ पंक्तियों के अन्त में घत्ता रखने की पद्धति आगे चल कर जायसी, तुलसी आदि हिन्दी कवियों के काव्यों में परिस्फुट हुई।

अपभ्रंश के मुक्तक काव्य में दोहा छन्द का प्रचुरता से प्रयोग मिलता है। योगीन्दु, रामसिंह, देवसेन. आदि सभी उपदेशकों ने दोहे ही लिखें हैं। सिद्धों ने भी दोहों में रचना की जिसके आधार पर उनके संग्रह का नाम दोहा कोष पड़ा।

अपभ्रंश साहित्य अधिकांश धार्मिक आवरण से आवृत है। माला के तन्तु के समान सब प्रकार की रचनायें धर्मसूत्र से ग्रथित हैं। अपभ्रंश कवियों का लक्ष्य था एक धर्म-प्रवण समाज की रचना। पुराण, चरिउ, कथात्मक कृतियां, रासादि सभी प्रकार की रचनाओं में वही भाव दृष्टिगत होता है। कोई प्रेम कथा हो चाहे साहसिक कथा, किसी का चरित हो चाहे कोई और विषय, सर्वत्र धर्मतत्व अनुस्यूत हैं। इस प्रवृत्ति के कारण कभी कभी इन ग्रंथों में एक प्रकार की एकरूपता और नीरसता दृष्टिगत होने लगती है। अपभ्रंश लेखकों ने लौकिक जीवन एवं गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध कथानक

भी लिखे किन्तु वे भी इसी धार्मिक आवरण से आवृत हैं। भविसयत्त कहा, पउमसिरि-चरिउ, सुदंसण चरिउ, जिणदत्त चरिउ आदि इसी प्रकार के ग्रंथ हैं। मानों धर्म इनका प्राण था और धर्म ही इनकी आत्मा। इस प्रवृत्ति के होते हुए भी अपभ्रंश प्रबंध-काव्यों में नायकों के बहुपत्नीत्व का चित्रण आज कुछ खटकता सा है।

राजशेखर (१०वीं सदी) ने राज सभा में संस्कृत और प्राकृत कवियों के साथ अपभ्रंश कवियों के बैठने की योजना बताई है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि उस समय अपभ्रंश कविता भी राजसभा में आदृत होती थी। इसी प्रकरण में भिन्न भिन्न कवियों के बैठने की व्यवस्था बताते हुए राजशेखर ने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश कवियों के साथ बैठने वालों का भी निर्देश किया है। अपभ्रंश कवियों के साथ बैठने वाले चित्रकार, जौहरी, सुनार, बढ़ई आदि समाज के मध्य कोटि के मनुष्य होते थे। इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय संस्कृत कुल थोड़े से पण्डितों की भाषा थी। प्राकृत जानने वालों का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा था। अपभ्रंश जानने वालों का क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत था और इस भाषा का संबंध जन साधरण के साथ था। राजा के परिचारक वर्ग का 'अपभ्रंश भाषण प्रवण' होना भी इसी बात की ओर संकेत करता है।[2]

श्री मुनि जिन विजय जी द्वारा संपादित 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' नामक ग्रंथ में स्थान स्थान पर अनेक अपभ्रंश पद्य मिलते हैं। इस ग्रंथ से प्रतीत होता है कि अनेक राजसभाओं में अपभ्रंश का आदर चिरकाल तक बना रहा। राजा भोज या उनके पूर्ववर्त्ती राजा अपभ्रंश कविताओं का सम्मान ही नहीं करते थे, स्वयं भी अपभ्रंश में कविता लिखते थे। राजा भोज से पूर्व मुंज की सुन्दर अपभ्रंश कविताएँ मिलती हैं। अपभ्रंश कविताओं की परंपरा आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं के विकसित हो जाने पर भी चलती रही, जैसा कि विद्यापति की कीर्त्तिलता से स्पष्ट होता है।

अध्ययन के सुभीते के लिये अपभ्रंश साहित्य का विभाजन कर लेना उचित प्रतीत होता है। अतएव यहां कुछ उसका भी विचार कर लेना ठीक होगा। अधिकांश अपभ्रंश साहित्य की रचना विदर्भ, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, मिथिला और मगध में हुई। विभिन्न प्रान्तों में प्राप्त अपभ्रंश साहित्य के आधार पर इस साहित्य का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न प्रांतों की दृष्टि से किया जा सकता है—

१. पश्चिमी प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य—

---

१. तस्य (राजासनस्य) चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन्।···
पूर्वेण प्राकृताः कवयः,···। पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः
ततः परं चित्र लेप्यकृतो माणिक्य बन्धका वैकटिकाः स्वर्णकार-वर्द्धकि लोहकारा अन्येपि तथाविधाः। दक्षिणतो भूतभाषा कवयः, इत्यादि।
काव्य मीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५४–५५

२. वही अध्याय १०, पृ० ५०

इसमें स्वयंभू, योगीन्दु, धनपाल, हेमचन्द्र, अब्दुलरहमान आदि लेखकों की कृतियों का अन्तर्भाव होगा।

२. महाराष्ट्र प्रदेश का अपभ्रंश साहित्य—
इसमें पुष्पदन्त और मुनि कनकामर की कृतियों का अन्तर्भाव होगा।

३. पूर्वी प्रांतों का अपभ्रश साहित्य—
इसमें सिद्धों और विद्यापति की रचनाओं की परिगणना की जा सकती है।

४. उत्तरी प्रदेशों का अपभ्रंश साहित्य—
इसमें नाथ संप्रदाय वालों के अपभ्रंश पदों का समावेश किया जा सकता है।

धर्म या सम्प्रदाय की दृष्टि से भी अपभ्रश साहित्य का वर्गीकरण किया जा सकता है। अधिकांश अपभ्रंश साहित्य जैनियों द्वारा ही रचा गया इसलिए इस सारे साहित्य का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है—जैन अपभ्रंश-साहित्य और जैनेतर अपभ्रंश साहित्य। जैनेतर अपभ्रंश साहित्य में जैन धर्म से भिन्न धर्मवालों द्वारा रचित अपभ्रंश साहित्य आ जाता है।

इस प्रकार जैनेतर अपभ्रंश साहित्य का भी निम्नलिखित तीन कोटियों में विभाजन किया जा सकता है—

१. ब्राह्मण्यों द्वारा रचित अपभ्रंश साहित्य,
२. बौद्धों द्वारा रचित अपभ्रंश साहित्य,
३. मुसलमानों द्वारा रचित अपभंश साहित्य

तीसरा वर्गीकरण काव्य रूप की दृष्टि से किया जा सकता है। समस्त अपभ्रंश साहित्य को हम प्रबन्धात्मक काव्य और मुक्तक काव्य इन दो भागों में बांट सकते हैं। प्रबन्धात्मक अपभ्रंश साहित्य भी महाकाव्य और खंड काव्य इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है।

इन तीनों प्रकार के वर्गीकरण में प्रदेश की दृष्टि से किया गया वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। यदि एक प्रान्त का वासी लेखक दूसरे प्रान्त में जाकर रचना करता है तो उसकी रचना में पहले प्रान्त की विशेषताएं ही परिलक्षित होंगी, यद्यपि वर्गीकरण की दृष्टि से उसकी रचना का अन्तर्भाव दूसरे प्रान्त में ही किया जायगा। धर्म की दृष्टि से किये गये वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न धर्म या संप्रदाय वालों की विचारधारा का सरलता से अध्ययन किया जा सकता है। किन्तु साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा का अध्ययन करने वाले के लिए यह तीसरे प्रकार का वर्गीकरण ही अधिक संगत और उपयोगी सिद्ध होगा इसलिए इसी तीसरे प्रकार के वर्गीकरण के आधार पर आगामी अध्यायों में अपभ्रश साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है।

छठा अध्याय

अपभ्रंश महाकाव्य

संस्कृत में काव्यों के वर्णनीय विषय प्रायः रामायण, महाभारत या पुराणों से लिए गए। अधिकांश काव्य राम कथा, कृष्ण कथा या किसी पौराणिक कथा को लेकर लिखे गए। इन विषयों के अतिरिक्त इस प्रकार के काव्य गन्थ भी लिखे गये जिनमें किसी राजा के शौर्य या विजय का वर्णन हो या किसी राजा की प्रेम कथा का विस्तार हो। विक्रमांक देव चरित, कुमारपाल चरित और नव साहसांक चरित इसी प्रकार के काव्य हैं। बौद्ध और जैन कवियों ने अपने-अपने धर्म प्रवर्तकों और महापुरुषों के चरित वर्णन को भी काव्य का विषय बनाया। अश्वघोष रचित बुद्ध चरित, कनकदेव वादिराज कृत यशोधर चरित, हेमचन्द्र रचित त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित आदि इसी प्रकार के काव्य हैं।

प्राकृत में भी प्रबन्ध काव्यों का विकास कुछ तो संस्कृत के ढंग पर हुआ और कुछ स्वतन्त्र रूप से। अनेक कवियों ने संस्कृत के समान प्राकृत में भी अपनी प्रबन्ध-चातुरी दिखाने का प्रयत्न किया। प्राकृत के भी अधिकांश काव्य राम और कृष्ण की कथा को लेकर ही रचे गये हैं। प्रवरसेन का सेतुबन्ध या रावण वध, श्री कृष्णलीलाशुक का श्री चिह्न काव्य (सिरि चिंध कव्व)[1] क्रमशः राम कथा और कृष्ण कथा पर लिखे गये प्राकृत काव्य हैं। राम और कृष्ण की कथा के अतिरिक्त वाक्पतिराज का गौड वहो इन कथाओं से भिन्न एक राजा के जीवन को लेकर रचा गया। कौतूहल कृत लीलावती कथा[2] एक प्रेमाख्यान है।

शैली और काव्य रूप की दृष्टि से प्राकृत प्रबंध काव्यों में से कुछ तो ऐसे मिलते हैं जिनमें संस्कृत की परंपरा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रबन्ध काव्य प्राकृत में लिखे गये जिनका संस्कृत की परंपरा से अलग होकर विकास हुआ। इनमें हमें संस्कृत-छंदों से भिन्न छंद, एवं

---

१. डा० आ. नें. उपाध्ये—भारतीय विद्या, भाग ३, अंक १, १९४१ ई. पृष्ठ ६, संस्कृत के द्वयाश्रय काव्यों के समान कवि नें १२ सर्गों में गाथा छंद में श्री कृष्ण की लीला और त्रिविक्रम के प्राकृत सूत्रों की व्याख्या की है।

२. डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा संपादित, भारतीय विद्या भवन, बम्बई से १९४९ ई. में प्रकाशित।

उपर्युक्त वर्ण्य विषयों से भिन्न ऐहलौकिक दृश्यों और घटनाओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं। यह प्रवृत्ति प्राकृत के गाथा सप्तशती इत्यादि मुक्तक काव्यों में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। अपभंश के प्रबंध काव्यों में भी इस ऐहलौकिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

अपभ्रंश काव्यों में भी कवियों ने संस्कृत काव्यों की शैली, तदनुकूल काव्यरूप आदि का आश्रय लिया किन्तु यह सारा ढांचा शिथिल सा हो गया था। वर्णनीय विषयों की विविधरूपता के स्थान पर धार्मिक विचार धारा और धार्मिक पुरुषों के चरितों के वर्णन से उत्पन्न एकरूपता द्वारा कुछ नीरसता इन काव्यों में दृष्टिगत होने लग गई थी। अपभ्रंश के अनेक "चरित" इस बात के प्रमाण हैं। वर्ण्य विषय में चाहे एकरूपता बनी रही किन्तु लौकिक भावना और दृश्यों का चित्रण अपभ्रंश काव्यों में नाना रूपों में हुआ। अब्दुलरहमान का संदेश रासक इसी प्रकार का एक प्रबंधकाव्य है। संस्कृत काव्यों में भिन्न-भिन्न सर्गों में भिन्न-भिन्न छन्दों के विधान की जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह प्राकृत काव्यों में ही बहुत कुछ दूर हो गई थी। अपभ्रंश काव्यों में भी यही प्राकृत की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

अपभ्रंश साहित्य में अनेक ग्रंथ इस प्रकार के उपलब्ध होते हैं जिनमें घटनाओं और वर्णनों का वही रूप दृष्टिगोचर होता है जो संस्कृत और प्राकृत महाकाव्यों में था—किसी के जीवन की कथा का क्रमशः विस्तार, जीवन के अनेक पक्षों का दिग्दर्शन, प्राकृतिक दृश्यों के सरस वर्णन, प्रातःकाल, संध्या, सूर्योदय आदि प्राकृतिक घटनाओं का सजीव रूप प्रदर्शन। इनके आधार पर इन सब ग्रंथों को प्रबन्ध काव्य समझा जा सकता है। अपभ्रश साहित्य के अनेक पुराण, चरितग्रंथ, और कथात्मक कृतियां निस्संदेह उच्चकोटि के महाकाव्य कहे जा सकते हैं। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में स्पष्ट उल्लेख किया है कि इन अपभ्रंश-महाकाव्यों में सर्ग को कुडवक कहते हैं।[१] इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि उस समय अपभ्रंश-महाकाव्य संस्कृत-महाकाव्यों के ढंग पर ही लिखे जाते थे। अपभ्रंश काव्यों के अध्ययन से सिद्ध होता है कि दोनों के आधारभूत तत्व एक ही हैं यद्यपि उन तत्वों की अत्यधिक शिथिलता अपभ्रंश महाकाव्यों में दृष्टिगोचर होती है। महाकाव्य की आत्मा में उच्छ्वास पूर्ववत् था किन्तु उसमें निर्बलता आ गई थी। महाकाव्य के शरीर का ढाँचा वैसा ही था किन्तु उसका ओज और सौन्दर्य वैसा न रह गया था।

पहिले निर्देश किया जा चुका है कि इन प्रबन्ध काव्यों में सर्ग के लिए सन्धि का प्रयोग होता था जिसके लिये साहित्यदर्पणकार ने कुडवक का निर्देश किया है।

---

१. साहित्य दर्पण, निर्णय सागर प्रेस, सन् १९१५,

अपभ्रंश निबद्धे स्मिन्सर्गाः कुडवकाभिधाः।
तथापभ्रंश योग्यानि छंदांसि विविधान्यपि ॥

६. ३२७

प्रत्येक सन्धि अनेक कडवकों से मिलकर बनती थी। प्रत्येक कडवक पज्झटिका आदि अनेक छन्दों से मिलकर बनता था जिसकी समाप्ति घत्ता से होती थी। सन्धि में कितने कडवक हों ऐसा कोई निश्चित नियम न था। सन्धि का आरम्भ ध्रुवक के रूप में घत्ता से होता था जिसमें संधि का सार संक्षेप से अभिव्यक्त होता था। कुछ महाकाव्य कांडों में विभक्त किये गये हैं। प्रत्येक कांड अनेक संधियों से मिल कर बनता है। कांडों में विभाजन की यह शैली वाल्मीकि रामायण में पाई जाती है और हिंदी में भी बनी दिखाई देती है यहां तक कि रामचरित मानस को भी सोपानों के साथ ही कांडों में विभाजित करके देखा जाता है। साहित्य दर्पणकार के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय अपभ्रंश महाकाव्यों में संस्कृत और प्राकृत से स्वतन्त्र छंदों का प्रयोग भी प्रचुरता से आरम्भ हो गया था।

काव्य की रचना यदि किसी हृद्गत भाव की अभिव्यक्ति के लिए हो तो उसकी भावानुभूति में स्वाभाविकता और सुन्दरता का समावेश हो ही जाता है। काव्यरचना यदि प्रचार दृष्टि से हो तो उसमें वह तीव्रता और सुन्दरता स्पष्टतया अंकित नहीं हो सकती। कलाकार—कलाप्रदर्शन, कला प्रचार, यश की प्राप्ति आदि भाव निरपेक्ष होकर, यदि हृदय की तीव्रानुभूति को तीव्रता से अभिव्यक्त करना ही अपना लक्ष्य समझता है तो उसकी कला में एक विशेष सौंदर्य दिखाई देता है। जैनाचार्यों के ग्रंथों में प्रचार भावना के कारण काव्यत्व कुछ दब सा गया है और काव्यत्व की मात्रा की अपेक्षा कथा-की मात्रा कुछ अधिक हो गई है।

जैनाचार्यों ने प्रचार दृष्टि से जिन ग्रंथों की रचना की वे अधिकतर सर्वसाधारण अशिक्षित वर्ग के लिए थे। कुछ ग्रंथ शिक्षित वर्ग को अपना मत स्वीकार कराने की दृष्टि से भी रचे गये किन्तु अधिकता प्रथम प्रकार के ग्रंथों की ही है।

प्रबन्ध कव्यों का भेद करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विषय की दृष्टि से तीन प्रकार के प्रबन्ध काव्य बताये—वीर गाथात्मक, प्रेम गाथात्मक और जीवन गाथात्मक। उन्होंने प्रथम में पृथ्वीराज रासो आदि, द्वितीय में जायसी की पद्मावत आदि प्रेमाख्यानक काव्य, और तृतीय में रामचरित मानस आदि काव्यों का अन्तर्भाव किया है। अपभ्रंश में हमें चरिउ रूप में अनेक जीवनगाथात्मक काव्य मिलते हैं। इनमें किसी तीर्थंकर या महापुरुष का चरित्र वर्णित है। इन काव्यों में हमें जीवन के उन विविध पक्षों का वह विस्तार दृष्टिगोचर नहीं होता जो तुलसीदास ने राम के जीवन में अंकित किया है।

अपभ्रंश के चरितकाव्यों में कथा की मात्रा अधिक स्पष्ट है। अनेक चरित काव्य तो पद्यबद्ध उपन्यास कहे जा सकते हैं। आगे चलकर हिन्दी में जिस उपन्यास साहित्य का विकास हुआ उसका आभास इन चरित काव्यों में दिखाई पड़ता है। भिन्न-भिन्न चरितकाव्यों के कथानक को पढ़ कर यह कथन संभवतः अधिक स्पष्ट हो सके। प्राचीन काल में हस्तलिखित पुस्तकों की असुविधा और कमी के कारण उस समय की प्रायः सभी रचनाएं इस दृष्टि से की जाती थीं कि वे लोगों की स्मृति

में जीवित रह सकें। पद्य आसानी से कंठस्थ किये जा सकते हैं अतएव प्रायः दर्शन, धर्म, नीति, ज्योतिष, वैद्यक, गणित आदि सभी विषयों के ग्रंथ पद्य में लिखे गये। अपभ्रंश की अनके रचनाएँ भी इसी लिये पद्य में मिलती हैं। यदि अपभ्रंश रचनाओं के समय गद्य की वही सुविधा होती जो आजकल है तो संभवतः हमें अनेक उपन्यास अपभ्रंश गद्य में भी उपलब्ध हो सकते और आज का उपन्यास साहित्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध होता।

अपभ्रंश महाकाव्य जितने भी उपलब्ध हो सके हैं सबके सब धार्मिक दृष्टि से लिखे गये प्रतीत होते हैं। यद्यपि महाकाव्यों का विषय धर्मभावनानिरपेक्ष ऐहिकता परक भी हो सकता है जैसा कि संस्कृत और प्राकृत के काव्यों में दिखाई देता है किन्तु अपभ्रंश में इस प्रकार के महाकाव्य नहीं दिखाई देते। संभवतः जैनेतर कवियों ने इस प्रकार के महाकाव्य रचे होंगे किन्तु उनकी सुरक्षा न हो सकी। जैन भंडारों में धार्मिक साहित्य ही प्रवेश पा सका और वही आजतक सुरक्षित रह सका। जो हो इस प्रकार के धार्मिक साहित्य को लेकर रचे गये महाकाव्यों की परंपरा में कवि स्वयंभू सबसे पूर्व हमारे सामने आते हैं। स्वयंभू की रचनाओं में उनसे पूर्ववर्ती कुछ कवियों के निर्देश मिलते हैं।[1] इनकी प्रौढ़ और परिपुष्ट रचना को देखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश की यह प्रांजल परंपरा सहसा स्वयंभू से प्रकट न होकर उनसे पूर्वकाल में उत्पन्न हुई होगी, जिसका विकास स्वयंभू की रचना में आकर हुआ।

स्वयंभू की तीन कृतियां उपलब्ध हैं—

पउम चरिउ (पद्म चरित या रामायण), रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवंश पुराण) और स्वयंभू छन्द[2]। इन्होंने पंचमी चरिउ भी लिखा जो अप्राप्त है।[3] किसी व्याकरण ग्रंथ की रचना भी इन्होंने की, ऐसा निर्देश मिलता है।[4]

---

१. चउमुहएवस्स सद्दो सयम्भुएवस्स मणहरा जीहा।
भद्दासय-गोग्गहणं अज्जवि कइणो ण पावन्ति॥ पउम चरिउ
छंदडिय दुवइ धुवएहिं जडिय, चउमुहेण सम्मप्पिय पद्धडिय।
रिट्ठणेमि चरिउ

२. प्रो० एच० डी० वेलणकर ने ग्रन्थ का संपादन किया है। पहले तीन अध्याय रायल एशियाटिक सोसायटी बॉम्बे के जर्नल सन् १९३५ पृष्ठ १५-५८ में और शेष बॉम्बे युनिवर्सिटी जर्नल, जिल्द ५, संख्या ३, नवम्बर १९३६ में प्रकाशित हुए हैं।

३. पउम चरिउ की अन्तिम प्रशस्ति में निम्नलिखित पद्य मिलता है—
चउमुह-सयंभुएवाण वण्णियत्थं अचक्खमाणेण।
तिहुयण-सयंभु-रइयं पंचमि-चरियं महच्छरियं॥

४. तावच्चिय सच्छंदो भमइ अवब्भंस-मच्च-मायंगो।
जाव ण सयंभु-वायरण-अंकुसो पडइ॥
सच्छन्द-वियड-दाढो छंदालंकार-णहर-दुप्पिच्छो।
वायरण-केसरड्ढो सयंभु-पंचाणणो जयउ॥ पउम चरिउ की प्रारम्भिक प्रशस्ति

स्वयंभू की कृतियों में कुछ उल्लेख ऐसे हैं जिनसे कवि के जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। स्वयंभू मारुत और पद्मिनी के पुत्र थे। स्थूलकाय, चौड़ी नाक वाले और विरल दांतों वाले थे।[1] इनकी अमृताम्बा और आदित्याम्बा नामक दो पत्नियां थीं।[2] त्रिभुवन इनके पुत्र थे और उन्होंने स्वयंभू की अधूरी कृतियों को पूरा किया और उनमें कुछ सन्धियाँ जोड़ीं। स्वयंभू ने पउम-चरिउ की रचना धनंजय और हरिवंश पुराण की रचना धवल के आश्रय में की थी। त्रिभुवन ने स्वयंभू को छंदश्चूड़ामणि, कविराज चक्रवर्ती आदि कह कर संबोधित किया है किन्तु कवि अपने आपको सबसे बड़ा कुकवि मानता है।[3] स्वयंभू के गन्थों से और इनकी प्रख्याति से सिद्ध होता है कि यह एक विद्वान् कवि थे। अपनी प्रतिभा और कवित्व शक्ति के कारण ही इन्होंने कविराज चक्रवर्त्ती, छन्दश्चूड़ामणि आदि उपाधियां प्राप्त कीं। अपने दूसरे ग्रन्थ 'रिट्ठणेमि चरिउ' (१.२) में निर्दिष्ट कवियों और आलंकारिकों के प्रसंग से ज्ञात होता है कि यह छंदःशास्त्र, अलंकार शास्त्र, नाट्यशास्त्र संगीत, व्याकरण, काव्य, नाटकादि से पूर्ण अभिज्ञ थे। अपने 'स्वयंभू छन्दस्' में दिये प्राकृत और अपभ्रंश के लगभग ६० कवियों के उद्धरणों से सिद्ध होता है कि यह इन दोनों भाषाओं के पूर्ण पंडित थे। यही कारण है कि इनके परवर्त्ती प्रायः सभी कवियों ने इनका बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। पुष्पदन्त ने स्वयंभू का उल्लेख किया है और स्वयंभू ने स्वयं बाण, नागानन्दकार श्रीहर्ष, भामह, दंडी, रविषेणाचार्य की रामकथा (वि० सं० ७३४) का। अतः स्वयंभू का समय ७०० वि० सं० के पश्चात् और पुष्पदन्त से पूर्व ही कभी माना जा सकता है।

पउम चरिउ

संपूर्णग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। इसके प्रथम तीन कांडों का डा० हरिबल्लभ चूनीलाल भायाणी ने संपादन किया है और यह दो भागों में प्रकाशित भी हो गया है।[4] इस की एक हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में वर्तमान है।[5] जैनाचार्यों द्वारा संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में पद्मचरित या राम चरित लिखा गया। संस्कृत में रविषेणाचार्य लिखित पद्मपुराण और प्राकृत में विमलसूरि कृत पउम चरिय।[6] इनमें रामायण कथा का रूप जैनधर्म के अनुसार है। कथा पूर्णरूप से ब्राह्मणों की कथा से मेंल नहीं खाती। राम कथा का जैन रूप पउम

---

१. पउम. १. ३. अइतणुएण पईहरगत्तें, छिव्वरणासें पविरल दंतें।

२. पउम. ४२ अन्त

३. बुह यण सयंभु पइ विन्नवइ। महु सरिसउ अण्णु णत्थि कुकइ। पउम. १. ३

४. सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या.भवन, बँबई, वि. सं. २००९.

५. प्रशस्ति सँग्रह, वि. सं. २००६, पृ० २८२

६. डा० याकोवी द्वारा संपादित, जैन धर्म प्रजारक सभा भाव नगर से १९१४ ई०, में प्रकाशित।

चरिउ में उपलब्ध होता है।

पउम चरिउ पाँच कांडों में विभक्त है—विद्याधर कांड, अयोध्या कांड, सुन्दर-कांड, युद्ध कांड और उत्तर कांड। पहले कांड में २०, दूसरे में २२, तीसरे में १४, चौथे में २१ और पांचवें में १३। इस प्रकार कुल ९० सन्धियाँ हैं।[१] कवि राम-कथा वर्णन में प्राचीन रविषेण की कथा से प्रभावित हुआ है।[२]

विद्याधर कांड में सन्धि की समाप्ति कहीं केवल संख्या से सूचित की गई है और कहीं पर्व शब्द से।[३] पूरे कांड की समाप्ति पर कवि ने बीस संधियों के स्थान पर "बीसहिं आसासएहिं" लिख कर संन्धियों के लिये आश्वास शब्द का प्रयोग किया है।[४] विद्याधर कांड के पश्चात् अयोध्या कांड में कहीं कहीं सन्धि शब्द का उल्लेख मिलता है। अन्यथा संधि की समाप्ति केवल संख्या से ही कर दी गई है। इस के पश्चात् कहीं कहीं संधि के लिये सग्ग (सर्ग) शब्द का भी प्रयोग मिलता है। ग्रंथ की समाप्ति "णवतिमो सग्गो" से की गई है।

इस से प्रतीत होता है कि स्वयंभू के समय सर्गसमाप्ति सूचक 'सन्धि' शब्द अपभ्रंश काव्यों के लिये रूढ़ न हो पाया था। संस्कृत काव्यों के 'पर्व' और 'सर्ग' शब्दों के साथ साथ प्राकृत काव्यों के 'आश्वास' शब्द का प्रयोग भी 'संधि' के लिये चल रहा था।

प्रत्येक संधि की समाप्ति पर स्वयंभू ने 'सयंभुअवलेण', 'सयंभुंजंतउ' इत्यादि शब्दों द्वारा अपने नाम का उल्लेख किया है।

---

१. सिरि-विज्जाहर-कंडे संधीओ हुंति बीस परिमाणं।
उज्झा कंडंमि तहा बावीस मुणेह गणणाए॥
चउदह सुन्दर कंडे एक्काहिय बीस जुज्झ कंडे य।
उत्तर कंडे तेरह संधीओ णवइ सव्वाउ॥छ॥
पउम चरिउ अन्तिम प्रशस्ति

२. पुणु रवि सेणायरिय-पसाएं, बुद्धिए अवगाहिय कइराएँ। प० च० १. ३
१३वीं सन्धि की समाप्ति—

३. इय एत्थ पउम चरिए, धणंजयासिअ सयंभुएव कए,
कइलासुद्धरण मिणं तेरसमं साहियं पव्वं॥
१८वीं सन्धि की समाप्ति—
इय राम चरिए धणंजयासिय सयंभुएव कए, पवणँजणा-विवाहो अट्ठारहमं इमं पव्वं॥

४. इय विज्जाहर कंडं, वीसहिं असासएहिं मे सिट्ठं।
एण्हि उज्झा कंडं, साहिज्जं तं निसामेह॥

ग्रन्थ का आरम्भ निम्नलिखित वन्दना से होता है—

घत्ता—जे काय वायमणे निच्छिरिया, जे काम कोहदुन्नय तिरिया।
ते एक्कमणेण सयंभुएण, वंदिय गुरु परमायरिय॥

इसके अनन्तर निम्नलिखित संस्कृत का मालिनी पद्य मिलता है—

भवति किल विनाशो दुर्गतेः संगताना—
मिति वदति जनो यं सर्वमेतद्धि मिथ्या।
उरगफणिमणीनां किं निमित्तेन राज—
न्न भवति विषदोषो निर्व्विषो वा भुजंगः॥ १.१.

कवि ने राम कथा की सुन्दर नदी से तुलना की है और इसके लिये एक सुन्दर रूपक बांधा है।[1] इसके पश्चात् (१·३) कवि ने आत्म विनय और अज्ञता का प्रदर्शन करते हुए सज्जन दुर्जन स्मरण की परिपाटी का भी पालन किया है।

रामकथा का आरम्भ लोक प्रचलित कुछ शंकाओं के समाधान के साथ होता है। मगध नरेश श्रेणिक जिनपर से प्रश्न करते हैं।

जइ राम हो तिहुयणु उयरि माइ, तो रामणु कहिं तिय लेवि जाइ।
अण्णु विखरदूसण समरि देव, पहु जुज्झइ मुज्झइ भिच्चु केव॥
किह वाणर गिरिवर उव्वहंति, बंधिवि मयरहरु समुत्तरंति।
किह रावणु दहमुहु बीसहत्थु, अमराहिव भुव बंधण समत्थु॥ १.१०

अर्थात् यदि राम के उदर में तीनों भुवन हैं—वह इतने शक्तिशाली हैं तो कैसे रावण उनकी स्त्री को हर ले गया?· · ·कैसे वानरों ने पर्वतों को उठाया, समुद्र को बांध कर उसे पार किया? कैसे दशमुख और बीस हाथों वाला रावण अमराधिप इन्द्र को बांधने में समर्थ हुआ?

कथा के प्रधान पात्र सब जिन भक्त हैं। वर्णन की दृष्टि से काव्यानुरूप अनेक सुन्दर से सुन्दर वर्णन इसमें उपलब्ध होते हैं।

६·१ में कवि ने चौसठ सिंहासनों एवं राजाओं का संस्कृत-शब्द-बहुल भाषा में वर्णन किया है। इसी प्रकार १६·२ में तीन शक्तियों, चार विद्याओं, संधि विग्रह यानादि और अठारह तीर्थादि का संस्कृत में विवेचन किया है। स्थान-स्थान पर संस्कृत पद्यों का भी प्रयोग मिलता है।

तावद्गज्जंति तुंगाः करट पट?भाजान धीरार्द्र गंडा
?? मातंग दंत क्षत गुरु गिरयो भग्न नाना द्रुमौघा (:)।
लीलो द्धूतै र्लताग्रै र्निज युवति करैः सेव्यमाना यथेष्टं
यावन्नो कुंभि कुंभ स्थल दलन पटुः केसरी संप्रयाति॥ १७·१

महाकाव्य के अनुकूल अनेक ऋतुओं का वर्णन कवि ने किया है। पावस में मेघों के

---

१. राम कहा सरि एह सोहंती प.च.१.२

प्रसार का वर्णन देखिये—

सीय स-लक्खणु दासरहि, तरुवर मूले परिट्ठिय जावेंहि।
पसरइ सुकइहे कव्वु जिह, मेह जालु गयणंगणे तावेंहि॥

पसरइ जेम तिमिरु अण्णाण हो, पसरइ जेम बुद्धि बहु जाण हो।
पसरइ जेम पाउ पाविट्ठहो, पसरइ जेम धम्मु धम्मिट्ठहो।
पसरइ जेम जोन्ह मयवाहहो, पसरइ जेम कित्ति जगणाहहो।
पसरइ जेम चिंत धणहीणहो, पसरइ जेम कित्ति सुकुलीणहो।

× × ×

पसरइ जेम सद्दु सूतूरहो, पसरइ जेम रासि नहं सूरहो।
पसरइ जेम दवग्गि वणंतरे, पसरइ मेह जालु तह अंबरे॥

प० च० २८.१

अर्थात् जैसे सुकवि का काव्य, अज्ञानी का अंधकार, ज्ञानी की बुद्धि, पापिष्ठ का पाप, धार्मिक का धर्म, चन्द्र की चन्द्रिका, राजा की कीर्त्ति, धनहीन की चिंता, सुकुलीन की कीर्त्ति, निर्धन का क्लेश और वन में दावाग्नि सहसा फैल जाती है इसी प्रकार मेघजाल आकाश में सहसा फैल गया।

उपमानों के द्वारा कवि ने क्रिया की तीव्रता अभिव्यक्त की है। उपमान ऐसे हैं जिनका जनसाधारण के साथ अत्यधिक परिचय है अतएव कविता सरल और प्रसाद गुण युक्त है।

महान् इन्द्र धनुष को हाथ में लेकर मेघरूपी गज पर सवार होकर पावस राज ने ग्रीष्म राज पर चढ़ाई कर दी। दोनों राजाओं के युद्ध का वर्णन देखिये—

धग धग धग धगंतु उद्धाइउ, हस हस हस हसंतु संपाइउ।
जल जल जल जलंतु पजलंतउ, जालावलि फुलिंग मेल्लंतउ।
धूमावलि धय दंडु झेप्पिणु, वरवाउलिखग्गु कड्ढेप्पिणु।
झड झड झड झडंतु पहरंतउ, तरुवर रिउ भड भज्जंतउ।
मेहमहागयघड विहडंतउ, जं उन्हालउ दिट्ठु भिडंतउ।

घत्ता

धणु अप्फालिउ पाउसेण, तडि टंकार फार दरिसंते।
चोइवि जलहर हत्थि हड, णीर सरासणि मुक्क तुरंते।

प० च० २८.२.

पावसराज ने धनुष का आस्फालन किया, तड़ितूरूप में टंकार-ध्वनि प्रकट हुई, मेघ-गजघटा को प्रेरित किया और जलधारा रूप में सहसा बाण वर्षा कर दी। युद्ध के दृश्य की भयंकरता कवि ने अनुरणनात्मक शब्दों के प्रयोग से प्रकट की है।

पावसराज और ग्रीष्मराज के युद्ध में ग्रीष्मराज युद्ध भूमि में मारा गया। पावसराज के विजयोल्लास का वर्णन, उत्प्रेक्षालंकार में कवि ने सुन्दरता से किया है—

दद्दुर रडेवि लग्ग णं सज्जण, णं णच्चन्ति मोर खल दुज्जण।
णं पूरंत सरिउ अक्कंदें, णं कइ किल किलन्ति आणंदें।
णं परहुय विमुक्कु उग्घोसें, णं विरहिण लवंति परिऊसें।
णं सरवर बहु अंसु जलोल्लिय, णं गिरिवर हरिसें गंज्जोल्लिय।
णं उण्हविय दवग्गि विऊएँ, णं णच्चिय महि विविह विणोएं।
णं अत्थविउ दिवायर दुक्खें, णं पइसरिउ रयणि सइ सोक्खें।
रत्त पत्त-तरु-पवणाकंपिय, केण वि वहिउ गिंभुणं जंपिय।

प० च० २८. ३.

पावस में दादुरों का रटना, मोरों का नाचना, सरिताओं का उमड़ना, बंदरों का किलकिलाना, पर्वतों का हर्ष से रोमांचित होना आदि तो सब स्वाभाविक और संगत हैं किन्तु कोकिल का बोलना कवि संप्रदाय के विरुद्ध है।

स्वयंभू जलक्रीड़ा वर्णन में प्रसिद्ध हैं।[१] सहस्रार्जुन की जलक्रीड़ा का दृश्य निम्नलिखित उद्धरण में देखिये—

अवरोप्परु जलकील करंतहु।
घण पाणिय पहयर मेल्लंतहुं॥
कहि मि चंद कुंदुज्जल तारेंहि।
धवलिउ जलु तुट्टंतिहि हारेंहि॥
कहि मि रसिउ णेउरहिं रसंतिहिं।
कहि मि फुरिउ कुंडलहि फुरंतहिं॥
कहि मि सरस तंबोलारत्तउ।
कहि मि बउल कायंबरि मत्तउ॥
कहि मि फलिह कप्पुरेंहिं वासिउ।
कहि मि सुरहि मिग मय वामीसिउ॥
कहि मि विविह मणि रयणु जलियउ।
कहि मि धोय कज्जल संवलियउ॥
कहि मि बहल कुंकुम पंजरिअउ।
कहि मि मलय चंदण रस भरिअउ॥
कहि मि जक्ख कद्दमेण करंबिउ।
कहि मि भमर रिंछोलिहिं चुंबिउ॥

---

१. जल-कीलाए सयंभू चउमुह पवंग गोग्गह कहाए।
भद्दं च मच्छ वेंहें अज्ज वि कइणो ण पावंति॥

घत्ता।

विद्दुम मरगय, इंदणील सय, चामियर हार संघायहिं।
बहु वण्णुज्जलु, णावइणहयलु सुरधणु घण विज्ज बलायहिं॥

१४·६

अर्थात् परस्पर जल क्रीड़ा करते हुए और सघन जल बिन्दुओं को एक दूसरे पर फेंकते हुए राजा और रानियों के चंद्र और कुंद के समान शुभ्र और उज्ज्वल टूटते हारों से कहीं जल धवल हो गया, कहीं शब्दायमान नूपुरों से शब्दयुक्त हो गया, कहीं चमकते कुण्डलों से चमकीला, कहीं सरस ताम्बूल से आरक्त, कहीं वकुल मदिरा से मत्त, कहीं स्फटिक शुभ्र कर्पूर से सुवासित, कहीं कस्तूरी से व्यामिश्रित, कहीं विविध मणि रत्नों से उज्ज्वल, कहीं धौत (धुले) कज्जल से संवलित, कहीं अत्यधिक केसर से पिंजरित, कहीं मलय चन्दन रस से भरित, कहीं यक्ष-कर्दम से कर्बुरित और कहीं भ्रमरावलि से चुंबित हो उठा। सैकड़ों विद्रुम, मरकत इन्द्रनील मणियों और सुवर्णहार समूहों से जल इस प्रकार बहु वर्ण रंजित हो गया जैसे इन्द्र धनुष, विदयुत् और सघन बादलों से आकाश विविध राग रंजित हो जाता है।

एक ही प्रकार के शब्दों की पुनरावृत्ति चारणों में अत्यधिक प्रचलित थी। वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा कांड में पंपा सरोवर के वर्णन में और रघुवंश में प्रयाग के गंगा यमुना संगम में (१३. ५४-५७) इस शैली का अंश परिलक्षित होता है।

इसी प्रकार वसंत वर्णन (७१. १-२), सन्ध्या वर्णन (७२. ३) समुद्र वर्णन (२७. ५, ६९. २-३), गोला नदी वर्णन (३१.३), वन वर्णन (३६. १), युद्ध वर्णन (५६. ४, ५३. ६-८, ६३. ३-४, ७४. ८-११) आदि काव्योपयुक्त प्रसंग बड़ी सुन्दरता से कवि ने अंकित किये हैं।

पउम चरिउ में घटना बाहुल्य के साथ-साथ काव्य प्राचूर्य भी दृष्टिगत होता है। घटना और काव्यत्व दोनों की प्रचुरता इसमें विद्यमान है। घटना की प्रचुरता तो विषय के कारण स्पस्ट ही है काव्यत्व की प्रचुरता भी उपरि निर्दिष्ट स्थलों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है पउमचरिउ में कवि ने जैन संप्रदायानुकूल राम कथा का रूप अंकित किया है किन्तु ग्रंथ के आरम्भ में सृष्टि वर्णन, जम्बूद्वीप की स्थिति, कुलकरों की उत्पत्ति, अयोध्या में ऋषभदेव की उत्पत्ति तथा उनके संस्कारादि की और जीवन की कथा दी गई है। तदनन्तर इक्ष्वाकु वंश, लंका में देवताओं विद्याधर आदि के वंश का वर्णन किया गया है। काव्यगत विषयविस्तार इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है। वर्ण्य विषय में धार्मिक भावना का रंग मिलता है। मेघवाहन और हनुमान के युद्ध का वर्णन करता हुआ कवि जहाँ उनके शूरत्वादि गुणों का निर्देश करता है वहाँ यह भी वताना नहीं भूलता कि दोनों जिनभक्त थे।

वेण्णि' वि वीर धीर भयचत्ता, वेण्णि वि परम जिणिंदहो भत्ता।

प० च० ५३. ८

रस—

रस की दृष्टि से पउम चरिउ में हमें वीर, शृंगार, करुण और शान्त रस ही मुख्य रूप से दिखाई देते हैं। वीर रस के साथ साथ शृंगार रस की अभिव्यक्ति वीर रसात्मक काव्यों में दृष्टिगत हो ही जाती है। अपभ्रंश के काव्यों में तो यह प्रवृत्ति प्रचुरता से परिलक्षित होती है। किसी सुन्दरी को देखकर, उस पर रीझ कर उसके लिए प्राणों की बाजी लगा देना या इस कल्पना से ही कि हमारी वीरता को देखकर अमुक सुन्दरी मुग्ध हो जायगी, युद्ध क्षेत्र में अपने प्राणों की परवाह न करना—स्वाभाविक ही है। जैन अपभ्रंश परंपरा में धार्मिक भावना विरहित काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव संसार की अनित्यता, जीवन की क्षणभंगुरता और दुःख बहुलता दिखाकर विराग उत्पन्न कराना—शान्त रस में काव्य एवं जीवन का पर्यवसान ही कवि को अभीष्ट था। वीरता के साथ युद्ध क्षेत्र में प्रणयीजन के विनाश से करुण रस की उत्पत्ति स्वाभाविक सी हो जाती है। इनके अतिरिक्त अन्य रस भी स्थल-स्थल पर परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिए **वीर रस** देखिए—

युद्ध के लिए प्रस्तुत सैनिकों के उत्साह का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

केवि जस लुद्ध। सण्णद्ध कोह। केवि सुमित्त-पुत्त।
सुकलत्त-चत्त-मोह।

के वि णीसरंति वीर। भूधरव्व तुंग धीर।
सायरव्व अप्पमाण। कुंजर'व्व दिण्णदाण।
केसरि'व्व उद्धकेस। चत्त सव्व-जीवियास।
के वि सामि-भत्ति-वंत। मच्छिरग्गि-पज्जलंत।
के वि आहवे अभंग। कुंकुमं पसाहि-अंग।

प० च० ५९, २.

छंद का प्रयोग भी कवि ने इस कुशलता से किया है कि पढ़ते ही सैनिकों के प्रयाण की पग-ध्वनि कानों में गूंजने लगती है। शब्द योजना से ही सैनिकों का उत्साह अभिव्यक्त होता है।

करुण रस की अभिव्यक्ति युद्ध स्थल में अनेक उद्धरणों द्वारा कवि ने की है। लक्ष्मण के लिए अयोध्या में अन्तःपुर की स्त्रियां विलाप करती हैं—

दुक्खाउरु रोवइ सयलु लोउ। णं चप्पिवि चप्पिवि भरिउ सोउ।
रोवइ भिच्च-यणु समुद्द-हत्थु। णं कमल-संडु हिम-पवण-घत्थु।
रोवइ अवरा इव रामजणणि। केवकेक्कय दाइय तरु-मूल-खणणि।
रोवइ सुप्पह विच्छाय जाय। रोवइ सुमित्त सोमित्ति-माय।
घत्ता— रोवंतिए लक्खण-मायरिए, सयल लोउ रोवावियउ॥
कारुण्णइ कव्व कहाए जिह, कोव ण अंसु मुआवियउ॥

प० च० ६९. १२.

अर्थात् दुःखाकुल सब लोग रोने लगे। दबा-दबा कर मानो सर्वत्र शोक भर दिया हो। भृत्यगण हाथ उठा-उठा कर रोने लगे मानो कमलवन हिम-पवन से विक्षिप्त हो उठा हो। राम माता एक सामान्य नारी के समान रोने लगी। सुन्दरी ऊर्मिला हतप्रभ हो रोने लगी। सुमित्रा व्याकुल हो उठी। रोती हुई सुमित्रा ने सब जनों को रुला दिया—कारुण्य-पूर्ण काव्य-कथा से किसके आंसू नहीं आ जाते ?

रावण के लिए मन्दोदरी का विलाप भी इसी प्रकार करुण-रस-परिपूरित है। मन्दोदरी विलाप करती हुई विगत शृंगारिक घटनाओं का स्मरण कर और भी अधिक व्याकुल हो जाती है (प० च० ७६. १०)। यह भावना कुमारसंभव में काम के लिए विलाप करती हुई रति का स्मरण करा देती है।

इसी प्रकार अंजना सुन्दरी के लिये विलाप करते हुए पवनंजय के कारुण्य-व्यंजन में भी कवि कालिदास से प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। निम्नलिखित वर्णन कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में उर्वशी के लिये विलाप करते हुए पुरूरवस् का स्मरण करा देता है—

पवणंजय वि पडिवक्ख खउ, काणणु पइसरइ विसाधरउ।
पुच्छइ अहो सरोवर दिट्ठ धण, रत्तुप्पल दल कोमल चलण।
अहो रायहंस हंसाहिवइ, कहि कहिंमि दिट्ठ जइ हंसगइ।
अहो वीहर णहर मयाहिवइ, कहि कहिंमि णियंविणि दिट्ठ जइ।
अहो कुंभि कुंभ सारिछथण, कित्तहे वि दिट्ठ सइ मुद्ध मण।
अहो अहो असोय पल्लव व पाणि, कहिं गय परहुय परहुयवाणि।
अहो रुंद चंद चंदाणणिय, मिग कहिंमि दिट्ठ मिग लोयणिय।
अहो सिहि कलाव सण्णिह चिहुर, ण णिहालिय कहिंमि विरहविहुर।

प० च० १९. १३.

लक्ष्मण के लिए विलाप करते हुए राम का दृश्य भी करुणापूर्ण है। राम सब प्रकार के कष्टों को सहने के लिए तत्पर हैं किन्तु भ्रातृ वियोग उनके लिए असह्य है—

घत्ता—वरि दंति दंते मुसलग्गेहि, विणिभिन्दाविउ अप्पणउ।
वरि णरय दुक्खु आयामिउ, णउ विऊउ भाइहिं तणउ॥

प० च० ६७. ४.

लक्ष्मण के आहत हो जाने पर भरत भी अत्यधिक व्याकुल हैं। उनकी दृष्टि में भर्तृ विरहिता नारी के समान आज पृथ्वी अनाथ हो गई—

घत्ता—हा पइ सोमित्ति ! मरंतएण, मरइ णिरुत्तउ दासरहि।
भत्तार-विहूणिय णारि जिह, अज्जु अणाहीहूय महि॥

जैन कवियों का धार्मिक उपदेश तो प्रायः सभी ग्रंथों में पाया जाता है। संसार को तुच्छ, नश्वर और दुःख-बहुल बतला कर, शरीर की क्षण-भंगुरता का प्रतिपादन कर, संसार के मिथ्यात्व का उपदेश देते हुए इन्होंने उसके प्रति विरक्ति पैदा करने का प्रयत्न

किया है। ऐसे निर्वेद भाव के स्थलों में ही पउम चरिउ के कवि ने शान्त रस अभिव्यक्त किया है। उदाहरणार्थ—

"विरहाणल - जाल - पलित्त - तणु, चिंतेवए लग्गु विसण्णमणुं।
सच्चउ संसारि ण अत्थि सुहु, सच्चउ गिरि-मेरु-समाण दुहु।
सच्चउ जर-जम्मण-भउ, सच्चउ जीविउ जलविंदु सउ।
कहो घरु कहो परियणु बंधु जणु, कहो माय वप्पु कहो सुहि-सयणु।
कहो पुत्तु-मित्तु कहो किर घरिणि, कहो भाय सहोयरु कहो बहिणि।
फलु जाव ताव बंधव सयण, प्रावासिय पायवि जिह सउण।"

प० च० ३९. ११

अर्थात् विरहानल-ज्वाला से ज्वलित और विषाद युक्त मन वाले राम इस प्रकार सोचने लगे—सत्य ही संसार में कहीं सुख नहीं, सच है कि मेरु पर्वत के समान अपरिमित दुःख हैं। सच ही जरा जन्म मरण का भय लगा रहता है और जीवन जल-विन्दु के समान है। कहाँ घर, कहाँ परिजन, बंधु बांधव, कहाँ माता पिता, कहाँ हितैषी स्वजन? कहाँ पुत्र मित्र, कहाँ गृहिणी, कहाँ सहोदर, कहाँ बहिन? जब तक संपत्ति है तभी तक बंधु स्वजन हैं। ये सब वृक्ष पर पक्षियों के वास के समान अस्थिर हैं।

इसी प्रकार २२·५ में भी शान्त रस की अधिव्यक्ति कवि ने की है।

शृंगार रस में कवि ने सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए परंपरागत उपमानों का प्रयोग किया है—

थिर कलहंस-गमण गइ-मंथर। किस मज्झारे णियंबे सुवित्थर।
रोमावलि मयरहरुत्तिण्णी। णं पिपिलि-रिंछोलि विलिण्णी।
• • • • • • • • •
रेहइ वयण-कमलु अकलंकउ। णं माणस-सर विअसिउ पंकउ।
• • • • • • • • •
घोलइ पुट्ठिहि वेणि महाइणि। चंदण लयहिं ललइ णं णायणि।
घत्ता— किं बहु जंपिएण तिहिं भुयणिहिं जं जं चंगउ।
तं तं मेलवेवि णं, दइवें णिम्मिउ अंगउ॥

प० च० ३८. ३

उपर्युक्त वर्णन में कलहंसगमना, कृशमध्या, विशालनितंबा आदि विशेषण परंपरा-भुक्त हैं। मुख को कमल से, पीठ पर लहराती वेणी को चंदनलता पर लिपटी नागिनी से उपमा देकर जहाँ परंपरा का पालन किया है वहाँ रोमावलि की पिपीलिका पंक्ति से उपमा देकर कवि ने लौकिक निरीक्षण-पटुता का भी परिचय दिया है। इन सब विशेषणों से सीता के स्थूल अंगों का चित्र ही हमारी आंखों के सामने खिचने लगता है, उसके आन्तरिक सौन्दर्य का कुछ आभास नहीं मिलता। अन्तिम घत्ता में कालिदास के शकुन्तला वर्णन का आभास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

चित्ते निवेश्य परिकल्पित सर्व योगान्
रूपोच्चयेन विधिना विहिता कृशांगी।

अभिज्ञान शाकुन्तल २. १०

किन्तु कालिदास की शकुन्तला विधाता का मानसिक चित्र है और स्वयंभू की सीता का निर्माण दैव ने तीनों लोकों की उत्कृष्ट वस्तुओं को लेकर किया। यह सीता का चित्र लौकिक ही है अतएव मानसिक चित्र की समता नहीं कर सकता।

प्रकृति वर्णन—कवि ने अनेक प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया है जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है। प्रकृति वर्णन की एक परिपाटी सी चल पड़ी थी और प्रकृति-वर्णन महाकाव्य का एक अंग बन गया था।

स्वयंभू का प्रकृति वर्णन प्राचीन परंपरा को लिये हुए है। इसका निर्देश ऊपर पावस वर्णन के प्रसंग में किया जा चुका है। कवि ने अलंकारों के प्रयोग के लिए भी प्रकृति का वर्णन किया है—

णव-फल-परिपक्काणणे काणणे। कुसुमिय साहारए साहारए।

इसी प्रकार मगध देश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

जहिं सुय-पंतिउ सुपरिट्ठिआउ। णं वणसिरि-मरगय-कंठियाउ।
जहिं उच्छु-वणइं पवणाहयाइं। कंपंति व पीलणभय गयाइं।
जहिं णंदण-वणइं मणोहराइं। णच्चंति व चल-पल्लव-कराइं।
जहिं फाडिय-वयणइं दाड़िमाइं। नज्जंति ताइं नं कइ-मुहाइं।
जहिं महुयर-पंतिउ सुंदराउ। केयइ-केसर-रय-धूसराउ।
जहिं दक्खा-मंडव परियलंति। पुणु पंथिय रस-सलिलइं पियन्ति।[1]

प० च० १. ४

अर्थात् जहाँ वृक्षों पर बैठी शुक-पंक्ति वनश्री के कंठ में मरकतमाला के समान प्रतीत होती है। जहां पवन से प्रेरित इक्षु वन काटे जाने के भय से भीत हो मानों काँप रहे हैं। जहाँ चंचल पल्लव रूपी करों वाले मनोहर नन्दन वन मानों नाच रहे हैं। प्रस्फुटवदन वाले दाडिम फल बन्दर के मुखों के समान दिखाई देते हैं। जहाँ सुन्दर भ्रमरपंक्ति केतकी केसर रज से धूसरित है। जहाँ द्राक्षामंडप के हिलने से पथिक मधुर रस रूपी सलिल का पान कर रहे हैं।

इस प्रकार के वर्णन में अलंकार प्रियता के साथ-साथ कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति और परंपरा से ऊपर उठ कर लोक दर्शन की भावना भी अभिव्यक्त हो रही है। प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन न कर आलंबनात्मक रूप में कवि ने वर्णन किया है।

समुद्र का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

घत्ता—मण-गमणेंहि गयणि पयट्ठेहि, लक्खिउ-लवण समुद्द किह।

---

१. आमेर शास्त्र भंडार जयपुर की हस्त लिखित प्रति में संयुक्त शब्दों के बीच में 'डैश' नहीं। अर्थ सुविधा के लिये यत्र तत्र लगा दिये गये हैं।

नहि-मंडयहो णहयल-रक्खसेण, फाडिउ जठर-पयेसु जिह ॥

अर्थात् समुद्र क्या है मानो नभतल राक्षस ने महिमंडल के जठर प्रदेश को फाड़ दिया हो। फटे हुए जठर प्रदेश में रक्त के बहने से एक तो समुद्र का रंग रक्तवर्ण होना चाहिए दूसरे इस उपमा से समुद्र की भयंकरता का भाव उतना व्यक्त नहीं होता जितना जुगुप्सा का भाव। इसी प्रकरण में कवि ने श्लेष से समुद्र की तुलना कुछ ऐसे पदार्थों से की है जिनमें शब्द-साम्य के अतिरिक्त और कोई साम्य नहीं। इस प्रकार के प्रयोग वाण की कादम्बरी में प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं।

उदाहरण के लिए—

सूहव-पुरिसोव्व सलो-णसीलु ।......

दुज्जण पुरिसोव्व सहाव-खारु ।

णिद्धण आलाउव अप्पमाण । जोइसुव मीण-क्क्कडय-थाणु ।

महकव्व-णिबन्धुव सद्द-गहिरु । इत्यादि

प० च० ४९. ३

अर्थात् समुद्र सत्कुलोत्पन्न पुरुष के समान है क्योंकि दोनों सलोणशील हैं अर्थात् समुद्र सलवणशील और सत्कुलोत्पन्न पुरुष सलावण्यशील। इसी प्रकार समुद्र दुर्जन पुरुष के समान स्वभाव से क्षार है। निर्धन के आलाप के सामान अप्रमाण है। ज्योति-मंडल के समान मीन कर्कट निधान है। महाकाव्य निर्बन्ध के समान शब्द गंभीर है।

कवि प्रकृति के शान्त रूप की अपेक्षा उसके उग्ररूप का वर्णन करने में अधिक रुचि दिखाता है। भवभूति के समान धीमे-धीमे कल-कल ध्वनि से बहती हुई नदी की अपेक्षा प्रचंड वेग से उत्तंग तरंगावाली युक्त गरजती हुई नदी कवि को अधिक आकर्षित करती है।[1] कवि का गोदावरी नदी वर्णन देखिए—

थोवंतरे मच्छुत्थल्लदिंति । गोला नइ दिट्ठ समुव्वहंति ।
सुंसुयर घोरघुरु-घुरु-हुरंति । करि-मय-रुड्डोहिय डुहु-डुहंति ।
डिंडीर-संड-मंडलिय दिंति । डेडयर-रडिय डुरु-डुरु-डुरंति ।
कल्लोलुल्लोलहिं उव्वहंति । उग्घोस–घोस–घव–घव–घवंति ।
पडि खलण-वलण खल-खल-खलंति । खल-खलिय खडक्क झडक्क दिंति ।
ससि-संख-कुंद-धवलो झरेण । कारंडुड्डाविय डंवरेण ।

---

१. एते ते कुहरेषु गद्गद नदद्गोदावरी वारयो
मेघा लम्बित मौलि नील शिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणाः ।
अन्योन्य प्रतिघात संकुल चलत् कल्लोल कोलाहलै–
रुत्तालास्त इमे गभीर पयसः पुण्याः सरित्संगमाः ॥ ॥

उत्तर राम चरित, २. ३०

घत्ता—फेणावलि वंकिय, वलयालंकिय, णं महि कुल बहुय हेतणिय ।
जलनिहि भत्तारहो, मोत्तिय-हारहो, वाह पसारिय दाहिणिय ।।

प० च० ३१. ३.

भाषा अनुप्रासमयी है । भावानुकूल शब्द योजना है । शब्दों की ध्वनि नदी-प्रवाह को अभिव्यक्त करती है । घत्ता में बड़ी सुन्दर कल्पना है ।

प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए उनकी भिन्न-भिन्न दृश्यों या घटनाओं से तुलना करना या प्रकृति को उपमेय मान कर उसके अन्य उपमानों के प्रयोग की प्रणाली भी कवि ने अपनाई है । वन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है :—

कत्थ वि उड्डाविय सउण-सया, णं अडविहे उड्डे विणंणगया ।
कत्थवि कलाव णच्चंति वणे, णावइ णट्टावा जुयइ-जणे ।
कत्थइ हरिणइं भय-भी याइं, संसारहो जिह पावइ याइं ।
कत्थवि णाणाविह रुक्ख राइं, ण महि कुल बहुअहि रोम राइं ।

प० च० ३६. १

सागराभिमुख प्रवाहित होती हुई नर्मदा का अलंकृत वर्णन निम्नलिखित उद्धरण में देखिये—

णम्मयाइ मयर-हरहो जंतिए, णाइ पसाहण लइउ तुरंतिए ।
घव घवंति जे जल पब्भारा, ते जि णाइ णेउर-झंकारा ।
पुलिणइ बे वि जासु सच्छायइं, ताइं जि ऊडणाइ णं जायइं ।
जं जलु खलइ बलइ उल्लोलइ, रसणा दाम भंति णं घोलइ ।
जे आवत्त समुट्ठिय चंगा, ते जि णाइ तणु तिवलि तरंगा ।
जे जल हत्थि सयल कुंभिल्ला, ते जि णाइं थण अध्धुम्मिल्ला ।
जे डिंडीर णियरु अंदोलइ, णावइ सो जि हारु रंखोलइ ।
जं जलयर रण रंगिउ पाणिउं, तं जि णाइ तंमोलु सवाणिउ ।
मत्तहत्थि मय मइलिउ जं जलु, तं जिणाइ किउ अक्खिहु कज्जलु ।
जाउ तरंगिणीउ अवर उहउ, ताइ जि भंगुराउ णं भउहउं ।
जाउ भमर पंतिउ अल्लीणउ, केसावलिउ ताउ णं दिणणउ ।।

१४. ३

इस कड़वक में कवि ने नदी का प्रियतम से मिलन के लिये जाती हुई साज सज्जा युक्त एक स्त्री के रूप में वर्णन किया है ।

अर्थात् नर्मदा के शब्द करते हुए जल प्रवाह नूपुर झंकार के सदृश हैं, दोनों सुन्दर पुलिन उपरितन वस्त्र के सदृश हैं, स्खलित और उच्छलित जल रशनादाम की भ्रान्ति को उत्पन्न करता है, उसके आवर्त्त शरीर की त्रिवलि के समान हैं, उसमें जल हस्तियों के सजल गण्डस्थल अर्धोन्मीलित स्तनों के समान हैं, आंदोलित फेनपुंज लहराते हार के समान प्रतीत होता है,''''इत्यादि ।

भाषा—भाषा की दृष्टि से कवि ने साहित्यिक अपभ्रंश का प्रयोग किया है। अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश कवियों की विशेषता रही है। स्वयंभू ने भी इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। उदाहरणार्थ—

तड़ि तड़-तड़इ पड़इ घणु गज्जइ। जाणइ रामहो सरणु पवज्जइ।

अर्थात् तड़ित् तड़-तड़ शब्द करती है, घन गर्जन करता है। जानकी राम की शरण में आती है।

पावस में विजली की चमक और मेघों के गर्जन की ध्वनि कानों में गूंजने लगती है। इसी प्रकार गोदावरी नदी के उत्ताल तरंगमय प्रवाह का निर्देश ऊपर किया जा चुका है। युद्ध में धनुष टंकार और खड्गों की खनखनाहट निम्नलिखित शब्दों में सुनी जा सकती है—

हण-हण-हणंकार महारउद्दु। छण-छण-छणंतु गुणपिंछ-सद्दु।
कर-कर-करंतु कोयंड पयरु। थर थर थरंतु णाराय-णियरु।
खण-खण-खणंतु तिक्खग्ग खग्गु। हिलि-हिलि-हिलंतु हय चंचलग्गु।
गुलु-गुलु-गुलंत गयवर विसालु। "हणु हणु" भणंतु णर वर विसालु।

प० च० ६३. ३

भावानुकूल शब्द योजना का कवि ने ध्यान रखा है। युद्ध वर्णन में यदि कठोर वर्णों का प्रयोग किया है तो सीता के वर्णन में सुकुमार वर्णों का।

राम-विओएं दुम्मणिया। अंसु-जलोल्लिय-लोयणिया।
मोक्कल केस कओलु भुआ। दिट्ठ विसंठुल जणय-सुया॥

....

लक्खिय सीया एवि किह। वियसिय सरिया होइ जिह।
णं मय-लंछण ससि-जोण्हा इव। तित्ति-विरहिय गिम्ह-तण्हा इव।[1]

......

स पउहर पाउस-सोहा इव। अविचल सव्वंसह वसुहा इव।
कंति-समुज्जल-तडिमाला इव। सुट्ठु सलोण उयसहि-वेला इव।
णिम्मल-कित्तिव रामहो केरी। तिहुयणु मिवि परिट्ठिय सेरी।

प० च० ४९.१२

शब्दों में समाहार शक्ति के दर्शन होते हैं। मेघवाहन और हनूमान् के युद्ध का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

वेण्णिवि राहव-रावण पक्खिय। वेण्णिवि सुर-बहु-णयण-कडक्खिय।

अर्थात् हनूमान् और मेघवाहन दोनों क्रमशः राघव और रावण के पक्ष में थे। दोनों पर सुरांगनाओं के नयन कटाक्ष गिर रहे थे। 'कडक्खिय' शब्द कई शब्दों के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है।

---

१. तृप्ति विरहित ग्रीष्म तृष्णा के समान।

कवि की भाषा अलंकारमयी है। उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, अनन्वय, तद्‌गुण आदि अनेक अलंकारों का भाषा में स्वाभाविकता से प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ—

यमक— णव-फल-परिपक्काणणे काणणे कुसुमिय साहारए साहारए।

....

मधुकर महु मज्जंतएं जंतएं, कोइल वासंतए वासंतए।

इत्यादि।

उत्प्रेक्षा—

तुंगभद्रा नदी के विषय में कवि कहता है—

घत्ता— असहंते वण-दव-पवण-झउ, दुसह-किरण-दिवायरहो।
णं सज्झें सुट्ठु तिसाएण, जीहे पसारिय सायरहो॥

अनन्वय—

मंदोदरी की प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है—

घत्ता— किं बहु जंपिएण उवमिज्जइ काहे किसोयरि।
णिय-पडिछंदइ णा थिय, सइं जेणाइं मंदोयरि॥

तद्‌गुण—

किष्किन्धा पर्वत का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

जहि इंदणील-कर-भिज्जमाणु, ससि थाइ जुण्ण-दप्पणु-समाणु।
जहि पउम राय-कर-तेय-पिंडु, रत्तुप्पल-सण्णिहु होइ चंदु।
जहि मरगय खाणिवि विप्फुरंति, ससि बिंबु भिसिणि पत्तुव करंति।

प० च० ६९.५

अर्थात् जिस किष्किन्धा पर्वत पर इंद्रनील मणियों की किरणों से भिद्यमान चन्द्रमा जीर्ण दर्पण के समान बना रहता है, पद्मराग मणियों की किरणों के तेज पुंज से चन्द्रमा रक्त कमल के समान हो जाता है और मरकतमणि की चमकती खानें चन्द्रबिंब को कमल के समान बना देती हैं।

अपन्हुति—

अयोध्या के अन्तःपुर का वर्णन करता हुआ कवि अन्तःपुर की स्त्रियों के अंगों का—प्रकृत उपमेय का—प्रतिषेध करता हुआ—अप्रकृत उपमान की स्थापना करता है। यथा—

किं चलण तलग्गइ कोमलाइ। णं णं अहिणव-रत्तुप्पलाइ।
....
किं तिवलिउ जठर पद धाविआउ। णं णं काम उरिहि खाइआउ।
किं रोमावलि घण-कसण एहु। णं णं मयणाणल-धूम-लेहु।
....
किं आणणु, णं णं चंद बिंबु। किं अहरउ णं णं पक्क-बिंबु।

प० च० ६९.२१

इसी प्रकार रावण की मृत्यु पर विभीषण विलाप करता है—

तुहु पडिऊसि ण पडिउ पुरंदरु। मउडुण भग्गु भग्गु गिरि कंदरु।
हारु णं तुट्टु णट्ठु तारायणु। हिययण भिण्णु भिण्णु गयणंगणु।
जीउण गउ गउ आसा पोट्टल। तुहुण सुत्तु सुत्तउ महि मंडल॥

प० च० ७६. ३

इनके अतिरिक्त उपमा, श्लेष आदि अलंकारों का भी कवि ने प्रयोग किया है जिनकी ओर पहले ही निर्देश किया जा चुका है।

अलंकारों में कहीं कहीं हलकी सी उपदेश भावना भी दृष्टिगत हो जाती है। जैसे—

लक्खण कहिं वि गवेसहिं तं जलु, सज्जण हियउ जेम जं निम्मलु।
दूरागमणे सीय तिसाइय, हिम हय नव नलिणिव विच्छाइय।

अर्थात् लक्ष्मण कहीं जल खोजते हैं जो सज्जन के हृदय के समान निर्मल हो। दूरगमन से सीता तृषार्त्त हो हिमहत नलिनी के समान हतप्रभ हो गई।

छन्द—कवि ने ग्रंथ में गन्धोदकधारा, द्विपदी, हेला द्विपदी, मंजरी, शालभंजिका, आरणाल, जंभेटिया, पद्धड़िका, वदनक पाराणक, मदनावतार, विलासिनी, प्रमाणिका, समानिका, भुजंग-प्रयात इत्यादि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है।[1]

रिट्ठणेमि चरिउ (रिष्टनेमिचरित) या हरिवंश पुराण

यह ग्रंथ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। इसकी एक हस्तलिखित प्रति बंबई के ऐ. पन्नालाल सरस्वती भवन में, एक भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना में और एक प्रति प्रो० हीरालाल जैन के पास है। एक खंडित प्रति शास्त्र भंडार श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, छोटा दीवाण जी, में भी वर्त्तमान है। यह महाकाव्य पउम चरिउ से भी बड़ा है। इसमें ११२ संधियाँ हैं और १९३७ कडवक हैं। इनमें से ९२ संधियाँ निस्संदेह स्वयंभू रचित हैं और ९३ से ९९ तक की संधियाँ भी संभवतः स्वयंभू ने ही लिखीं। अवशिष्ट अधिकांश संधियाँ त्रिभुवन स्वयंभू ने रचीं और अन्त की कुछ सन्धियों में मुनि जसकिति का भी हाथ है।

इसमें चार कांड हैं—यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर कांड। यादव कांड में १३, कुरु कांड में १९, युद्ध कांड में ६० और उत्तर कांड में २० संधियाँ हैं। इनमें से पहली ९२ संधियों को रचने में कवि को छः वर्ष तीन मास और ग्यारह दिन लगे।[2]

---

१. पउम चरिउ—डा. हरिवल्लभ भायाणी द्वारा संपादित, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, पृ० ७८।

२. तेरह जाइव कंडे कुरु कंडे कूणवीस संधीओ,
तह सट्ठि जुज्झय कंडे एवं वाणउदि संधीओ॥
छव्वरिसाइं तिमासा एयारस वासरा सयंभुस्स।
वाणवइ-संधि करणे बोलीणो इत्तिओ कालो॥

९२वीं संधि की समाप्ति

ग्रंथ का प्रारम्भ कवि ने विषय की महत्ता और अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करते हुए किया है। अपनी अल्पज्ञता और असमर्थता के कारण चिन्तातुर कवि को सरस्वती से प्रोत्साहन मिलता है—

चिंतवइ सयंभु काइं करमि हरिवंसमहण्णउ कें तरमि।
गुरुवयण तरंडउ लद्धुणवि जम्महो विण जोइउ को वि कवि।
णउ णाइउ बाहत्तरि कलाउ एक्कु विण गंथु परिमोक्कलउ।
तहि प्रवसरि सरसइ धीरवइ करि कव्वु दिण्ण मइ विमलमइ।

रि० च० १. २.

अर्थात् जब हरिवंश-महानद को पार करने में कवि चिन्तातुर था—न मैंने गुरुवचन-नौका प्राप्त की, न जन्म से किसी कवि के दर्शन किये, न ७२ कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया और न किसी भी ग्रंथ का चिन्तन किया—तब सरस्वती ने उसे धैर्य बंधाया और कहा—हे कवि ! काव्य करो, मैंने तुम्हें विमल मति दी।

इसी प्रसंग में स्वयंभू ने अपने पूर्ववर्ती कवियों और आलंकारिकों का आभार प्रदर्शन किया—

इंदेण समप्पिउ वायरणु, रसु भरहें वासें वित्थरणु।
पिंगलेण छंद पय पत्थारु, भम्मह दंडिणिहिं प्रलंकारु।
बाणेण समप्पिउ घणघणउं, तं अक्खर डंबरु अप्पणउं।
चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय।
पारंभिय पुणु हरिवंस कहा, ससमय पर समय वियार-सहा॥

रि० च० १. २

यादव कांड की १३ संधियों में कवि ने कृष्ण जन्म, कृष्ण बाल लीला, कृष्ण विवाह संबन्धी कथाएँ, प्रद्युम्न आदि की कथाएँ और नेमि जन्म कथा दी है। इन संधियों में नारद कलह प्रिय साधु के रूप में हमारे सामने आता है। कुरु कांड की १९ संधियों में कौरव पांडवों के जन्म, बाल्य काल, शिक्षा आदि का वर्णन, उनके परस्पर वैमनस्य, युधिष्ठिर का जूआ खेलना और उसमें सब कुछ हार जाना, एवं पांडवों के बारह साल तक वनवास की कथा दी गई है। युद्ध कांड में कौरव पांडवों के युद्ध का सजीव वर्णन है, पांडवों की विजय और कौरवों की पराजय का चित्र कवि ने अंकित किया है।

कवि ने कथा का आधार महाभारत और हरिवंश पुराण को ही रखा है किन्तु कहीं कहीं पर समयानुकूल परिवर्त्तन भी कर दिये हैं। उदाहरण के लिए द्रौपदी स्वयम्बर में मत्स्य वेध की प्रतिज्ञा के स्थान पर केवल धनुष चढ़ाने की प्रतिज्ञा का कवि ने उल्लेख किया है। इस परिवर्तन में जैनधर्म की अहिंसा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।[1]

---

१. डा० रामसिंह तोमर—प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य और इसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव।

वर्ण्य विषय के विस्तार की दृष्टि से ग्रंथ में वर्णन बाहुल्य का होना स्वाभाविक ही था। किन्तु वर्णन इस प्रकार के नहीं जो ऐतिहासिक दृष्टि से इतिवृत्तात्मक मात्र हों। वर्णनों में अनेक स्थल ऐतिहासिक नीरसता से रहित हैं और काव्यगत सरसता से आप्लावित हैं। युद्ध कांड में अनेक प्रसंग योद्धाओं का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। शस्त्रों की झंकार को कर्ण-गोचर करने वाले ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग कवि ने अनेक स्थलों पर किया है। कवि की कल्पना के चमत्कार को प्रदर्शित करने वाले भी अनेक स्थल हैं।

नेमि जन्माभिषेक के समय बजने वाले अनेक वाद्य यन्त्रों की ध्वनि, निम्नलिखित उद्धरण में सुनाई देती है—

अप्फालिउ णवणारंभ तूरु, पडिसद्दें तिभुवण भवण पूरु।
दुमु दुमु दुमंत दुंदुहि व मालु, धुमु धुमु धुमंत धुम्मुक्क तालु।
झिं झिं करंति सिक्किरि णिणाउ, सिमि सिमि सिमंत झल्लरि णिहाउ।
सल सल सलंत कंसाल झुयलु, गुं गुंजमाण गुंजंतु मुहलु।
कण कण कणंतु कणइ कोसु, डम डम डमंत डमरु वणि घोसु।
दों दों दों दों तमउं दणद्दु, त्रां त्रां परिछित्तउ डुकसद्दु।
टं टं टटि विलुउंडंत डक्क, भं भंत भंभुउंडंत ठक्क।
८. ९.

एक वन और सलिलावर्त्त कमल सर का सरस और मधुर पदावलि युक्त वर्णन देखिये—

हरिवंसुभावेण हरि विक्कम सारवलेण रण्णयं।
दीसइ देव दारु तल ताली तरल तमाल छण्णयं।
लवलि लवंग लउय जंबु वर अंब कवित्थ रिट्ठयं।
सम्मलि सरल साल सिणि सल्लइ सीस वस मिस मिट्ठयं।
चंपय चूय चार रवि चंदण बंदण वंद सुंदरं।
पत्तल वहल सीयल छाय लया हर मय मणोहरं।
मंथर मलय मारुयंदोलियं पायव पडिव पुप्फयं।
पुप्फ प्फोय सकल भसलावलि णाविय पहिय गुप्फयं।
केसरि णहर पहर खर दारिय करि सिर लित्त मोत्तियं।
मोत्तिय पंति कंति धवलीकय सयल दिसा वहंतियं।
खोल्ल जलोल्ल तल्ल लोलंत लोल कोल उल भीसणं।
वायस कंक सेण सिव जंवुवघूय विमुक्क णीसणं।
मय गय मय जलोह कद्दम संखुभांत वणयरं।
फुरिय फणिंद फार फणि मणि गण किरण करालियंवरं।
गिरि गण तुंग सिंग आलिंगिय चंदाइच्च मंडलं।
तछ भयावणे वणे दीसइ णिम्मल सीयलं जलं।

घत्ता— णामें सलिलावत्तु लक्खिज्जइ मणहरु कमलसरु।
णाइं सुमित्तें मित्तु अवगाहिउ णयणाणंदयरु। २.१
जत्थ सछ विछलाइं, मछ कछ विछुलाइं।
राय हंस सोहियाइं, मत्त हत्थि डोहियाइं।
भीतरंगु भंगु राइं, तार हार पंडुराइं।
पउमिणी करंवियाइं, मारुयप्पवेवियाइं।
चक्कवाय सेवियाइं, णक्क गाह माणियाइं।
एरिसाइं पाणियाइं, सेयणील लोहियाइं।
सूर रासि वोहियाइं, मत्त छप्पयाउलाइं।
जत्थ एरिसुप्पलाइं . . . ॥

२. २

युद्ध का सजीव वर्णन निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है। छन्द की गति द्वारा कवि ने स्थान-स्थान पर युद्ध की गति का भी साक्षात् चित्र उपस्थित कर दिया है।

उत्थरंतिसाहणाइं , चाउरंग वाहणाइं।
सुद्धु बद्ध मच्छराइं, तोसियामरच्छराइं।
एकमेक्क कोक्किराइं, कुंभकोडिवोक्किराइं।
वाण जाल छाइयाइं, चूरणाय णाइयाइं।
धूलि धाउ धूसराइं, आउ होइ जज्जराइं।
दंते दंत पेल्लियाइं, सोणियं वरे ल्लियाइं।
घोर घाइ भिंभलाइं, णित्त अंत चोंभलाइं।
तिक्ख खग्ग खंडियाइं, भल्लु यार वाउलाइं।
घोर गिद्ध संकुलाइं, सीह विक्कमे विवक्खे।
हीयमाण, एस धक्खे।

३. ७

भज्जंत समाउइं। जुज्झक्षंत सुहडाइं। णिग्गंत अंताइं।
भिज्जंत गत्ताइं। लोटंत चिंधाइं। तुट्टंत छत्ताइं।

७. ६

रथ टूट रहे हैं, योद्धा युद्ध करते जा रहे हैं, प्रहार से आंतें बाहर निकल पड़ती हैं, गात्र रुधिर से भीग रहे हैं, ध्वजायें भग्न हो पृथ्वी पर लोट रही हैं और छत्र टूटते जा रहे हैं। कितना स्पष्ट वर्णन है।

कवि के युद्ध वर्णन का एक उदाहरण और देखिये—

तो भिडिय परोप्परु रण-कुसल विण्ण वि णव-णायसहास-बल।
बिण्णि वि गिरि-तुंग-सिंग-सिहर बिण्णि वि जलहर-रव-गहिर-गिर।
विण्णि वि दट्ठोट्ठ रुट्ठ-वयण विण्णि वि गुंजा-हल-सम-णयण।
बिण्णि वि णह-यल-णिह-वच्छ-यल विण्णि वि परिहोवम-भु य-जुयल।

बिण्णि वि तणु-तेयाहय-तिमिर बिण्णि वि जिण-चरण-कमल-णमिर।
बिण्णि वि मंदर-परिभमण-चल बिण्णि वि विण्णाण-करण-कुसल।
बिण्णि वि पहरंति पहरक्खमिहिं भुय-दंडिहिं वज्ज-दंड-समिहिं।
पय-भारिहिं भारिय विहि मि महि महि-पडण-पेल्लणाहित्थ महि।

रि० च० २८. १६

अर्थात् इसके बाद नवनाग सहस्र बल वाले, रण कुशल दोनों भीम और कीचक परस्पर युद्धार्थ भिड़ गये। दोनों पर्वत के उत्तुंग शिखर के सदृश थे, दोनों मेघ के गम्भीर गर्जन के समान वाणी वाले थे, दोनों के नेत्र गुंजाफल सदृश थे, दोनों आकाश सदृश विशाल वक्षस्थल वाले थे, दोनों परिघा-सदृश भुजाओं वाले थे, दोनों ने शरीर के तेज से अन्धकार को नष्ट कर दिया, दोनों जिन चरणों में नमनशील थे, दोनों मंदराचल-परिभ्रमण के समान गति वाले और क्रियात्मक विज्ञान में कुशल थे, दोनों वज्रदंड के समान प्रहारक्षम भुजदंडों से प्रहार करने लगे। दोनों ने पृथ्वी को अपने चरण भार से पूरित कर दिया।

कवि के वर्णनों में संस्कृत की वर्णन शैली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

अनेक स्थलों पर कवि की अद्भुत कल्पना के भी दर्शन होते हैं। विराट नगर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

घत्ता— पट्टणु पइसरिय जं धवल-धरालंकरियउ।
केण वि कारणेण णं सग्गखंडु ओयरियउ॥

रि० च० २८.४

अर्थात् पांचों पांडव उस नगर में प्रविष्ट हुए, जो धवल गृहों से अलंकृत था और ऐसा सुन्दर प्रतीत होता था मानो किसी कारण स्वर्ग खंड पृथ्वी पर उतर आया हो।

कवि के इस वर्णन में कालिदास के निम्नलिखित कथन की झलक है। उज्जयिनी के विषय में कालिदास कहते हैं—

स्वल्पी भूते सुचरित फले स्वर्गिणां गां गतानां।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खंडमेकम्॥

मेघदूत १. ३०

वाल्मीकि रामायण में भी कवि ने लंका को पृथ्वी पर गिरा हुआ स्वर्ग कहा है—

"महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णम्"

५. ७. ६

काव्य की भाषा साहित्यिक है और व्याकरणानुमत है। स्थान-स्थान पर अलंकारों के प्रयोग से भाषा अलंकृत है। अलंकारों के प्रयोग में उपमान भी धार्मिक-भावना युक्त हैं। उदाहरण के लिए—

घत्ता— सहुं दुमय-सुयाए कोक्काविय ते वि पइट्ठा।
जीवदयाए सहिय परमेट्ठि पंच णं दिट्ठा॥

रि० च० २८. ५

अर्थात् द्रुपदसुता के साथ आहूत वे पाँचों पांडव भी प्रविष्ट हुए। जैसे जीव दया के साथ पंच परमेष्ठी—अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—प्रविष्ट हुए हों।

काव्य में सूक्तियों का भी प्रयोग मिलता है—

"सीहहो हरिणि जिहं णिय पुण्णेंहि केम वि चुक्की"

२८. ७

अर्थात् जैसे सिंह (के मुख) से हरिणी किसी प्रकार निज पुण्यों से छूटी हो।

"जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ तहिं जणु सामण्णु काइं करइ"

अर्थात् जहाँ प्रभु दुश्चरित करेगा तो सामान्य जन क्या करेगा ?

हेला— वरि सुसइ समुद्दु वरि मंदरो णमेइ।
ण वि सव्वण्हु भासियं अण्णहा हवेइ॥ १०३. १५

अर्थात् चाहे समुद्र सूख जाय, चाहे मंदर झुक जाय किन्तु सर्वज्ञ का कथन अन्यथा नहीं हो सकता।

कवि ने यद्यपि स्वयं इस बात को स्वीकार किया है कि बाण से उसने बड़े-बड़े समासों और शब्दाडंबर वाली भाषा ली[1] किन्तु उसकी भाषा इस प्रकार के समासों से रहित, सरल और सीधी है। कवि को पज्झटिका छन्द बहुत प्रिय था।[2] उसने इसी छन्द का अपनी कृतियों में उपयोग किया हो ऐसी बात नहीं। इस छन्द के अतिरिक्त भुजंग प्रयात, मत्त मात्तंग, कामिनी मोहन, नाराचक, केतकीकुसुम, द्विपदी, हेला, पारणक आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है।

महापुराण

महापुराण या तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार पुष्पदन्त द्वारा रचा हुआ महाकाव्य है। पुष्पदन्त काश्यप गोत्रोत्पन्न ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशव भट्ट तथा माता का नाम मुग्धादेवी था।[4] जीवन के पूर्वकाल में शैव थे पीछे से जाकर दिगंबर जैन हो गये। दुष्टों से सताये जाने पर यह मान्यखेट पहुँचे। वहाँ

---

१. "वाणेण समप्पिउ घणघणउं तं अक्खर-डंबर अप्पणउं"

रि० च० १. २

२. "चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय"

रि० च० १. २

३. श्री पी. एल. वैद्य द्वारा संपादित, माणिक्यचन्द्र जैन ग्रंथमाला से तीन खंडों में वि. स. १९९३, १९९६ और १९९८ में क्रमशः प्रकाशित।

४. कसणसरीरें सुट्ठुकुरूवें मुद्धाएवि गब्भ संभूवें।
कासव गोत्तें केसव पुत्तें कइ कुल तिलएं सरसइ णिलएं।
पुप्फयंत कइणा पडिउत्तउ ....।

महापुराण ३८. ४. २-४

भरत के आश्रय में रह कर इन्होंने तिसट्ठिपुरिसगुणालंकार या महापुराण की रचना की और उसके बाद भरत के पुत्र नन्न के आश्रय में णायकुमारचरिउ और जसहर-चरिउ की रचना की। भरत और नन्न दोनों मान्यखेट में राष्ट्र कूट वंश कृष्णराज तृतीय या वल्लभराज के मंत्री थे। मान्यखेट, आजकल हैदराबाद राज्य में मलखेड़ के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्पदन्त के समय यह नगर एक अच्छा साहित्यिक केन्द्र था।

पुष्पदन्त धनहीन और दुर्बल शरीर थे। उन्हें अपने कवित्व का अभिमान था। इन्होंने अपने को कव्व-पिसल्ल, अभिमान-मेरु, कविकुलतिलक, काव्य-रत्नाकर, सरस्वती-निलय[1] आदि उपाधियों से विभूषित किया है। पुष्पदन्त का समय अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने ईसा की १० वीं सदी माना है।[2]

महापुराण या तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार तीन खंडों में विभक्त है। प्रथम खंड जिसे आदि पुराण कहते हैं, द्वितीय खंड—उत्तर पुराण का प्रथमार्ध और तृतीय खंड उत्तरपुराण का द्वितीययार्ध। तीनों खंडों में १०२ संधियाँ हैं। प्रथम खंड में ३७, द्वितीय में ३८ से ८० और तृतीय में ८१ से १०२ तक। प्रथम खंड में कवि ने प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती भरत के जीवन का वर्णन किया है। इस महाकाव्य की रचना कवि ने राष्ट्रकूट राज कृष्ण तृतीय के मन्त्री भरत के आश्रय में रह कर की। ग्रन्थ का आरम्भ भरत के प्रोत्साहन से ९५९ ई० में हुआ। आदि पर्व के अनन्तर कवि कुछ हतोत्साह हो गया था किन्तु सरस्वती के प्रोत्साहन[3] और भरत की प्रेरणा से कवि ने अवशिष्ट ग्रन्थ को आरम्भ कर ९६५ ई० में समाप्त किया।[4]

महापुराण का अर्थ—दिगंबर मतानुसार श्री महावीर स्वामी की वाणी जिन ग्यारह 'अंगों' और चौदह 'पूर्वों' में ग्रथित थी वे सब विच्छिन्न हो गये। जो श्वेताम्बर अंग अब पाये जाते हैं उन्हें दिगम्बर समाज स्वीकार नहीं करता। वह अपना धार्मिक साहित्य प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों

---

१. तं णिसुणेवि भरहें वुत्तु ताव, भो कइकुल तिलय विमुक्कगाव
म० पु० १. ८. १

भो भो केसव तणुरुह णवसरुह मुह कव्व रयण रयणायर
म. पु. १. ४. १०

अग्गइ कइ राउ पुप्फयंतु सरसइ णिलउ।
देवियहि सरूउ वण्णइ कइयण कुल तिलउ॥
जसहर चरिउ १. ८. १५

२. पं० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास,
बम्बई, १९४२, पृष्ठ ३२९

३. णिव्विण्णउ थिउ जाय महाकइ ता सिविणंतरि पत्त सरासइ
म० पु० ३८. २. २.
३८. ४–५

४. वही

में विभक्त करता है। प्रथम अनुयोग में तीर्थंकरों या प्रसिद्ध महापुरुषों का जीवन एवं कथा साहित्य, द्वितीय में विश्व का भूगोल, तृतीय में गृहस्थों और भिक्षुओं के लिए आचार एवं नियम और चतुर्थ अनुयोग में दर्शनादि का वर्णन पाया जाता है। इस प्रथम महापुराण प्रथमानुयोग की एक शाखा है।[१]

जैन साहित्य में 'पुराण' प्राचीन कथा का सूचक है। महापुराण का अभिप्राय प्राचीन काल की एक महती कथा से है। पुराण में एक ही धर्मात्मा पुरुष या महापुरुष का जीवन अंकित होता है महापुराण में अनेक महापुरुषों का। महापुराण में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेव, इन ६३ महापुरुषों—शलाका पुरुषों—के चरित्र का वर्णन किया जाता है। अतएव पुष्पदन्त ने इस ग्रन्थ को 'तिसट्ठि महापुरिस गुणालंकार' नाम भी दिया है। जिनसेन ने अपने महापुराण को त्रिषष्टि लक्षण और हेमचन्द्र ने त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित कहा है।

प्रचलित पुराण साहित्य पर विशेषता दिखाने के लिए महापुराण शब्द का प्रयोग किया गया प्रतीत होता है।

कथानक—कवि दुर्जनों के भय से महापुराण का आरम्भ करने में संकोच का अनुभव करता है किन्तु भरत प्रोत्साहित करता है कि दुर्जनों का तो स्वभाव ही दोषान्वेषण होता है उस पर ध्यान न दो। कुत्ता पूर्ण चन्द्र पर भौंकता रहे उसका क्या बिगड़ेगा ?[२] महापुराण आरम्भ करो। परंपरागत सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा के बाद कवि आत्म विनय के साथ ग्रन्थ आरम्भ करता है।[३] कालिदास रघुवंश का आरम्भ करते हुए अनुभव करता है कि सूर्य वंशी राजाओं का वर्णन उडुप—छोटी नौका—से विशाल समुद्र को पार करने के समान उपहासास्पद होगा।[४] पुष्पदन्त के लिये भी महापुराण उडुप द्वारा समुद्र को मापने के समान है।

मगधराज श्रेणिक के अनुरोध करने पर श्री महावीर के शिष्य गौतम, महापुराण की कथा सुनाते हैं।

नाभि और मरुदेवी से अयोध्या में ऋषभ का जन्म होता है (३)[५] ऋषभ क्रमशः युवावस्था प्राप्त करते हैं। जसवई[६] और सुणंदा नामक राजकुमारियों से उनका

---

१. महापुराण, भूमिका, पृष्ठ ३२

२. भुक्कउ छणयंदहु सारमेउ म० पु० १. ८. ७

३. वही, १. ९.

४. क्व सूर्य प्रभवो वंशः क्व चाल्प विषयामतिः।
तितीर्षुः दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥
रघुवंश, प्रथम सर्ग

५. अइ दुग्गमु होइ महापुराणु कुडएण मवइ को जल णिहाणु, म. पु. १. ९. १३

६. कथावस्तु के प्रसंग में जहाँ पर भी कोष्ठक के अन्दर संख्या सूचक अंक होगा वहाँ उससे सन्धि संख्या का अभिप्राय समझना चाहिए।

विवाह होता है। जसवई से भरह–भरत–आदि सौ पुत्र और बम्भी नामक कन्या तथा सुणंदा से बाहुबलि नामक पुत्र और सुन्दरी नामक कन्या उत्पन्न हुई। राजकुमार और राजकुमारियों को उनके योग्य अनेक प्रकार की शिक्षा दी जाती है।[1] क्रमशः ऋषभ संसार से विरक्त हो जाते हैं और भरत राजगद्दी पर बैठते हैं (६–७)। ऋषभ तपस्या द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं (८–११)। इसके बाद कवि ने चक्रवर्ती भरत के दिग्विजय का वर्णन किया है (१२–१९)। फिर २७ वीं संधि तक ऋषभ ने अपने साथियों के और अपने पुत्रों के पूर्वजन्मों का, अनेक पौराणिक कथाओं से और अलौकिक घटनाओं से ग्रथित, वर्णन किया है। सुलोचना, स्वयंवर में जय को चुनती है। जय और सुलोचना के पूर्वजन्म की कथाओं का, अनेक अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों से युक्त, वर्णन है। इन घटनाओं और चमत्कारों के मूल में जिन भक्ति ही प्रधान कारण है (२८–३६)। रिसह निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं (३७)। भरत भी अयोध्या में चिरकाल तक राज्य करते हुए अन्त में निर्वाण पद पाते हैं (३७)।

उत्तर पुराण के प्रथमार्थ या द्वितीय खंड में ३८ से लेकर ८० तक संधियाँ हैं। इनमें २० तीर्थंकरों, ८ बलदेवों, ८ वासुदेवों, ८ प्रतिवासुदेवों, और १० चक्रवर्त्तियों का वर्णन है। इसी खंड में ३८ से ६८ संधि तक अजितादि तीर्थंकरों की कथा है। ६९ से ७९ संधि तक रामायण की कथा है। इसी को जैनी पउम चरिउ–पद्म पुराण-कहते हैं। श्रेणिक के मन में रामायण-कथा के संबंध में अनेक शंकायें होती है एवं गौतम से उनके समाधान की प्रार्थना करते हैं। कवि की दृष्टि में वाल्मीकि और व्यास के वचनों पर विश्वास करते हुए लोग कुमार्ग कूप में गिरे।[1] अतएव कवि ने जैन धर्म की दृष्टि से रामकथा का उल्लेख किया है।

जैन धर्म में राम कथा का रूप वाल्मीकि रामायण मे कुछ भिन्न है। इस राम कथा के विषय में कवि का कथन है कि राम और लक्ष्मण पूर्व जन्म में क्रमशः राजा प्रजापति और उसके मंत्री थे। युवावस्था में वे श्रीदत्त नामक व्यापारी की स्त्री कुवेरदत्ता का अपहरण करते हैं। राजा क्रुद्ध हो मंत्री को आज्ञा देता है कि इन्हें जंगल में ले जाकर मार दो। मंत्री जंगल में ले जाकर उन्हें एक जैन भिक्षु के दर्शन कराता है। वे भी भिक्षु हो तपस्या से जीवन बिताने लगते हैं। दोनों भिक्षु मरणोपरान्त मणिचूल और सुवर्णचूल नामक देवता बनते हैं। अगले जन्म में वे वाराणसी के राजा दशरथ के घर उत्पन्न होते हैं। राजा की सुबला नाम की रानी से राम (पूर्व जन्म का सुवर्णचूल और विजय) और कैकेयी से लक्ष्मण (पूर्व जन्म का मणिचूल और चन्द्रचूल) उत्पन्न होते हैं (६९. १२)। इस प्रकार जैन धर्मानुसार राम की माता का नाम सुबला और कैकेयी के पुत्र का नाम लक्ष्मण माना जाता है। राम का वर्ण श्वेत और लक्ष्मण का श्याम था।

---

१. म० पु० ५. १८ में कवि ने संस्कृत, प्राकृत भाषाओं की शिक्षा के साथ अपभ्रंश भाषा की शिक्षा का भी उल्लेख किया है।

२. वम्मीय वास वयणिहिं णडिउ अण्णाणु कुमग्ग कूवि पडिउ म० पु० ६९.३.११

सीता भी रावण नामक विद्याधर और उसकी स्त्री मंदोदरी की लड़की थी। इस भविष्यवाणी से कि यह अपने पिता पर आपत्ति लायेगी रावण एक मंजूषा में डालकर उसे किसी खेत में गाड़ देता है। वह जनक को वहीं से प्राप्त होती है और वहीं उसका पालन-पोषण कर राम के साथ उसका विवाह करता है। सीता के अतिरिक्त राम की ७ और पत्नियों ('अवराउ सत्त कण्णाउ तासु' ७०. १३. ९) तथा लक्ष्मण की १६ पत्नियों की कल्पना की गई हैं (७०. १३. १०.)।

नारद के मुख से सीता की प्रशंसा सुन कर रावण उसका हरण करता है। दशरथ स्वप्न देखते हैं कि चन्द्र की पत्नी रोहिणी को राहु ले गया और इससे वह राम पर विपत्ति की कल्पना करते हैं। दशरथ सीताहरण पर जीवित थे। सीता लंका में लाई जाती है। रावण उसका चित्त आकृष्ट न कर सका। सुग्रीव और हनूमान् राम को सहायता का वचन देते हैं और बालि के राज्य को प्राप्त करने के लिए उनकी सहायता मांगते हैं। हनूमान् लंका से सीता का समाचार लाते हैं। इसी बीच लक्ष्मण बालि को मार कर उसका राज्य सुग्रीव को दे देते हैं।

रावण के ऊपर आक्रमण करने से पूर्व राम और लक्ष्मण माया युक्त अस्त्र विद्याओं को प्राप्त करने के लिए उपवास करते हैं। राम और रावण का भयंकर युद्ध होता है। लक्ष्मण रावण को मारते हैं। लंका का राज्य विभीषण को दे दिया जाता है। लक्ष्मण अर्ध-चक्रवर्ती बन जाते हैं और चिरकाल तक राज्य सुख भोग कर नरक में जाते हैं। राम भाई के वियोग से, विरक्त हो भिक्षु जीवन बिताते हैं और अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

राम, लक्ष्मण और रावण जैन धर्म के अनुसार क्रमशः ८ वें बलदेव, वासुदेव और प्रति वासुदेव हैं। ८०वीं संधि में नमि की कथा है। ८१वीं संधि से उत्तर पुराण का द्वितीयार्ध या महापुराण का तृतीय खण्ड प्रारम्भ होता है। इस खंड में ८१ से लेकर १०२ तक संधियाँ हैं। ८१ से ९२ तक मुख्य रूप से महाभारत की कथा है जिसे कवि ने हरिवंश पुराण भी कहा है। महाभारत की कथा से संबद्ध पात्रों के पूर्व जन्म की अनेक कथाओं का कवि ने वर्णन किया है। इस कथा में अनेक स्थल काव्यदृष्टि से सुन्दर और सरस हैं। ८५वीं सन्धि तो काव्य का सुन्दर निदर्शन है। तृतीय खंड के अन्तिम भाग में पार्श्वनाथ (९३-९४), महावीर (९५-९७), जंबू स्वामी (१००), प्रीतिंकर (१०१) की कथायें हैं। अन्तिम सन्धि महावीर के निर्वाण के वर्णन से समाप्त होती है।

महापुराण का कथानक पर्याप्त विस्तृत है। ६३ महापुरुषों का वर्णन ही विशाल है फिर उनकी अनेक पूर्व जन्म की कथाओं और अवान्तर कथाओं से कथानक इतना विस्तृत हो गया है कि उसमें से कथा सूत्र को पकड़ना कठिन हो जाता है। महापुराण में जैन धर्मानुकूल ६३ महापुरुषों में कवि ने रामायण और महाभारत की कथा का भी अन्तर्भाव किया है। संस्कृत साहित्य में इन दोनों में प्रत्येक कथा के किसी एक खंड को या उपाख्यान को लेकर स्वतन्त्र महाकाव्यों की रचना हुई है। इनके भी अन्तर्भाव से कथानक की व्यापकता और विशालता की कल्पना सहज में ही की जा सकती है। कवि की दृष्टि में ये दोनों कथाएँ भिन्न-भिन्न एवं महत्त्वपूर्ण थीं। दोनों कथाओं को प्रारम्भ करते

हुए कवि ग्रंथ का महत्त्व ग्रन्थ समाप्ति में असमर्थता आदि भाव अभिव्यक्त करता है। अपने से पूर्व काल के कवियों का उल्लेख करता है।[1] आत्म विनय प्रदर्शित करता है।[2] कथानक में अनेक कथायें अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों से परिपूर्ण हैं। ऐसी घटनाओं के मूल में भी जिन-भक्ति है।[3] पौराणिक कपोल कल्पना का प्राचुर्य है। प्रबन्ध निर्वाह भली भाँति नहीं हो सका है।

कथानक के विशाल और विशृंखल होने पर भी बीच-बीच में अनेक काव्यमय सरस और सुन्दर वर्णन मिलते हैं। जनपदों, नगरों और ग्रामों के वर्णन बड़े ही भव्य हैं। कवि ने नवीन और मानव जीवन के साथ संबद्ध उपमानों का प्रयोग कर वर्णनों को सजीव बनाया है। उदाहरण के लिए मगध देश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

जहिं कोइलु हिंडइ कसण पिंडु वण लच्छिहे णं कज्जल करंडु।
....

जहिं सलिलइं मारुय पेल्लियाइं रवि सोसण भएण व हल्लियाइं।
जहिं कमलहं लच्छिइ सहुं सणेहु सहुं ससहरेण वड्ढिउ विरोहु।
फिर दो वि ताइं महणु ब्भवाइं जाणंति ण तं जड संभवइं।
....

जुज्झंत महिस वसहुच्छवाइं मंथा मंथिय मंथणि रवाइं।

म० पु० १. १२

अर्थात् जहाँ कृष्ण वर्ण कोयल वनलक्ष्मी के कज्जल पात्र के समान, विचरती है। जहाँ वायु से आन्दोलित जल मानों सूर्य के शोषण-भय से हिल रहे हैं। जहाँ कमलों ने लक्ष्मी के साथ स्नेह और शशधर के साथ विरोध किया है यद्यपि लक्ष्मी और शशधर दोनों क्षीर सागर के मन्थन से उत्पन्न हुए हैं और दोनों जलजन्मा हैं किन्तु अज्ञानता से इस बात को नहीं जानते। जहाँ महिष और वृषभ का युद्धोत्सव हो रहा है। जहाँ मंथन-तत्पर बालाओं के मन्थनी-रव के साथ मधुर गीत सुनाई पड़ते हैं।

---

१. म० पु० ६९. १. ७-८

२. वही ६९. १. ९-११

३. घत्ता— घित्तउ जलणि जलंति तहि वि परिट्ठिउ अवियलु।
जिण पय पोम रयासु अग्गि वि जायउ सीयलु॥
म० पु० ३३. १०

घत्ता—सत्तु वि मित्त हवंति विट्ठि वि भल्लउ वासरु।
जिणु सुमिरंतहं होइ खग्गु वि कमलु सकेसरु॥
म० पु० ३३. ११

मगध देश में राजगृह की शोभा का वर्णन करते हुए कवि कहता है—
घत्ता—

जहिं दीसइ तहिं भल्लउ णयरु णवल्लउ ससि रवि अन्त विहूसिउ।
उवरि विलंबियतरणिहे सग्गें धरणिहे णावइ पाहुडु पेसिउ॥
म० पु० १. १५

राजगृह मानों स्वर्ग द्वारा पृथ्वी के लिए भेजा हुआ उपहार हो।
इसी प्रकार ९३. २-४ में पोयण नगर का सुन्दर वर्णन है।
घत्ता—

तहिं पोयण णामु णयरु अत्थि वित्थिण्णउं।
सुर लोएं णाइ धरिणिहि पाहुडु दिण्णउं॥
९२. २. ११-१२

अर्थात् वह इतना विस्तीर्ण, समृद्ध और सुन्दर था मानो सुर लोक ने पृथ्वी को प्राभृत (भेंट) दी हो।

यह उत्प्रेक्षा अपभ्रंश कवियों को बहुत ही आकर्षक थी। स्वयंभू ने भी इसी कल्पना का प्रयोग विराट् नगर का वर्णन करते हुए किया यह ऊपर दिखाया जा चुका है।[1] कालिदास के मेघदूत में और वाल्मीकि की रामायण में भी इसका प्रयोग मिलता है ऐसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है।[2]

नगरों के इन विशद वर्णनों में कवि का हृदय मानव जीवन के प्रति जागरूक है मानो उसने मानव के दृष्टिकोण से विश्व को देखने का प्रयास किया हो।

कवि मानव हृदय का भी पारखी था। बाह्य जगत् की तरह आन्तरिक जगत् का भी सुन्दर वर्णन काव्य में मिलता है। ऐसे स्थल जहाँ कवि की भावना उद्बुद्ध होनी चाहिए, वह उद्बुद्ध दिखाई देती है। कवि भावुक है। भावानुभूति के स्थलों पर कवि हृदय ने इसका परिचय दिया है।

सुलोचना के स्वयंवर में आये हुए राजाओं के हृद्गत भावों का विशद वर्णन इस काव्य में मिलता है।[3] इसी प्रकार वाराणसी में लौटे हुए राम-लक्ष्मण के दर्शनों के लिए लालायित पुरवधुओं की उत्सुकता का चित्रण भी सुन्दर हुआ है।[4] इसी प्रकार वसुदेव के दर्शन पर पुरवधुओं के हृदय की क्षुब्धता का वर्णन भी मार्मिक है।[5]

---

१. पटटणु पइसरिय जं धवल-घरा लंकरियउ।
केण वि कारेणेन णं सग्ग-खंडु ओयरियउ॥
रिट्ठ० च० २८. ४

२. मेघदूत, १. ३०, वाल्मीकि रामायण ५. ७. ६।

३. पउम चरिउ २८. १९।

४. वही, ७०. १६।

५. वही, ८३. २-३।

इनके अतिरिक्त मंदोदरी विलाप[1] तथा अन्य वियोग वर्णनों में[2] भी कवि की भाव व्यंजना सुन्दरता से हुई है।

रस—रस की दृष्टि से काव्य में वीर, शृङ्गार और शान्त तीनों रसों की अभिव्यंजना दिखाई देती है। प्रायः सभी तीर्थंकर और चक्रवर्त्ती जीवनकाल में सुखभोग में लीन रहते हैं और जीवन के अन्त में संसार से विरक्त हो निर्वाण पद को प्राप्त करते हैं। जीवनकाल में भोग विलास की सामग्री स्त्री की प्राप्ति के लिए इन्हें अनेक बार युद्ध भी करने पड़ते हैं। ऐसे स्थलों में वीर रस का भी सुन्दरता से चित्रण हुआ है। इनके अतिरिक्त वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों के संघर्ष में भी वीर रस के सरस उदाहरण मिल जाते हैं। किन्तु शृङ्गार और वीर दोनों रसों का पर्यवसान शान्त में ही होता है।

शृंगार रस की व्यंजना, स्त्रियों के सौन्दर्य और नखशिख वर्णन में विशेषतया दिखाई देती है।[3] युद्धोत्तर वर्णनों में युद्ध के परिणामस्वरूप करुण रस और वीभत्स रस के दृश्य भी सामने आ जाते हैं। करुण रस का एक चित्र मंदोदरी-विलाप में दिखाई देता है।

घत्ता—

ता तहिं मंदोयरि देवि किसोयरि थण अंसुय धारहिं धुवइ।
णिवडिय गुण जल सरि खग परमेसरि हा हा पिय भणंति रुयइ ॥

.... ७८. २१

पइं विणु जगि दसास जं जिज्जइ तं परदुक्ख समूहु सहिज्जइ।
हा पिययम भणंतु सोयाउरु कंदइ णिरवसेसु अंतेउरु ॥

७८. २२. १२-१३

शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ दोनों रूपों को कवि ने अंकित किया है। शृङ्गार में केवल परम्परा का पालन ही नहीं मिलता जहाँ तहाँ रम्य उद्भावनाओं की सृष्टि भी कवि ने की है।। अलका के राजा अतिबल की रानी मनोहरा के प्रसंग में कवि कहता है—

णं पेम्म सलिल कल्लोल माल, णं मयणहु केरी परमलील।
णं चिंतामणि संदिण्ण काम, णं तिजग तरुणि सोहग्गसीम।
णं रूव रयण संघाय खाणि, णं हियय हारि लायण्ण जोणि।
णं थर सरहंसिणि रइ सुहेल्लि, णं घर महिरुह मंडणिय वेल्लि।
णं धरवणदेवय दुरिय संति, णं घर छण ससहर बिंब कंति।

---

१. वही, ७८. २१-२२।
२. वही, २२. ९ तथा २४. ७।
३. म. पु. ५. १७; २८. १३; ७०. ९-११।

णं घरगिरि वासिणि जक्खपत्ति, णं लोय वसंकरि मंत सत्ति।
महएवि तासु घर कमल लच्छि, णामेण मणोहर पंकयच्छि[१]।

२०. ९. १–७

गुणमंजरी वेश्या के शारीरिक सौन्दर्य के अतिरिक्त उसके आन्तरिक सौन्दर्य को भी प्रकट किया है—

दुवई— मत्त करिंद मंद लीला गइ णर मण णलिण गोमिणी।
किं वण्णवि णरिंद सा कामिणि कामिणियण सिरोमणी॥
दिस बिंबाहर रंगें रावइ करुरुह पंति पईवहिं दीवइ।
कुंचिय केसहं कंतिइ कालइ माणिणि माणव महुयर मालइ।
सुललिय वाणि व सुकइहि केरी जहिं दीसइ तहिं सा भल्लारी।[२]

५४.२.२–५

सीता का सौंदर्य भी परंपराभुक्त नहीं।

बड्ढ परमेसरि दिव्व देह णं बीयायंदहु तणिय रेह।
णं ललिय महा-कइ पय पउत्ति णं मयण भाव विण्णाण जुत्ति।
णं गुण समग्ग सोहग्गथत्ति णं णारिरूव विरयण समत्ति।
लायण्ण वत्त णं जलहि वेल सुरहिय णं चंपय कुसुम माल।
थिर सूहव णं सप्पुरिस कित्ति बहुलक्खण णं वायरण वित्ति।[३]

७०. ९. ९.

नखशिख के परंपरागत वर्णन में भी कवि ने अपनी अद्भुतकला से अनुपम चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। सुलोचना का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि—

उसके पैरों को कमल के समान कैसे कहूँ ? वह क्षणभंगुर है ऐसा कवियों ने नहीं सोचा। दिन में नक्षत्र कहीं नहीं दिखाई देते, मानो सुलोचना के नखों की प्रभा से नष्ट हो जाते हैं।[४]

---

१. रइ सुहेल्लि—रति सुख युक्त। दुरिय संति—दुरित को शान्त करने वाली। छण ससहर—क्षण शशधर, पूर्णिमा का चाँद। जक्खपत्ति—कुबेर की भार्या।

२. रावइ—रंजित करती है। कालइ—काला करती है।
ल्लारी—उत्तम स्त्री।

३. वीया यंदहु तणियरेह = द्वितीया के चाँद की कला। पय पउत्ति = पद प्रयुक्ति। विरयण समत्ति = रचना, निर्माण की समाप्ति अर्थात् चरमोत्कर्ष।

४. पायहु काइं कमलु समु भणियउं खण तं भंगुरु कइहिं ण मुणियउं।
रिक्खइं वासरि कहिंमि ण दिट्ठइं कण्णा णह पहाहि णं णट्ठइं।
म० पु० २८. १२. ८–९

सीता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

दिय दित्तिइ जित्तइं घत्तियाइं इयरहह कह विद्धइं मोत्तियाइं।
मुह ससि जोण्हइ दिस धवल थाइ इयरह कह ससि झिज्जंतु जाइ।

७०. ११. ५–६

अर्थात् सीता के दाँतों की दीप्ति से मोती जीते गये और तिरस्कृत हो गये अन्यथा क्यों वे बींधे जाते ? मुख-चन्द्र-चन्द्रिका से दिशाएँ धवलित हो गईं अन्यथा क्यों शशि क्षीण होता ?

वियोग वर्णनों में मस्तिष्क को चमत्कृत करने वाली हाहाकार नहीं अपितु हृदय को स्पर्श करने वाली करुण वेदना की पुकार है। ऐसे स्थलों में वियोगी का दुःख उसके हृदय तक ही सीमित नहीं रहता। प्रकृति भी उसके शोकावेग से प्रभावित दिखाई देती है।

सीता के वियोग से राम को जल विष के समान, और चन्दन अग्नि के समान दिखाई देता है। (म० पु० ७३. ३-८)

इस प्रकार एक अन्य वियोगिनी का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि

मलयाणिलु पलयाणलु भावइ भूसणु सणु करि बद्धउ णावइ।
....

ण्हाणु सोय ण्हाणु व णउ रुच्चइ वसणु वसणसंणिहु सा सुच्चइ।
....

चंदणु इंधणु विरह हुयासहु...............

म० पु० २२. ९.

अर्थात् वियोगिनी को मलयानिल प्रलयानल के समान, भूषण सन के बन्धन के समान प्रतीत होता था। स्नान शोक स्नान के समान अच्छा नहीं लगता। वसन को वह व्यसन के समान समझती थी। चन्दन विरहाग्नि के लिए ईंधन के समान था इत्यादि।

वीर रस के वर्णनों में वीर रस का परिपाक करने के लिए भावानुकूल शब्द योजना की है। वीर रस के कठोर और संयुक्ताक्षरों के प्रयोग की परंपरा सर्वत्र नहीं दिखाई देती। कवि ने छन्द योजना, नाद सौन्दर्य और भाव व्यंजना के द्वारा वीर रस को उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है। यथा—

भडु को वि भणइ जइ जाइ जीउ तो जाउ थाउ छुडु पहु पयाउ।
भडु को वि भणइ रिउं एंतु चंडु मइं अज्जु करेवउ खंड खंडु।
भडु को वि भणइ जइ मुंडु पडइ तो महुं रुंडु जि रिउं हणवि णडइ।

म० पु० ५२. १२. २–३

अर्थात् कोई भट यह कहता है कि प्राण जाय तो भले ही जाय किन्तु स्वामी का प्रभाव स्थिर रहे। कोई भट कहता है कि प्रचंड शत्रु को आते देख आज मैं उसे खंड खंड कर दूंगा। अन्य भट कहता है कि यदि शिर कट कर गिर गया तो भी धड़ शत्रु को मारने के लिए नाचता फिरेगा।

टवर्गाक्षरों के प्रयोग के साथ-साथ भटों के हृदय में उत्साह की व्यंजना भी है। इसी प्रसंग में कवि कहता है—

वहु कासु वि देइ ण दहिय तिलउ अहिलसइ वइरिरुहिरेण तिलउ।
वहु कासु थिवइ ण अक्खयाउ खलवइ करि मोत्तिय अक्खयाउ।

५२. १३. ४-५

अर्थात् किसी युद्धोन्मुख योद्धा की वधू उसे दधि तिलक नहीं लगाती, वह उसे वैरी के रुधिर से तिलक करना चाहती है। किसी की वधू अपने पति को अक्षत का टीका नहीं लगाती, वह शत्रु के हाथियों के मोतियों से टीका करना चाहती है।

भारतीय वीरांगना का यह स्वरूप उत्तरकालीन भारत की राजपूत नारी में विशेष रूप से परिस्फुटित होता है।

इसी प्रकार एक दूसरे की ओर बढ़ती हुई दो सेनाओं का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

चल चरण चार चालिय धराइं डोल्लाविय गिरि विवरंतराइं।
ढलहलिय घुलिय विर विसहराइं भयतसिर रसिय घण घणयराइं।
झलझलिय वलिय सायर जलाइं जल जलिय काल कोवाणलाइं।
पय हय रय छइय णहंतराइं अणलक्खिय हिमयर दिणयराइं।
करि वाहणाइं सपसाहणाइं हरि हरि गीवाहिव साहणाइं।
आयइं अण्णण्णहु समुहाइं असिदाढालइं णं जंव मुहाइं।[1]

५२. १४. ८—१३

परंपरानुकूल कठोर शब्दों का प्रयोग यद्यपि नहीं तथापि भावव्यंजना तीव्रता से हुई है।

इसी प्रकार युद्ध के लिए चलती हुई सेना के वर्णन में कवि ने छन्द-योजना द्वारा ही सेना की गति का अंकन किया है।

शीघ्रता से बाण चलाते हुए लक्ष्मण के बाण संधान और बाण प्रहार की शीघ्रता का अनुमान निम्न छन्द की गति से हो जाता है—

कहिं दिट्ठि मुट्ठि कहिं चावलट्ठि।
कहिं बद्धु ठाणु कहिं णिहिउ बाणु। ७८. ९. ३—४

निर्वेद भाव को जागृत करने वाला संसार की असारता का प्रतिपादक एक उदाहरण लीजिये—

खंडयं—इह संसार दारुणे बहु सरीर संघारणे।
वसिऊणं दो वासरा के के ण गया णरवरा॥

---

१. पय हय रय··· पादाघात से उत्पन्न धूलि से जिसने आकाश भर दिया था। सपसाहणाइं—प्रसाधन, अलंकरण सहित। हरि—कृष्ण। जंव मुहाइं—यम मुख।

पुणु परमेसरु सुसमु पयासइ धणु सुरधणु व खणद्धे णासइ।
हय गय रह भड धवलइं छत्तइं सासयाइं णउ पुत्तु कलत्तइं।
जंपाणइं जाणइं धय चमरइं रवि उग्गमणे जंति णं तिमिरइं।
लच्छि विमल कमलालय वासिणि णवजलहर चल बुह उवहासिणि।
तणु लायण्णु वण्णु खणि खिज्जइ कालालि मयरंदु व पिज्जइ।
विंयलइ जोव्वणु करयलजलु णिवडइ माणुसु णं पिक्कउ फलु।[1] ७.१.

अर्थात् इस दारुण संसार में दो दिन रह कर कौन से राजा यहाँ से न गये ? इसमें धन इन्द्रधनुष के समान क्षण में नष्ट हो जाता है। हाथी, घोड़े, रथ, भट, धवल छत्र, पुत्र, कलत्र कुछ भी स्थायी नहीं। पालकी, यान, ध्वजा, चामर सब सूर्योदय पर अन्धकार के समान विलीन हो जाते हैं। विद्वानों का उपहास करने वाली कमलालया जलधर के समान अस्थिर है। शरीर, लावण्य और वर्ण सब क्षण में क्षीण हो जाता है, काल भ्रमर से मकरंद के समान पी लिया जाता है। करतलस्थित जल के समान यौवन विगलित हो जाता है। मनुष्य पक्वफल के समान गिर पड़ता है।

इसी प्रकार संसार को असार बताने वाले और निर्वेद भाव को जगाने वाले अनेक स्थल हैं।

प्रकृति वर्णन—यहा पुराण में चरित नायकों के वर्णन के अतिरिक्त अनेक दृश्यों का मनोमुग्धकारी और हृदयहारी वर्णन कवि ने किया है। ऐसे स्थलों से महापुराण भरा हुआ है। सूर्योदय (म० मु० ४. १८. १९, १६.२६), चंद्रोदय (४. १६, १६.२४) सूर्यास्त (४. १५, १३.८) संध्या (७३.२), नदी (१२.५–८), ऋतु (२. १३, २८.१३, ७०.१४–१५), सरोवर (८३.१०), गंगावतरण (३९.१२–१३) आदि वर्णनों, में कवि का प्रकृति के प्रति अनुराग प्रदर्शित होता है।

प्राकृतिक दृश्यों में कवि ने प्रकृति का आलम्बन रूप से संश्लिष्ट वर्णन किया है। और इनमें अनेक नवीन और मानव जीवन से संबद्ध उपमानों का प्रयोग हुआ है। अनेक स्थलों पर नवीन कल्पना का परिचय भी मिलता है। उदाहरण के लिये सूर्यास्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—[2]

---

१. **सुसमु**—सुन्दर शमयुक्त। **सासयाइं**—शाश्वत। **जंपाणइं**—पालकी। **कालालि**—काल रूपी भ्रमर से मकरंद के समान पान कर लिया जाता है।

२. रमणिहिं सहुं रमणु णिविट्ठु जाम, रवि अत्थ सिहरि संपत्तु ताम।
रत्तउ दीसइ णं रइहि णिलउ, णं वरुणासा वहु घुसिण तिलउ।
णं सग्ग लच्छि माणिक्कु ढलिउ, रत्तुप्पलु णं णहसरहु घुलिउ।
णं मुक्कउ जिण गुण मुद्धएण, णिय रायपुंजु मयरद्धएण।
अद्धद्धउ जलणिहि जलि पइट्ठु, णं दिसि कुंजर कुंभयलु दिट्ठु।
चुउ णिय छवि रंजिय सायरंभु, णं दिण सिरिणारिहि तणउ गब्भु।

रक्त वर्ण सूर्य ऐसा प्रतीत होता है, मानो रति का निलय हो, या पश्चिमाशावधू का कुंकुम तिलक हो, मानो स्वर्ग लक्ष्मी का माणिका ढलक गया हो, या नभ-सरोवर का रक्त-कमल गिर पड़ा हो, अथवा जिन के गुणों पर मुग्ध हुए मकरध्वज ने अपना राग-पुंज छोड़ दिया हो, या समुद्र में अर्ध प्रविष्ट सूर्य-मंडल दिग्गज के कुम्भ के समान प्रतीत हो; निज छवि से सागर जल को रंजित करता हुआ सूर्य मानो दिनश्री-नारी के पतित गर्भ के समान गोचर हो । रक्तमणि भुवनतल में भटकते-भटकते वास को न पाकर मानो पुनः रत्नाकर की शरण में गया हो, अस्तंगत सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो जल भरती हुई लक्ष्मी का कनकवर्ण कलश छूट कर जल में डूब गया हो । संध्या के राग से रंजित पृथ्वी ने पृथ्वीपति के विवाह पर धारण किया हुआ कुसुंभी रंग का वस्त्र मानो अब उतारा हो ।

निम्नलिखित सूर्यास्त वर्णन में कवि ने प्रकृति के साथ मानव जीवन का कैसा संश्लेष किया है—

जिह फुरियउ दीवय दित्तिउ तिह कंताहरणह दित्तियउ ।
जिह संझा राएं रंजियउ तिह वेसा राएं रंजियउ ।
जिह दिसि दिसि तिमिरइं मिलियइं तिह दिसि दिसि जारइं मिलियइं ।
जिह रयणिहि कमलइं मउलियइं तिह विरहिणि वयणइं मउलियइं ।

१३.८

अर्थात् जैसे दीपकों की दीप्ति स्फुरित हुई वैसे ही स्त्रियों के आभरणों की दीप्ति । जैसे संध्या राग से रंजित हो गई वैसे ही वेश्या भी । जैसे सब दिशाओं में अंधकार-मिलन होने लगा वैसे ही जार-मिलन । जैसे रात्रि के कमल मुकुलित हुए वैसे ही विरहिणी के मुख कमल ।

निम्नलिखित सन्ध्या वर्णन में प्रकृति और मानव का बिंब प्रतिबिंब भाव से वर्णन है—

दुवई— माणव भवण भरह खेत्तोवरि वियरण गमिय वासरो ।
सीया राम लक्खणाणंदु व जामत्थमिओ दिणेसरो ।

७३.२

कवि कहता है कि सीता हरण के अनन्तर सीता राम और लक्ष्मण के आनन्द के अस्त हो जाने के समान सूर्य भी अस्त हो गया ।

आहिंडिवि भुवणु अलद्ध वासु, णं गयउ रयण रयणायरासु ।
लच्छीहि [भरंतिहि कणयवण्णु, णिच्छुट्टवि कलसु व जलि णिमण्णु ।
घत्ता—पुण संझा देवयस दिस महि, रंजिवि राएं विप्फुरिय ।
कोसंभु चीरु णं पंगुरिवि, णाह विवाहइ अवयरिय ॥

म० पु० ४–१५

मानव जगत् और प्राकृतिक जगत् का बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप से चित्रण निम्नलिखित उद्धरण में बहुत ही रम्य हुआ है। इस उद्धरण में अस्त होते हुए सूर्य और अस्त होते हुए शूरवीरों का वर्णन करते हुए सायंकाल और युद्धभूमि में साम्य प्रदर्शित किया गया है।

एत्तहि रणु कय सूरत्थवणउं एत्तहि जायउं सूरत्थवणउं।
एत्तहि वीरहं वियलिउ लोहिउ एत्तहि जगु संझारुइ सोहिउ।
एत्तहि कालउ गयमय विब्भमु एत्तहि पसरइ मंदु तमीतमु।
एत्तहि करिमोत्तियइं विहत्तइं एत्तहि उग्गमियइं णक्खत्तइं।
एत्तहि जयणरवइ जसु धवलउ एत्तहि धावइ ससियर मेलउ।
एत्तहि जोह विमुक्कइं चक्कइं एत्तहि विरहें रडियइं चक्कइं।
कवणु णिसागमु किं किर तहिं रणु एउ ण बुज्झइ जुज्झइ भडयणु।

२८. ३४. १-७

अर्थात् इधर रणभूमि में सूर-शूरवीरों-का अस्त हुआ और उधरसायं काल सूर-सूर्य-का। इधर वीरों का रक्त विगलित हुआ और उधर जगत् सन्ध्या-राग से शोभित हुआ। इधर काला गजों का मद और उधर धीरे-धीरे अन्धकार फैला। इधर हाथियों के गंडस्थलों से मोती विकीर्ण हुए और उधर नक्षत्र उदित हुए। इधर विजयी राजा का धवल यश बढ़ा और उधर शुभ्र चन्द्र। इधर योधाओं से विमुक्त चक्र और उधर विरह से आक्रन्दन करते हुए चक्रवाक। उभयत्र सादृश्य के कारण योद्धागण निशागम और युद्धभूमि में भेद न कर पाये और युद्ध करते रहे।

इस सायंकाल और युद्ध भूमि के साम्य प्रतिपादन द्वारा कवि ने युद्धभूमि में सैनिकों, हाथियों, घोड़ों और अस्त्रों आदि की निविड़ता और तज्जन्य अन्धकार सदृश धूलिप्रसार का अंकन भी सफलता के साथ किया है।

गंगा नदी के विषय में कवि कहता है—

घत्ता—पंडुर गंगाणइ महियलि घोलइ किंणर सर सुह भंतहों।
अवलोइय राएं छुडु छुडु आएं साडी णं हिमवंतहो।

१२. ५. २९-३०

णं सिहरि घरारोहण णिसेणि णं रिसहणाह जसरयण खाणि।
....
णं विसम विडप्प भउत्तसंति धरणियलि लोणी चंदकंति।
णं णिद्ध घोय कल होय कुहिणि णं कित्तिहि केरी लहुय बहिणि।
गिरि राय सिहर पीवर थणाहि णं हारावलि बसुहंगणाहि।
....
सिय कुडिल तहु जिणं भूइरेह णं चक्कवट्टि जय विजय लीह।
....
णिग्गय णयवम्मीयहु सवेय विस पउर णाइं णाइणि सुसेय।
हंसावलि वलय विइण्णसोह उत्तर दिसि णारिहि णाइंबाहु।

घत्ता--बहु रयण णिहाणहु सुट्ठु सुलोणहु धवल विमल मंथरगइ।
सायर भत्तारहु सइं गंभीरहु मिलिय गंपि गंगाणइ।

१२. ६

जहिं मच्छ पुच्छ परियत्तियाइं लिप्पि उडुच्छलियइं मोत्तियाइं।
घेप्पंति तिसाहय गीयएहिं जल बिन्दु भणिवि वप्पीहएहिं।
जल रिट्ठहिं पिज्जइ जलु सुसेउ तम पुंजहिं णावइं चंद तेउ।
जहिं कीरउलइं कीलारयाइं दहि कुट्टिमि णावइ मरगयाइं।

१२. ७.

झसणयणी विब्भमणाहि गहिर णव कुसुम विमीसय भमर चिहुर।
मज्जंत कुंभि कुंभत्थणाल सेवाल णाल णेतंचलाल।
तड विडवि गलिय महु घुसिण पिंग चल जल भंगावलि वलितरंग।
सिय घोलमाण डिंडीर चीर पवणुद्धय तार तुसार हार।[1]

१२. ८.

अर्थात् शुभ्र गंगा नदी को महीतल में बहते हुए राजा ने देखा। वह हिमाचल की साड़ी के समान प्रतीत होती थी। वह गंगा मानो पर्वतशिखर-गृह पर चढ़ने के लिए सीढ़ी हो, मानो ऋषभनाथ के जय की रत्नखान हो, मानो कठोर राहु के भय से डरती हुई चंद्र कान्ति भूमितल में आ गई हो।

.........मानो कीर्त्ति की छोटी बहिन हो, गिरिराज शिखर रूपी पीवरस्तनी वसुधा-नारी का हार हो, मानो श्वेत और कुटिल भस्म रेखा हो, चक्रवर्ती राजा की जय विजय रेखा हो, मानो वल्मीक पर्वत से सवेग विष प्रचुर श्वेत नागिनी निकली हो, मानो उत्तर दिग्वधू की बाहु हो जिस पर हंस पंक्ति रूपी वलय शोभा दे रहा हो। धवल विमल मंथर गति वाली गंगा मानो बहुरत्न निधान, सुन्दर गम्भीर सागर भर्त्ता से मिलने के लिए जा रही हो।

जिस गंगा में मत्स्यों के पुच्छ से अभिहत और उच्छलित सिप्पियाँ मोतियों के समान प्रतीत होती है, जहाँ तृष्णा से शुष्क कंठ वाले पपीहे गंगा जल को साधारण जल विन्दु कह कर फेंक देते है, जहाँ तमपुंज के चन्द्रतेज के पान के समान, जल काक शुभ्र जल पीते हैं, जहाँ क्रीड़ारत शुककुल दही के फर्श पर मरकत मणियों के समान प्रतीत होते हैं।

मत्स्य रूपी नयनों वाली, आवर्त रूपी गंभीर नाभि वाली, नवकुसुम-मिश्रित भ्रमर रूपी केशपाश वाली, स्नान करते हुए हाथियों के गंडस्थल के समान स्तन

---

१. विडप्प...—राहु के भय से डरती हुई। णय वम्भीयहु—वल्मीक पर्वत से। सवेय—सवेग। परियत्तियाइं—प्रताड़ित। तिसाहयगीयएहिं—प्यास से सूखे कंठ वाले। जलरिट्ठहिं—जल काकों से। झसणयणी—मत्स्य रूपी आँखों वाली।

वाली, शैवाल रूपी नील चंचल नेत्र वाली, तटस्थित वृक्षों से पतित मधु रूपी कुंकुम से पिंग वर्ण वाली, चंचल जलतरंग रूपी वलिवाली, श्वेत बहते हुए झाग रूपी वस्त्र वाली, पवनोद्धत शुभ्र तुषार रूपी हार वाली गंगा शोभित होती है।

कवि ने २. १३ में पावस का वर्णन किया है। कवि पावस के नाद और वर्णजन्य प्रभाव से अधिक प्रभावित हुआ है। पावस का वर्णन आँखों में कालिमा और कानों में गर्जन उपस्थित करता है। विष और कालिंदी के समान कृष्ण मेघों से अन्तरिक्ष व्याप्त हो गया है। गज गंडस्थल से उड़ाए मत्त भ्रमरसमूह के समान काले-काले बादल चारों ओर छा रहे हैं। निरन्तर वर्षा धारा से भूतल भर गया है। विद्युत् के गिरने के भयंकर शब्द से द्युलोक और पृथ्वीलोक का अन्तराल भर गया है। नाचते हुए मत्त मयूरों के कलरव से कानन व्याप्त है। गिरि नदी के गुहा-प्रवेश से उत्पन्न सर-सर नाद से भयभीत वानर चिल्ला रहे हैं। आकाश इन्द्र धनुष से अलंकृत मेघ रूपी हस्तियों से घिर गया है। बिलों में जलधारा प्रवेश से सर्प क्रुद्ध हो उठे हैं। पी पी पुकारता हुआ पपीहा जलबिन्दु याचना करता है। सरोवरों के तटों पर हंस पंक्ति कोलाहल करने लगी। चंपक, चूत, चंदन, चिंचिणी आदि वृक्षों में प्राण स्फुरित हो उठा।[1]

शब्द योजना से एक प्रकार की ऐसी ध्वनि निकलती सी प्रतीत होती है कि बादलों के अनवरत शब्द से आकाश दिन और रात भरा हुआ है और रह रह कर बिजली की चमक दिखाई दे जाती है। वर्षा की भयंकरता और प्रचंडता का शब्दों में

---

१. विस कालिंदि कालणव जलहर पिहिय णहंतरालओ।
धुय गय गंड मंडलुड्डाविय चल मत्तालिमेलओ।
अविरल मुसल सरिस थिर धारा वरिस भरंत भूयलो।
......
पडु तडि वडण पडिय वियडायल रुंजिय सीह दारुणो।
णच्चिय मत्त मोर गल कलरव पूरिय सयल काणणो।
गिरि सरि दरि सरंत सरसर भय वाणर मुक्कणीसणो।
....
घण चिक्खल्ल खोल्ल खणि खेइय हरिण सिलिंब कयवहो।
....
सुरवइ चाप तोरणालंकिय घणकरि भरिय णह हरो।
विवर मुहोयरंत जल पवहारोसिय सविस विसहरो।
पिय पिय पियलवंत बप्पीहय मग्गिय तोय बिंदुओ।
सरतीरल्ललंत हंसावलि झुणि हल बोल संजुओ।
चंपय चूय चार चव चंदण चिंचिणि पीणियाउ सो।
म० पु० २—१३.

अभाव है।

वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए कवि ने जहाँ अन्य पदार्थों का अंकन किया है वहाँ एक ही घत्ता में वसन्त के प्रभावातिशय का ऐसा मनोहारी चित्रण किया है जो लम्बे-लम्बे वर्णनों से भी नहीं हो पाता। कवि कहता है--

घत्ता--अंकुरियउ कुसमिउ पल्लविउ महु समयागमु विलसइ।
वियसंति अचेयण तरु वि जहिं तहिं णरु किं णउ वियसइ॥

२८. १३. १०-११.

अर्थात् अंकुरित कुसुमित पल्लवित बसन्तागम शोभित होता है। जिस समय अचेतन वृक्ष भी विकसित हो जाते हैं उस समय क्या चेतन नर विकसित न हों?

प्रकृति को चेतन रूप में भी कवि ने (५.३.१२-१४) लिया है। प्रकृति का परंपरागत वर्णन करता हुआ भी कवि प्रकृति को जीवन से सुसंबद्ध देखता है अतएव ऐसे दृश्य जो मानव जीवन से सम्बद्ध हैं कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हो पाते।

वैत्ताढ्य पर्वत का वर्णन करता हुआ कवि कहता है--

निसि चंदयंत सलिलेहि गलइ वासरि रवि मणि जलणेण जलइ
माणिक्क पहा दिण्णावलोउ जहिं चक्कवाय ण मुणंति सोउ।

८. ११. ९-१०

अर्थात् यह पर्वत रात्रि के चन्द्रकान्त मणियों से झरते जलों से आप्लावित रहता है, दिन में सूर्यकान्त मणियों से उत्थित अग्नियों से प्रज्वलित रहता है, माणिक्य प्रभा से आलोकित इस प्रदेश में रात्रि के अभाव से चक्रवाक पक्षियों को वियोग दुःख का अनुभव ही नहीं होता।

इसी प्रसंग में सहसा कवि कह उठता है--

जहिं दक्खामंडव यलि सुयंति पहि पंथिय दक्खा रसु पियंति।
धवलूढ जंत पी लिज्जमाणु पुंडुच्छु खंड रसु पवहमाणु।
कह कव्व रसु व जण पियइ ताम तित्तीइ होइ सिर कंपु जाम।
जहिं पिक्क कलम कणिसइं चरंति सुय दूयत्तणु हलिणिहि करंति।
घत्ता--सिरि सयणहिं णं वहुवयणहिं विलसंती दिणि रायइ।
जहिं पोमिणि कलमहुयर झुणि णं भाणुहि गुण गायइ।

८. १२. १२-१७

अर्थात् जहाँ पथिक द्राक्षा मंडप के नीचे सोते हैं और मार्ग में द्राक्षारस पीते हैं, जहाँ वृषभ-वाहित-यंत्र से पेरे जाते हुए पौंडे गन्ने के बहते हुए रस को लोग कवि-काव्यरस के समान तब तक पीते हैं जब तक कि तृप्ति से सिर झूम नहीं पड़ता। जहाँ पके धान के कणों को शुक खाते हैं और कृषक कन्याओं के लिए दूतत्व का काम करते हैं। जहाँ कमलिनी अनेक पद्म रूपी मुखों से दिन में शोभित होती है और मधुर-मधुकर गुंजार ध्वनि से मानो सूर्य के गुण गाती है।

भिन्न-भिन्न प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए कवि ने बीच में कहीं कहीं ऐसे

दृश्य भी रख दिये हैं जो ग्लानि या उद्वेग उत्पन्न करते हैं और जिनका प्रयोग खटकता है।

सन्ध्या वर्णन के प्रसंग में सागर तल पर फैली लालिमा के विषय में कवि कहता है--

"णं दिण सिरि णारिहि तणउ गब्भु"

४. १५. ९

अर्थात् मानो दिवसश्रीनारी का गर्भ गिरा हो। इसी प्रकार सूर्य के लिए भिन्न-भिन्न उपमानों का प्रयोग करता हुआ कवि एक स्थान पर कहता है—

"णं दिसि णिसियरि मुह मास गासु"

४. १९. ६

मानो दिशा रूपी निशाचरी के मुख में मांस का ग्रास हो।

इसी प्रकार गंगा का वर्णन करते हुए कवि ने जहाँ अनेक उपमानों का प्रयोग कर गंगा के सौन्दर्य की व्यंजना की है वहाँ गंगा को वल्मीक से सवेग निकलती हुई जहरीली श्वेत नागिनी कह कर हृदय को भयभीत कर यिया है—

णिग्गय णय वम्मीयहु सवेय विसपउर णाइ णाइणि सुसेय।

१२. ६. १०

अलंकार योजना--कवि ने अपनी भाषा को भिन्न-भिन्न अलंकारों से अलंकृत किया है। शब्दालंकारों में यमक, श्लेष, अनुप्रास और अर्थालंकारों में उपमा, व्यतिरेक, विरोधाभास, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, अनन्वय आदि अलंकारों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं।

उपमा अलंकार में बाण के समान, शब्द साम्य के आधार पर दो वस्तुओं में साम्य प्रदर्शन भी मिलता है। यथा—

"सुर भवणु व रंभाइ पसाहिउ उवझाउ व सुयम सत्थहिं सोहिउ"

९. १४. ६

वन का वर्णन करता हुआ कवि करता है कि वन सुरभवन के समान रंभा--कदली वृक्ष—से अलंकृत था। उपाध्याय के समान सुय सत्य अर्थात् श्रुतशास्त्र शिष्यों–शुक सार्थ–से अलंकृत था।

कुछ अन्य अलंकारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अनन्वय

रूवें विक्कमेण गोत्तें बलेण णय जुयत्तें।
तुज्झु समाण तुहं किं अण्णें माणुस मेत्तें॥

१५. ७. १७-१८

यमक

उववणइं विविहवच्छं कियाइं गोउलइं धवलवच्छं कियाइं।
जहिं मंडव दक्खाहल वहंति घरि घरि करिसणयहं हल वहंति।

३९. १. ८-९

व्यतिरेक

णउ मयकलंक पडलें मलिणु ण धरइ खय वंकत्तणु ।
मुहुं मुद्धहि चंदें समु भणमि जइ तो कवणु कइत्तणु ।।

५४ १. १४-१५.

यदि उस सुन्दरी का मुख में चन्द्र के समान कहूँ तो मेरा क्या कवित्व ? उसके मुख में न मृगांक के समान कलंक है व मलिनता, वह मुख क्षय (खय) रहित है और न उसमें वक्रता है ।

विरोध

घत्ता—कुवलय बंधु विणाहु णउ दोसायरु जायउ ।
जो इक्खाउहि वंसि णरवइ रुढिइ आयउ ।।

६९. ११

राजा दशरथ, कुवलय बन्धु होते हुए भी दोषाकर—चन्द्रमा—न था अर्थात् दशरथ कुवलय—पृथ्वी मंडल—का बन्धु होते हुए भी दोषों का आकर नहीं था ।

भ्रान्तिमान्

रंधायारु थियउ अंधारइ दुद्धसंक पयणइ मज्जारइ ।
रइ पासेय विंदु तेणुज्जलु दिट्ठु भुयंगहि णं मुत्ताहलु ।
....
मोरें पंडरु सप्पु वियाप्पिवि मुद्धें कह व ण गहिउ झडप्पिवि ।

१६. २४. ९-१२

अर्थात् जहां बिल्ली छिद्रों से प्रवेश करती हुई चन्द्र किरणों से शुभ्र हुए अंधकार को दूध समझ कर पी रही है । रति—प्रस्वेद—बिन्दुओं को भुजंग मुक्ताफल समझता है ।...रंध्रों से प्रवेश करती हुई चन्द्र किरणों को श्वेत सर्प समझ कर मूढ़ मयूर ने कितनी बार झड़प कर नहीं पकड़ा ?

परिसंख्या—जहिं हयवरु हरि णउ णारीयण वंसु जि छिद्दसहिउ णउ पुरयण ।
अंजणु णयणि जेत्थु ण तवोहणि णायभंगु गारुडि ण धणज्जणि ।
जहिं कुंजरु भणइ मायंगउ णउ माणवु कइ वि मायं गउ ।।[1]

२२. ३.

अलंकारों के प्रयोग में कवि ने एक विशेष प्रकार के अलंकरण से काम लिया है । इसमें दो वस्तुओं या दृश्यों का साम्य प्रदर्शित किया गया है । उपमा में एक उपमेय के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के उपमानों का प्रयोग होता ही रहा है । रूपक में उपमेय और उपमान के अत्यधिक साम्य के कारण एक का दूसरे पर आरोप कर दिया जाता है । सांग रूपक में यह आरोप अंगों सहित होता है । कवि ने एक उपमेय और एक उपमान

---

१. हयवरु—हत है वर जिसका । अंजणु—अंजन, पाप । णायभंगु—नाग भंग, न्याय भंग । मायं गउ—माया को प्राप्त ।

को लेकर उपमेय के भिन्न-भिन्न अंगों और उपमान के भिन्न-भिन्न रूपों का साम्य प्रदर्शित करते हुए दो वस्तुओं का अलग-अलग पूर्ण चित्र उपस्थित किया है। इस प्रकार का साम्य कभी श्लिष्ट शब्दो द्वारा, कभी उपमेय और उपमानगत साधारण धर्म द्वारा और कभी उपमेय और उपमानगत क्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

उदाहरण के लिए निम्नलिखित उद्धरण में कवि ने गंगा नदी और नारी सुलोचना का साम्य प्रदर्शित किया है—

चमु चालिय पुणु दिण्णउं पयाणु पत्तउ सुर सरि जल मज्झ ठाणु।
जोयवि गंगहि सारसहं जुयलु जोयइ कंतहि थणकलस जुयलु।
जोयवि गंगहि सुललिय तरंग जोयइ कंतहि तिवली तरंग।
जोयवि गंगहि आवत्तभवंणु जोयइ कंतहि वरणाहि रमणु।
जोयवि गंगहि पप्फुल्ल कमलु जोयइ कंतहि पिउ वयणकमलु।
जोइवि गंगहि वियरंत मच्छ जोयइ कंतहि चलदीहरच्छ।
जोइवि गंगहि मोत्तियहु पंति जोयइ कंतहि सियदसण पंति।
जोइवि गंगहि मत्तालिमाल जोयइ कंतहि धम्मेल्ल णील।
घत्ता—णियगेहिंणि वम्मह वाहिणि देवि सुलोयण जेही।
मंदाइणि जग सुह दाइणि दीसइ राएं तेही॥ २९. ७.

अन्तिम घत्ता में कवि ने गृहिणी को काम-नदी कह कर उसमें अत्यधिक प्रेम रस की व्यंजना भी कर दी है।

नदी और सेना की तुलना करता हुआ कवि कहता है।

सरि छज्जइ उग्गय पंकयहिं बलु छज्जइ चित्त छत्त सयहिं।
सरि छज्जइ हंसहिं जलयरहिं बलु छज्जइ धवलहि चामरहि।
सरि छज्जइ संचरंत झसहिं बलु छज्जइ करवालहिं झसहिं।
सरि छज्जइ चक्कहिं संगयहिं बलु छज्जइ रह चक्कहिं गयहिं।
सरि छज्जइ सर तरंग भरहिं बलु छज्जइ चल तुरंगवरहिं।
सरि छज्जइ कीलिय जल करिहिं बलु छज्जइ चल्लिय मयकरिहिं।
सरि छज्जइ बहुमाणुसहिं बलु छज्जइ किंकर माणुसहिं।
सरि छज्जइ सयडहिं सोहियहिं बलु छज्जइ सयडहिं वाहियहिं।
घत्ता—जिह जलवाहिणिय तिह महिवइवाहिणि सोहइ।
१५. १२. ५-१३
....

इसी प्रकार के वर्णन सूर्यास्त वर्णन (१३·८), पर्वत और रिसह का साम्य (३७·१९), वन और सीता का यौवन (७२·२) इत्यादि अनेक स्थलों पर मिलते हैं।

इस प्रकार के वर्णनों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार अपभ्रंश कवियों ने अनेक छन्दों का निर्माण किया[1] इसी प्रकार उन्होंने अनेक अलंकरणों की भी सृष्टि की। अपभ्रंश

---

१. देखिये अन्तिम अध्याय—अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी पर प्रभाव।

में छन्द शास्त्र के ग्रन्थ होने के कारण ऐसे छन्दों के विषय में प्रकाश पड़ा किन्तु अलंकार विषयक कदाचित् कोई ग्रन्थ न होने के कारण इस प्रकार के अलंकारों का नामकरण भी न हो सका। यद्यपि हिन्दी के वीर काव्यों में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं।[1] लेखक का विश्वास है कि इस प्रकार के अन्य अलंकार भी अपभ्रंश ग्रन्थों में मिल सकते हैं। यदि साहित्यिकों को रुचिकर हो तो इस विशेष अलंकार को ध्वनित रूपक कह सकते हैं।

भाषा—ग्रन्थ की भाषा में वाग्धाराओं, लोकोक्तियों और सुन्दर सुभाषितों का प्रयोग किया गया है—

"भुवकउ छणयंदहु सारमेउ" १. ८. ७

पूर्णिमा चन्द्र पर कुत्ता भौंके उसका क्या बिगाड़ेगा?

"उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण" १२. १७. ६

सोते सिंह को किस ने जगाया?

"माणभंगु वर मरणु ण जीविउ"

१६. २१. ८

अपमानित होने पर जीवित रहने से मृत्यु भली।

"को तं पुसइ णिडालइ लिहियउ" २४. ८. ८

मस्तक में लिखे को कौन पोंछ सकता है?

"भरियउ पुणु रित्तउ होइ राय"

३९. ८. ५

भरा खाली होगा।

लूयांसुत्तें वज्झइ मसउ ण हत्थि णिरुज्झइ।

३१. १०. ९

मकड़ी के जाल सूत्र से मच्छर तो बाँधा जा सकता है हाथी नहीं रोका जा सकता।

जो गोवालु गाइ णउ पालइ सो जीवंतु दुद्धु ण णिहालइ।
जो मालारु वेल्लि णउ पोसइ सो सुफुल्लु फलु केंव लहेसइ॥

५१. २. १

जो ग्वाला गौ नहीं पालेगा वह जीवन में दूध कहाँ से देखेगा? जो मालाकार लतादि का पोषण नहीं करेगा वह सुन्दर फल फूल कैसे प्राप्त कर सकेगा?

अणुरणनात्मक अथवा ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश कवियों की विशेषता है। महापुराण भी इस प्रकार के शब्दों से खाली नहीं।

तडि तड यडइ पडइ रुंजइ हरि तरु कडयडइ फुडइ विहडइ गिरि।

१४. ९. ७

---

१. देखिये वही।

फणि फुप्फुयंतु ८६. २. ६

कवि ने जहाँ पर भी वर्णनों में प्राचीन परंपरा का आश्रय लिया है वहाँ उसकी शैली समस्त, अलंकृत और कुछ क्लिष्ट हो गई है। जहाँ पर परंपरा को छोड़ स्वतन्त्र शैली का प्रयोग किया है वहाँ भाषा अधिक स्पष्ट, सरल और प्रवाहमयी दिखाई देती है। ऐसे स्थलों पर छोटे-छोटे प्रभावोत्पादक वाक्यों द्वारा कवि की भाषा अधिक बलवती हो गई है। प्राचीन परम्परा पर आश्रित भाषा के उदाहरण ऊपर दिये हुए अनेक वर्णनों में देखे जा सकते हैं। प्राचीन परंपरा से उन्मुक्त स्वतन्त्र भाषा शैली का उदाहरण निम्नलिखित उद्धरण में देखिये—

पत्थरेण किं मेरु दलिज्जइ, किं खरेण मायंगु खलिज्जइ।
खज्जोएं रवि णित्तेइज्जइ, किं घुट्टेण जलहि सोसिज्जइ।
गोप्पएण कि णहु माणिज्जइ, अण्णाणें कि जिणु जाणिज्जइ।
वायसेण किं गरुडु णिरुज्झइ, णवकमलेण कुलिसु किं विज्झइ।
करिणा कि मयारि मारिज्जइ, किं वसहेण वग्घु दारिज्जइ।
किं हंसें ससंकु धवलिज्जइ, किं मणुएण कालु कवलिज्जइ।

१६. २०. ३-८

अर्थात् क्या पत्थर से मेरु दलित किया जा सकता है? क्या गधे से हाथी पीड़ित किया जा सकता है? क्या जुगनू से सूर्य निस्तेज किया जा सकता है? क्या घूंट घूंट से समुद्र सुखाया जा सकता है? क्या गोपद आकाश की समता कर सकता है? अज्ञान से क्या जिन भगवान् का ज्ञान हो सकता है? क्या कौआ गरुड़ को बाधा पहुँचा सकता है? एक नव कमल से क्या कुलिश विद्ध किया जा सकता है? हाथी से क्या सिंह मारा जा सकता है? वृषभ से क्या व्याघ्र विदीर्ण किया जा सकता है? इत्यादि

इस प्रकार की शैली में श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से भी भाषा की सरलता और गति नष्ट नहीं हुई—

खग्गें मेहें कि णिज्जलेण, तरुणा सरेण किं णिप्फलेण।
मेहें कामें कि णिद्दवेण, मुणिणा कुलेण किं णित्तवेण।
कव्वें णडेण कि णीरसेण, रज्जें भोज्जें किं पर वसेण।

५७. ७. १-३

अर्थात् पानी रहित मेघ से और खड्ग से क्या लाभ? फल रहित वृक्ष और बाण से क्या प्रयोजन? द्रवित न होने वाला मेघ और काम व्यर्थ है। तप रहित मुनि और कुल किस काम का? नीरस काव्य और नट से क्या लाभ? पराधीन राज्य और भोजन से क्या?

ग्रन्थ की भाषा में अनेक शब्द रूप ऐसे हैं जो हिन्दी के बहुत निकट हैं।[1]

---

१. उदाहरण के लिए कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं—
अवसें—अवश्य १५. २२. १७। **कप्पड**—कपड़ा ३६. ८. ९

छंद--कवि ने महाकाव्यानुकूल प्रत्येक सन्धि में भिन्न प्रकार के छन्द का प्रयोग किया है। यद्यपि सन्धि के प्रत्येक कड़वक में छन्द योजना परिवर्तित नहीं तथापि कड़वक के आदि का छंद प्रायः प्रत्येक सन्धि में भिन्न है। ८वीं सन्धि के ७ वें कड़वक में कवि ने दुवई युग्म का प्रयोग किया है जिसमें दाम यमक श्रृंखला यमक भी प्रयुक्त है। दुवई युग्म जिस शब्द से समाप्त होता है उसी शब्द से दूसरा दुवई युग्म प्रारम्भ होता है (जैसे म० पु० पृष्ठ १२८)। कवि ने मात्रिक छन्दों का अधिकता से प्रयोग किया है। छन्द चाहे मात्रिक हों चाहे वर्णिक सब में अन्त्यानुप्रास (तुक) का प्रयोग मिलता है।

कसेरु—तृण	१. ३. १२
गिल्ल—गीला	२९. ५.३
चक्खइ—खाता है, चखता है	२. १९. ४
चडइ—चढ़ता है	२. १६. १
चंग—अच्छा	९. ४. १४
चुक्कइ—चूकता है	४. ८. ५
छंडइ—छोड़ता है	७. १९. १५
छिवइ—छूता है	४. ५. १३
छिक—छिक्का	२६. ४. २
जेंवइ—खाता है	१८. ७. ११
जोक्खइ—तोलता है	४. ५. ५
झंपउ—आँखें बन्द करना	१२. १२. ५
डर—भय	२५. ८. ९
डंकिय—दष्ट	३०. १२. ८
डाल—शाखा	१. १८. २
डोल्लइ—काँपना	४. १८. २. १५. १८. ३
पत्तल—पतला	१७. १०. १
पलट्टिअ—परिवर्तित	३३. ६. १३
पासुलिया—पसलियाँ	७. १२. ४
पाहुण—पाहुना	२४. १०. ७
बुक्करइ—भौंकता है	७. २५. ५
बुड्डइ—डूबता है	३३. ११. ११
बोल्लइ—बोलता है	८. ५. १७
भंउहा—भौं	५२. ८. २
भल्ल—भद्र	४. ५. ७
रहट्ट—अरहट	२७. १. ४
रंगइ—रींगता है	४. १. ११
रंडिय—विधवा हुई	१७. ९. १०
रोल—कोलाहल	१४. ५. ९
लीह—रेखा, पंजाबी लीख	१२. ६. ७
लुक्क—छिपना, पंजाबी लुकना	९. १४. १२
ढलइ—गिरता है	८. ९. १२
ढंकइ—ढाँकता है	१. १३. १०
ढिल्लीहूय—शिथिल, ढीला होकर	३२. ३. ५
तिया—स्त्री	१. १५. ४
तोंद—उदर	२०. २३. ३
दाढा—दंष्ट्रा	१८. १. १५
दोर—सूत्र, डौरा	२. १६. २
पच्छाउहुं—पश्चान्मुख	३३. ११. ३
भिडिअ—सामने भिड़ा	१७. १. १
भुक्कइ—भौंकता है	१. ८. ७
भोल—भोला	२. २०. ७
साडी—साड़ी	१२. ५. ३
सिप्पि—सीप	४. ६. ११
सोण्णार—सुनार	३१. ७. २
हट्ट—हाट पंजाबी	१. १६. १
हल्लइ—काँपता है, हिलता है	१४. ५. १२

सन्धियों में न तो कड़वकों की संख्या निश्चित है और न कड़वकों में चरणों की संख्या।

भविसयत्त कहा[1]

इस ग्रन्थ का लेखक धनपाल धक्कड़ वैश्य वंश में उत्पन्न हुआ था। उसके पिता का नाम माएसर (मायेश्वर) और माता का नाम धणसिरि (धनश्री) था।[2] वैश्य कुल में उत्पन्न होते हुए भी इसे अपनी विद्वत्ता का अभिमान था और इसने बड़े गौरव के साथ अपने आप को सरस्वती पुत्र कहा है (सरसइ बहुलद्ध महावरेण भ० क० १.४)

डा० याकोबि के अनुसार धनपाल १०वीं सदी से पूर्व नहीं माना जा सकता। श्री दलाल और गुणे ने भविसयत्त कहा की भूमिका में यह सिद्ध किया है कि धनपाल की भाषा हेमचन्द्र की अपभ्रंश से प्राचीन है। इसमें शब्द रूपों की विविध रूपता और व्याकरण की शिथिलता है जो हेमचन्द्र की भाषा में नहीं। हेमचन्द्र ने अपने छन्दोनुशासन में अनेक प्रसिद्ध पिंगल शास्त्रज्ञों के साथ स्वयंभू का नाम भी लिया है और हेमचन्द्र ने अनेक स्थल स्वतन्त्र या परिवर्तित रूप से स्वयंभू से लिये हैं।[3] भविसयत्त कहा और पउम चरिउ के शब्दों में समानता दिखाते हुए प्रो० भायाणी ने निर्देश किया है कि भविसयत्त कहा के आदिम कड़वकों के निर्माण के समय धनपाल के ध्यान में पउम चरिउ था।[4] इसलिए धनपाल का समय स्वयंभू के बाद और हेमचन्द्र से पूर्व ही किसी काल में अनुमित किया जा सकता है।

इस महाकाव्य की कथा लौकिक है। इस काव्य को लिखकर कवि ने परम्परागत ख्यातवृत्त नायक पद्धति को तोड़ा। अपभ्रंश में लौकिक नायक की परम्परा का एक प्रकार से सूत्रपात सा किया। इसकी रचना श्रुत पंचमी व्रत का माहात्म्य प्रतिपादन करने के लिए की गई।

कथा—इस महाकाव्य की कथा तीन अंगों या खण्डों में विभक्त की जा सकती है, यद्यपि गन्थ में इस प्रकार का कोई विभाग नहीं।

१. एक व्यापारी के पुत्र भविसयत्त की सम्पत्ति का वर्णन।

---

१. श्री दलाल और गुणे द्वारा संपादित, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज़, ग्रंथांक २०, १९२३ ई० में प्रकाशित।

२. धक्कड वणि वंसे माएसरहो समुब्भविण
धण सिरि हो वि सुवेण विरइउ सरसइ संभविण। भ० क० १. ९

३. स्वयंभु एंड हेमचन्द्र—एच. सी. भायाणी, भारतीय विद्या, (अंग्रेजी) भाग ८, अंक ८-१०, १९४७, पृ० २०२-२०६।

४. दि पउम चरिउ एंड दि भविसयत्त कहा—प्रो० भायाणी भारतीय विद्या (अंग्रेजी) भाग ८, अंक १-२, १९४७, पृ० ४८-५०।

भविसयत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्त से दो वार धोखा खाकर कष्ट सहता है किन्तु अन्त में उसे जीवन में सफलता मिलती है।

२. कुरुराज और तक्षशिलाराज में युद्ध होता है। भविसयत्त भी उसमें मुख्य भाग लेता है और अन्त में विजयी होता है।

३. भविसयत्त के तथा उसके साथियों के पूर्वजन्म और भविष्य जन्म का वर्णन।

विद्वानों और दुर्जनों के स्मरण एवं आत्म विनय के साथ कथा का आरम्भ होता है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है——

गजपुर में धनपाल नामक एक व्यापारी था जिसकी स्त्री का नाम कमलश्री था। उनके भविष्यदत्त नामक एक पुत्र था। धनपाल सरूपा नामक एक सुन्दरी से दूसरा विवाह कर लेता है और परिणामस्वरूप अपनी पहली पत्नी और पुत्र की उपेक्षा करने लगता है। धनपाल और सरूपा के पुत्र का नाम बंधुदत्त रखा जाता है। युवावस्था में पदार्पण करने पर बंधुदत्त व्यापार के लिए कंचनद्वीप निकल पड़ता है। उसके साथ ५०० व्यापारियों को जाते देख भविष्यदत्त भी अपनी माता की अनुमति से, उनके साथ हो लेता है। समुद्र में यात्रा करते हुए दुर्भाग्य से उसकी नौका आँधी से पथ-भ्रष्ट हो मैनाक द्वीप पर जा लगती है। बंधुदत्त धोखे से भविष्यदत्त को वहीं एक जंगल में छोड़ कर स्वयं अपने साथियों के साथ आगे निकल जाता है। भविष्यदत्त अकेला इधर उधर भटकता हुआ एक उजड़े हुए किन्तु समृद्ध नगर में पहुँचता है। वहीं एक जिन मंदिर में जाकर वह चन्द्रप्रभ जिन की पूजा करता है। उसी उजड़े नगर में वह एक दिव्य सुन्दरी को देखता है। उसी से भविष्यदत्त को पता चलता है कि वह नगर जो कभी अत्यन्त समृद्ध था एक असुर द्वारा नष्ट कर दिया गया। कालान्तर में वही असुर वहाँ प्रकट होता है और भविष्यदत्त का उसी सुन्दरी से विवाह करा देता है।

चिरकाल तक पुत्र के न लौटने से कमलश्री उसके कल्याणार्थ श्रुत-पंचमी व्रत का अनुष्ठान करती है। उधर भविष्यदत्त भी सपत्नीक प्रभूत सम्पत्ति के साथ घर लौटता है। लौटते हुए उनकी बंधुदत्त से भेंट होती है जो अपने साथियों के साथ यात्रा में असफल हो विपन्न दशा में था। भविष्यदत्त उसका सहर्ष स्वागत करता है। वहाँ से प्रस्थान के समय पूजा के लिए गये हुए भविष्यदत्त को फिर धोखे से वहीं छोड़ कर स्वयं उसकी पत्नी और प्रभूत धनराशि को लेकर साथियों के साथ नौका में सवार हो वहाँ से चल पड़ता है। मार्ग में फिर आँधी से उनकी नौका पथभ्रष्ट हो जाती है और वे सब जैसे तैसे गजपुर पहुँचते हैं। घर पहुँच कर बंधुदत्त भविष्यदत्त की पत्नी को अपनी भावी पत्नी घोषित कर देता है। उनका विवाह निश्चित हो जाता है। कालान्तर में दुःखी भविष्यदत्त भी एक यक्ष की सहायता से गजपुर पहुँचता है। वहाँ पहुँच वह सब वृत्तान्त अपनी माता से कहता है। उधर बन्धुदत्त के विवाह की तैयारियाँ होने लगती हैं और जब विवाह होने ही वाला होता है वह राजदरबार में जाकर बन्धुदत्त के विरुद्ध शिकायत करता है और राजा को विश्वास दिला देता है कि

वह सच्चा है। फलतः बन्धुदत्त दण्डित होता है और भविष्यदत्त अपने माता-पिता और पत्नी के साथ राजसम्मान पूर्वक सुख से जीवन व्यतीत करता है। राजा भविष्यदत्त को राज्य का उत्तराधिकारी बना अपनी पुत्री सुमित्रा से उसके विवाह का वचन देता है।

इसी बीच पोदनपुर का राजा गजपुर के राजा के पास दूत भेजता है और कहलवाता है कि अपनी पुत्री और भविष्यदत्त की पत्नी को दे दो या युद्ध करो। राजा उसे अस्वीकार करता है और परिणामतः युद्ध होता है। भविष्यदत्त की सहायता और वीरता से राजा विजयी होता है। भविष्यदत्त की वीरता से प्रभावित हो राजा भविष्यदत्त को युवराज घोषित कर देता है, अपनी पुत्री सुमित्रा के साथ उसका विवाह भी कर देता है, भविष्यदत्त सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगता है।

कथा के तृतीय खण्ड में भविष्यदत्त की प्रथम पत्नी के हृदय में अपनी जन्मभूमि मैनाक द्वीप को देखने की इच्छा जागृत होती है। भविष्यदत्त, उसके माता-पिता और सुमित्रा सब द्वीप में जाते हैं। वहाँ उन्हें एक जैन भिक्षु मिलता है जो उन्हें सदाचार के नियमों का उपदेश देता है। कालान्तर में वे सब घर लौटते हैं। वहाँ विमलबुद्धि नामक एक मुनि आते हैं। भविष्यदत्त को अनेक उपदेश देकर उसके पूर्वजन्म की कथा सुनाते हैं। भविष्यदत्त अपने पुत्र पर राज्यभार सौंप कर विरक्त हो जाता है। वह जंगल में जाता है और उसकी पत्नियाँ तथा माता भी उसके साथ तपस्या में लीन हो जाती हैं। अनशन द्वारा प्राण त्यागकर वह फिर उच्च जन्म धारण करता है और अन्त में निर्वाण को प्राप्त करता है। श्रुत पंचमी के माहात्म्य के स्मरण के साथ कथा समाप्त होती हैं।

इस ग्रन्थ में घटना-बाहुल्य के होते हुए भी घटना-वैचित्र्य उच्च कोटि का नहीं। घटनाओं से एक उपन्यास की रचना हो सकती थी। घटना-बाहुल्य होते हुए भी ग्रन्थ में अनेक काव्यानुरूप सुन्दर स्थल हैं।

इस काव्य में कवि ने लौकिक आख्यान के द्वारा श्रुतपंचमी व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित किया है। कथा के आरम्भ में इसी व्रत की महत्ता की ओर निर्देश है (भ० क० १. १. १-२) और समाप्ति भी इसी व्रत के स्मरण से होती है। कथा में भविष्यदत्त को यक्ष की अलौकिक सहायता का निर्देश है। धार्मिक विश्वास के साथ अलौकिक घटनाओं का सम्बन्ध भारतीय विचार-धारा में पुरातन काल से ही चला आ रहा है। कथा में गृहस्थ जीवन का स्वाभाविक चित्र है। बहु-विवाह से उत्पन्न अनिष्ट की ओर कवि ने संकेत किया है। भविष्यदत्त अपनी सौतेली माता और सौतेले भाई से सताया जाकर भी अपनी धर्मनिष्ठ भावना के कारण अन्त में सुखी होता है। कथा में यथार्थ और आदर्श दोनों का समुचित मिश्रण है।

कथानक में कवि ने साधु और असाधु प्रवृत्ति वाले दो वर्गों के व्यक्तियों का चरित्र चित्रित किया है। भविष्यदत्त और बन्धुदत्त, कमला और सरूपा दो विरोधी प्रवृत्तियों के पुरुष और स्त्रियों के जोड़े हैं। उनका कवि ने स्वाभाविक चित्रण किया

है। सरूपा में सपत्नी-सुलभ ईर्ष्या के साथ स्त्री-सुलभ दया का भी कवि ने चित्र अंकित किया है। इन विरोधी प्रवृत्ति वाले पात्रों के समावेश से कवि ने नायक और प्रतिनायकादि पात्र के प्रयोग का प्रयत्न किया है। पात्रों के स्वभावानुकूल उनके जीवन का विकास दिखाई देता है।

वस्तु वर्णन—कवि ने जिन वस्तुओं का वर्णन किया है उनमें उसका हृदय साथ देता है। अतएव ये वर्णन सरस और सुन्दर हैं। देशों और नगरों का वर्णत करता हुआ कवि उनके कृत्रिम आवरणों से ही आकृष्ट न होकर उनके स्वाभाविक, प्राकृत अलंकरणों से भी मुग्ध होता है। कुरु जांगल देश की समृद्धि के साथ-साथ कवि वहाँ के कमल प्रभा से ताम्रवर्ण एवं कारंड-हंस-वकादि चुम्बित सरोवरों को और इक्षु रस पान करने वालों को भी नहीं भूलता।[१]

गजपुर का वर्णन करता हुआ कवि उसके सौन्दर्य से आकृष्ट हो कहता है—

तहि गयउरु णाउं पट्टणु जण जणियच्छरिउ।
णं गयणु मुएवि सग्ग खंडु महि अवयरिउ॥

भ० क० १. ५.

अर्थात् वहाँ गजपुर नाम का नगर है जिसने मनुष्यों को आश्चर्य में डाल दिया है। मानो गगन को छोड़ कर स्वर्ग का एक खंड पृथ्वी पर उतर आया हो। कवि ने थोड़े से शब्दों में गजपुर की समृद्धि और सुन्दरता को अभिव्यक्त कर दिया है। कवि के इन विचारों में वाल्मीकि रामायण के लंका वर्णन एवं कालिदास के मेघदूत में उज्जयिनी वर्णन का आभास स्पष्टरूप से दिखाई देता है।[२] स्वयंभू के हरिवंश पुराण में विराट नगर के और पुष्पदंत के महापुराण में पोयण नगर के वर्णन में भी यही कल्पना की गई है।[३]

---

१. जहि सरइं कमल पह तंबिराइं कारंड हंस वय चुंबिराइं।
.......................पुंडुच्छुरसइं लीलइ पियंति॥
भवि० क० पृष्ठ २

२. महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णम्। वा० रामा० ५. ७. ६.
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानाम्।
शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खंडमेकम्॥
मेघदूत १. ३०.

३. घत्ता—पट्टणु पइसरिय जं धवल-घरालंकरियउ।
केण वि कारणेग णं सग्ग खंडु ओयरियउ॥
रिट्ठ० च० २८. ४.
तहि पोयण णामु णयरु अत्थि वित्थिण्णउं।
सुर लोएं णाइ धरिणिहि पाहुडु दिण्णउं॥
म० पु० ९२. २. ११-१२

रस—कथा में तीन खंड हैं जिनका ऊपर निर्देश किया जा चुका है। तीनों खंड प्रायः अपने आप में पूर्ण हैं। प्रथम खंड में शृङ्गार रस है, द्वितीय में वीर रस और तृतीय में शान्त रस। प्रतीत होता है कि तीनों रसों के विचार से ही कवि ने तीनों खंडों की योजना की है।

कमलश्री की शोभा के वर्णन में कवि ने (भ० क० पृष्ठ ५ पर) नारी के अंग सौन्दर्य के साथ उसकी धार्मिक भावना की ओर भी संकेत किया है। उसके अनुपम सौन्दर्य और सौभाग्य को देख कर कामदेव भी खो जाता है। "सोहग्गे मयरद्धउ खोहइ" इस एक वाक्य में ही कवि ने उसके अतिशय सौन्दर्य और सौभाग्य को अंकित कर दिया।

एक और स्थल (भ० क० पृष्ठ २३-३३) पर भी कवि ने नारी के सौन्दर्य को अंकित किया है। नखशिखवर्णन प्राचीन परंपरा के अनुकूल ही है। कवि की दृष्टि बाह्य सौंदर्य पर ही टिकी रही। उसके आन्तरिक सौंदर्य की ओर कवि का ध्यान नहीं गया। सुमित्रा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है मानो वह लावण्य जल में तिर रही थी (भ० क० १५. १. ७, पृष्ठ १०६)। इस एक वाक्य से कवि ने उसके चंचल सौंदर्य का चित्र खड़ा कर दिया है।

कथा के द्वितीय खंड में वीर रस को कवि ने अंकित किया है। गजपुर और पोयणपुर के राजाओं का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

तो हरि खर खुरग्ग संघट्टिं छाइउ रणु अतोरणे।
णं भडमच्छरग्गि संधुक्कण धूम तमंधयारणे॥

भ० क० पृष्ठ १०२-१०३

अर्थात् घोड़ों के तीक्ष्ण खुराग्रों के संघर्षण से उद्भूत रज से तोरण रहित युद्ध-भूमि आछन्न हो गई। वह रज मानो योद्धाओं की क्रोधाग्नि से उत्पन्न धुआं हो। युद्ध-वर्णन में सजीवता है।

कथा का तृतीय खंड शान्त रस से पूर्ण है। संसार की असारता दिखाता हुआ कवि कहता है।

अहो नरिंद संसारि असारइ तक्खणि दिट्ठपणट्ठ वियारइ।
पाइवि मणुअजम्मु जण वल्लहु बहुभव कोडि सहासि दुल्लहु।
जो अणुबंधु करइ रइ लंपडु तहो परलोए पुणुवि गउ संकडु।
जइ वल्लह विओउ नउ दीसइ जइ जोव्वणु जराए न विणासइ।
जइ ऊसरइ कयावि न संपय पिम्मविलास होंति जइ सासय।
तो मिल्लिवि सुवण्णमणिरयणइं मुणिवर किं चरंति तवचरणइं।
एम एउ परियाणिवि बुज्झहि जाणंतो वि तो वि मं मुज्झहि।

१८. १२. १

प्रकृति वर्णन—काव्य में अनेक सुन्दर प्राकृतिक वर्णन हैं।[1] कवि ने प्रकृति का वर्णन आलम्बन रूप में किया है। गहन वन का वर्णन करसा हुआ कवि कहता है—

"दिसा मंडलं जत्थ णाइं अलक्खं पहायं पि जाणिज्जइ जम्मि दुक्खं"

वन की गहनता से जहाँ दिशा मंडल अलक्ष्य था। जहाँ यह भी कठिनता से प्रतीत होता था कि यह प्रभात है।

भाषा—ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। शब्दों में य श्रुति और व श्रुति का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है (जैसे कलकल = कलयल, दूत = दूव)। विशेषण विशेष्य के समान बचन के नियम का व्यत्यास भी अम्हहं वसंतहो (३. ११. ७) में दिखाई देता है।

अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, विरोधाभास आदि अलंकारों का प्रयोग स्थान-स्थान पर दिखाई देता है। उपमा में मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों रूपों में उपमान का प्रयोग किया गया है।

दिक्खइ णिग्गयाउ गयसालउ णं कुलतियउ विणासियसीलउ।
पिक्खइ तुरय बलत्थ पएसइं पत्थण भंगाइ व विगयासइं॥

४. १०. ४.

अर्थात् उसने गजरहित गजशालाओं को देखा—वे शीलरहित कुलीन स्त्रियों के समान प्रतीत हुईं। अश्वरहित अश्वशालायें ऐसी दिखाई दीं जैसे आशारहित भग्न प्रार्थनायें।

नारी सौन्दर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"णं वम्मह भल्लि विंधणसील जुवाण जणि"

५. ७. ९

अर्थात् वह सुन्दरी युवकों के हृदयों को बींधने के लिए कामदेव के भाले के समान थी। उपमा का प्रयोग कवि ने केवलमात्र अलंकार प्रदर्शन के लिए न कर गुण और क्रिया की तीव्रता के लिए किया है। इस उपमा से प्रतीत होता है कि वह सुन्दरी अत्यधिक आकर्षणशील थी।

उपमा का प्रयोग कवि ने संस्कृत में बाण के ढंग पर भी किया है। ऐसे स्थलों में शब्दगतसाम्य के अतिरिक्त अन्य कोई साम्य दो वस्तुओं में नहीं दिखाई देता। उदाहरणार्थ—

दिढ बंधइं जिह मल्लरगणाइ णिल्लोहइं जिह मुणिवर मणाइ।
णिबिभिण्णइं जिह सज्जणहियाइं अकियत्थइं जिह दुज्जणकियाइं॥

३.२३. १.

वहाँ वाहन अर्थात् नौकाएँ मुनिवरों के मन के समान णिल्लोह—लोहरहित—

---

[1] भवि० क० ३. २४. ५ में अरण्य का वर्णन, ४. ३. १ में गहन वन का वर्णन, ४. ४. ३ में सन्ध्या का वर्णन, ८. ९. १० में वसन्त का वर्णन।

लोभरहित थीं, सज्जन हृदयों के समान निर्विभिन्न—टूटी-फूटी—कोमल थीं और दुर्जनों के कृत्यों के समान अकियत्थ——धनरहित—व्यर्थ एवं निष्प्रयोजन थीं।

विरोधाभास का उदाहरण निम्नलिखित स्थल में मिलता है——

असिरिव सिरिवत्त सजल वरंग वरंगणवि।
मुद्धवि सवियार रंजणसोह निरंजणवि॥

११. ६. १२

अर्थात् निर्धन (असिरि) होते हुए भी वह सिरिवत्त अर्थात् श्रीमती थी। वरांग न होते हुए भी सजल वरांग थी अर्थात् स्त्री श्रेष्ठ (वरांगना) थी और प्रस्वेदयुक्त श्रेष्ठ अंगों वाली थी। मुग्धा (मूर्खा) होते हुए भी विचारशील थी अर्थात सीधी सादी थी और विचारशील भी। निरंजन होते हुए भी रंजन-शोभा अर्थात् अंजन रहित आंखों वाली थी और मोहक शोभा वाली थी।

भाषा—अलंकारों के अतिरिक्त भाषा में लोकोक्तियों और वाग्धाराओं का भी प्रयोग मिलता है——

"किं घिउ होइ विरोलिए पाणिए" २. ७. ८.

क्या पानी मथने से घी हो सकता है?

"जंतहो मूलु वि जाइ लाहु चिंतंतहो", ३. ११. ५.

लाभ का विचार करते हुए प्राणी का मूल भी नष्ट हो जाता है।

"कलुणइ सुमीस करयल मलंति विहुणंति सीस" ३. २५. ३

करुणा से ओतप्रोत हो, हाथ मलते हैं और सिर धुनते हैं।

शब्द योजना द्वारा कवि की भाषा में शब्द-चित्र खड़ा करने की क्षमता है—

"सोहइ दप्पणि कील करंती चिहुर तरंग भंग विवरंति"

में नारी की श्रृंगार सज्जा का और "सलावण्य लावन्न नीरे तरंती" में नारी की चंचलता का चित्र अंकित किया है।

सुभाषित——काव्य में अनेक सूक्तियों और सुभाषितों के प्रयोग से भाषा बलवती हो गई है।

'दइवायत्तु जइ वि विलसिव्वउ तो पुरिसिं ववसाउ करिव्वउ"

यद्यपि सब कर्म दैवाधीन हैं तथापि मनुष्य को अपना कार्य करना ही चाहिए।

अणइच्छियइं होंति जिम दुक्खइं सहसा परिणवंति तिह सोक्खइं

३. १७. ८

जैसे यदृच्छया दुःख आते हैं वैसे ही सहसा सुख भी आ जाते हैं।

जोव्वण वियार रस वस पसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चल मम्मण वयणुल्लावएहिं जो परतियहिं ण खंडियउ॥

३. १८. ९

वही शूर है और वही पंडित है जो यौवन के विषय-विकारों के बढ़ने पर परस्त्रियों के चंचल कामोद्दीपक वचनों से प्रभावित नहीं होता।

"परहो सरीरि पाउ जो भावइ तं तासइ बलेवि संतावइ"

६. १०. ३

जो किसी दूसरे प्राणी के प्रति पापाचरण का विचार करता है वह पाप पलटकर उसे ही पीड़ित कर देता है।

"अहो चंदहो जोन्ह कि मइलज्जइ दूरि हुअ"

२१. ३. ५७

क्या दूर होने पर चन्द्र की चन्द्रिका मलिन की जा सकती है?

जहा जेण दत्तं तहा तेण पत्तं इमं सुच्चए सिट्ठलोएण वुत्तं।
सु पायन्नवा कोद्दवा जत्त माली कहं सो नरो पावए तत्थसाली॥

पृष्ठ ८४

जो जैसा देता है वैसा ही पाता है यह शिष्ट लोगों ने सच कहा है। जो माली कोदव बोएगा वह शाली कहाँ से प्राप्त कर सकता है?

इस ग्रंथ की भाषा में बहुत से शब्द इस प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं जो प्राचीन हिन्दी कविता में यत्र तत्र दिखाई दे जाते हैं और कुछ तो वर्त्तमान हिन्दी में सरलता से खप सकते हैं।[1]

छन्द—ग्रंथ में कवि ने वर्णवृत्त और मात्रिक वृत्त दोनों के छन्दों का प्रयोग किया है किन्तु अधिकता मात्रिक वृत्तों की है। वर्णवृत्तों में भुजंगप्रयात, लक्ष्मीधर, मंदार, चामर, शंखनारी आदि मुख्य हैं। मात्रिक वृत्तों में पज्झटिका अडिल्ला, दुवई, काव्य, प्लवंगम, सिहाँवलोकन, कलहंस, गाथा मुख्य हैं।[2]

विचारधारा—जन्मान्तर और कर्म सिद्धान्त पर कवि को पूरा विश्वास है (३. १२. १२)। शगुनों में लोग विश्वास करते हैं। प्रेमी के दूरदेशस्थ होने पर कौए को उड़ा कर उसके समाचार जानने का भाव पृ० ३९ में मिलता है।

लोग अलौकिक घटनाओं में विश्वास करते हैं। कथा में बहु-विवाह के प्रति अनास्था प्रकट की गई है। पोयणपुर के राजा का चरित्र तत्कालीन सामन्तों की विचार-धारा का प्रतीक है।

हरिवंश पुराण

प्रो० हीरालाल जैन ने "इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज" भाग १, सन् १९२५ में

---

१. चाहइ, चुणंति—चुनना, इंदिय खंचह्न, च्छउ रस रसोइ (पृ० ४७), सालि दालि सालणय पियारउ (चावल दाल और सब्जी) पृ० ४७, पच्छिल पहरि (पृ० ५९), तहु आगमो चाहहो (पृ० ५९) उसे आना चाहिए, राणी, तज्जइ—तजना, चडिउ विमाणु (पृ० ६३), तुरंतउ (पृ० ६४), जं वित्तउ—जो बीता (पृ० ६५), पप्पड़—पापड (पृ० ८४), विहाणि—विहान—प्रातःकाल (पृ० ९२)।

२. छन्दों के लक्षण के लिए देखिये भविसयत्त कहा की भूमिका।

धवल कवि द्वारा १२२ सन्धियों एवं १८ हजार पद्यों में विरचित हरिवंश पुराण का निर्देश किया था। कैटेलॉग आफ संस्कृत एंड प्राकृत मेनुस्क्रिप्ट्स इन दि सी० पी० एंड बरार, नागपुर सन् १९२६ में (पृ० ७६५ पर) भी इस ग्रंथ का कुछ उल्लेख मिलता है। श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल जी की कृपा से श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बडा तेरह पंथियों का जयपुर में वर्तमान इस महाकाव्य की एक हस्तलिखित प्रति हमें देखने को मिली। उसी के आधार पर यहां इस महाकाव्य का कुछ परिचय दिया जाता है।

धवल कवि के पिता का नाम सूर और माता का नाम केसुल्ल था। इनके गुरु का नाम अंबसेन था। धवल ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए किन्तु अन्त में जैन धर्मावलम्बी हो गये थे।[1] कवि द्वारा निर्दिष्ट उल्लेखों के आधार पर कवि का समय १० वीं-११वीं शताब्दी के अन्दर माना गया है। कवि ने ग्रन्थ के आरम्भ में अनेक कवियों और उनके काव्यों का उल्लेख किया है।[2]

---

१. मइं विप्पहु सूरहु णंदणेण, केसुल्लउ वरि संभवहुएण।

....

कुतित्थ कुधम्म विरत्तएण, णामुज्जलु पयडु वहंतएण।
हरिवंसु सुयलु सुललिय पएहिं, मइं विरयउ सुद्दु सुहावएहिं।
सिरि अंबसेण गुरवेण जे(म)ण, वक्खारणि किउ अणुकमेणतेण॥ १.५

२. कवि चक्कवइ पुव्वि गुणवंतउ धीरसेणु हुंतउ णयवंतउ।
पुणु सम्मत्तहं धम्म सुरंगउ जेण पमाण गंथु किउ चंगउ।
देवणंदि बहु गुण जसभूसिउ जें वायरणु जिणिंदु पयासिउ।
वज्जसूउ सुपसिद्धउ मुणिवरु जें णयमाणुगंथु किउ सुंदरु।
मुणि महसेणु सुलोयणु जेणवि पउमचरिउ मुणि रविसेणेण वि।
जिणसेणे हरिवंसु पवित्तुवि जडिल मुणीण वरंगचरित्तु वि।
दिणयरसेणें चरिउ अणंगहु पउमसेण आयरियइ पसंगहु।
अंधसेणु जें अमियाराहणु विरइय दोस विवज्जिय सोहणु।
जिण चंदप्पह चरिउ मणोहरु पावरहिउ धणमत्तु ससुंदरु।
अण्णमि किय इंमाइं तुह पुत्तइ विण्हसेण रिसहेण चरित्तइं।
सीहणंदि गुरवें अणुपेहा णरदेवेणवकांतु सुणेहा।
सिद्धसेणु जें गेए आगउ भविय विणोउ पयासिउ चंगउ।
रामणंदि जे विविह पहाणा जिण सासणि बहु रइय कहाणा।
असगु महाकइ जेंसुमणोहरु वीर जिणिंदु चरिउ किउ सुंदरु।
कित्तिय कहमि सुकइ गुण आयर गेय कव्व जहि विरइय सुंदर।
सणकुमार जें विरयउ मणहरु कय गोविंद पवरु सेयंवरु।
तह वक्खइ जिणरक्खिय सावउ जें जय धवलु भुवणि विक्खाइउ।
सालिहद्द कि कइ जीय उदेंदउ लोयइ चहुमुहुं दोणु पसिद्धउ।

निर्दिष्ट कवियों में से असग को छोड़कर सब ९वीं शताब्दी के लगभग या उससे पूर्व हुए। असग ने अपना वीर चरित ९१० शक सम्वत् अर्थात् ९८८ ई० में लिखा था।[1] अतः कल्पना की जा सकती है कि धवल भी १०वीं शताब्दी के बाद ही हुआ होगा।

ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि ग्रंथ में १२२ सन्धियां हैं। सन्धियों में कड़वकों की कोई संख्या निश्चित नहीं। ७वीं सन्धि में २१ कड़वक हैं और १११वीं सन्धि में केवल ४। सन्धियों के अन्तिम घत्ता में धवल शब्द का प्रयोग मिलता है। प्रति में प्रायः प्रत्येक सन्धि की समाप्ति पर 'भाषा वर्ण्णः', 'पंचम वर्ण्णः', 'मालवेसिका वर्ण्णः', 'कौह वर्ण्णः,' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के शब्दों में मंगलपंच, टकार, पंचम, हिंदोलिका, वकार, कोलाह इत्यादि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित पद्यों से होता है—

स्वरित। आदि जिनं प्रणम्य।

लोयाण दीह णालं णेमि हली कण्ह केसर सुसोहं।
मह पुरिस तिसट्ठिदलं हरिवंस सरोरुहं जयउ ॥१॥
हरिपंडु सुआण कहा चउमुह वासेहि भासिया जह या।
तह विरयमि लोय पिया जेण ण णासेइ दंसणं पउरं ॥२॥
....
जह गोत्तमणे भणियं सेणिय राएण पुच्छियं जह या।
जह जिणसेणेण कयं तह विरयमि किं पि उद्देसं ॥४॥
सुव्वउ भवियाणंदं पिसुण चउक्का अभव्व जण सूलं।
धण्णय धवलेण कयं हरिवंम सुसोहणं कव्वं ॥८॥
....
जिण णाहहु कुसुमंजलि देविणु णिब्भूसण मुणिवर पणवेप्पिणु।
पवर चरिय हरिवंस कवित्तो अप्पउ पयडिउ सूरहो पुत्तो ॥१०॥

उपरिलिखित पद्यों में कवि ने हरिवंश पुराण को सरोरुह (कमल) कहा है और यह भी निर्देश किया है कि इसकी कथा चतुर्मुख और व्यास ने भी पूर्व काल में कही।

इक्कहि जिणसासणि उचलियउ सेढु मह।कइ जसु णिम्मलियउ।
पउमचरिउ जें भुवणि पयासिउ साहुणरहि णरवरहि पसंसिउ।
हउ जड़ु तो वि किंपि अब्भासमि महियलि जें णियबुद्धि पयासमि।
घत्ता—सहसकिरणु रइवेवि गयणि चडेंवि तिमिरु असेसु पणासइ।
णियसत्तें मणिदीवउ जइवि सुथोवेउ तुविउज्जोउ पयासइ।
१. ३.

१. कैटेलोग आफ संस्कृत एंड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि सी. पी. एंड बरार, नागपुर सन् १९२६, भूमिका पृष्ठ ४९.

इसके पश्चात् कवि मंगलाचार के रूप में २४ तीर्थंकरों का स्तवन करता है। वह क्षणभंगुर शरीर की नश्वरता का वर्णन करता हुआ स्थायी अविनाशी काव्यमय शरीर रचना का विचार करता है—

घत्ता—जो णवि मरइ ण छिज्जइ णवि पीडिज्जइ,
अक्खउ भुवणि अँ भीरुवि।
करमि सुयण सँभावउ, क्खल सतावउ, हउ कव्वमउ
सरीरुवि ॥१. २

१. ४ में कवि ने हरिवंश पुराण को नाना पुष्प-फलों से अलंकृत और बद्धमूल महातरु कहा है। इसी प्रसंग में कवि ने आत्मविनय प्रदर्शित किया है। सज्जन दुर्जन स्मरण और आत्मविनय के पश्चात् कथा आरम्भ होती है।

हरिवंश पुराण की कथा का रूप वही ही है जो कि स्वयंभू इत्यादि प्राचीन कवियों के काव्यों में मिलता है। स्थान-स्थान पर अलंकृत और सुन्दर भाषा में अनेक काव्यमय वर्णन उपलब्ध होते हैं।

राजा सिद्धार्थ का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

घत्ता—बहु धणु बहु गुणु बहु सिय जुत्तउ, तहि णिवसइ जिण कमलव्व रुत्तउ।
णिच्च पसाहिय तह णर णारिउ, णं सुर लोउ महिहि अवयरिउ २. १.

निम्नलिखित रानी का वर्णन परंपरागत उपमानों से अलंकृत है—

घण कसण केस दीहरणयणा, सुललिय तणु सुअकर ससिवयणा।
णं सिय णव जुव्वण घण थणा, कलहंस गमन कोमल चलणा॥ २. ३.

भौगोलिक वर्णन प्रायः सामान्य कोटि के हैं। कवि कौशाम्बी नगरी का वर्णन करता है—

जण धण कंचण रयण समिद्धी, कउसंवी पुरि भुवण पसिद्धी।
तहिं उज्जाण सुघण सुमणोहर, कमलिणि संडिहिं णाइं महासर।
बाविउ देवल तुंग महाघर, मणि मंडिय णं देवह मंदिर।
खाइय वेढिय पासु पयारहो, लवणोवहि णं जंवू दीवहो।
तहिं जणु वहुगुण सिय संपुण्णउ, भूसिउ वर भूसणहिं रवण्णउं।
कुसुम वत्थ तंबोलहि सुंदर, उज्जल वंस असेस वि तह णर।
णर णारिउ सुहेण णिच्चंतइं, णिय भवणिहिं वसंति विलसंतइं॥ १७. १

वर्णनों में एकरूपता होते हुए भी नवीनता दिखाई देती है। कवि, सुमुख (सुमुहु) नामक राजा का वर्णन करता है—

किं ससहउ णं णं सकलंकउ, झीण सरीरु होइ पुणु वंकउ।
किं च कमलु णं णं कंटालउ, किं खगवइ णं णं परवालउ।
किं अणंगु तं अंग विहूणउं, किं सुरवइ णं णं वहु णयणउं।
किं रयणायरु णं णं खारउ, किं जलहरु णं णं अघारउ। १७. २

कवि ने राजा की प्रशंसा में परंपरागत उपमानों को उसके अयोग्य बताया है।

स्थान-स्थान पर प्रकृति-वर्णन भी उपलब्ध होते हैं। निम्नलिखित मधुमास का वर्णन देखिये—

फग्गुणु गउ महुमासु परायउ, मयणुछलिउ लोउ अणुरायउ।
वण सय कुसुमिय चारु मणोहर, बहु मयरंद मत्त बहु महुयर।
गुभुगुमंत खणमणइं सुहार्वाहि, अहपणट्ठ पेम्मुउक्कोवहिं।
केसु व वर्णाहि धणारुण फुल्लिय, णं विरहग्गे जाल पसिलिलिया।
घरि घरि णारिउ णिय तणु मंडहिं, हिंदोलहिं हिंडहि उग्गायहिं।
घणि परपुट्ठ महुरु उल्लावहिं, सिहिउलु सिहि सिहरेहिं धहावइ। १७. ३

अर्थात् फाल्गुन मास समाप्त हुआ और मधुमास (चैत्र) आया मदन। उद्दीप्त होने लगा। लोक अनुरक्त हो गया। वन नाना पुष्पों से युक्त, सुन्दर और मनोहर हो गया। मकरन्द पान से मत्त मधुकर गुनगुनाते हुए सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं ...... घरों में नारियां अपने शरीर को अलंकृत करती है, झूला झूल रहीं हैं, विहार करती हैं, गाती वन में कोयल मधुर आलाप करती हैं। सुन्दर मयूर नृत्य कर रहे हैं।

ग्रन्थ में शृङ्गार, वीर, करुण और शान्त रसों के अभिव्यंजक अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं। ५६. १ में कंसवध पर स्त्रियों के शोक का वर्णन मिलता है। युद्ध के वर्णन सजीव हैं। ऐसे स्थलों पर छन्द परिवर्त्तन द्वारा कवि ने शस्त्रों और सैनिकों के गति-परिवर्त्तन की व्यंजना की है। स्थल-स्थल पर अनुरणनात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा अनेक चेष्टाओं को रूप देने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरणार्थ—

रहवउ रहहु गयहुगउ धाविउ, धाणुक्कहु धाणुक्कु परायउ।
तुरउ तुरंग कुखग्ग विहत्थउ, असिवक्खरहु लग्गु भय चत्तउ।
वज्जहि गहिर तूर हय हिंसहिं, गुलु गुलंत गयवर बहु दीसहिं।
...
...

हणु हणु मारु मारु पभणतिहिं।
दलिय धरत्ति रेणु णहि धायउ, लहु पिसलुद्धउ लुद्धउ आयउ।
फिक्कारउ करंति सिवदारुणु, सुम्मइं सुहड भमंति रुहिरारुणु।
भलहल सेल कुंतसर भिण्णा, गय वर हय करवालहिं छिण्णा।
णर वर णाह पडिय दो खंडिय, घर तक्खणि ण करं कहि मंडिय॥
बिर्धाहि तडातडा, मुच्छिहिं भडा भडा।
कुंत घाय दारिया, खग्गहिं वियारिया।
जीव आस मेल्लिया, कायरा विचल्लिया।
...
खग्ग हत्थ ढुक्कही, सीहणाइं बुक्कहिं।

८९. १०

भडा के वि जीवेण मुक्का विगत्ता। भडा के वि दीसंति धम्मेण चत्ता।
भडा के वि दुप्पिच्छ आरत्तणेत्त। भडा के वि जुज्झे ललंता वियंत।
भडा के वि दोखंड गत्ता पडंता। भडा के वि दुग्घट दंतेहि भिण्णा।
भडा के वि तिक्खेहिं खग्गेहिं छिण्णा। भडा के वि रोमंचगत्तें भमंत।
भडा के वि मुट्ठिक्क चप्पेड देंता। भडा के वि वग्गंति वाहुत्थलेण।
भडा के वि जुज्झंति केसागहेण।

८९. १२.

अभिट्ट कोह पूरिया विरुद्ध पुव्व वइरिया।
हकंति धंतिढुक्किहि हरिसीयाल बुक्कहिं।
महाभटा धणुद्धरा सुतिक्ख मिल्लहिं सरा।
विभिण्ण सेल्ल दारुणा, पडंति कायरा जणा।
....
वजंति तूर भीसणा, डरंति कायरा जणा।

९०. २

महा चंड चित्ता, भडा छिण्णगत्ता।
धनू बाण हत्था, सकुंता समत्था।
पहारंति सूरा, ण भज्जंति धीरा।
सरोसा सतोसा, सहासा स आसा॥

९०. ४

अर्थात् रथिक रथ की ओर, गज गज की ओर दौड़ा। धानुष्क धानुष्क की ओर भागा। घोड़ा घोड़े से, निश्शस्त्र निश्शस्त्र से, और असि निर्भय हो कवच से जा भिड़ी। वाद्य जोर जोर से बज रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी चिंघाड़ते हुए दिखाई दे रहे हैं।

......'मारो मारो' सैनिक चिल्ला रहे हैं? पद्दलित धूलि आकाश में फैल रही है। शीघ्र ही पिशाच घिर जाते हैं। शृगाल भयंकर शब्द कर रहे हैं। रक्तरंजित योद्धा इतस्ततः घूम रहे हैं, शस्त्र भिन्न हो रहे हैं, हाथी और घोड़े तलवारों से छिन्न हो रहे हैं, राजा द्विधा विभक्त हो गिर रहे हैं......।

योद्धा विद्ध हो रहे हैं, भट मूर्छित हो रहे हैं, कोई भालों के प्रहार से विदीर्ण हो रहे हैं, कोई खड्ग से छिन्न भिन्न हो रहे हैं, जीवन की आशा को छोड़ कायर भाग रहे हैं......

कोई योद्धा प्राण-विमुक्त हो रहे हैं, कोई धर्म से परित्यक्त दिखाई दे रहे हैं, कोई आरक्त नेत्र और दुष्प्रेक्ष्य हो रहे हैं,......कोई योद्धा तीक्ष्ण तलवार से छिन्न हो रहे हैं, कोई रोमांचित गात्र से घूम रहे हैं, कोई घूंसा और चपेड़ लगा रहे हैं, कोई बाहु युद्ध कर रहे हैं, कोई बाल पकड़ कर घसीट रहे हैं।

प्रचण्ड क्रोध से भरे हुए, पूर्व वैर से परस्पर विरोधी योद्धा एक दूसरे को लल-

कार रहे हैं······धनुर्धारी महा भट तीक्ष्ण बाण छोड़ रहे हैं, दारुण भालों से विभिन्न हुए रक्त रंजित योद्धा गिर रहे हैं, कायर भयभीत हो रहे हैं।

प्रचण्ड चित्त वाले योद्धाओं के गात्र टूक टूक हो रहे हैं। धनुष बाण हाथ में लिये भाला चलाने में समर्थ शूर प्रहार कर रहे हैं, क्रोध, संतोष, हास्य और आशा से युक्त धीर विचलित नहीं होते।

ग्रन्थ में कई स्थलों पर करुण रस की अभिव्यंजना भी दिखाई देती है। कंस वध पर परिजनों के करुण-विलाप का एक प्रसंग देखिये—

हा दइय दइय पाविट्ठ खला, पइ अम्ह मणोहर किय विहला।
हा विहि णिहीण पइं काइकिउ, णिहि दरिसिवि तक्खणि चक्खु हिउ।
हा देव ण बुल्लहि काइं तुहुं, हा सुन्दरि दरसहि किण्णु मुहु।
हा धरणिहि सगुण णिलयट्ठाहि, वर सेज्जहि भरभवणेहिं जाहिं।
पइ विणु सुण्णउं राउलु असेसु, अण्णाहिउ हूवउ दिव्व देसु।
हा गुण सायर हा रूवधरा, हा बइरि महण सोहग्ध घरा।
घत्ता—हा महुरालावण, सोहियसंदण, श्रम्हहं सामिय करहिं।
दुक्खहि संतत्तउ, करुण रुवंतउ, उट्ठिवि परियणु संथवहि॥

५६. १

मोह वश लोग युद्ध इत्यादि कुत्सित कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रसंग में कवि ने सुन्दर शब्दों में संसार की नश्वरता का वर्णन किया है—

वलु रज्जु वि णासइ तक्खणेण, किं किज्जइ वहुएण वि धणेण।
रज्जु वि धणेण परिहीणु होइ, णिविसेण वि दीसइ पयडु लोउ।
सुहि वंधव पुत्त कलत्त मित्त, ण वि कासुविदीसहिं णिचचहंत।
जिम हुंति मरंति असेस तेम, वुव्वु व जलि घणि विरिसंति जेम।
जिमसउणि मिलिवितरुवरवसंति, चाउद्दिसि णिय वसाणि जन्ति।
जिम वहुपंथिय णावइं चडंति, पुणु णियणिय वासहु ते वलंति।
तिम इट्ठ समागमु णिव्वडणु, धणु होइ होइ दालिद्दु पुणु।
घत्ता—सुविणासउ भोउ लहो वि पुणु, गव्वु करंति अयाण णर।
संतोसु कवणु जोव्वण सियइं, जहिं अत्थइ अणुलग्गजरा ॥९१.७.

अर्थात् सबल राज्य भी तत्क्षण नष्ट हो जाता है, अत्यधिक धन से क्या किया जाय?······सुखी वांधव, पुत्र, कलत्र, मित्र नित्य किसके बने रहते हैं? जैसे उत्पन्न होते हैं वैसे ही मेघ वर्षा से जल में बुलबुलों के समान, सब नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार एक वृक्ष पर वहुत से पक्षी आकर एकत्र हो जाते हैं और फिर चतुर्दिक् अपने अपने वास स्थानों को चले जाते हैं अथवा जिस प्रकार बहुत से पथिक (नदी पार करते समय) नौका पर आकर एकत्र हो जाते हैं और फिर अपने अपने घरों को चले जाते हैं, इसी प्रकार क्षणिक प्रियजन समागम होता है। कभी धन आता है कभी दारिद्र्य। भोग आते हैं और नष्ट हो जाते हैं फिर भी अज्ञ मानव गर्व करते हैं।

जिस यौवन के पीछे जरावस्था लगी रहती है उससे कौन सा सन्तोष हो सकता है ?

ग्रन्थ में सामान्य छन्दों के अतिरिक्त नागिनी (८९.१२), सोमराजी (९०.४), जाति (९०.५), विलासिनी (९०.८) इत्यादि अनेक छंदों का प्रयोग मिलता है। कुछ कड़वकों में चौथाई का प्रयोग भी मिलता है। इन कड़वकों के अन्त में प्रयुक्त घत्ता दोहा छन्द में नहीं। उदाहरण के लिये—

कण्हहं घरिणि णाउं गंधारी, छट्ठि णाम महएवि पियारी।
वियसिय कमल वयणि सुमणोहर, पीणुण्णयर घण घढिण पहर।
पणविवि पभणइं णेमि जिणेंदहु, भवियण तारायण जिम चंदहु।
सामिय अक्खहि मज्झभ्भु भवंतरु, फेडहि संसउ मज्झु णिरंतरु।
११०. १

इस कड़वक के अन्त में घत्ता का प्रयोग नहीं है।

जिण पभणिउं थिरु कण्णधरिज्जहिं, कहमि भवंतरु तुहुं णिसुणिज्जतहिं।
भरह खित्ति कोसल वर देसें, आउज्झहिं सुणिउ तहिं आसें।
विणय सीय णामें तहुपत्ती, कंचण रयणहिं सा दिप्पंती।
......
घत्ता—सील धरहं मुणिबलण णवेप्पिणु, भावबिसुद्धु दाणु तहु देविणु।
तहिं सुरभोय धरत्तिजाएप्पिणु, भोयविं तिण्णि पल्ल भुजेविणु॥
११०. २

विज्जवेय णामें तहु पत्ती, बहु लक्खण धरणिरु गुणवंती।
विणय सीय णामें तहु धीय, उप्पण्णिय तहु उवरिविणीया।
११०. ४

कहीं-कहीं पर कड़वक में यद्यपि चौपाई छन्द का प्रयोग नहीं मिलता तथापि अन्तिम घत्ता का रूप कहीं दोहा के समान और कहीं साक्षात् दोहा है। उदाहरणार्थ—

घत्ता—जइ ण रमिय वहुतेण, सहु परि सेसिय गव्वु।
अजगल सिहु णबि जिम विहलु जुव्वण रूउ वि सव्वु। ८१.८
घत्ता—चक्खु महंता णरवरहं, ताहमि लोयहं णरवर।
आयइ णीयइं पुहविपहु, ते भुंजंति सयलधर॥ ८४.१
घत्ता—धाइ कम्मु खउ णेविणु, केवल णाणु लहेबि।
वंति भ्राणि णिय पच्छिम, तिज्ज चउत्थ इवेवि॥ ९९.१३

पृथ्वीराज रासो

इस ग्रन्थ का रचयिता कवि चन्द वरदायी है जो पृथ्वीराज का कविराज, सामन्त और उसी का समकालीन एक चारण माना जाता है। इसी ने इस महाकाव्य में चौहान वंश के पृथ्वीराज तृतीय का चरित्र वर्णित किया है। इस काव्य का आरम्भिक रूप संक्षिप्त था और राजा के यश-गान के लिए रचा गया था। धीरे-धीरे इसमें परिवर्तन

होता गया। आजकल जो रूप पृथ्वीराज रासो का उपलब्ध है उसे पूर्णतया मूलरूप नहीं माना जा सकता। किन्तु इसका विशुद्ध मूलरूप कदाचित् अपभ्रंश में था ऐसी कल्पना अनेक विद्वानों ने की है[1] जो संगत भी प्रतीत होती है।

अब तक रासो के चार रूप उपलब्ध हो चुके हैं—(१) वृहत् रूप, इसमें लगभग एक लाख पद्य हैं। काशी नागरी प्रचारिणी से प्रकाशित संस्करण में यही रूप है। इसमें अध्यायों को समय या प्रस्ताव कहा गया है। इसमें ६८ समय हैं। (२) दूसरा मध्यम रूप जो लगभग दस हजार पद्य का है। इसमें अध्यायों का नाम प्रस्ताव दिया गया है। प्रतिभेद से इसमें छयालीस और बयालीस प्रस्ताव हैं। इसका संपादन लाहौर में हो रहा है। (३) तीसरा लघु रूप बीकानेर का (संस्करण) है। इसमें साढ़े तीन हजार के लगभग पद्य मिलते हैं। इसमें १९ समय या खंड मिलते हैं। इतिहास और भाषा शस्त्रादि प्रस्तावनाओं सहित इसके संपादन का भार डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा ने स्वीकार किया था। (४) चौथा लघुतम संस्करण, श्रीयुत अगरचन्द नाहटा की कृपा से प्राप्त हुआ है। इसमें पद्य संख्या तेरह सौ के लगभग है। इसमें अध्यायों का विभाजन नहीं। आदि से अन्त तक एक ही अध्याय है। भाषा सभी प्राप्त रूपों से अपेक्षाकृत प्राचीन प्रतीत होती है।[2] इसका संपादन प्रो० नरोत्तमदास और श्री अगरचन्द नाहटा कर रहे हैं।

कुछ दिन पहिले मुनि कान्तिसागर जी को पृथ्वीराज रासो की एक पुरानी प्रति मिली थी। इसकी पुष्पिका इस प्रकार है—'विक्रम संवत् १४०३ कार्तिक शुक्ल पंचम्यां तुगलक फिरोज शाहि विजय राज्ये ढिल्यां मध्ये लिपि कृतं...' इत्यादि। सम्पूर्ण ग्रंथ छप्पय छन्द में ग्रथित है। भाषा सभी रूपों से प्राचीन प्रतीत होती है। इसे रासो का पांचवाँ रूप कह सकते हैं।[3] इससे इतना तो सिद्ध ही है कि रासो का मूल रूप इस के अधिक निकट रहा होगा और इतनी विविधताओं से मुक्त भी रहा होगा।

पृथ्वीराज रासो के इन प्राप्त रूपों में से किसी को निश्चय से पूर्णतया मूलरूप नहीं कहा जा सकता। किन्तु पुरातन जैन प्रबन्धों में पृथ्वीराज रासो से कुछ पद्य उदाहरण रूप में दिये गये मिलते हैं जिनसे इस ग्रंथ की प्रामाणिकता और मूलरूप के अपभ्रंश में होने के संकेत मिलते हैं। उपरिलिखित सभी रूपों की प्रतियों में उनके उद्धारकर्ता का निर्देश भी किया गया है। कालवश मूलरूप के अस्त व्यस्त हो जाने के कारण, मूलरूप को अपनी बुद्धि के अनुसार उचित रूप देने का प्रयत्न इन उद्धारकों ने किया।

---

१. डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा का लेख, राजस्थान भारती, भाग १, अंक ४, पृ० ५१।

२. नरोत्तमदास स्वामी, राजस्थान भारती भाग १, अंक १, अप्रैल १९४६, पृ० ३

३. विशाल भारत, नवं, १९४६, पृ० ३३१–३३२

रासो की अप्रामाणिकता का वाद-विवाद इसी कारण उठा कि उसका प्रारम्भिक रूप परिवर्त्तित, परिवर्द्धित और विकृत हो गया है। इसमें अनेक असंबद्ध और अनैतिहासिक घटनाओं का समावेश हो गया है। यदि मूलरूप प्राप्त होता तो यह वाद-विवाद कभी का शान्त हो गया होता। रासो के आलोचनात्मक अध्ययन से इसमें से अनेक प्रक्षिप्त अंशों को दूर किया जा सकता है और इसके प्रारम्भिक रूप को देखा जा सकता है। कवि राव मोहनसिंह ने इस प्रकार के अध्ययन से रासो के अनेक प्रक्षिप्त और मूल अंशों को पृथक् करने का प्रयत्न किया है।[1]

रासो की भाषा डिंगल है या पिंगल, प्राचीन राजस्थानी है या प्राचीन पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) इस झमेले में पड़े बिना इतना तो निश्चित है कि वर्त्तमान रूप में प्राप्त रासो के वृहत् रूप की भाषा मिश्रित है। कहीं प्राचीन राजस्थानी, कहीं प्राचीन पश्चिमी हिन्दी, कहीं सानुस्वार अक्षरों की भरमार और कहीं द्वित्व व्यंजनों की अधिकता है। कहीं क्रियाओं के परवर्त्ती रूप मिलते हैं तो कहीं उत्तरकालीन अपभ्रंश के रूप। रासो का यह भाषा-वैचित्र्य उन परिवर्त्तनों का परिणाम है जो समय समय पर मूल ग्रंथ में होते रहे हैं। मध्य रूप की भाषा के विषय में भी सामान्यतः यही कहा जा सकता है। किन्तु लघु और लघुतम रूपों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है और यह अधिकाधिक अपभ्रंश के निकट पहुँचती प्रतीत होती है। कई स्थल तो ऐसे हैं जहाँ कि सामान्य परिवर्त्तन से ही भाषा अपभ्रंश बन जाती है।[2] कान्तिसागर जी ने जो प्रति ढूंढ़ निकाली है उसकी भाषा मुनि जी के मतानुसार अपभ्रंश है। अतः रासो के मूलरूप की भाषा का अपभ्रंश होना संभव है। लेखक की भी यही धारणा है कि मूलरूप संभवतः अपभ्रंश में ही था। इसके लिए निम्नलिखित कारण विचारणीय है।

१. १३वीं शताब्दी के पुरातन प्रबन्ध संग्रह नामक ग्रन्थ[3] में कुछ पद्य पृथ्वीराज रासो के मिलते हैं। इनमें से दो पद्य पृथ्वीराज प्रबन्ध (प्रबन्ध संख्या ४०) और दो जयचन्द प्रबन्ध (प्रबन्ध संख्या ४१) में उल्लिखित हैं। इन चार पद्यों में से प्रथम तीन पद्य रासो के भिन्न-भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न रूप में पाये जाते हैं। ये पद्य इस प्रकार हैं—

---

१. राजस्थान भारती, भाग १, अंक २–३ १९४६, पृ० २९

२. डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा, दि ओरिजनल पृथ्वीराज रासो, एन अपभ्रंश वर्क, राजस्थान भारती, भाग १, अंक १, १९४६, पृ० ९४–१००

३. प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रंथसंबद्ध पुरातन प्रबन्धसंग्रह, संपादक जिन विजय मुनि, प्रकाशन कर्त्ता, अधिष्ठाता सिंधी जैन विद्यापीठ, कलकत्ता, वि० सं० १९९२

इक्कु बाणु पहुवीसु जु पइं कइंबासह मुक्कओ।
उर भितरि खडहडिउ धीर कक्खंतरि चुक्कउ।
बीअं करि संधीउं भंमइ सूमेसर नंदण!
एहु सु गडि दाहिमओ खणइ खुद्दइ सइंभरि वणु।

फुड छंडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह,
नं जाणउं चंद बलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह॥

पृ० ८६, पद्य २७५

अगहु म गहि दाहिमओ रिपुराय खयंकरु,
कूडु मंत्रु मम ठवओ एहु जं बूय मिलि जग्गरु।

सहनामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झइं।
जंपइ चंद बलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ।
पहु पहुविराय सइंभरि धणी सयंभरि सउणइ संभरिसि,
कइंबास विआस विसट्ठविणु मच्छिबंधि बद्धओ मरिसि॥

पृ० ८६, पद्य २७६

त्रिण्हि लक्ष तुसार सबल पाषरीअइं जसु हय,
चऊदसइं मयमत्त दंति गज्जंति महामय।
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलुयान संख कु जाणइ तांह पर।
छत्तीस लक्ष नराहिवइ बिहि बिनडिओ हो किम भयउ,
जइचन्द न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ॥

पृष्ठ ८८, पद्य २८७

ये पद्य[१] परिवर्त्तित रूप में आधुनिक रासो के संस्करणों में मिलते हैं। ये अपने प्राचीन और शुद्ध रूप में रासो के मूलरूप में होंगे और उस रासो के मूलरूप की भाषों अपभ्रंश ही होगी ऐसा इन पद्यों को देखने से प्रतीत होता है।

इन पद्यों का रूप जो पृथ्वीराज रासो के वृहत् रूप में मिलता है नीचे दिया

---

१. जिन प्रबन्धों में से ये पद्य लिये गये हैं उनमें से कुछ संस्कृत शब्द नीचे दिए जाते हैं—

चाहमान	—	चौहान
गर्जनक	—	गजनी
शाकसैन्य	—	शकसेना
सुर त्राणः	—	सुल्तान
मशीति	—	मस्जिद

जाता है[1]—

एक बान पहुमी नरेस कैमासह मुक्यौ ॥
उर उप्पर थरहर्यो वीर कष्षंतर चुक्यौ ॥
बियौ बान संधान हन्यौ सोमेसर नन्दन ॥
गाढौ करि निग्रह्यौ षनिव गड्यौ संभरि धन ॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यौ गुनगहि अग्गरौ ॥
इम जंपै चंद बरद्दिया कहा निघट्टै इय प्रलौ ॥

पृथ्वी० रासो पृष्ठ १४९६, पद्य २३६

अगह मगह दाहिमौ देव रिपुराइ षयंकर ।
कूरमंत जिन करौ मिले जम्बू बै जंगर ।
मो सहनामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै ॥
अष्षै चंद बिरद्द बियौ कोइ एह न बुज्झै ॥
प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह संभलि संभारि रिस ।
कैमास वलिष्ठ बसीठ बिन म्लेच्छ बंध बंध्यौ मरिस ॥

पृथ्वी० रासो, पृष्ठ २१८२, पद्य ४७५

असिय लष्ष तोषार सजड पष्षर सायद्दल ।
सहस हस्ति चवसट्ठि गरुअ गज्जंत महाबल ॥
पंचकोटि पाइक्क सुफर पारक्क धनुद्धर ।
जुध जुधान बर बीर तोन बंधन सद्धनभर ॥
छत्तीस सहस रन नाइबौ विही निम्मान ऐसो कियौ ।
जैचंद राइ कविचंद कहि उदधि बुड्डि कै धर लियौ ॥

पृथ्वी० रासो, पृ० २५०२, पद्य २१६

पृथ्वीराज रासो के लघुरूप बीकानेर की प्रति से कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कलि अछ पथ कनउज्ज राउ ।
सत सील रत धर धर्म्म चाउ ॥
पर अछभूमि हय गय अनग्ग ।
परठव्या पंग राजसूजग्ग ॥
....
....

---

१. पृष्ठ संख्या और पद्य संख्या नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संस्करण के अनुसार है ।

गाथा

के के न गए महि महु ढिल्ली ढिल्लाय दीह होहाय।
विहुरंत जासु कित्ती तं गया नहिं गया हुंति ।।[१]

कुछ हस्तलिखित प्रतियों में शब्द-रूप भिन्न हैं। तो भी इन पद्यों से भी यही प्रकट होता है कि ये पद्य उत्तरकालीन अपभ्रंश के कारण तत्कालीन प्रान्तीय भाषाओं के प्रभाव से प्रभावित अपभ्रंश रूप ही हैं।

२. रासो की शब्द-योजना और अन्य अपभ्रंश काव्यों की शब्द-योजना में इतना साम्य है कि उन्हें एक ही भाषा का मानना असंगत नहीं। अपभ्रंश काव्यों में अनुरणनात्मक या ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग अपभ्रंश कवियों की विशेषता रही है। इस प्रकार की शब्द-योजना से अर्थावबोध का प्रयत्न अपभ्रंश कवियों ने अपने काव्यों में किया है। पृथ्वीराज रासो में भी यह प्रवृत्ति उदग्र रूप से दिखाई देती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित युद्धस्थल का वर्णन देख सकते हैं—

हहक्कंत कूदन्त नंचै कमंवं।
कडक्कंत वज्जंत कुट्टंत संधं।।
लहक्कंत लूटंत तूटंत भूमं।
झुकंते धुकंते दोऊ वथ्थ झूमं।।
दडक्कंत दीसंत पीसंत दंतं।[२]

पद्य सं० २११०

करकंड चरिउ के निम्नलिखित युद्ध वर्णन में ध्वन्यात्मक शब्दों की योजना देखिए—

वज्जंति वज्जाइं सज्जंति सेण्णाइं।
कुंताइं भज्जंति कुंजरइं गज्जंति।
गत्ताइं तुट्टंति मुंडाइं फुट्टंति।
....
हड्डाइं मोडंति गीवाइं तोडंति।

क. च. ३. १५

इसी प्रकार पुष्पदन्त के जसहर चरिउ का एक उद्धरण देखिये—

तोडइ तडत्ति तणु बंधणइं मोडइ कडत्ति हड्डइं घणइं।
फाडइ चडत्ति चम्मइं चलइं घुट्टइ घडत्ति सोणिय जलइं।

ज. च. २. ३७. ३–४

---

१. राजस्थान भारती भाग १, अंक १, में डा० दशरथ शर्मा और प्रो० मीनाराम रंगा के लेख से उद्धृत।

रासो विषयक ऐतिहासिक सामग्री के लिए लेखक डा० दशरथ शर्मा का आभारी है।

२. रासो के उद्धरणों के निर्देश के लिए लेखक डा० ओम्प्रकाश का कृतज्ञ है।

इस प्रकार के ध्वन्यात्मक शब्दों की बहुलता का हिन्दी कवियों में प्रायः अभाव है।

३. शब्दों, वाक्यों या वाक्यांशों की आवृत्ति से भाषा को बलवती बनाने के अनक उदाहरण हमें अपभ्रंश काव्यों में मिलते हैं। पृथ्वीराज रासो में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। यथा—

इन वेरां हम्मीर, नहीं औगुन बंचीजै।
इन वेरां हम्मीर, छत्रि ध्रम्मह संचीजै।
इन वेरां कै सिघ, बर विषर जेम उंभारै।
इन वेरां हम्मीर, सूर क्यों स्यार संभारै।

पृथ्वीराज रासो, पद्य २२२२

सो धम्मु सारु जहि जीव-रक्ख सो धम्मु सारु जहि नियम-संख।
सो धम्मु सारु जहि सच्च-वाय सो धम्मु सारु जहि नत्थि माय।

पउम सिरीचरिउ १. ८. ९६–९७

इसी प्रकार रासो में और अपभ्रंश काव्यों में अनेक स्थल मिलते हैं जिनमें भाव को प्रबलता से अभिव्यक्त करने के लिए शब्दों या वाक्यांशों की आवृत्ति की गई है।

४. पुष्पदन्त के महापुराण का विवेचन करते हुए ऊपर एक नवीन अलंकार की ओर निर्देश किया जा चुका है। इसमें दो दृश्यों, घटनाओं या दो वस्तुओं की तुलना की जाती है। उपमेयगत और उपमानगत वाक्यों की अंग-प्रत्यंग सहित समता प्रदर्शित की जाती है। इस अलंकार का नाम, 'ध्वनित रूपक' रखा जा सकता है। पुष्पदन्त के महापुराण में इस प्रकार के अनेक दृश्य उपस्थित किये गये हैं। उदाहरण के लिए सायंकाल और युद्धभूमि के दृश्य की समता का प्रदर्शक निम्नलिखित उद्धरण देखिये—

एत्तहि रणु कयसूरत्थवणउं एत्तहि जायउं सूरत्थवणउं।
एत्तहि वीरहं वियलिउ लोहिउ एत्तहि जगु संझारुइ सोहिउ।
एत्तहि कालउ गयमय विब्भमु एत्तहिं पसरइ मंदु तमीतमु।
एत्तहि करि मोत्तियइं विहत्तइं एत्तहि उग्गमियइं णक्खत्तइं।
एत्तहि जय णरवइ जसु धवलउ एत्तहि धावइ ससियरमेलउ।
एत्तहि जोह विमुक्कइं चक्कइं एत्तहि विरहें रडियइं चक्कइं।
कवणु णिसागमु किं किर तहिं रणु एहुण बुज्झइ जुज्झइ भडयणु।

महापुराण २८. ३४. १–७

अर्थात् इधर रण में शूरों का अस्त हो रहा है उधर सूर्यास्त हो रहा है, इधर वीरों का रक्त विगलित हुआ उधर संसार संध्याराग रंजित हुआ, इधर कृष्ण गज, मद-विलास है उधर कृष्ण अंधकार, इधर हस्तियों के गंडस्थल से मोती विकीर्ण हुए उधर नक्षत्रों का उदय हुआ, इधर विजित नरपति के यश से धवलिमा उधर चन्द्र ज्योत्स्ना, इधर योद्धाओं से विमुक्त चक्र उधर भी वियोग से आक्रन्दन करते हुए चकवाक। उभयत्र सादृश्य के कारण उस युद्धभूमि में निशागम का ज्ञान नहीं हुआ। संध्या और रणभूमि में भेद न करते हुए योद्धा युद्ध करते रहे।

इसी शैली के उदाहरण पृथ्वीराज रासो में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित रति युद्ध का दृश्य देखा जा सकता है।

लाज गट्ठ लोपंत,, बहिम रद सन ढक रज्जं।
अधर मधुर दंपतिय, लूटि अव ईव परज्जं।
अरस प्ररस भरअंक, खेत परजंक पटक्किय।
भूषन टूटि कवच्च, रहै अध बीच लटक्किय।
नीसान थान नूपुर बजिय, हाक हास करषत चिहुर।
रति वाह समर सुनि इंछिनिय, कोर कहत बत्तिय गहर।।

पद्य संख्या १९७९

रति और युद्ध में कुछ क्रियाओं का साम्य प्रदर्शित किया गया है। लाज का लोप हो गया है, एक ओर अधर रस की लूट है दूसरी ओर भी शत्रु द्रव्य की लूट है। एक ओर अंक में भर पर्यंक पर पटकना है दूसरी ओर रणक्षेत्र में पटकना है। एक और भूषण टूटते हैं दूसरी ओर कवच। एक ओर नूपुरों का शब्द है दूसरी ओर बाजों का। इस प्रकार रति और युद्ध में साम्य प्रदर्शित किया गया है।

५. आचार्य हजारी प्रसाद जी द्विवेदी ने अपने "हिन्दी साहित्य का आदि काल" नामक ग्रंथ में पृथ्वी राज रासो और संदेश रासक की समानता की ओर निर्देश किया है। संदेश रासक का जिस ढंग से आरम्भ हुआ है उसी ढंग से रासो का भी आरम्भ हुआ है। आरम्भ की कई आर्याओं में तो अत्यधिक समानता है।[1] इसी प्रकार संदेश रासक में कवि ने जिस बाह्य प्रकृति के व्यापारों का वर्णन किया है वह रासो के समान ही कवि प्रथा के अनुसार है। वर्ण्य विषय के लिए वस्तु-सूचि प्रस्तुत करने का ढंग दोनों में मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त विविध छंदों का प्रयोग भी दोनों ग्रंथों में दिखाई देता है।

इस प्रकार भाषा तथा रचना-शैली के भिन्न-भिन्न साम्यों से यह प्रतीत होता है कि रासो का मूल ग्रंथ अपभ्रंश भाषा में ही रचा गया, जो कालान्तर में बढ़ते-बढ़ते अनेक भाषाओं के पुट के साथ आधुनिक रूप में परिवर्तित हो गया। इस आधुनिक पृथ्वीराज रासो का समय यद्यपि १५वीं, १६वीं शताब्दी के लगभग का है किन्तु प्राचीन मूलरूप १२वीं १३वीं शताब्दी का माना जा सकता है।

पद्म पुराण-बलभद्र पुराण

यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी दो हस्त-लिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भंडार में विद्यमान हैं।

---

१. श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, सन् १९५२ ई०, पृ० ६०।

२. वही, पृ० ८४।

रइधू[1] कवि ने इस ग्रन्थ द्वारा ग्यारह सन्धियों एवं २६५ कड़वकों में जैन मतानुकूल राम कथा का वर्णन किया है। सन्धियों में कड़वकों की कोई निश्चित संख्या नहीं। नवीं सन्धि में नौ और पाँचवीं सन्धि में उनतालीस कड़वक पाये जाते हैं। कृति की पुष्पिकाओं में ग्रंथ का नाम बलभद्र पुराण भी मिलता है। कृति कवि ने हरिसिंह साहु की प्रेरणा से लिखी थी और उसी को समर्पित की गई है। प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में उसके नाम का उल्लेख है।[2] सन्धियों के प्रारम्भ में संस्कृत पद्यों द्वारा हरिसिंह की प्रशंसा और उसके मंगल की कामना की गई है।[3]

कृति में गोव्वग्गिरि गढ़ (गोपाचल गिरि) और राजा डूंगरेन्द्र के राज्यकाल का निर्देश है।[4] कवि द्वारा लिखित सुकौशल चरित नामक ग्रंथ में बलभद्र पुराण का उल्लेख मिलता है।[5] अतः इस काव्य की रचना उक्त कृति के रचना काल (वि.सं. १४९६) से पूर्व ही हुई होगी, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित पद्य से होता है--

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।
परणय विद्धंसणु, मुणिसुव्वय जिणु, पणविवि बहु गुणगण भरिउ।
सिरि रामहो केरउ, सुक्ख जणेरउ, सह लक्खण पयडमि चरिउ॥

इसके बाद जिन स्तवन किया गया है। तदनन्तर कवि से ग्रन्थ रचना की प्रार्थना की जाती है।

---

१. रइधू के परिचय के लिए सातवां अध्याय देखिए।
२. इस बलहद्द पुराणे, बुहियण विंदेहि लद्ध सम्माणे,
सिरि पंडिय रइधू विरइए, पाइय बंधेण अथ
विहि सहिए सिरि हरसीह साहुकंठि कंठाभरणे,
उहयलोयसुहसिद्धिकरणे.......इत्यादि
३. यः सर्व्वदा जिनपदांबु जयो द्विरेफः
सत्पात्रदान निपुणो मदमान हीनः।
दाता क्षतो हि सततं हरसीह नाम
श्री कर्म्मसीह सहितो जयतात्स दात्रा (ता)॥
सन्धि ३.
४. गोव्वग्गिरि णामें गढु पहाणु, णं विहिणाणिम्मिउ रयण ठाणु।
अइ उच्चु धवलु नं हिमगिरिंदु, जहिं जम्मु समिछइ मणि सुरिंदु।
तहिं डुंगरेंदु णामेण राउ, अरिगण सिरग्गि संदिन्नघाउ।
१. २
५. बलहद्दह पुराण पुणु तीयउ। णियमण अणुराएँ पइं कीयउ।
सुकौशल चरित १. २२
सुकौशल चरित के लिए सातवां अध्याय देखिए।

भो रैधू पंडिय गुणणिहाण पोमावइ वर वंसहं पहाण।
सिरि पाल्ह बम्ह अयरियसीस, महुवयणु सुणहि भो वुहगिरीस ॥
सोढल निमित्त नेमिहु पुराणु, विरयउ जहं पइ जण विहिय माणु।
तहं राम चरित्तु विमहु भणेहिं, लक्खण समेउ इउ मणि मुणेहिं ॥

प. च. १.४

रयधू काव्य रचना में अपने को असमर्थ पाते हैं किन्तु हरसीहु साहु उन्हें प्रोत्साहित करता है।

तुहुं कव्व धुरंधर दोस हारि, सत्यत्थ कुसल बहु विणय धारि।
करि कव्वु चित परिहरहिं मित्त, तुह मुहिं णिवसइ सरसइ पवित्त।

१.५

इसके बाद जंबु द्वीप, भरत क्षेत्र, मगन देश, राजगृह, सोणिक राजा, रानी चेल्लणा, सब का एक ही कड़वक (१.६) में निर्देशमात्र कर दिया गया है।

कथा का आरम्भ गौतम श्रेणिक की आशंकाओं से होता है। इंद्रभूति उसके उत्तर में कथा कहते हैं—

जइ रामहु तिहुवणि ईसरत्तु, रावणेण हरिउ किं तहु कलत्तु।
वणयर पव्वउ किं उद्धरंति, रयणयरु वंधिवि किं तरंति।
......
छम्मास णिद्द किं णउ मरेइ, कुंभयणु पुणुवि किं जायरेइ।

प. च. १.८

काव्य में घटनाओं को चलता करने का प्रयत्न दिखाई देता है। देखिये एक ही वाक्य में कीत्ति धवल की रानी लक्ष्मी का वर्णन कर दिया गया है—

...... कित्ति धवलु लंका पुरि राणउ।
तासु लच्छिणामें प्रिय सुन्दरि, चंद वयणि गइ णिज्जय सिंधुर।

१.१०

इसी प्रकार निम्नलिखित ग्रीष्मकाल का वर्णन भी अत्यन्त संक्षिप्त है—

पुणु उण्ह कालि पव्वय सिरेहिं, खर किरण करावलि तप्पिरेहिं।
सिरि रागम चउपहिं झाण लीणु, अहणिसु तव तावें गत्त खीणु।

२.१८

इसी प्रकार ७.८-१० में भी राम-रावण युद्ध सामान्य कोटि का वर्णन है।

पांडव पुराण

यह ग्रंथ भी अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। इसकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भंडार में और एक प्रति देहली के पंचायती मंदिर में विद्यमान है।

इस ग्रंथ के रचयिता यशः कीत्ति हैं। इन्होंने पांडव पुराण के अतिरिक्त हरिवंश पुराण की भी रचना की। यशः कीत्ति का लिखा हुआ चन्द्रप्रभ चरित नामक खंडकाव्य

भी उपलब्ध है।[1] किंतु उस ग्रंथ में कवि ने न तो रचनाकाल का निर्देश किया है और न अपने गुरु के नाम का। अतः निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि पूर्व निर्दिष्ट दोनों ग्रंथों के रचयिता और चन्द्रप्रभ चरित के रचयिता एक ही यशः कीत्ति हैं या भिन्न भिन्न।

पांडव पुराण की रचना कवि ने नवगाव नयर (नगर) में अग्रवाल कुलोत्पन्न वील्हा साहु के पुत्र हेमराज के अनुरोध से की थी।[2] सन्धिओं की पुष्पिकाओं में भी हेमराज का नाम मिलता है और इन्हीं पुष्पिकाओं से प्रतीत होता है कि यशः कीत्ति गुण कीत्ति के शिष्य थे।[3] प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में कवि ने संस्कृत में हेमराज की प्रशंसा और मंगल कामना की है।[4] प्रत्येक सन्धि की समाप्ति पर सन्धि के स्थान पर कवि ने 'सग्ग' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे—

'कुरुवंस गंगेय उप्पत्ति वण्णणो नाम पठमो सग्गो।'

---

१. चन्द्र प्रभ चरित के लिये देखिये आगे ७वां अध्याय—अपभ्रंश खंड काव्य (धार्मिक)

२. इय चितंतउ मणि जाम थक्कु, ताम परायउ साहु एक्कु।
इह जोयणि पुरु वहु पुरहं सारु, धण, धण्ण सुवण्ण णरेहिं फारु।
....
सिरि अयर वाल वंसहं पहाणु, जो संघहं वच्छलु विगयमाणु।
तहो णंदणु वील्हा गय पमाउ, नव गाव नयरे सो सइं जि आउ।
....
तहो णंदणु णंदणु हेमराउ, जिण धम्मोवरि जमुणिव्वभाउ।
१·२

३. इय पंडव पुराणे सयल जण मण सवण सुहयरे, सिरि गुण कित्ति सीस मुणि जस कित्ति विरइये, साधु वील्हा पुत्त रायमंति हेमराज णामंकिए .... इत्यादि।

४. श्रीमान संताप करोरु धामा, नित्योदयो द्योतित विश्वलोकः।
कुर्याज्जिना पूर्व्व रविर्मत्तोज्जे, श्री हेमराजस्य विकाश लक्ष्मं ॥१
दान श्रृंखलया बद्धा चला ज्ञात्वा हरि प्रिया।
हेमराजेन तत्कीत्ति दूरे दूरे पलायिता ॥२
द्वितीय सन्धि

यस्य द्रव्यं सुपात्रेषु यौवनं स्वस्त्रिपां भवेत्।
भूति य (यं) स्य परार्थेषु स हेमाख्यो तु नंदतु ॥
चतुर्थ सन्धि

कल्पवृक्षा न दृश्यन्ते कामधेन्वादयस्तथा।
दृश्यते हेमराजो हि एतेषां कार्य कारकः ॥
१६वीं संधि

कवि ने कार्त्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि. सं. १४९७ को यह कृति समाप्त की थी।[1]

कृति में ३४ सन्धियों द्वारा कवि ने पांडवों की कथा का वर्णन किया है। ग्रन्थ का आरम्भ निम्नलिखित अलंकृत पद्य से होता है—

ऊँनमो वीतरागाय।

वोह सुसर धयरट्ठहो गय धयरट्ठहो, सिरि ललामु सो रट्ठहो।
पणवेवि कह्मि जिणिट्ठहो णुय वल विट्ठहो, कह पंडव धयरट्ठहो।[2]

जिन स्तवन के अनन्तर कवि सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि को नमस्कार करता है। पुनः सरस्वती वन्दन के पश्चात् इन्द्रभूति प्रमुख गुरुजनों को नमस्कार करता है। तदनन्तर सज्जनदुर्जन स्मरण और आत्म विनय प्रदर्शित किया गया है।

वर्णन प्रायः सामान्य कोटि के दृष्टिगत होते हैं। युद्ध वर्णन में छन्द की एकरूपता दिखाई देती है।

नारी वर्णन परम्परागत उपमानों से युक्त है। कवि ने शरीरगत सौंदर्य का ही अधिकतर वर्णन किया है। "जाहे णियंतिहे रइ वि उक्खिज्जइ" (अर्थात् जिसको देख कर रति भी खीज उठती थी) और "लायण्णें वासव पिय जूरइ" (अर्थात् उसके सौंदर्य से वासव प्रिया-इन्द्राणी भी खिन्न होती थी), आदि विशेषणों से कवि ने शारीरिक सौंदर्य की अपेक्षा उसके प्रभाव कीं ही सूचना दी है। सौंदर्य के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव की अधिकता 'भल्लि व मारइं' विशेषण से परिलक्षित होती है। देखिये पांचाली का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

आरणालं।

मणिमय कणि कुंडल रयणमेहला। सीस मउलि सारा।
करे ज्झण झणिय कंकणा। तोसिया जणा, कंठ मुत्तहारा॥
चल णिहिं मंजीरय मणि कंठिय, उरि कंचुलिय रयणमय दिट्ठिय।
सिरि खंडहिं कपूरहिं लेविय, कुसुम गंध भमरावलि सेविय।
मुहुं तंबोलु णयण किय कज्जलु, मुह सासें मंडउ किउ परिमलु।
रंभ तिलोत्ति मणं सुरअच्छर, णव जोव्वण मिइ खोडस वच्छर।

---

१. विक्कम रायहो व व गय कालए, महि[1] सायर[4] गह[6] रिसि[7] अंकालए।
कत्तिय सिय अट्ठमि वुह वासरे, हुउ परिपुण्णु पढम नंदीसरे॥
....
इति पंडु पुराण समाप्तं।
ग्रंथ संख्या ९६००

२. वोह...रट्ठहों-ज्ञान सरोवरे हंसस्य।
गय...रट्ठहो-गतजध्वजराष्ट्रस्य। सिरिललामु...हो-तिलकी भूतस्य सौराष्ट्र देशस्य णुय वलविट्ठहो-नूत बल गोविन्दस्य।

रंभारुहिय सहिय गणमंडिय, णिय जोव्वण सिरीए अवरुंडिय।
गहिय पसाहणि भल्लि व मारइं, अवलोयंतिहिं जणु संघारइं।
चउदस आहरणेंहिं अलंकिया, सोलह सिंगारेहिं णउ संकिय।
सव्वहिं लक्खणेंहिं संपुण्णिया, कर चरणहिं सोसहिं कइं वण्णिया।
ताहे उरोय कणयणं कलसइं, काम करिंद कुंभणं उच्चइं।
कइ वण्णंतिहि पारु ण पत्तइं, णयण वयण मय छण ससिसरिसइं।
जाहे णियंव विवु उरु गरुयउ, पत्तलु पोट्टु णाहि अइगहिरउ।
सव्वसुहंकरि किं वण्णिज्जइं, जाहे णियंतिहे रइपि उक्खिज्जइं।
जाहे पुट्ठि कवरी लोलंतिय, गंधागय णाइं णिव चलंतिय।
रत्तासोय पत्त णह चलणइं, कल कंठि वीणा रव वयणइं।
कत्थूरी घुसिणहं पत्तावलि, गंधायट्ठिय णं भमराउलि।
गायंती किण्णर मणु मोहइ, णच्चंतिहिं भरहंगुण सोहइ।
पडहहु वाएं अमरि ण पूरइ, लायण्णें वासवपिय जूरइ।
घत्ता—सिरि पंडुर छत्तइं, चमर पडंतइं, वंवव सयणहिं परियरिय।
वहु णर मोहंतिय, गयमल्हंतिय, मोहण वल्लि व अवयरिय॥

१२.१६

कवि की भाषा में अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। देखिये—

झं झणण झणण झल्लरि वि सद्द,
टं टं करंत करि वीर घंट।
कंसाल ताल सद्दइ करंति,
मिहुणइं इव विहडिवि पुणु मिलंति।
डम डम डम डमरु सद्दियाइं,
बहु ढोल निसाणइं वज्जियाइं॥

२१. ९

कवि ने भिन्न-भिन्न सन्धियों में कड़वक के आरम्भ में दुवई, आरणाल, खंडयं, हेला, जंभेट्टिया, रचिता, मलय विलासिया, आवली, चतुष्पदी, सुन्दरी, वंसत्थ, गाहा, दोहा, वस्तु बन्ध आदि छन्दों का प्रयोग किया है। २८ वीं संधि के कड़वकों के आरम्भ में कवि ने दोहा छंद का प्रयोग किया है। दोहे का कवि ने दोहउ और दोधक नाम भी दिया है। इसी सन्धि में कहीं कहीं कड़वक के आरम्भ में दोहा है और कड़वक चौपाई छन्द में है। उदाहरणार्थ—

दोधकं

ता सिंचिय सीयल जलेण, विज्जिय चमर निलेणु।
उट्ठिय सोयानल तविय मइलिय अंसु जलेण॥
हा हा णाह णाह किं जायउ, महु आसा तरु केणवि पायउ।
हा सिंगारुभीउ महु भग्गउ, हा हा विहि किं कियउ अजोग्गउ।

हा हा परभवि को वि छाइउ, तं भव अज्जिउ अम्हहं आयउ।
किं णउ गब्भि मुइय किं जाइय, हा विहि किं जोव्वणि संभाविय।
२८. १३

हरिवंश पुराण

यशः कीर्त्ति-रचित यह ग्रंथ भी अप्रकाशित है। इसकी वि० सं० १६४४ की एक हस्तलिखित प्रति देहली के पंचायती मन्दिर में विद्यमान है।

इस ग्रंथ की रचना कवि ने जोगिनीपुर में अयरवाल (अग्रवाल) वंश में प्रमुख गग्ग (गर्ग) गोत्रोत्पन्न दिउढा साहु की प्रेरणा से की थी।[1] सन्धियों की पुष्पिकाओं में भी दिउढा का नाम मिलता है।[2] प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में कवि ने दिउढा के लिये संस्कृत भाषा में आशीर्वाद परक छन्द भी लिखे हैं।[3] दिउढा के लिये कहीं कहीं एकार्ध (ड्यौढ़ा) शब्द का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ की समाप्ति पर भी कवि ने दिउढा साहु के वंश का परिचय देते हुए उसकी चिर मंगल कामना की है। संधि के लिये अधिकतर सग्ग (सर्ग) शब्द का प्रयोग किया गया है। एक दो सन्धियों में 'संधो परिछेऊ' या 'सग्गो परिछेऊ' का भी प्रयोग मिलता है।

कवि ने कृति की रचना भाद्रपद शुक्लपक्ष एकादशी गुरुवार वि० सं० १५०० में की थी।[4] कृति इंद्रपुर में जलाल खान के राज्य में समाप्त हुई।[5] ग्रंथ में तेरह सन्धियों

---

१. हरिवंश पुराणु १. २

२. इय हरि वंस पुराणे, कुरुवंसा हिट्ठिय सुपहाणे
विवुह चित्ताणुरंजणे, श्री गुण कित्ति सीस मुणि
जस कित्ति विरईए, साधु दिउढा साहुअणुमण्णिए, ··· इत्यादि।

३. दान श्रृंखलया बद्धा, चला ज्ञात्वा हरि प्रिया।
दिवढाख्येन तत्कीर्त्तिः, दूरे दूरे पलायिता॥ ४. १
वदान्यो बहुमानश्च, सदा प्रीतो जिनार्चने।
परस्त्री विमुखो नित्यं, दिउढाख्यो त्र नन्दतात्॥
शीलं च भूषणं अस्य, सत्यं हि मुखमण्डणं।
कार्यं परोपकारेण, स दिउढा नन्दताच्चिरं॥ ५. १
यस्य द्रव्यं सुपात्रेषु, यौवनं स्वस्त्रियां भवेत्।
भूति यस्य (यं) स्य परार्थेषु, स एकार्द्धो त्र नंदतात्॥
१०. १

४. विक्कम रायहो ववगय कालइं, महि इंदिय दुसुण्णअंकालइं।
भादव एयारसि सिय गुरुदिणे, हुउ परिपुण्णउ उग्गंतहि इणे॥ १३-१९

५. णउ कवित्त कित्तिहें धणलोहें, णउ कासु वरि पवट्ठिय मोहें।
इंद उरिहि एउ हुउ संपुण्णउ, रज्जि जलालखान कउउण्णउ॥ १३. १९

और २६७ कड़वकों में यशःकीर्त्ति ने महाभारत की जैन धर्मानुकूल कथा का सीधा वर्णन किया है। ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित अलंकृत पद्य से होता है—

ॐ नमो वीतरागाय ॥

पयडिय जय हंसहो, कुणय विहंसहो, भविय कमल सर हंसहो।
पणविवि जिण हंसहो, मुणियण हंसहो, कह पयडमि हरिवंसहो ॥

इसके अनन्तर चौदस तीर्थंकरों का स्तवन कर ग्रंथकार काव्य लिखने का प्रयोजन बताता है। इसी प्रसंग में कवि ने सज्जन-दुर्जन स्मरण किया है।[1] इसके अनन्तर गणधर से पूछे जाने पर श्रेणिक महाराज कथा प्रारम्भ करते हैं।

तीसरी सन्धि के पश्चात् चौथी सन्धि से कौरव पुराण आरम्भ होता है। नवीन कृति के समान इस सन्धि के आरम्भ में मंगलाचरण, आत्म विनय, सज्जन-दुर्जण स्मरण मिलता है।[2]

---

१. पुव्व पुराण अत्थु अइ वित्थरु, काल पहावें भवियहं दुत्तरु।
अयर वाल कुल गयण दिणेसर, दिउ चंडु साहु भविय जण मणहरु।
तासु भज्ज वालुहिइ भणिज्जइ, दाण गुणंहि लोए हि थुणिज्जइ।
......
ताहि पुत्तु विण्णाण वियाणउ, दिउढा णामधेउ वहु जाणउ।
ताहो उवरोहें मइं यहु पारद्धउ, णिसुण हुं भवियण अत्थ विसुद्धउ।
......
...... त्ता हरिवंसु मइं मिऊंहि किउ।
सद्द अत्थ संबंधु पुरंतउ, जिणसेणहो सुत्तहो यहु पयडिउ।
सज्जण दुज्जण भउ अवगण्णिवि, ते णिय णिय सहाव रय दोण्णिवि।
कडयउ णिंबु महुरइ गाली, अंविलु वीय पूरु चिंचाली।
तिहं सज्जण सुसहावें वछलु, दुज्जणु दुट्ठु गहइ कवियण छलु।
लेउ दोसु सो मइं मो कल्लिउ, जइ पिक्खइ तो अछउ सल्लिउ ॥
१. २

२. एक्कहें दिणि दिउढाखेण पत्तु, पणयं विणयं जस मुणि विणत्तु।
मइं णिसुणिउं हरिवंसहो चरित्तु, एवहिं अक्खमि कुरुकुलु पवित्तु।
मुणि जंपइ को इउ चरिउ करइ, भारह समुद्द को भुवहि तरइ।
अइ दुग्गमु इउ कउरव पुराणु, को हत्थें झंपइ गयणे भाणु।
अण्णु वि अइ दुट्ठ अणिट्ठ पाव, परकव्व भव्व णिंदण सहाव।
दुज्जण अवहेलिवि सु सुहमणाहं, अइ विणउ पयासिवि सज्जणाहं।
चिर कव्व कविंद सउ लेवि, धम्मत्थें णिम्मलु मणु करेवि।
कडुवउ महुरउ निविक्खुजेम, सज्जण दुज्जणहं सहाउ तेम।
छण इंदहो भुक्कइ सारमेउ, किं करइ तासु ववगय विवेउ। ४. १-

काव्य में अनेक सुन्दर अलंकृत शैली में वर्णित स्थल उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिये कवि का निम्नलिखित हस्तिनापुर वर्णन देखिये। कवि ने परिसंख्यालंकार का प्रयोग करते हुए नगर का वर्णन किया है—

छत्ते सुदंडु जिणहरु विहारु, पीलणु तिलए सीइक्खि फारु।
सत्थे सुवंधु मोक्खु वि पसिद्धु, कंदलु कंदेसु विणउं विरुद्धु।
सिर छेउ सालि छेत्तहो पहाणु, इंदिय णिग्गहु मुणिगण हो जाणु।
जडया जलेसु मंसु वि दिणेसु, संधीसु सुरागमु तहं ? सुरेसु।
णिसिया असिधारइ सूइएसु, खरदंडु पउमणालें असेसु।
कोस खउ पहिय ह णउ जणेसु, वंकत्तु भउहवे कुंचिएसु।
जड उद्धारु वि परु वालएसु, अवियड्ढत्तणु गोवय णरेसु।
खलु खलिहाणें अहवा खलेसु, पर दारगमणु जहिं मुणिवरेसु।
कव्वलसु णिरसत्तु वि पत्थरेसु, जड्डुविकसाल थी पुरिसएसु।
धम्मेसु वसणु पूयासुराउ, मणुऊहट्टइ दितहं ण चाउ।
माणेसु माणु सीहेसु कोहु, दीणेसु माय दुद्धेसु दोहु।
सत्थेसु लोहु णउं सज्जणेसु, पर हाणि चिंते दुज्जण जणेसु।
तुरगामिउ मउ णउं तिय समूहु, अइ चंवलु अडईहिं मयह जोहु।
विवुह हि दायारहिं वहुजणेहिं, जं सूहइ जण धण कण भरेहि। ४.५

कवि हस्तिनापुर के राजा का वर्णन करता हुआ कहता है—

तेएण सूरु सउमेण इंदु, रूवेण कामु णयवल्लि कंदु।
दुट्ठहं जमु सिट्ठहं उवरि राउ, वंदियहं णिरंतरु दिण्ग चाउ।
परणारि विमुहु दुव्वसण चत्तु, अइवलु खत्तिय धम्मेण रत्तु।
सत्तंग रज्ज पालण पवीणु, जसु रज्जि कोइ णउ दुहिउ दीणु।
......

महि मंडलि जो उपमा विहीणु, जसु रज्ज को वि णउ खलु णिहीणु।
सुहि वंधव ससयण करंतु मोउ, सा हंतु तिवग्गइ वसइ लोउ।

४.६.

कवि के नारी वर्णन में केवल उसके बाह्य रूप का ही चित्रण नहीं मिलता अपितु उसके हृदयस्पर्शी प्रभाव का चित्रण भी किया गया है। जैसे—

णं णाय कण्ण णं सुर कुमारि, णं विज्जाहरि विरहियण मारि।
णं काम भल्लि णं काम सत्ति, णं तासु जि कोरी वाण पंति।
णं जण मोहणि मोहणिय वल्लि, णं मयणा वलि णव जोव्वणिल्लि।
णं रण्णगउरि रोहिणि सुभामा, सूरहो ईसहो चंदहो ललामा।

५.८

कवि के युद्ध वर्णन में छन्दों की विविधता नहीं। न ही गतिशील छन्दों की योजना है। अतएव युद्ध वर्णन सजीव नहीं हो सके हैं। इस प्रकार के वर्णनों में केवल ऐति-

हासिक घटनाओं का उल्लेख मात्र हो पाया है। वर्णनों में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता दृष्टिगत होती है।

पत्थ सहाइ हुयउ णारायणु, लेप्पिणु संख चक्क गय पहरणु।
असि असि घाय फुलिंगयउट्ठहिं, भज्जहिं कायर वीरक्कंठहिं।
केण वि कासु वि सिरु दोहाविउ, समउडु कुंडलु भूमि लुढाविउ।
केणवि कासु वि धणु दोखंडिउ, केण वि असि फरेहि रणु मंडिउ।
१०.१७

पंचायणु गोविंदें पूरिउ, तेणवि कुरुवइ हियइ विसूरिउ।
जयहो चमक्कारिउ रणु जायउ, दोहिंमि वलहं परोप्परु धाइउ।
को गणेइ केत्तिय तिय रंडिया, सिर कमल करहिं धरत्तिय मंडिय।
छत्त चमर घण धण किंसीसहिं, रत्त णईए तरंता दीसहिं।
मुछिय के वि केवि तहि णट्ठिया, ऊसरेवि गय कायर तट्ठिया।
रवि अत्थमिउं महाहव खेइया, उहय वलइ णिय णिय थाणहो गया।
पढमउं दिणु गउ वहु णर जुज्झिया, केत्तिय पडिय संखडउ वुज्झिया।
रवि उग्गमिउं तामऊ वग्गिय, दिण्ण तूरु विण्णिवि वल लग्गिय।
खेयर खेयरेंहि सहुं धाइय, गय वर गय वरेंहिं सं पाइय।
साइय साइएहिं पाइक्कहिं, पाइक्कइं रण सम्मुहुं ढुक्किय।
संदण संदणेहि संदाणिय, सुहडें सुहडविणउं ऊलक्खिउ।
सद्दें वइरि परोप्परु घाइया, हुउ कद्दमु रत्त णइ वहाविय।
पाडिय हय गय रह वाइत्तइ, दीसहि सुहडहं सीस लुढंतइ।
छिण्णइ सीस कवंधइ णच्चहिं, किंचिवि असि कर धाइवि वच्चहिं।
१०.१९

कवि के विरह वर्णन भी सामान्य कोटि के हैं। विरह की तीव्र व्यंजना का अभाव सा ही परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित जीवंजसा का विलाप देखिये—

परिदेवइ कंदइ णाह णाह, का कहि गउ सामिय करि अणाह।
महु हिय इछुहोप्पिणु गाढदाहु, हा वयरिहि मणि परि किउ उछाहु।
हा जाय वाहं पर सोहलउ जाउ, हा णाह मज्झु हिंव वत्तु आउ।
उरु ताडिउ णयणंसुयहिं किण्हु, किउ थगयडु आकोसियउ कण्हु।
रोवतं रुवाइय वणह पंक्खि, लुट्टंति हिंरिणु णिहे गुंठियक्खि।
ससवत्तिहिं कंसहो उवरि पडिया, रावइ जीवंजस विरह णडिय।
हा हा पइ विणु महु कवणु छाया, जय पहु सय तापइं विणु वराय।
पडि वयणु देहि एक्क सिहाए, पिय जामण हियउ फुडेवि जाइ।
खणि खणि मुछिज्जइ महि विहाए, वहलंजण सामल रत्ति णाइ।
किउ संसयारु कंसहो वि तेहि, मिल्लेप्पिणु सव्वेहिं जायवेहिं॥
३.९

कवि मार्मिक स्थलों पर भी भाव तीव्रता अभिव्यक्त नहीं कर सका है। कवि का उत्तरा-विलाप प्रसंग साधारण कोटि का है। निम्नलिखित द्रौपदी के केशाकर्षण प्रसंग में भी भावतीव्रता नहीं——

तं णिसुणेप्पिणु दूसासणेण, णिद्दइयं पाव कयायरेण।
आयड्ढिय केस धरेवि जाम, धिट्ठि कारिउ सव्वेहि ताम।
णं हरिणा सारंगि य वराय, णं णायारें णाइणि सछाय।
णं धीवरेण मीणइ आहल्लि, णं मक्कडेण कोमलिय वल्लि।
णं पउमिणि लुंचिय मयगलेण, तिहं दे (दो) वइ तेण धणुद्धरेण॥ ७.१६

काव्य में पद-योजना प्रायः संस्कृत भाषा की शैली में दृष्टिगोचर होती है। जैसे——

उववेसिऊं णियय पज्जंक देसम्मि, उवविट्ठ तहो पुरउ महि वीढि रम्मम्मि।
...... पुच्छेइ वियसंतु मायंग वर गामि।
कल्लाण तं कासि कहो तणिय वरधूय, किं एछ ए कासि वहु विणय संभूय।
णिव पुच्छिया सावि करकमल सणाए, सहिं भणिय ता ताए पछण्ण वायाए। ४.७

जहां इस प्रकार की शैली नहीं वहां पद योजना अधिक सरल और प्रभावोत्पादक प्रतीत होती है। जैसे——

किं रज्जें अरियण संकिएण, किं सग्गें जत्थ पुणागमेण।
किं विहवें उप्पाइय मएण, किं छत्तें छाइय सिव पहेण।
किं चमरें उद्धाविय गुणेण, किं एहरणेहि रुद्दासिएण।
असहायहि किं सज्जण जणेण, किं तारुण्णें जर संगएण। १२.१५

भाषा में स्थान-स्थान पर सुभाषितों और वाग्धाराओं का प्रयोग भी मिलता है——

"छण इंदहो भुक्कइ सारमेउ, किं करइ तासु ववगय विवेउ॥ ४.१
"सइं कियउ कम्मु को अणुहवइ, णिय किउ सुहु दुहु अग्गइ सरइ।" ८.१
"रवि पुरउ कवणु ससि तारयाइ" १०.८
"असहायहो होइ ण कज्ज सिद्धि" १०.१६

कवि ने स्वय स्वीकार किया है कि काव्य में उसने पद्धडिया बंध का प्रयोग किया है।[1] किन्तु पद्धडिया के अतिरिक्त कडवकों के आरम्भ में दुवई, आरणाल, जंभेट्टिय,

---

१. इहु हरिवंसु सत्थु मइ अक्खिउ, कुरु वंसहो समेउणउ रक्खिउ।
पढमहि पयडिउ वीर जिणेंदें, सेणिय रायहो कुवलइ चंदें।
गोयमेण पुणु किय सोहम्में, जंबू सामें विण्हु सणामें।
णंदि मित्त अवरज्जिय णामें, गोवद्धणेण सुभद्दयवाहें।
एम परंपराए अणुलग्गउ, आइरियहं मुहाउ आवग्गउ।
सुणि संखेवसुतअवहारिउ, मुणि जस कित्ति महिहि वित्थारिउ।
पद्धडिया छंदें सुमणोहरु, भवियण जण मण सवण सुहंकरु। १३.१९

खंडय, वस्तुबंध, हेला आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। सन्धियों के प्रारम्भ में दिउढा की मंगलकामना के लिये शार्दूल विक्रीडित, वसन्त तिलका, अनुष्टुप्, गाथा आदि छन्दों का भी प्रयोग मिलता है।

हरिवंश पुराण

इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भंडार में विद्यमान है। श्रुतकीर्ति ने प्राचीन कथा का ही इसमें वर्णन किया है। कवि की एक दूसरी कृति परमेष्ठि प्रकाश सार भी हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है। इसका समय कृतिकार ने वि. सं. १५५३ दिया है।

(१५) दह पण (५३) सय तेवण गय वासइं पुण
विक्कम णिव सवंच्छरहे।
तह सावण मासहु गुर पंचमि सहुं,
गंथु पुण्ण तय सहसतहें॥

७.७४

अतः कवि का समय वि. सं. की १६ वीं शताब्दी का मध्य भाग माना जा सकता है।

कवि ने ४४ संधियों में महाभारत की कथा का वर्णन किया है। संधि की पुष्पिकाओं में कवि ने इस ग्रंथ को महाकाव्य कहा है।[1]

ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित पद्य से होता है।

ॐ जय नम सिद्धेभ्यः।
सिसिइणवोमं सइं, त्तं हरि वंसइं। पाव तिमिरहर विमल यरि।
गुण गण जस भूसिय, तुरय अदूसिय, सुव्वय णेमिय हलिय हरि॥

गाथा—

सुरवइ तिरीडरयणं, किरणंवु पवाहसित्त जह चलणं।
पणविवि तह परम जिणं, हरिवंस कयत्तणं वुघे॥

हरिवंश पुराण का कवि ने कमल रूप में वर्णन किया है—

हरिवंसु पयोरुह अद्भूरवण्णु, इह भरह खित्त सरवरउ वण्णु।

१०.१

आत्म विनय और सरस्वती वन्दन से कथा आरम्भ होती है। मंगलाचरण के द्वारा ग्रंथ की समाप्ति होती है।

जिनअपभ्रंश महाकाव्यों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। निस्संदेह उनके अतिरिक्त अनेक महाकाव्य जैन भंडारों में गुप्त पड़े होंगे। अनेक प्रकाश में आ चुके हैं। किन्तु अभी तक प्रकाशित नहीं हो सके। मुख्य रूप से महाकाव्यों के आधार पर

---

१. इय हरिवंशपुराणे मणहरसरायपुरिसगुणालंकार कल्लाणे तिहुवणकित्तिसिस्स अप्पसुद्दसुद्दकित्ति महाकव्वु विरयंतो णाम पढमो संधी परिछेऊ सम्मातो।

जो भी विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है वह अपभ्रंश साहित्य के महाकाव्य का रूप दिखाने के लिए पर्याप्त है। अपभ्रंश महाकाव्य का रूप, उसकी प्रवृत्तियाँ, उसकी विशेषताएँ इतने अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकेंगी, ऐसा लेखक का विश्वास है। इन महाकाव्यों में अनेक ऐसे महाकाव्यों का अन्तर्भाव न हो सका जिन्हें कवियों ने तो महाकाव्य कहा है किन्तु विषय प्रतिपादन की दृष्टि से वे महाकाव्य नहीं माने जा सकते।[1]

१. उदाहरण के लिये श्रुतकीर्त्ति ने अपने परमेष्ठि प्रकाश सार को महाकाव्य कहा है किंतु सारे ग्रंथ में धार्मिक विवेचन ही मुख्य रूप से मिलता है। ग्रन्थ महाकाव्य प्रतिपादित लक्षणों से शून्य है। इसी प्रकार अमरकीर्त्ति ने अपने छक्कमोवएस (षट्कर्मोपदेश) नामक ग्रन्थ को महाकाव्य कहा है। कथानक और कवित्व की दृष्टि से यह भी महाकाव्य नहीं कहा जा सकता।

सातवाँ अध्याय

अपभ्रंश-खंडकाव्य (धार्मिक)

महाकाव्य का नायक कोई दिव्य कुलोत्पन्न या धीरोदात्त क्षत्रिय होता था। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजाओं का वर्णन भी महाकाव्य का विषय हो सकता था। महाकाव्य में किसी नायक के समस्त जीवन को सरस काव्यमय प्रसंगों द्वारा अंकित किया जाना चाहिए। खंड काव्य में नायक के समग्र जीवन का चित्र उपस्थित न कर उसके एक भाग का चित्र अंकित किया जाता है। काव्योपयुक्त सरस और सुन्दर वर्णन महाकाव्य और खंड काव्य दोनों में ही उपलब्ध होते हैं। अपभ्रंश में अनेक चरिउ ग्रन्थ इस प्रकार के हैं जिनमें किसी महापुरुष का चरित्र किसी एक दृष्टि से ही अंकित किया गया है। कवि की धार्मिक भावना के पूरक रूप में प्रस्तुत, नायक के जीवन के इस रूप में उपलब्ध होने के कारण ऐसे चरिउ ग्रन्थों की गणना खंड काव्यों में ही की गई है।

अपभ्रंश में धार्मिक दृष्टिकोण से रहित खंड काव्य भी उपलब्ध होते हैं। धार्मिक भावना के प्रचार की दृष्टि से लिखे गये काव्यों में काव्यत्व कुछ दब सा जाता है। अतएव इस भावना से रहित काव्यों में साहित्यिक रूप और काव्यत्व अधिक प्रस्फुटित हो सका है। इस प्रकार के काव्य हमें दो रूपों में उपलब्ध होते हैं—एक इस प्रकार के काव्य जिनमें शुद्ध ऐहलौकिक भावना से प्रेरित हो कवि ने किसी लौकिक जीवन से संबद्ध घटना को अंकित किया है और दूसरे इस प्रकार के काव्य जो ऐतिहासिक तत्व से मिश्रित हैं, जिसमें धार्मिक या पौराणिक नायक के स्थान पर किसी राजा के गुणों और पराक्रमों का वर्णन है और उसी की प्रशंसा में कवि ने काव्य रचा है। इस दृष्टि भेद से हमारे सामने तीन प्रकार के खंड काव्य हैं।

१. शुद्ध धार्मिक दृष्टि से लिखे गये काव्य, जिनमें किसी धार्मिक या पौराणिक महापुरुष के चरित का अंकन किया गया है।

२. धार्मिक दृष्टिकोण से रहित ऐहलौकिक भावना से युक्त काव्य, जिनमें किसी लौकिक घटना का वर्णन है।

३. धार्मिक या साम्प्रदायिक भावना से रहित काव्य, जिनमें किसी राजा के चरित का वर्णन है।

इनमें प्रथम प्रकार के खंड काव्य प्रचुरता से मिलते हैं। उन्हीं का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। शेष दो प्रकार के खंड काव्यों का वर्णन अगले अध्यायों में किया जायगा।

णाय कुमार चरिउ[1] (नागकुमारचरित)

यह कवि पुष्पदंत द्वारा रचा हुआ ९ संधियों का खंड काव्य है। कवि सरस्वती की वंदना से ग्रंथ का आरम्भ करता है। ग्रंथ मान्य खेट के राजा के मंत्री नन्न की प्रेरणा से लिखा गया। कवि मगध देश, राजगृह और वहाँ के राजा श्रेणिक का काव्यमय शैली में वर्णन कर बतलाता है कि एक बार तीर्थंकर महावीर राजगृह में गये और वहाँ राजा श्रेणिक ने उनकी सेवा में उपस्थित हो श्री पंचमी व्रत का माहात्म्य पूछा। महावीर के शिष्य गौतम उनके आदेशानुसार व्रत से संबद्ध कथा कहते हैं।

कथानक—प्राचीन काल में मगध देश में कनकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ जयन्धर नाम का राजा अपनी स्त्री विशालनेत्रा और पुत्र श्रीधर के साथ राज्य करता था। एक दिन वासव नामक एक व्यापारी अपनी व्यापार सम्बन्धी यात्रा से लौटता हुआ कनकपुर में अनेक उपहारों के साथ राजा की सेवा में उपस्थित होता है। उन बहुमूल्य उपहारों में सौराष्ट्र के, गिरि नगर के राजा की लड़की का भी एक चित्र था। राजा उस चित्र को देख उस लकड़ी पर मुग्ध हो जाता है और पूछने पर उसे पता चलता है कि गिरनगरराज उस लड़की का विवाह राजा जयन्धर से करना चाहता है। यह समाचार सुन राजा अपने मंत्री को और उस व्यापारी को अनेक उपहारों के साथ गिरि नगर भेजता है। वे राजकुमारी को कनकपुर लाते हैं और धूमधाम से विवाह संपन्न होता है (१)

राजा दोनों रानियों के साथ क्रीडोद्यान में जाता है। नवागता वधू पृथ्वी देवी अपनी सपत्नी के वैभव को देख आश्चर्यान्वित हो जाती है और कहती है—

सुक्खइं दुज्जणहं णिय सज्जणहं दुक्खइं उप्परि पलोट्टइं।
जेहिं णिहालियइं णयणइं पियइं ताइं किं ण हलि फुट्टइं॥

हे सखि! जिन नयनों ने दुर्जनों के ऊपर पतित सुखों और निज सज्जनों के ऊपर पतित दुःखों को निहारा वे प्रिय नेत्र क्यों न फूट गये? ईर्ष्या से पृथ्वी देवी उद्यान में न जाकर जिन मंदिर में जाती है। वहाँ मुनि पिहिताश्रव उसे धर्मोपदेश देते हैं और भविष्य वाणी करते हैं कि उसके एक पुत्र होगा। समयानुसार पुत्र उत्पन्न होता है। जन्मोत्सव मनाया जाता है। माता-पिता जिन मंदिर में जाते हैं और द्वार को बंद पाते हैं। पुत्र के चरण स्पर्श से दरवाजा खुल जाता है। जब वे दोनों जिन की पूजा में लीन थे और स्त्रियां क्रीडोद्यान में बच्चे के साथ थीं, अकस्मात् बालक एक कुएँ में गिर जाता है। चारों ओर शोर मच जाता है। पुत्र के लिए माँ भी कुएँ में कूद पड़ती है। वहाँ नाग बालक की रक्षा करता है अतएव उसका नाम नाग कुमार रखा जाता है (२)।

---

१. प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, बलात्कारगण जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारंजा, बरार से सन् १९३३ में प्रकाशित।

नाग कुमार को अनेक विद्याएँ और कलायें सिखाई जाती हैं। धीरे-धीरे नाग कुमार युवावस्था में प्रवेश करता है। उसके सौंदर्य से ऐसा प्रतीत होता है मानो साक्षात् काम देव हो——

पेक्खइ जहिं जहिं जे जणु तहिं तहिं जि सुलक्खण भरियउ।
वण्णइ काइं कइ जगे वम्महु सइं अवयरियउ ॥ ३.४.१६

कालान्तर में नागकुमार किन्नरी और मनोहरी नामक पंचसुगन्धिनी की कन्याओं से विवाह कर लेता है। एक दिन नाग कुमार अपनी स्त्रियों के साथ एक सरोवर पर जलक्रीड़ा के लिए जाता है। उसकी माता स्नानानन्तर पहिरने के कपड़े देने के लिए जाती है। उसकी सपत्नी विशालनेत्रा अवसर पाकर राजा का मन भर देती है——देखो तुम्हारी प्यारी स्त्री अपने प्रियतम के पास जा रही है। राजा उसका पीछा करता है और उसे पता चलता है कि यह सब विशालनेत्रा का प्रपंच है और उसे व्यर्थ दोषारोपण के लिए डांटता डपटता है। किन्तु साथ ही पृथ्वी देवी को आदेश देता है कि अपने पुत्र के साथ बाहर घूमनें फिरने न निकले। रानी इसे अपमान समझती है और प्रतीकार भावना से प्रेरित हो अपने पुत्र को राजधानी के चारों ओर हाथी पर सवार कर घुमाती है। राजा रानी के इस अनादर-सूचक व्यवहार से उसके सारे गहने छीन कर उसे दंडित करता है। नाग कुमार को यह बहुत बुरा लगता है और वह द्यूतक्रीड़ा में जीते अनेक सुवर्णालंकारों और रत्नों से उसे भूषित करता है। उसकी द्यूत चातुरी का पता लगने पर राजा भी उससे जूआ खेलना चाहता है। नागकुमार राजा को भी हरा देता है और उसका सब धन इत्यादि जीत लेता है। किन्तु पीछे से वह सब कुछ अपने पिता को लौटा देता है और अपनी माता को पूर्ववत् स्वतंत्र करा लेता है।

एक दिन नागकुमार एक उद्धत घोड़े को अपने वश में कर लेता है। श्रीधर उसके बलपराक्रम को देखकर अपने यौवराज्य की इच्छा छोड़कर उससे ईर्ष्या करने लगता है। एक दिन अतीव उद्धत और बली हाथी को वश में करके नागकुमार सबको आश्चर्य-चकित कर देता है (३)।

श्रीधर नागकुमार को मारने का फिर भी प्रयत्न करता है किन्तु सफल नहीं हो पाता।

चौथी संधि से लेकर आठवीं संधि तक नागकुमार के अनेक वीर कर्मों और चमत्कारों का वर्णन है। वह अनेक राजकुमारियों को दूसरे राजाओं के बन्धन से मुक्त कराता है। अनेक राजकुमारियों का उद्धार करता है और अनेक के साथ विवाह करता है। अनेक राजाओं को युद्ध में पराजित करता है।

अन्तिम संधि में नागकुमार राज कुमारी मदनमंजूषा से विवाह करता है। विजयंधर की लड़की राजकुमारी लक्ष्मीमती से भी विवाह होता है। इसके साथ नागकुमार का प्रगाढ़ स्नेह था। मुनि पिहिताश्रव अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों और धार्मिक उपदेशों का व्याख्यान करते हैं। अन्त में नागकुमार मुनि से लक्ष्मीमती के साथ निज प्रगाढ़प्रेम का कारण पूछते हैं। मुनि इस प्रसंग में नागकुमार के पूर्व जन्म की कथा बताते हैं और इसी

सम्बन्ध में श्री पंचमी व्रत का माहात्म्य वर्णन करते हैं। पूर्व जन्म में नागकुमार इसी व्रत का पालन करते हुए मर गये । परिणामस्वरूप देवत्व को प्राप्त हो गये । किन्तु शोकातुर माता पिता को सान्त्वना देने के लिए फिर पृथ्वी पर आये। तब से वह भी धर्म में रत हो गये और परिणामतः उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया । लक्ष्मीमती उनकी पूर्व जन्म की स्त्री थी। मुनि इसके बाद व्रत पालन के प्रकार का वर्णन करते हैं।

इसी प्रसंग में जयंधर मन्त्री घर से आता है और नागकुमार अपने घर लौटते हैं। वहां पिता उनका आदर सन्मान करता है। अनेक वर्षों तक अपनी अगणित स्त्रियों के साथ आनन्द से जीवन बिताते हुए और राज्य भोगते हुए अन्त में तपस्वी हो जाते हैं और पुनः मोक्ष प्राप्त करते हैं।

कथानक में चित्रदर्शन से प्रेमोत्पत्ति का निर्देश कवि ने किया है। नायक के अनेक राजकुमारियों से साथ विवाह का वर्णन, उस धार्मिक वातावरण के अनुकूल नहीं जिसका चित्र कवि उपस्थित करना चाहता है। नागकुमार के कुएँ में गिर जाने पर उसके माता पिता के हृदय में जिस शोक की गुरुता अपेक्षित थी उसका अभाव है । नागकुमार के कश्मीर में जाने पर नागकुमार को देखकर पुरवधुओं की मानसिक घबराहट की अवस्था का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है किन्तु कश्मीर की शोभा के वर्णन का अभाव ही है।

कवि की बहुज्ञता—कवि के पांडित्य और बहुज्ञत्व का पर्याप्त आभास इसके महा पुराण से ही मिल चुका है। इस काव्य में भी अनेक निर्देशों से कवि के बहुज्ञत्व का ज्ञान होता है।[1] ९वीं संधि में कवि ने अनेक दार्शनिक और धार्मिक विचारों से अपना परिचय प्रकट किया है। अनेक हिन्दू और बौद्ध धर्मों के सिद्धान्तों एवं तथ्यों का निर्देश और आलोचन कवि ने किया है। कवि ने (९.५—११ में) सांख्य, मीमांसा, क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि भारतीय धर्म के भिन्न-भिन्न दर्शनों और उनमें से कुछ के प्रवर्तकों—कपिल, अक्षपाद, कणचर और सुगत—का निर्देश किया है। ९. ११ में बृहस्पति के नास्तिकवाद का निर्देश किया है। काव्यगत सौन्दर्य एवं अलंकारों के लिए पुराणों में से अनेक पौराणिक प्रसंगों का सहारा लिया है। शिव द्वारा कामदाह (८. ६. २), ब्रह्मा के सिर का काटना (९. ७. ५), वराहावतार में विष्णु द्वारा पृथ्वी का उद्धार (१.४.८), देवताओं द्वारा समुद्र मन्थन (१. ४. १०), शेषनाग के सिर पर पृथ्वी की स्थिति (७. १. ६) आदि पौराणिक उपाख्यानों का कवि को ज्ञान था।

रामायण और महाभारत के पात्रों और कथा प्रसंगों का भी इतस्ततः निर्देश मिलता है। हनूमान्, गांगेय, युधिष्ठिर, और कर्ण का (१. ४), कुरुबल (४. १०. १७) और पंच पांडवों (८. १५. १) का भी निर्देश मिलता है। लक्ष्मण द्वारा रावण की मृत्यु का निर्देश (३. १४. ५) जैन धर्मानुकूल राम कथा के अनुसार है।

कवि ने तीन बुद्धियों, तीन शक्तियों, पंचांग मन्त्र, अरि षड्वर्ग, सात राज्यांगों

---

१. देखिये नागकुमार चरिउ की भूमिका।

का (१. ८. १–७) भी निर्देश किया है। इससे कवि के (कामन्दकीय) नीति सार, (कोटिल्यीय) अर्थशास्त्र आदि नीति ग्रंथों के अध्ययन का अनुमान किया जा सकता है। कहीं कहीं श्लेष और उपमा में कवि ने राशि, नक्षत्र, ग्रह आदि का (३. १७. १२) प्रयोग किया है। इससे प्रतीत होता है कि कवि ने ज्योतिष शास्त्र का भी अध्ययन किया था।

पात्र––नागकुमार, नागकुमार का पिता जयन्धर, उसकी माता पृथ्वीदेवी विमाता विशाल नेत्रा, सौतेला भाई श्रीधर, मुनि पिहिताश्रव और लक्ष्मीमती ही इस काव्य में मुख्य पात्र हैं।

कथा का नायक नागकुमार है। नायक बहुपत्नीक है। अनेक पत्नियां में से लक्ष्मी-मती के साथ अधिक अनुरक्त है। नागकुमार का सौतेला भाई श्रीधर प्रतिनायक है।

इन सब पात्रों में नागकुमार का चरित्र ही कवि ने भलीभाँति चित्रित किया है। अन्य पात्रों के चरित्र चित्रण की ओर कवि ने ध्यान नहीं दिया। कवि ने नागकुमार में धीरता, मातृभक्ति, शौर्य, साहस आदि गुणों की व्यंजना सुन्दरता से की है। प्रति-नायक श्रीधर के चरित्र का विकास नहीं दिखाई देता। यदि श्रीधर को सौतेले भाई में पाई जाने वाली ईर्ष्या से अभिभूत, यौवराज्य पद की प्राप्ति का अधिकारी, एक बल-वान् प्रतिपक्षी दिखाया जाता तो श्रीधर के चरित्र-विकास के साथ-साथ नागकुमार का चरित्र भी अधिक उज्ज्वल और स्वाभाविक हो जाता। मुनि पिहिताश्रव के चरित्र में भी किसी प्रकार का विकास नहीं। यदि मुनि के उपदेश के प्रभाव से नाग कुमार के चरित्र की दिशा परिवर्त्तित होती तो सम्भवतः मुनि पिहिताश्रव के चरित्र का महत्त्व होता किन्तु कवि ने नागकुमार के पूर्व जन्म की धार्मिक भावना को ही उसके उच्च जीवन का कारण बताकर मुनि के चरित्र-विकास का अवकाश ही नहीं रखा।

रस––कवि ने ग्रंथ में नागकुमार के सौन्दर्य और पराक्रम का सुन्दर दिग्दर्शन कराया है। कवि ने नागकुमार का चरित्र अंकित करते हुए उसमें जिन गुणों का महत्व दिखाया है, उन सब का कारण नागकुमार की धार्मिक भावना ही है। पूर्व जन्म में श्री पंचमी-व्रत के अनुष्ठान के कारण नागकुमार को देवत्व प्राप्ति होती है। नागकुमार को कवि ने वीर रस का आश्रय दिखाया है। यह वीर रस शृंगार से परिपुष्ट है। नागकुमार के सौन्दर्य और शौर्य को देख कर मोहित हुई हुई स्त्रियों के हृदय की उद्विग्नता का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। अनेक सुन्दरियाँ भी उसके सामने आत्म-समर्पण कर देती हैं। नागकुमार के शौर्य से उद्भूत नारी हृदय के प्रेम की व्यंजना कवि ने स्थान-स्थान पर की है। ऐसे स्थलों पर शृंगार रस वीर रस को समृद्ध करता है। काव्य में अनेक स्थलों पर नारी का मनोहर वर्णन किया गया है।

युद्ध का वर्णन ४.९ में मिलता है। युद्ध यात्रा के वर्णन (७. ५) में छंद की गति और शब्द-योजना द्वारा नाद सौंदर्य को उत्पन्न कर वीरता की व्यंजना की गई है। वर्णन में ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से सौंदर्य और भी बढ़ गया है। सेना के

संचलन से

धरणी वि संचलइ मंदरु वि टलटलइ
जलणिहि वि झलझलइ विसहरु वि चलचलइ
जिगि जिगिय खग्गाइं णिद्दलिय मग्गाइं

७.५

ग्रंथ में कवित्व के प्राचुर्य की अपेक्षा घटना का प्राचुर्य है। कवि का वर्ण्य विषय धार्मिक भावना का प्रसार है अतएव अनेक अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों का भी समावेश हो गया है। वैसे तो संपूर्ण जैन साहित्य इंद्रजाल, जादू, अलौकिक घटनाओं, चमत्कारों आदि से परिपूर्ण है।[1] यद्यपि कथाप्रवाह में शिथिलता है तथापि अनेक स्थलों पर काव्यमय सौन्दर्य के दर्शन हो जाते हैं।

जलक्रीड़ा वर्णन की परिपाटी प्राकृत कवियों में भी दिखाई देती है। राजा लोग दिग्विजय करते हुए शत्रु को पराभूत कर उसकी वापियों में शत्रु के राजा की रानियों के साथ स्नान करते थे। पुष्पदन्त का जलक्रीड़ा वर्णन भी स्वाभाविक और सजीव है। शब्दों में चित्रोत्पादन की शक्ति है।

गयणिवसण तणु जले लिहक्कावइ अद्धुमिल्लु कावि थणु दावइ।
पउमणि दल जल बिंदु वि जोयइ कावि तहिं जि हारावलि ढोयइ।
कावि तरंगहिं तिवलिउ लक्खइ सारिच्छउ तहो सुहयहो अक्खइ।
काहे वि महुयरु परिमल बहलहो कमलु मुएवि जाइ मुह कमलहो।
सुहुमु जालोल्लु दिट्ठ णउहमग्गउ काहे वि अंबरु अंगि विलग्गउ।
काहे वि उप्परियणु जले घोलइ पाणिय छल्लि व लोउ णिहालइ।[2]

३.८

अर्थात् कोई स्त्री लज्जा के कारण अपने वस्त्र रहित शरीर को जल में निलीन कर रही है। कोई अर्धोन्मीलित स्तन का प्रदर्शन कर रही है। कोई हारावली को धारण करती हुई जल बिन्दु युक्त पत्र के समान प्रतीत हो रही है। कोई तरंगों से त्रिवलियुक्त प्रतीत हो रही है। भ्रमर कमल को छोड़कर किसी के सुगन्धबहल मुख पर बैठ रहा है। किसी का शरीर लग्न जलार्द्र वस्त्र आकाश के मेघ के समान प्रतीत हो रहा है। किसी के जलगत दुपट्टे को लोक जल पर नीहार के समान देख रहा है।

भाव व्यंजना––मानव हृदय के भावों का विश्लेषण भी कवि भली भाँति कर सका है। नागकुमार के कश्मीर जाने पर उसे देख कर पुर वधुओं के मन की घबराहट का

१. देखिये इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, भाग १५, पृ० १७५ पर प्रो० कालिपाद मित्र का लेख।
२. लिहक्कावइ––निलीन करना, छिपाना। दावइ––दिखाती है। सारिच्छउ––सादृश्य। अक्खइ––कहा जाता है। सुहुमु––सूक्ष्म। जलोल्लु––जलार्द्र। उप्परियणु––उपरि आवरण। णिहालइ––निहारना, देखना।

सुन्दर वर्णन कवि ने किया है। कोई स्त्री घबराई हुई घर में आये जा माता के पैरों में पड़ती है, जल के स्थान पर घी से उसके पैर धोती है। कोई अपने बच्चे की चिन्ता में बिल्ली के बच्चे को ही लेकर चल पड़ती है। कोई पानी को मथ रही है, कोई विना सूत्र के ही माला गूंथती है। इत्यादि

कावि कंत क्षूरवह दुचित्ती कावि अणंग पलोपणे रत्ती।
पाएं पडइ मूढ जामायहो धोयइ पाय घएं घरु आयहो।
घिवइ तेल्लु पाणिउ मण्णेप्पिणु कुड्डु पेइ छुड्डु दारु भणेप्पिणु।
अइ अण्ण मण डिंभु चिंतेप्पिणु गय मज्जायर पिल्लउ लेप्पिणु।
धूवइ खीरु कावि जलु मंथइ कावि असुत्तउ मालउ गुंथइ।
ढोयइ सुहयहो सुहइं जणेरी भासइ हउं पिय दासि तुहारी।

(५.९)

प्रकृति वर्णन—प्रकृति वर्णन में कोई नवीनता नहीं दिखाई देती। निम्नलिखित उद्धरण में बाण की शैली के अनुरूप कवि ने वट वृक्ष की सत्पुरुष से समानता दिखाई है। यहाँ शब्दगत साम्य के अतिरिक्त अन्य कोई साम्य नहीं। नवीनचित्रोत्पादिनी कल्पना का अभाव है।

सप्पुरिसु व थिर मूलाहिठाणु सप्पुरिसु व अकुसुमफल णिहाणु।
सप्पुरिसु व कइ सेविज्जमाणु सप्पुरिसु व दिय वर दिण्ण दाणु॥
सप्पुरिसु व परसंतावहारि सप्पुरिसु व पत्तुद्धरण कारि।
सप्पुरिसु व तहिं वड विडवि अत्थि जहिं करइ गंड कंडुयणु हत्थि।

(८.९.१-४)

भाषा—भाषा में सौंदर्य लाने के लिए कवि ने स्थल स्थल पर उपमा, श्लेषादि अलंकारों का प्रयोग किया है। अलंकारों में कवि ने परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग न कर नवीन उपमानों का भी प्रयोग किया है जिससे कवि की निरीक्षणशक्ति और अनुभव का आभास मिलता है। राजगृह का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

तहिं पुरवरु णामें रायगिहु कणय रयण कोडिहिं घडिउ।
बलि वंड धरंतहो सुरवइहिं णं सुरणयरु गयण पडिउ॥

१.६

अर्थात् उस देश में राज गृह नाम का कोटि कनक-रत्नों से घटित सुन्दर नगर था। मानो सुरनगर सुरपति के प्रयत्नपूर्वक रोके जाने पर भी हठात् आकाश से गिर पड़ा हो। सुन्दर कल्पना है। अपभ्रंश कवियों को यह कल्पना अतीव प्रिय थी। अनेक स्थलों पर इसका प्रयोग दिखाई देता है।

कवि की अनेक उपमायें नितान्त नवीन और मौलिक हैं। कवि को यमक और श्लेष अति प्रिय थे। कुछ अलंकारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

उपमा—

तडियइं द्रूसइं बद्धु मुंडवियउ मुंडियाउ दासी जिह थवियउ ७.१.१५

नाग कुमार की छावनी में गड़े तम्बू ऐसे प्रतीत होते थे जैसे मुण्डित दासियाँ स्थित हों।

नागकुमार लक्ष्मीमती को इस प्रकार चाहता जैसे भिखारी ब्राह्मण संक्रान्ति को (९. २. ६)। नागकुमार इसी प्रकार लक्ष्मीमती-प्रिय था जिस प्रकार वैयाकरण निरुक्तिप्रिय होता है (९. २. ९)।

इसी प्रकार **यमक** (१. १०), **व्यतिरेक** (१. ४) आदि का भी कवि ने सुन्दरता से प्रयोग किया है।

शब्दों की आवृत्ति द्वारा क्रिया के पौनःपुन्य को दिखाते हुए भाषा को बलवती बनाने का प्रयत्न निम्नलिखित उद्धरण में दिखाई देता है—

ता दक्खालिउ मद्धहे णरवरु णं कामें धणु गुण संधिय सरु।
पिय विरहें मणु दुक्खइ दुक्खइ सुट्ठु मुहुल्लउ सुक्कइ सुक्कइ।
अंग अणंगें तप्पइ तप्पइ दंसणे रइजलु छिप्पइ छिप्पइ।

५.९

कवि की प्रसाद गुण युक्त रचना का उदाहरण निम्निलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है—

सोहइ जलहरु सुरधणु छायए सोहइ णरवरु सच्चए बायए।
सोहइ कइयणु कहए सुबद्धए सोहइ साहउ विज्जए सिद्धए।
सोहइ मुणि वरिंदु मणसुद्धिए सोहइ महिवइ णिम्मल बुद्धिए।
सोहइ मंति मंत विहि दिट्ठिए सोहइ किंकरु असिन्वर लट्ठिए।
सोहइ पाउसु सास समिद्धिए सोहइ विहउ सपरियण रिद्धिए।
सोहइ माणुसु गुण संपत्तिए सोहइ कज्जारंभु समत्तिए।
सोहइ महिरुहु कुसुमिय साहए सोहइ सुहडु सुपोरिस राहए।
सोहइ माहउ उरयल लच्छिए सोहइ वरु बहुयए धवलच्छिए।

९.३

सामाजिक अवस्था—नाग कुमार के अध्ययन से तत्कालीन राजाओं के जीवन और रहन-सहन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजा बहु-पत्नीक होते थे। जयन्धर ने विशाल नेत्रा के होते हुए भी पृथ्वी देवी से विवाह कर लिया था, यद्यपि उसका श्रीधर नामक पुत्र भी वर्तमान था। रानियों में ईर्ष्या स्वाभाविक होती ही थी। विवाह के समय लड़की ऊँचे घराने की ही हो ऐसा विचार राजकुमार न करते थे। अकुलीन कुल से भी लड़की को लेने में दोष न समझा जाता था। णाय कुमार का प्रथम विवाह दो नर्तकियों से हुआ और णाय कुमार के पिता ने स्वयं इसकी अनुमति दी थी और कहा था—

"अकुलीणु वि थीरयणु लइज्जइ"

३.७.८

क्षत्रियों-राजाओं में संभवतः मामा की लड़की से विवाह दोषयुक्त न माना जाता था। णाय कुमार के मामा ने अपनी लड़की का अपने भगिनी पुत्र के साथ विवाह करने का संकल्प किया था (७. ४. ५.)। इसी प्रकार प्रतीत होता है कि राजाओं में विवाह के

लिए वधू को वर के घर ले जाने की प्रथा प्रचलित थी। पृथ्वी देवी विवाह के लिए गिरि नगर से कनकपुर लाई गई थी (१. १७. १.)। इसी तरह कान्य कुब्ज के राजा विनयपाल की पुत्री राजकुमारी शीलवती को जब कि वह राजा हरिवर्म के साथ विवाह के लिए सिंहपुर ले जाई जा रही थी तो बीच में ही मथुरा के राजा ने हर लिया था (५. २. १३)।

संगीत—नृत्य, गीत और वाद्य—कला राजकुमार और राजकुमारियों की शिक्षा का आवश्यक अंग थी। राजकुमारी इन्हीं के आधार पर वर को चुना करती थी। काश्मीर की राजकुमारी ने णायकुमार से तभी विवाह किया था जब उसने आलापिनी बजाने में अपनी चतुरता का परिचय दिया था (५. ७. ११)। इसी प्रकार मेघपुर की राजकुमारी ने भी णायकुमार की मृदंग चातुरी के कारण ही उससे विवाह किया था (८. ७. ७.)। नागकुमार ने स्वयं वीणा बजाई और उस पर उसकी तीन रानियों ने जिन मंदिर में नृत्य किया (५. ११. १२)। जब जयन्धर का पृथ्वीदेवी के साथ विवाह हुआ तो पुर नारियों ने नृत्य किया (१. १८. २)।

मनोरंजन के साधन क्रीड़ोद्यान या जल क्रीड़ा थे। राजकुमार अन्तःपुरवासियों के साथ इन स्थानों पर जाकर अपना दिल बहलाते थे। कवि के समय समाज में जूआ खेलने की प्रथा थी। इस खेल के लिए द्यूतगृह (टिंटा) बने हुए थे (३. १२)। धन उपार्जन के लिए भी इसका आश्रय लिया जाता था जैसे नागकुमार ने किया था। णायकुमार के पिता का विचार था कि—

"देवासुरहं मणोरह गारउ अक्खजूउ जणमणहं पियारउ"

३.१३.९

ग्रंथ में स्वप्न ज्ञान और शकुन ज्ञान का विचार है। पृथ्वी देवी ने स्वप्न में हाथी, सिंह, समुद्र, चन्द्र, सूर्य और कमल सर देखा। मुनि पिहिताश्रव ने इसका फल पुत्रोत्पत्ति बताया। इससे प्रतीत होता है कि उस समय लोग स्वप्नज्ञान में विश्वास करते थे। लोग मंत्र, तंत्रादि में भी विश्वास करते थे। नागकुमार को इन्द्रजाल, रिपुस्तंभन, मोहन आदि विद्याएं सिखाई गई थीं (३. १ १२)।

लोग साधु संतों की भविष्यवाणी पर पूरा विश्वास किया करते थे। चमत्कार के घटित होने पर भी लोगों को विश्वास था। अलौकिक घटनाओं से सारा काव्य भरा पड़ा है।

जसहर चरिउ[1]

कवि पुष्पदन्त द्वारा चारि संधियों में रचा हुआ काव्य है। जसहर या यशोधर की कथा जैन साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसका चरित्र इसके पूर्व भी अनेक जैन कवियों ने

---

१. डा० परशुराम लक्ष्मण वैद्य द्वारा संपादित, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा, बरार से १९३१ ई० में प्रकाशित।

संस्कृत में वर्णित किया है। वादिराज कृत यशोधरा चरित्र, सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू, माणिक्य-सूरि कृत यशोधर चरित सब में यशोधर की कथा का ही वर्णन मिलता है।

कथानक—

जसहर चरिउ की कथा इस प्रकार है—

मारिदत्त नामक राजा ने भैरवानन्द नामक कापाटिकाचार्य से दिव्यशक्ति देने की प्रार्थना की। भैरवाचार्य ने एतदर्थ राजा को सब प्राणियों के जोड़ों की बलि देकर देवी चंडमारी की पूजा करने को कहा। सब प्राणियों के जोड़े मिल गये किन्तु मनुष्य का जोड़ा न मिलने पर राजकर्मचारी, सुदत्त नामक जैन-भिक्षु के अभय रुचि और अभयमति नामक क्षुल्लक श्रेणी के दो शिष्यों को पकड़ कर देवी के मंदिर में ले गये। राजा उन्हें देख बहुत प्रभावित हुआ और पूछने लगा कि इस छोटी सी अवस्था में ही कैसे तपस्वी हो गये। क्षुल्लक बालक बोला—

जन्मान्तर में उज्जयिनी में यशोर्ह नामक राजा और चन्द्रमति रानी के यशोधर नामक पुत्र था। युवावस्था में अमृतमति नामक राजकुमारी से विवाह कर, पिता के विरक्त हो जाने पर, वह राज्य करने लगा (१)।

यशोधर भोग विलासमय जीवन व्यतीत करता था। एक रात अपनी रानी के दुराचरण के दृश्य से विक्षुब्ध हो उसने राजगद्दी छोड़ विरक्त होना चाहा। उसने अपनी माता से कहा—मैंने रात को एक दुःस्वप्न देखा है या तो मुझे एकदम भिक्षु हो जाना चाहिए या मैं मर जाऊँगा। माता ने दुःस्वप्न के प्रभाव को दूर करने के लिए देवी को पशु बलि देने का प्रस्ताव किया। राजा के विरोध करने पर पशु बलि के बदले आटे के बने मुर्गे की बलि दी गई। किन्तु राजा का चित्त शान्त न हुआ, उसने वनवास का निश्चय किया। वन में जाने से पूर्व उसकी रानी अमृतमति ने धोखे से उसको और उसकी माता को विष देकर मार दिया। यशोधर के पुत्र जसवई ने शोकातुर हो अपने पिता और दादी का राजमर्यादोचित विभूति के साथ संस्कार किया ताकि भविष्य में उनका मंगल हो। किन्तु एक कृत्रिम मुर्गे की बलि के कारण आने वाले जन्म में राजा यशोधर एक मोर के रूप में और उसकी माता एक कुत्ते के रूप में उत्पन्न हुई। उसके बाद दूसरे जन्म में वे क्रमशः नकुल और सर्प के रूप में उत्पन्न हुए (२)। जन्मान्तर में वे क्रमशः मगरमच्छ और मछली, बकरा और बकरी, मुर्गा और मुर्गी रूपों में उत्पन्न हुए। अन्त में राजा द्वारा मारे जाने पर उसके पुत्र पुत्री के जोड़े के रूप में उत्पन्न हुए। जोड़े में से पुत्र का नाम अभयरुचि और पुत्री का नाम अभयमति हुआ। कालान्तर में जसवई सुदत्त नामक जैन भिक्षु से प्रभावित हो विरक्त हो गया। उसने भिक्षु से अपने पिता, माता तथा दादी के विषय में प्रश्न किया। भिक्षु ने उनके अनेक जन्मों का विवरण देते हुए बताया कि अभयरुचि और अभयमति उसके पूर्व जन्म के पिता और दादी हैं उसकी माता पांचवें नरक में है (३)।

यह सब सुनकर राजा जसवई ने भिक्षु बनना चाहा। अभयरुचि और अभयमति ने भी यही विचार प्रकट किया किन्तु अवस्था में कम होने के कारण सुदत्त ने उन्हें

क्षुल्लक ही रहने का आदेश दिया। इन शब्दों के साथ अभयरुचि ने कथा समाप्त करते हुए कहा कि हम इस प्रकार भिक्षा के लिए नगर में भ्रमण कर रहे थे जब कि राज कर्मचारियों ने हमें पकड़ कर मंदिर में ला खड़ा किया।

अन्त में राजा मारिदत्त और भैरवानन्द की पूर्व जन्म की कथा बताते हुए उन्हें भी जैन धर्म में दीक्षित किया गया। कालान्तर में अभयरुचि और अभयमति भी भिक्षु और भिक्षुणी हो पावन जीवन व्यतीत करते हुए देवत्व को प्राप्त हुए।

इस ग्रंथ में न तो काव्यत्व की प्रचुरता है और न घटना की विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। कवि ने जसहर और उसकी माता चन्द्रमति के अनेक जन्मों की कथा के वर्णन द्वारा जैन धर्म का महत्व प्रतिपादित किया है। कवि ने अपनी धार्मिक भावना को काव्यत्व से मढ़कर जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया है। धार्मिक भावना की प्रचुरता के कारण कहीं कहीं कथा में अलौकिक तत्त्वों का समावेश हो गया है। इसी कारण कथा में सरसता नहीं आ सकी।

जसहर और उसकी माता चन्द्रमति ने भिन्न-भिन्न जन्मों में भिन्न-भिन्न पशु पक्षियों की योनि में जन्म लिया। इस प्रकार प्रकृति जगत् के पशु पक्षियों के प्रति भी मानव हृदय में सहानुभूति उत्पन्न करने का प्रयत्न ग्रंथ में किया गया है। जसहर और उसकी माता का इन भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेने का कारण यह था कि जसहर की माता ने पशु की बलि देने का प्रस्ताव किया था और जसहर ने वास्तविक प्राणी के स्थान पर आटे के बने मुर्गे की बलि देने का विचार प्रकट किया। इसके फलस्वरूप दोनों को अनेक जन्मों तक पशु और पक्षी की योनि में भटकना पड़ा। एवं इस कथा द्वारा मानव हृदय में अहिंसा की भावना का प्रचार कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है।

प्रवन्ध कल्पना क्योंकि एक सीमित दृष्टिकोण से की गई है अतएव पात्रों के चरित्र का चित्रण भी भली-भाँति नहीं हो सका।

वस्तु वर्णन—यद्यपि ग्रंथ में न तो कथा का पूर्ण रूप से विकास हो सका है और न रस का पूर्ण रूप से परिपाक तथापि अनेक स्थल काव्य की दृष्टि से रोचक हैं।

योधेय देश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

जोहेयउ णामिं अत्थि देसु णं धरणिए धरियउ दिव्ववेसु।
जहिं चलइं जलाइं सविब्भमाइं णं कामिणिकुलइं सविब्भमाइं।
कुसुमिय फलियइं जहिं उववणाइं णं महि कामिणिणव जोव्वणाइं।
मंथर रोमंथण चलिय गंड जहिं सुहि णिसण्ण गोमहिसि संड।
जहिं उच्छुवणइं रस दंसिराइं णं पवण वसेण पणच्चिराइं।
जहिं कणभर पणविय पिक्क सालि जहिं दीसइ सयदलु सदलु सालि।
जहिं कणिसु कीर रिंछोलि चुणइ गह वइ सुयाहि पडिवयणु भणइ।
जहिं दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण गोवाल गेय रंजिय मणेण।[1]

१.३.१–१४

१. सुहि—सुख से। रस दंसिराइं—रस से सुन्दर। पणविय—प्रणमित, झुके

अर्थात् यौधेय नाम का देश ऐसा है मानो पृथ्वी ने दिव्य वेश धारण किया हो। जहाँ जल ऐसे गतिशील हैं मानो कामिनियाँ लीला से गति कर रही हों। जहाँ उपवन कुसुमित और फलयुक्त हैं मानो पृथ्वी वधू ने नवयौवन धारण किया हो। जहाँ गौएँ और सें सुख भैंसे बैठी हैं जिनके धीरे-धीरे रोमन्थ करने से गंडस्थल हिल रहे हैं। जहाँ ईख के खेत रस से सुन्दर हैं और मानों हवा से नाच रहे हैं। जहाँ दानों के भार से झुके हुए पक्वशाली खड़े हैं। जहाँ शतदल कमल पत्तों एवं भौरों से सहित हैं। जहाँ तोतों की पंक्ति दानों को चुग रही है। ...... जहाँ जंगल में मृगों के झुण्ड ग्वालों से गाये जाते गानों को प्रसन्न मन हो सुन रहे हैं।

इसी प्रकार पृष्ठ ४-५ पर कवि ने राजपुर का वर्णन किया है।[1] इन सब वर्णनों में कवि ने मानव जीवन को अछूता नहीं छोड़ा। कवि की दृष्टि नगरों के भोग-विलास-मय जीवन की ही ओर नहीं रही अपितु ग्रामवासियों के स्वाभाविक, सरल और मधुर जीवन की ओर भी गई है। ग्वालबालों के गीत, गौ-भैंसों का रोमन्थ, ईख के खेत, आदि दृश्य इसी बात की ओर संकेत करते हैं।

अवन्ती का वर्णन बड़ा सरस और स्वाभाविक है।

एत्थत्थि अवंतीणाम विसउ महिवहु भुंजाविय जेण विसउ।
घत्ता-णंदंतहिं गामहिं बिडलारामहिं सरवर कमलहिं लच्छिसहिं।
गलकल केक्कारहिं हंसहिं मोरहिं मंडिय जेत्थु सुहाइ महिं॥
जहिं चुमुचुमंति केयार कीर वर कलम सालि सुरहिय समीर।

हुए। पिक्क--पक्व। सालि--अलि सहित, भ्रमर युक्त। रिंछोलि--पंक्ति। मय उल--मृग कुल।

१. घत्ता-रायउरु मणोहरु रयणंचिय घरु तहिं पुरवरु पवणुद्धयहिं।
चलचिंधहिं मिलियहिं णहयलि पुलियहिं छिवइ व सग्गु सयंभुअहिं॥
जं छण्णउं सरसहिं उववणेहिं णं विद्धउं वम्मह मग्गणेहिं।
कयसद्दहिं कण्णसुहावएहिं कणइ व सुरहर पारावएहिं।
गय वर दाणोल्लिय वाहियालि जहिं सोहइ चिरु पवसिय पियालि।
सरहंसइं जहिं णेउर रवेण मउ चिक्कमंति जुवई पहेण।
जं णिव भुया सि वर णिम्मलेण अण्णु वि दुग्गउ परिहा जलेण।
पडिखलिय वइरि तोमर झसेण पंडुर पायारि णं जसेण।
णं वेढिउ वहुसोभग्ग भारु णं पुंजीकय संसार सारु।
जहिं विलुलिय मरगय तोरणाइं चउदारइं णं पउरसणणाइं।
जहिं धवल मंगलुच्छवसराइं वुति पंचसत्त भोमइं घराइं।
णव कुंकुम रस छडयारुणाइं विक्खित्त दित्त मोत्तिय कणाइं।
गुरु देव पाय पंकय वसाइं जहिं सव्वइं दिव्वइं माणुसाइं।
सिरिमंतइं संतइं सुत्थियाइं जहिं कहिं पि ण दीसहिं दुत्थियाइं।

जहिं गोउलाइं पउ विक्किरंति पुंडुच्छु दंड खंडइं चरंति।
जहिं वसह मुक्क ढेक्कारधीर जोहा विलिहिय णंदिणि सरीर।
जहिं मंथर गमणइं माहिसाइं दहरमणुड्डाविय सारसाइं।
काहलियवंस रव रत्तियाउ वहुअउ घरकम्मि गुत्तियाउ।
संकेय कुडुंगण पत्तियाउ जहिं झीणउ विरहिं तत्तियाउ।
जहिं हालिण्रूव णिवद्ध चक्खु सीमावड्ड ण मुअइ को वि जक्खु।
जिम्मइ जहिं एवहि पवासिएहिं दहि कूरु खीरु घिउ देसिएहिं।
पव पालियाइ जहिं बालियाइ पाणिउ भिंगार पणालियाइ।
दिंतिए मोहिउ णिरु पहियविंदु चंगउ दक्खालिवि वयण चंदु।
जहिं चउ पयाइं तोसिय मणाइं धण्णइं चरंति ण हु पुणु तिणाइं।
उज्जेणि णाम तहिं णयरि अत्थि जहिं पाणि पसारइ मत्त हत्थि।[1]

जं० च० पृष्ठ १६--१७

शुकों का क्षेत्रों में चुगना, गौओं का इक्षु खंड खाते हुए विचरण करना, वृषभ का गर्जन और जीभ से गौ को चाटना, भैंसों का मंथरगति से चलना, प्रपापालिका बालिकाओं का पानी पिलाते-पिलाते अपना सुन्दर मुखचन्द्र दिखा कर पथिकों को लुभा लेना सब स्वाभाविक वर्णन है।

कवि ने राजाओं का और उनके वैभव पूर्ण प्रासादों का वर्णन भी उसी ठाठ-बाठ से किया है जैसा इसके अन्य ग्रंथों में मिलता है।

इसी प्रकार (१.५ में) राजा मारिदत्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है--

चाएण कण्गु विहवेण इंदु, रूवेण कामु कंतीए चंदु।
दंडें जमु दिण्ण पचंड घाउ, पर [illegible] दुम दलण बलेण वाउ।
सुरकरि कर थोर पयंड बाहु, पच्चंत णिवइ मणि दिण्ण दाहु।
भसल उल णील धम्मिल्ल सोहु, [illegible] सुसमत्थ भडह गोहाण गोहु।
गोउर कवाड अइ विउल वच्छु, सत्तित्तय पालणु दीहरच्छु।
लक्खण लक्खंकिउ गुणसमुद्दु, सुपसण्ण मुत्ति घणगहिर सद्दु।[2]

१.५

अर्थात् वह त्याग से कर्ण, वैभव से इन्द्र, रूप से काम, सौन्दर्य से चन्द्रमा, दंड देने

---

१. लच्छि सहि--लक्ष्मी सखी। केयार--केदार। गोउलाइं--गोकुलानि, गौएँ। पउ--पय। वसह--वृषभ। दह--ह्रद। काहलिय वंस--ग्वाले से बजाई जाती बांसरी। गुत्तियाउ--आसक्त। कुडुंगण--कुड्यांगण, लतागृह। जिम्मइ--जीमना। कूरु--ओदन। पव पालियाइ--प्रपा पालिका। पहिय विंदुं--पथिक वृन्द।

२. चाएण--त्याग से। पयंड--प्रचंड। णिवइ--नृपति। भसल उल--भ्रमर कुल। गोहाण--योद्धा। गोहु--पुरुष। दीहरच्छु--दीर्घाक्ष।

से यम, शत्रु रूपी वृक्षों को उखाड़ने से वायु रूप था। ऐरावत की सूंड के समान प्रचंड भुजाएँ थीं इत्यादि।

वर्णन प्राचीन संस्कृत परिपाटी के अनुकूल है कोई विशेषता नहीं। इसी प्रकार उज्जयिनी के राजा यशोधर का वर्णन (१.२३ में) कवि ने उल्लेखालंकार का आश्रय लेकर किया है।

राजा के क्रीड़ोद्यान का वर्णन कवि ने निम्न शब्दों में किया है—

जत्थ चूय कुसुम मंजरिया, सुय चंचूं चुंबण जज्जरिया।
हा सा मुहरत्तेण व रवद्धा, कहिं मि विडेण व वेसा लुद्धा।
छप्पय छित्ता कोमल ललिया, वियसइ मालइ मउलिय कलिया।
दंसण फंसणहिं रसयारी, मउउ को अ ण वहूमण हारी।
वायंदोयण लोलासारो, तरु साहाए हल्लइ मोरो।
सोहइ घोलरि पिंछ सहासो, णं वण लच्छी चमर विलासो।
जत्थ सरे पोसिय कारंडं, सरसं णव भिस किसलय खंडं।
दिण्णं हंसेणं हंसीए, चंचू चंचूं चुंबंतीए।
फुल्लामोय वसेणं भग्गो, केयइ कामिणियाए लग्गो।
खर कंटय णह णिब्भिण्णंगो, ण चलइ जत्थ खणं पि भुयंगो।
जत्था सण्ण वयम्मि णिसण्णो, णारी वीणा रव हिय कण्णो।
ण चरइ हरिणो दूवां खंडं, ण गणइ पारद्धिय करकंडं।
जत्थ गंध विसएणं खविओ, जक्खी तणु परिमल वेहविओ।
हत्थी परिअंचइ णग्गोहं, फंसइ हत्थेणं पारोहं।
संकेयत्थो जत्थ सुहद्दं, सोऊणं मंजीरय सद्दं।
अहमं तीए तीए सामी, एवं भणिउं णच्चइ कामी।[1]
१.१२.१-१६

यद्यपि 'फुल्लामोद वसेणं' 'हत्थेणं' आदि में ण के स्थान पर छन्द पूर्ति के लिए णं का प्रयोग भाषा की दृष्टि से कुछ खटकता है तथापि क्रीडोद्यान के वैभवपूर्ण और स्वाभाविक वर्णन में कोई कमी नहीं।

उस युग में राजाओं का जीवन विलासमय होता था। इतना ही नहीं कि उनके सिंहासन कनकमय रत्न निर्मित (कणयमय रयन विट्ठरि णिसण्णु २.१३.१) होते थे अपितु प्रतिहार भी (कणयमय दंड मंडिय कर २.१३.७) कनकमय दंड-मंडित-कर होते थे।

रस—रस की दृष्टि से न तो इस ग्रंथ में वीर रस की प्रधानता है और न शृंगार

---

१. मुहरत्तेण—शुक या विट। रसयारी—रसकारी। भग्गो—वशीकृत। पारद्धिय—व्याध। खविओ—क्षपित, पीड़ित। वेहविओ—विह्वल। परिअंचइ—घूमता है। पारोहं—प्ररोह। संकेयत्थो—संकेतस्थ। सुहद्दं—सुभद्र।

की। क्षण भंगुरता और संसार की असारता के द्वारा कवि ने निर्वेद भाव की तीव्र व्यंजना अवश्य की है।

इसके अतिरिक्त कापालिक कुलाचार्य का वर्णन (१.६–७), चंडमारी–काली का (१.९), श्मशान का (१.१३) विवाह का (१.२६–२७), कानन का (२.२७) और मुनि का (३.१७), वर्णन भी कवि ने सुन्दरता से किया है।

प्रकृति वर्णन—सूर्योदय का वर्णन कवि ने निम्न शब्दों में किया है—

इय महु चिंततहो अरुणयरु, णव पल्लव णं कंकेल्लितरु।
उग्गमिउ दुयणि जणु रंजियउ, सिंदूर पुंजु णं पुंजियउ।
अरुणायवत्तु णं णह सिरिहि, णं चूडारयणु उदयगिरिहि।
लोहिय लुद्धें जगु फाडियउ, णं कालि चक्कु भमाडियउ।
कुंकुम पिंडु व दिसिकामिणिहिं, रत्तुप्पलु संझा पोमिणिहिं।[1]

२.१२.३-७

"लोहिय लुद्धें जगु फाडियउ" में यद्यपि कुछ जुगुप्सा का भाव है किन्तु वर्णन में नवीनता है।

सन्ध्या वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

अत्थासिउ रत्तउ मित्तु जहिं, दिसिणारि वि रज्जइ बप्प तहिं।
रण वीरु वि सरु वि किं तवइ, बहु पहरिहिं णिहणु जि संभवइ।
रवि उग्गु अहोगइणं गयउ, णं रत्तउ कंदउ णिक्खियउ।
तहिं संझा वेल्लि व णीसरिय जग मंडवि सा णिरु वित्थरिय।
तारावलि कुसुमहिं परियरिय संपुण्ण चंद फल भरणविय।
णं रत्तगोवि छाइय हरिणा सा खद्धी बहल तिमिर करिणा।
णं चक्कु तमोह विहंडणउ णं सुरकरि सिय मुह मंडणउं।
णं कित्तिए दाविउ णिययमुहु णं अमय भवणु जण दिण्ण सुहु।
णं जसु पुंजिउ परमेसरहो णं पंडुर छत्तु सुरेसरहो।
णं रयणीवहुहिं णिलाड तिलउ उग्गउ ससि णं सइरणि विलउ।
घत्ता—णहयल खले उडुकणवले वारह रासिउ पेच्छइ।
ससि लग्गउ अच्छइ भउतेण ण अत्थें गच्छइ॥
ससि घड गलिएं जोण्हाखीरिं भुवणं ण्हायं पिव गंभीरिं।
दीसइ धवलं रुप्पय रइयं णं तुसारहारावलि छइयं।[2]

ज० च० पृष्ठ २५.

---

१. कंकेल्लितरु—अशोक वृक्ष। अरुणायवत्तु—अरुणातपत्र।
२. सूर—शूर या सूर्य। पहरिहिं—पहर या प्रहार। अहोगइणं—अधोगगन। हरिणा—कृष्ण, सिंह। खद्धी—खाई। दाविउ—दिखाया। सइरिणि विलउ—स्वैरिणी विलय।

सूर्य के निस्तेज होने का श्लेष द्वारा कारण प्रतिपादन, सन्ध्या के विलुप्त होने की कल्पना और चन्द्र का वर्णन परंपराभुक्त नहीं कवि की नवोन्मेषिणी प्रतिभा के द्योतक हैं। सन्ध्या का लता रूप में जग-मंडप पर छा जाना, तारों के रूप में पुष्प और चन्द्र रूप में फल का प्रतिपादन, सुन्दर कल्पना है।

इसी प्रकार कवि ने (३.१ में) शिप्रा नदी का सुन्दर वर्णन किया है।[1] शब्द योजना और छन्द प्रयोग से मन्द-मन्द गति से कल-कल ध्वनि करती हुई नदी की कल्पना हो जाती है।

प्रकृति का वर्णन शुद्ध आलम्बन रूप में कवि ने किया है। १.१२ में किया हुआ उद्यान वर्णन और ३.१ में किया नदी वर्णन संश्लिष्ट वर्णन के सुन्दर उदाहरण हैं। मानव की पृष्ठ भूमि के रूप में प्रकृति का अंकन नहीं मिलता।

भाषा—भावोद्रेक की दृष्टि से भावतीव्रता ग्रंथ में मन्द है किन्तु भाषा वेगवती है। कवि जो कुछ कहना चाहता है तदनुकूल शब्द योजना कर सका है।

नकुल साँप को डसता है पीछे से तरक्षु आकर उसका सफाया करता है। इसी का वर्णन कवि ने निम्न शब्दों में किया है—

सो हउं भक्खमि सो मइं डसइ, महु पलु तरच्छु पच्छइ गसइ।
तोडइ तडत्ति तणु बंधणइं, मोडइ कडत्ति हड्डइं घणइं।
फाडइ चडत्ति चम्मइं चलइं, घुट्टइ घडत्ति सोणिय जलइं।
हउं एम तरच्छि खयहो णिउ, मइं मायाविसहरु कवलु किउ।

---

१. **दुवइ—तडतरु पडिय कुसुम पुंजुज्जल पवणवसा चलंतिया।**
दीसइ पंचवण्ण णं साडी महिमहिलहि घुलंतिया॥
जल कीलतं तरुणिघण थण जुय वियलिय घुसिण पिंजरा।
वायाहय विसाल कल्लोल गलच्छिय मत्तकुंजरा।
कच्छव मच्छ पुच्छ संघट्ट विहट्टिय सिप्पि संपुडा।
कूल पडंत धवल मुत्ताहल जल लव सित्त फणिफडा॥
ण्हंत णरिंद णारि तणु भूसण किरणारुणिय पाणिया।
सारस चास भास कारंड विहंडिर हंसमाणिया॥
परिघोलिर तरंग रंगंतर मंत तरंत णरवरा।
पविमल कमल परिमला सायण रुंजिय भमिर महुयरा॥
मंठुवयंठ एसतवसंठिय तावस वास मणहरा।
सीयल जल समीरणासासिय णियर कुरंग वणयरा॥
जुज्झिर मयर करि करुण्फालण तसिय तडत्थ वाणरा।
पडिय फुलिंग वारि पुण्णाणण चायय णियर दिहियरा॥
खय चिक्खिल्ल खोल्ल खणि खोलिर लोलिर कोल संकुला।
असइसत्थ णिच्च संसेविय बहल तमाल महुयला॥ (३.१.२-१८)

को लंघइ महियलि कम्मवसु, अण्णोण्णाहार मरंति पसु।
बहु थावर जंगम जीवउलु, णर तिरिय गिलंति णिच्चु सयलु।

(२.३७.२-७)

उपयुक्त शब्द योजना द्वारा कवि ने नकुल के मरण का सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है। अनुप्रासमयी भाषा से उसका वेग नष्ट नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न क्रियाओं के अनुकूल शब्दों का प्रयोग कवि ने सफलता से किया है। शरीर की ग्रंथियों का तड़ से टूटना, हड्डियों का कड़-कड़ कर मुड़ना, चमड़े का चर्र से अलग हो जाना, खून का घट-घट पी जाना, कितने उपयुक्त शब्द हैं।

भाषा को बलवती बनाने के लिए कवि कभी-कभी द्विरुक्त शब्दों का प्रयोग करता है। मानव शरीर का सुन्दर चित्र निम्न शब्दों में अंकित किया गया है--

माणुससरीरु दुहपोट्टलउ, धोयउ धोयउ अइ विट्ठलउ।
वासिउ वासिउ ण उ सुरहि मलु, पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु।
तोसिउ तोसिउ णउ अप्पणउ, मोसिउ मोसिउ धर भायणउ।
भूसिउ भूसिउ ण सुहावणउ, मंडिउ मंडिउ भीसावणउं।
वोल्लिउ वोल्लिउ दुक्खावणउं, चच्चिउ चच्चिउ चिलिसावणउं।
मंतिउ मंतिउ मरणहो तसइ, दिक्खिउ दिक्खिउ साहुहुं भसइ।
सिक्खिउ सिक्खिउ वि ण गुणि रमइ, दुक्खिउ दुक्खिउ वि ण उवसमइ।
वारिउ वारिउ वि पाउ करइ, पेरिउ पेरिउ वि ण धम्मि चरइ।
चम्में बद्धु वि कालि सडइ, रक्खिउ रक्खिउ जममुहि पडइ।[1]

(२. ११. १-१२)

भाषा मुहावरेदार है। छोटे-छोटे प्रभावोत्पादक वाक्यों का भी स्थल-स्थल पर प्रयोग मिलता है--

विसभोयणेण किं णर जियंति गोसिंगइं किं दुद्धइं सवंति।
पण्णाइं सिलायलि किं हवंति णीरस भोज्जिं कहिं कायकंति।
उवसम विहोणि कहिं होइ खंति परु मारंतहं कहि होइ संति।

(१. ११. १-३)

मुच्छं गइ दिज्जइ सलिलु पवणु उवसंतहो किज्जइ धम्म सवणु।
किं सुक्कें रुक्खें सिंचिएण अविणीयं किं संबोहिएण।

(१. २०. १-२)

सरल और प्रभावमयी भाषा का रूप निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है--

---

१. विट्ठलउ--अपवित्र। सुहावणउ--सुख प्रापक, सुखदायक। वोल्लिउ--गीला किया हुआ, आर्द्रीकृत। चिलिसावणउं--घृणित। तसइ--डरता है। सडइ--सड़ जाता है, नष्ट हो जाता है।

ता णरवइणो हरिसं जणियं उत्तम सावयवइणा भणियं।
अंधे णट्ठं बहिरे गीयं ऊसर छेत्ते ववियं बीयं।
संढे लग्गं तरुणि कडक्खं लवण विहीणं विविहं भक्खं।
अण्णाणे तिव्वं तवचरणं बल सामत्थ विहीणे सरणं।
असमाहिल्ले सल्लेहणयं णिद्धणमणुए णवजोव्वणयं।
णिब्भोइल्ले संचियदविणं णिण्णेहे वर माणिणि रमणं।
अवि य अपत्ते दिण्णं दाणं मोहरयंधे धम्मक्खाणं।
पिसुणे भसणे गुण पडिवण्णं रण्णे रुण्णं विघलइ सुण्णं।
घत्ता--जो जिण पडिकूलहो मत्थइ सूलहो गुरु परमागमु भासइ।
सो वयणइं सुद्धइं णं घय दुद्धइं सप्पहो ढोइवि णासइ ॥[1]

(१. १९. १-१०)

थोड़े से वाक्यों में भाव को गंभीरता से अभिव्यक्त करने का ढंग ग्रंथ में स्थान स्थान पर दिखाई देता है। कुमार्गगामिनी स्त्री का मन कुमार्ग से मोड़ना कितना दुष्कर है, कवि कहता है—

घत्ता—करि बज्झइ हरि रुज्झइ संगरि पर बलु जिप्पइ।
कुकलत्तहि अण्णासत्तहि चित्तु ण केण वि घिप्पइ॥

(२. १२. २१-२२)

अर्थात् हाथी बाँधा जा सकता है, सिंह रोका जा सकता है, युद्ध में शत्रु सेना जीती जा सकती है किन्तु अन्यासक्त दुश्चरित्रा स्त्री का मन नहीं काबू किया जा सकता।

कवि शब्दों द्वारा घटना चित्र उपस्थित करने में भी नहीं चूकता। शोकातिरेक का एक चित्र देखिये—

णिसुणिवि दुह भरियइं महु भवचरियइं जसवइ णिवहियउं चलिउ।
सोयरसु पवाइउ अंगि ण माइउ णयणंसुय धारहिं गलिउ॥

(४. १. १-२)

भाषा में अनुप्रास, यमक, श्लेष, रूपक उत्प्रेक्षादि अलंकारों का भी कवि ने प्रयोग किया है। रूपकानुप्राणित उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण देखिये—

घत्ता-विज्जुलियए कंचुलियए भूसियदेहए सुरधणु।
घणमालए णं बालए किउ विचित्तु उप्परियणु॥

(२. ३२. १०.)

विद्युत् रूपी कंचुकी से भूषित देहवाली घनमाला रूपी बाला ने मानो सुरधनु रूपी उपरितन वस्त्र धारण किया हो।

भाषा की दृष्टि से अनेक शब्द रूप ऐसे हैं जो हिन्दी के शब्दों से मिलते जुलते

---

१. णट्टं--नाट्य। सल्लेहणयं--तप विशेष। णिब्भोइल्ले--भोग रहित। भसणे --मनसा दुष्ट इति टिप्पणम्।

से हैं।१

कवि ने शरीर की क्षणभंगुरता, असारता का दिग्दर्शन करते हुए पापाचरण से रहित अहिंसामय विचार से पूर्ण हो धर्माचरण का आदेश दिया है।

कवि हिंसकों के प्रति व्यंग्य से कहता है--

घत्ता–पसु णासइ जहिं हिंसइ परमधम्मु उप्पज्जइ।
ता बहुगुणि मोल्लिवि मुणि पारद्धिउ पणविज्जइ॥

(२. १७. १०-११)

यदि पशु नाश और हिंसा से ही परम धर्म प्राप्त हो सकता हो तो बहुगुणी मुनि को छोड़ कर एक शिकारी की ही पूजा करो।

मांसाहारियों के विषय में कवि कहता है--

दुवई–मीणु गिलंतु ण्हंतु जइ सुज्झइ ता कंको महा मुणी।
दिज्जइ चरंतु णइतीरि किं किज्जइ परो मुणी॥

(३. २०. १-२)

अर्थात् यदि मछली निगलने और स्नान करने से ही शुद्धि प्राप्त की जा सकती है तो कंक से बढ़कर और कौन मुनि होगा ? नदी तीर पर विचरण करने वाले कंक की ही वन्दना करो किसी दूसरे मुनि से क्या काम ?

शरीर की नश्वरता का प्रतिपादन कितनी सुन्दरता से कवि ने किया है--

दुवई–तणु लायण्णु वण्णु णव जोवण्णु रूव विलास संपया।
सुरधणु मेह जाल जल बुब्बुय सारिसा कस्स सासया॥
सिसुतणु णासइ णवजोव्वणेण जोव्वणु णासइ वुड्ढत्तणेण।
बड्ढत्तणु पाणि चलियएण पाणु वि खंधोहिं गलियएण।

(४. १०. १-४)

जंबुसामि चरिउ

यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भंडार में वर्तमान है।

---

१. छिवइ--स्पृश्, छूना (१. ३. १७), टोप्पी--टोपी (१. ६. ४), बइसाविवि--बिठा कर (१. ६. २४), तुरंतु–तुरंत (१. ६. २४), अवसिं होसइ --अवश्य होगा (१. ७. १५), जिम्मइ--जीमना, खाना (१. २१. ८), चंगउ--पंजाबी चंगा, सुन्दर (१. २१. १०), सेहरु--सेहरा (१, २६. १४), धणु लट्ठि--धनुर्यष्ठि (२. ९. ४), सडइ--नष्ट होना–पंजाबी (२. ११. १२), रसोइ (२. २३. ११) लड्डुय--लड्डू (२. २४. ६), पच्छइ--पीछे (२. २६. २), साडी--साड़ी (३. १. ४), सिप्पि--सीप (३. १. ७), फट्टाइं णिवसणाइं--फटे वस्त्र, फुट्टाइं भायणइं--फूटे बर्तन (३. २७. १०)

(प्र० सं० पृ० १००)। वीर कवि ने इस ग्रंथ में अन्तिम केवली जम्बू स्वामी के जीवन चरित्र का ११ संधियों में वर्णन किया है। ग्रंथ रचना में कवि को एक वर्ष लगा। इस बीच कवि का समय अनेक राजकार्य, धर्मार्थ काम गोष्ठियों में विभक्त होता था। कवि के पिता का नाम देवदत्त और माता का नाम संतुआ था। कवि ने अपने तीन छोटे भाइयों, अनेक स्त्रियों और एक पुत्र का निर्देश किया है। कवि ने इस ग्रंथ की रचना माघ शुक्ल-पक्ष दशमी वि० सं० १०७६ में की थी।[1] कवि ने अपने से पूर्व के अनेक कवियों का उल्लेख किया है।[2]

कवि का पिता देवदत्त भी कवि था और ग्रंथ में उसके द्वारा पद्धड़िया बंध में रचित वरांग चरित्र का निर्देश किया गया है।[3] कुछ सन्धियों के आरम्भ में कवि ने देवदत्त की प्रशंसा भी की है। जैसे—

संते सयंभुए एवे एक्को कइत्ति विन्नि पुणु भणिया।
जायम्मि पुप्फयंते तिण्णि तहा देवयत्तंमि॥५.१

अर्थात् स्वयंभू के उत्पन्न होने पर संसार में एक ही कवि कहा जाता था।

---

१. वरिसाण सय चउक्के सत्तरि जुत्ते जिणेंद वीरस्स।
णिव्वाणा उववण्णो विक्कम कालस्स उप्पत्ती॥१
विक्कम णिव कालाउ छाहत्तर दस सएसु वरिसाणं।
माहम्मि सुद्ध पक्खे दसम्मी दिवसम्मि संतम्मि।२
बहुराय कज्ज धम्मत्थ कामग्गोट्ठी विहत्त समयस्स।
वीरस्स चरिय करणे इक्को संवत्सरो लग्गो॥५
जस्स कय देवयत्तो जणणो सच्चरिय लद्ध माहप्पो।
सुह सील सुद्ध वंसो जणणी सिरी संतुआ आभणिया॥६
जस्स य पसण्ण वयणा लहुणो सुमइ स सहोयरा तिण्णि।
सीहल्ल लखणंका जसइ णामेत्ति विखाया॥७
जाया जस्स मणिट्ठा जिणवइ पोमावइ पुणो वीया।
लीलावइ ति तईया पछिम भज्जा जयादेवी॥८
ज० सा० च० अन्तिम प्रशस्ति

२. देखिये प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ में पृ० ४३९ पर पं० परमानन्द जैन का लेख।

३. इह अत्थि परमजिण पय सरणु, गुडखेड विणिग्गउ सुह चरणु।
सिरि लग्गु वग्गु तहिं विमल जसु, कइ देवयत्तु निवुट्टकसु।
वहु भावहिं जें वरंग चरित्त, पद्धडिया बंधें उद्धरित्तं।
कवि गुण रस रंजिय विउससह, वित्थारिय सुद्दय वीर कह।
चच्चरि बंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारु जसु।
नच्चिज्जइ जिण पय सेवयहिं, किउ रासउ अंवादेवयहिं।
१.४

पुष्पदन्त की उत्पत्ति पर दो कहे जाने जगे और देवदत्त के उत्पन्न होने पर तीन कवि हो गये।

प्रथम संधि की समाप्ति पर कवि ने संस्कृत श्लोकों में अपनी स्तुति की है। इसी प्रकार अन्य सन्धियों के प्रारम्भ में कवि ने बड़े अभिमान के साथ आत्मश्लाघा प्रदर्शित की है।[1]

कथानक—ग्रंथ का कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—

मंगलाचरण के अनन्तर कवि सज्जन-दुर्जन-स्मरण करता है। अपने से पूर्व काल के कवियों का स्मरण करता हुआ अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करता है।[2] पुनः मगध देश और राजगृह का सुन्दर काव्य शैली में वर्णन किया गया है। मगध के राजा श्रेणिक और उसकी रानियों का वर्णन है। नगर के समीप उपवन में इन्द्र द्वारा रचे भगवान् वर्द्धमान के समवसरण में पहुँच कर मगधराज जिन भगवान की स्तुति करते हैं (१)।

श्रेणिक राज के प्रश्नों का जिनवर उत्तर देते हैं तभी आकाश मार्ग से एक तेजपुंज विद्युन्माली आता है। राजा उससे प्रभावित हो उसके पूर्वजन्म के विषय में पूछते हैं। जिनदेव उसके पूर्वजन्म की कथा सुनाते हैं।

मगध मंडल में वर्द्धमान नामक ग्राम में एक गुणवान् ब्राह्मण और ब्राह्मणी युगल

---

१. जयति मुनि वृंद वंदित पद युगल विराजमान सत्पद्मः।
विवुध संघानुसासन विद्याना माश्रयो वीरः ॥१
न वह्वपि तथा नीरं सरो नद्यादि संस्थितं।
करकस्थं यथा स्तोक मिष्टं स्वादुश्च ? पीयते ॥३
प्रथम संधि की समाप्ति
वाल क्कीलासु वि वीर वयण पसरंत कव्व पीउसं।
कण्ण पुडएहिं पिज्जइ, जहेहिं रस मुउलिय छेहिं ॥१
भरहालंकार रस लक्खणाइं लक्खे पयाइं विरयंती।
वीरस्स वयणरंगे सरस्सई जयउ नच्चंती ॥२
२.१
अगुणा न मुणंति गुणं गुणीणो न संहति परगुणे दट्ठुं।
वल्लह गुणा वि गुणीणो विरला कई वीर सारिछा ॥४.१
कइ वीर सरिस पुरिसं धरणी धरंती कयत्थासि ॥६.१
विर कव्व तुला तुलियं, वुद्धी कसवट्टए कसेउणं।
रस दित्तं पयछित्तं गिन्हह कव्वं सुव्वण्णं मे ॥९.१
२. मुहियएन कव्वु सक्कमि करेमि, इछमि भुएहिं सायरु तरेवि।
घत्ता—अह महकइ रइउ पवंधु मइं, कवणु चोज्ज जं किज्जइ।
विद्धइ हीरेण महारयणे, सुत्तेण वि पइसिज्जइ ॥
१.३

रहता था। उनके भवदत्त और भवदेव नामक दो पुत्र थे। जब वे क्रमशः १८ और १२ वर्ष के थे उनके पिता का देहान्त हो गया और उनकी माता भी सती हो गई। भवदत्त संसार से विरक्त हो दिगंबर साधु हो गया। १२ वर्ष तपस्या करने के बाद एक दिन संघ के साथ वह अपने गाँव के पास गया। भवदेव को भी संघ में ही दीक्षित करने के लिए वह वर्धमान ग्राम में गया। भवदेव अपने विवाह की तैयारियों में लगा हुआ था। भाई के आगमन का समाचार सुन वह प्रेम से मिला और उसके आग्रह को न टाल सका। वह भी संघ में दीक्षित हो १२ वर्ष तक इधर उधर घूमता रहा। एक दिन ग्राम के पास से गुजारा। वह घर जाकर विषय भोग में निरत होना चाहता था। भवदत्त ने फिर रोका। दोनों भाई तप करते हुए मरणानन्तर स्वर्ग में जाते हैं (२)।

स्वर्ग से च्युत होने पर भवदत्त का जन्म पुंडरीकिनी नगरी में वज्रदन्त राजा की रानी यशोधना के पुत्र के रूप में और भवदेव का वीतशोका नगरी के राजा महापद्म की रानी वनमाला के पुत्र के रूप में हुआ। भवदत्त का नाम सागरचन्द और भवदेव का शिवकुमार रखा गया। सागरचन्द पूर्वजन्म स्मरण से विरक्त हो तपश्चर्या में लीन हो गया। शिवकुमार १०५ राजकन्याओं से परिणय कर भोग विलास का जीवन बिताने लगा। एक बार सागरचन्द वीतशोका नगरी में गया। वहाँ उसे मुनि रूप में देख शिवकुमार को पूर्वजन्म का स्मरण हो आया और वैराग्य भाव जागृत हो गये और उसने घरबार छोड़ना चाहा। पिता के समझाने पर उसने घर तो नहीं छोड़ा किन्तु घर में रहते हुए ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। तरुणी जनों के पास रहते हुए भी वह विरक्त सा रहता था। मरणानन्तर वह विद्युन्माली देव हुआ। सागरचन्द भी सुरलोक में इन्द्र के समान देव हुआ। वर्धमान जिन ने श्रेणिक राजा को वताया कि यही विद्युन्माली वहाँ आया था और ७ वें दिन वह मनुष्य रूप में पश्चिम केवली अवतीर्ण होगा। इसके बाद श्रेणिक राज ने विद्युच्चर के विषय में पूछा कि इतना तेजस्वी होने पर भी वह चोर क्यों वना? जिन वर ने बनाया कि किस प्रकार से वह विद्याबल से चोरी करता था (३)।

वीर कवि की प्रशंसा से चौथी संधि प्रारम्भ होती है। सइत्तउ नगरी में संताप्पिउ वणिक के पुत्र अरहदास की स्त्री ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न में जम्बूफल आदि वस्तुएँ देखीं। समयानुकूल पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम स्वप्नानुसार जंबू स्वामी रखा गया। जंबू स्वामी अत्यधिक सुन्दर थे। नगर वधुएँ उन्हें देखकर उन पर आसक्त हो जाती थीं। इसी प्रसंग में कवि वसन्तोत्सव, जलक्रीड़ा (४·१९) आदि का वर्णन करता है। इसके अनन्तर जंबू के मत्तगज को परास्त करने का वर्णन किया गया है (४)।

पांचवीं से सातवीं संधियों तक जंबू के अनेक वीर कार्यों का वर्णन है। महर्षि सुधर्मा स्वामी अपने पांच शिष्यों के साथ उपवन में आते हैं। जंबू स्वामी उनके दर्शन कर नमस्कार करते हैं (५–७)।

जंबू स्वामी मुनि से अपने पूर्व जन्मों का वृत्तान्त सुनकर विरक्त हो घर छोड़ना

चाहते हैं। माता समझाती है। उसी समय सागर दत्त श्रेष्ठी का भेजा मनुष्य आकर जम्बू का विवाह निश्चित करता है। श्रेष्ठी की कमल-श्री, कनक-श्री, विनय-श्री और रूप-श्री नामक चार कन्याओं से जम्बू का विवाह होता है। वह उनके साथ संभोग में लीन हो जाता है (८)।

जंबू के हृदय में फिर वैराग्य जग पड़ता है। उसकी पत्नियाँ वैराग्य विरोधी कथाएँ कहती हैं। जंबू महिलाओं की निन्दा करता हुआ वैराग्य प्रतिपादक कथानक कहता है। इस प्रकार आधी रात हो गई जंबू का मन सांसारिक विषयों से विरत रहा। इतने में ही विद्युच्चर चोर चोरी करता हुआ वहाँ आया।

जंबू की माता भी जागती थी उसने कहा चोर जो चाहता है ले ले। चोर को जंबू की माता से जंबू के वैराग्य भाव की सूचना मिली। विद्युच्चर ने प्रतिज्ञा की कि या तो जंबू को रागी बना दूंगा अन्यथा स्वयं भी वैरागी हो जाऊँगा।

घत्ता—वहु वयण कमल रस लंपडु, भमरु कुमारु न जइ करमि।
आएण समाणु विहाणए, तो तव चरणु हउं वि सरमि॥

९.१६

जंबू की माता उस चोर को उसी समय अपना छोटा भाई कह कर जंबू के पास ले जाती है ताकि विद्युच्चर अपने कार्य में सफल हो (९)।

१०वीं संधि में जंबू और विद्युच्चर एक दूसरे को प्रभावित करने के लिए अनेक व्याख्यान सुनाते हैं। जंबू वैराग्य प्रधान एवं विषय भोग की निस्सारता, प्रतिपादक आख्यान कहते हैं और विद्युच्चर इसके विपरीत वैराग्य की निस्सारता दिखलाने वाले विषय भोग प्रतिपादक आख्यान। जंबू स्वामी की अंत में विजय होती है। जंबू सुधर्मा स्वामी से दीक्षा लेते हैं और उनकी सभी पत्नियाँ भी आर्यिका हो जाती हैं। जंबू स्वामी केवल ज्ञान प्राप्त कर अन्त में निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।

विद्युच्चर दशविध धर्म का पालन करते हुए तपस्या द्वारा सर्वार्थ सिद्धि प्राप्त करते हैं। जंबू चरिउ के पढ़ने से मंगल लाभ का संकेत करते हुए कृति समाप्त होती है (११)।

ग्रंथ में जंबू स्वामी के पूर्वजन्मों का वर्णन है। वह पूर्व जन्मों में शिवकुमार और भवदेव थे। उनका बड़ा भाई सागरचन्द्र और भवदत्त था। भवदेव के जीवन में स्वाभाविकता है। भवदत्त की कथा स्वयं अनावश्यक थी। भवदत्त को कवि ने प्रतिनायक के रूप में भी अंकित नहीं किया। फिर भी उसके कारण भवदेव के जीवन में उतार चढ़ाव और अन्तर्द्वन्द्व का चित्र अंकित किया जा सका है। इसी प्रकार जंबू स्वामी की अनेक पत्नियों के पूर्व जन्म प्रसंग भी कथा प्रवाह में कोई योग नहीं देते और वे भी अनावश्यक ही हैं।

जंबू स्वामी के चरित्र को कवि जिस दिशा की ओर मोड़ना चाहता है उसी ओर वह मुड़ता गया है, जिस लक्ष्य पर उसे पहुँचाना चाहता है उसी पर वह अन्त में पहुँच जाता है। किन्तु फिर भी उसके जीवन में अस्वाभाविकता नहीं। उसके जीवन में कभी विषय वासनाओं की ओर प्रवृत्ति और कभी उनका त्याग कर विरक्ति दिखाई देती है। अतएव उसका चरित्र स्वाभाविक हो गया है। जंबू स्वामी के चरित्र के अतिरिक्त किसी अन्य

पात्र के चरित्र का विकास कवि को इष्ट नहीं।

वर्ण्य विषय—

अन्य अपभ्रंश काव्यों के समान इसमें भी ग्राम, नगर, अरण्य, सूर्योदय, सूर्यास्त, युद्ध, स्त्री सौंदर्य आदि के सुन्दर वर्णन मिलते हैं। अनेक स्थल कवित्व के सुन्दर उदाहरण हैं। कवि ने वर्णनों में प्राचीन संस्कृत कवियों की परम्परा का भी अनुकरण किया है। बाण के ढंग पर श्लेष द्वारा प्राकृतिक वर्णनों का उदाहरण निम्नलिखित विन्ध्याटवी वर्णन में देखा जा सकता है।

भारह रणभूमि व सरह भीस, हरि अज्जुण नउल सिहंडि दीस।
गुरु आसत्थाम कलिंग चार, गय गज्जिर ससर महीस सार।
लंकानयरी व सरावणीय, चंदणहिं चार कलहा वणीय।
सपलास सकंचण अक्ख घट्ट, सविहीसण कइ कुल फल रसट्ट।
कंचाइणी व्व ठिय कसण काय, सद्दल विहारिणी मुक्क नाय।

५.८

अर्थात् विन्ध्याटवी महाभारत रणभूमि के समान थी। रणभूमि—रथसहित (सरह) और भीषण थी और उस में हरि, अर्जुन, नकुल और शिखंडी दिखाई देते थे; विन्ध्यावटी—अष्टापदों (सरह) से भीषण थी और उसमें सिंह (हरि), अर्जुन वृक्ष, नेवले और मयूर दिखाई देते थे। रणभूमि—गुरुद्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, श्रेष्ठ कलिंगाधिपति और उत्कृष्ट राजाओं से युक्त थी, बाणों से आच्छन्न और गजों से गजित थी; विन्ध्याटवी—बड़े बड़े अश्वत्थ, आम्र, कलिंगतुल्य चार वृक्षों से युक्त थी, गज गर्जित सरोवरों और महिषों से पूर्ण थी। वह विन्ध्यावटी लंका नगरी के समान थी। लंका नगरी—रावण सहित एवं चन्द्रनखा की चेष्टा विशेष से कलह कारिणी थी, राक्षसों से, कांचन से और रावणपुत्र अक्षय कुमार से युक्त थी, विभीषण युक्त और रसिक कवियों से परिपूर्ण थी; विन्ध्याटवी—रयण वृक्षों, चन्दन वृक्षों, और मनोज्ञ लघुहस्तियों से युक्त थी, पलाश, मदन एवं वहेड़े के वृक्षों से पूर्ण थी और भीषण कपि कुलों से मुक्त तथा फलों से रसाढ्य थी। विन्ध्याटवी—कृष्णकाया, सिंहवाहिनी, मुक्त नादा कात्यायनी-चामुंडा के समान, कृष्ण काकों से युक्त, सिंहों से व्याप्त और जीवों के नाद से परिपूरित थी।

इस प्रकार की श्लिष्ट शैली से भाषा कुछ क्लिष्ट और अस्वाभाविक हो गई है। ऐसे वर्णनों में कवि अलंकारों के बन्धन में बंधकर चमत्कार तो पैदा कर पाता है किन्तु रसोत्पत्ति करने में असमर्थ होता है। जिस हृदयगत भाव को अभिव्यक्त करना चाहता है उसको भली-भांति अभिव्यक्त न कर शब्द जाल में उलझ जाता है। इसी प्रकार से कवि ने निम्नलिखित वेश्या-वर्णन भी प्रस्तुत किया है—

वेसउ जत्थ विहसिय रूवउ, नरु मण्णंति विरूउ विरूवउ।
खण दिट्ठो वि पुरिसु पिउ, सिद्धउ पणयारूढु न जन्म वि दिट्ठउ।
णउलव्भवउ ताउ किर गणियउ, तो वि भुयंग दंत नहि वणियउ।
वम्महं दीवियाउ अविभयत्तउ, तो वि सिणेह संग परिचत्तउ।

लग्गिर सायणि सत्थ सरिच्छउ, कामुअ रत्ता करिसण दच्छउ।
मेरु महीहर महि पडिविंवउ, सेविय वहु किं पुरिस निग्रंवउ।
नरवइ णीइ समाण विहोयउ, दूरुज्झिय अणत्थ संजोयउ।
अहरे राउ पमाणु वि जहुं वट्टइ, पुरिस विसेस संगि न पयट्टइ।
९. १२

अर्थात् जहां विभूषित रूपवती वेश्या रूप्यक रहित (विरूवउ) मनुष्य को विरूप मानती है। क्षण भर देखा हुआ पुरुष (यदि धनी है तो) प्रिय सिद्ध होता है और निर्धन प्रणयी ऐसा माना जाता है जैसा जन्म से भी कभी नहीं देखा। नकुलोद्भव भी वह गणिका भुजंग के दंत और नखों से व्रणित होती है--अर्थात् वह वेश्या कुलहीन होती है और भुजंगों—विटों—के दंत और नखों से विद्ध होती है। काम की दीपिका भी स्नेह—तेल—संग रहित होती है अर्थात् काम को उद्दीप्त करने वाली होती है और स्नेह से शून्य होती है। डाकिनी के समान रक्ताकर्षण में अर्थात् अनुरक्त कामुकों के आकर्षण में दक्ष होती है। मेरु पर्वत की भूमि के समान होती है जिसका नितंब—मध्य भाग—किंपुरुषादि देव योनियों से या कुत्सित पुरुषों से सेवित होता है। वह नरपति की नीति के समान अनर्थ संयोग को दूर से छोड़ देती है। जिसके अधर में राग (अनुराग) होने पर पुरुष विशेष के संग में प्रवृत्त नहीं होती।

जहाँ कवि इस प्रकार की भाषा का प्रयोग नहीं करता वहां उसकी भावाभिव्यक्ति सुन्दरता से हुई है। निम्नलिखित गाथा और दोहे में नारी का सौंदर्य अधिक निरख सका है—

गाथा—एयाण वयण तुल्लो होमि न होमित्ति पुण्णिमादियहो।
पिय मंडलाहिलासी चरइ व चंदायणं चंदो॥ २
४.१४

चलण छवि साम फलाहिलासी कमलेंहि सूरकर सहणं।
विज्जइ तवं व सलिले निययं घित्तूण गल पमाणम्मि॥ ३

अर्थात् इन सुन्दरियों के मुख के समान होऊँगा या नहीं यहीं विचारता हुआ प्रियमंडल का अभिलाषी पूर्णिमा का चन्द्र मानो चान्द्रायण व्रत करता है। उनके चरणों की शोभा की समता के अभिलाषी इन कमलों से, अपने को गले तक पानी में डाल कर और ऊपर सूर्य की किरणों को सहते हुए मानो नित्य तप किया जाता है।

दोहा—जाणमि एक्कु जे विहि घडइ सयतु वि जगू सामण्णु।
जि पुणु आयउ णिम्मविउ को वि पयावइ श्रण्णु॥

अथात् ऐसा प्रतीत होता है कि व्रह्मा ने सामान्य संसार की रचना की। इन सुन्दरियों की रचना कोई अन्य ही प्रजापति करता है।

रस—ग्रंथ समाप्ति की पुष्पिका में कवि कहता है—

"इय जंबू सामिचारिए सिंगार वीरे महा कव्वे महाकइ देवयत्तसुय वीर विरइय

बारह अणुपेहाउ भावणाए विज्जुच्चरस्स सव्वह सिद्धि गमणं नाम एयारसमो संधी परिछेउ सम्मतो।"

कवि ने अपने ग्रंथ को शृङ्गार वीर महाकाव्य कहा है। काव्य में शृङ्गार रस का आभास तो अनेक स्थलों पर मिलता है किन्तु युद्ध वर्णन में वीर रस का परिपाक नहीं हो पाया। सभी काव्यों में विवाह से पूर्व वीरता प्रदर्शन के अवसर मिलते हैं इसमें भी वैसा ही हुआ। जंबू के माता पिता उसे सांसारिक भोग में लिप्त कराना चाहते थे। एतदर्थ अनेक सुन्दरियों का चित्र कवि ने उपस्थित किया है। ४. १४ में केरलि, कोंतलि, सज्झाइरि (सहयाचल वासिनी), मरहट्ठि, मालविणि आदि अनेक प्रकार की स्त्रियों के स्वभाव का भी निर्देश किया है। कवि के इस वर्णन में रीति कालीन नायिका भेद की प्रवृत्ति का अस्फुट सा आभास परिलक्षित होता है (जं. च. ४.११–१४)। इसी प्रसंग में शृङ्गार के उद्दीपन के लिए कवि ने अनेक प्राकृतिक दृश्य भी उपस्थित किये हैं (जं. च. ४. १६.; ४. २०) किन्तु काव्य में प्रधानता अन्य काव्यों के समान निर्वेद भाव की ही है। काव्य का आरम्भ और समाप्ति धार्मिक वातावरण में ही होती है।

काव्य में शृङ्गार के वर्णनों की बहुलता है। कवि इनके द्वारा सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्त करता है। शृङ्गार मूलक वीर रस के वर्णनों में वीर रस के प्रसंग भी मिलते हैं। ऐसे प्रसंग प्राय: सभी अपभ्रंश काव्यों में मिलते हैं। किन्तु इन दोनों रसों का पर्यवसान शान्त रस में होने से इन रसों की प्रधानता नहीं फिर काव्य को शृङ्गार वीर काव्य कहना कहाँ तक संगत है? काव्य में सांसारिक विषयों को त्याग कर वैराग्य भाव जागृत करने में ही उत्साह भाव दिखाई देता है। शृङ्गारिक भावनाओं को दबा कर उन पर विजय पाने में ही वीरता दिखाई देती है और इसी दृष्टि से इसे शृङ्गार वीर काव्य कहा जा सकता है। अत: डा० रामसिंह तोमर के विचार में कृति को शृङ्गार वैराग्य कृति कहना अधिक संगत होगा।[1]

पांचवीं संधि के अन्तर्गत युद्ध के प्रसंग में बीभत्स और अद्‌भुत रस भी पाये जाते हैं जो वीर रस के सहायक हैं।

प्रकृति वर्णन—कृति की तीसरी और चौथी संधि में उद्यान और वसन्तादि के वर्णनों द्वारा कवि ने प्राकृतिक चित्र उपस्थित किये हैं। ये वर्णन शृङ्गार की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, अतएव उद्दीपन रूप में ही अंकित समझने चाहियें। ये वर्णन रति भाव के अनुकूल कोमल और मधुर पदावली से युक्त हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वसन्त वर्णन में शब्द योजना भी वसन्त के समान सरस और मधुर है—

दिणि दिणि रयणीमाणु जहं खिज्जइ, दूर पियाण णीद्द तिह खिज्जइ।
दिवि दिवि दिवस पहरु जिह वड्ढइ, कामुयाण तिह रइ रसु वड्ढइ।
दिवि दिवि जिह चूयउ मउ रिज्जइ, माणिणि माणहो तिह मउ खिज्जइ।

---

१. अनेकान्त वर्ष ९, किरण १० में श्री रामसिंह तोमर का लेख, अपभ्रंश का एक शृंगार वीरकाव्य।

कल कोइल कलयलु जिहं सुण्णइ, तिह पंथिय करंति घरे सुम्मइ।

... ...

पाडलियहि जिह भमरु पहावइ, पिय संगरि तिह होइ पहावइ।

... ...

मालइ कुसमु भमरु जिह वज्जइ, घरे घरे गहेरु तूरु तहिं वज्जइ।
वियसिय कुसमु जाउ अइ मत्तउ, घुम्मइ कामिणि यणु अइमत्तउ।
दरिसिउ कुसम णियरु वेयल्लें, पहिए घरु गम्मइं वे इल्लें।
नील पलास रत्त हुय किंसुय, भंन चित्तु जणु जाणइ किं सुय।

... ...

मंद मंद मलयानल वायइ, महुर सद्दु जणु वल्लइ वायइ।

३. १२

अर्थात् दिन प्रति दिन जैसे रात्री का परिमाण घटता जाता है इसी प्रकार प्रोषितपतिका की निद्रा भी क्षीण होती जाती है। जिस प्रकार दिन दिन दिवस का प्रहर बढ़ता जाता है इसी प्रकार कामिजनों का रतिरस भी। प्रति दिन जिस प्रकार आम्र मंजरियों का मधु प्रस्त्रवित होता है इसी प्रकार मानिनी के मान का मद भी विगलित होता जाता है। ज्यों ज्यों कोकिला की मधुर काकली सुनाई देती जाती है त्यों त्यों पथिक घर लौटने का विचार करते जाते हैं। ··· जिस प्रकार भ्रमर पाटल पुष्प पर दौड़ता है उसी प्रकार प्रभावती-सुन्दरी-नायिका प्रिय संगम के लिए उत्सुक होती है। भ्रमर मालती कुसुम के पास नहीं जाता। घर घर में बाजे बज रहे हैं। अतिमुक्तक लता के फूल विकसित हो रहे हैं। कामिनियाँ अतिमत्त हो घूम रही हैं। जब लताओं पर पुष्प समूह दिखलाई देने लगे, पथिक भी तब घर लौटने लगे। पलाश वृक्षों पर लाल लाल फूल खिल गये, शुक को चित्त में भ्रान्ति होने लगी। ...मंद मंद मलय पवन बहने लगा, मानो मधुर शब्द से वीणा बज रही हो।

इसी प्रकार जब राजा उद्यान क्रीड़ार्थ गमन करता है उस समय का निम्नलिखित वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर है। इस में पदयोजना भावानुकूल ही हुई है। उद्यान में भ्रमरों का गुंजन, राजा का मंद मंद भ्रमण पुष्प-मकरंद से सरस एवं पराग रज से रंजित, शान्त और मधुर वातावरण, शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त हो उठता है। देखिये—

मंद मंदार मयरंद नन्दनं वणं, कुंद करवंद वयकुंद चंदन घणं।
तरल दल ताल चल चवलि कयलीसुहं, दक्ख पउमक्ख रुद्दक्ख खोणी रुहं।
विल्ल वेइल्ल विरिहिल्ल सल्लइवरं, अंब जंवीर जंबू कयंबू वरं।
करुण कणवीर करमरं करीरायणं, नाग नारंग नागोह नीलंवरं।
कुसुम रय पयर पिंजरिय धरणीयलं, तिक्ख नहु चंचु कणयल्ल खंडियफलं।
भमिय भमर उल संछइय पंकयसरं, मत्त कलयंठि कलयट्ठ मेल्लिय सरं।
रुक्ख रुक्खंमि कप्पयरु सिय भासिरि, रइ वराणत्त अवयण्ण माहवसिरि।

४. १६

भाषा—ऊपर निर्देश किया जा चुका है कवि ने भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है। भाषा में वेग और प्रवाह दृष्टि-गोचर होता है। देखिये—

वस्तु—

> **को दिवायर गमणु पडिखलइ । जम महिस सिंगु कवणइ ।**
> **कवणु गरुड मुह कुहरे पयसइ । को कूरग्गहु निग्गहइ ।**
> **को जलंते सव्वासे पइसइ ।**
> **को वा सेस महाफणेहिं, फण मणि मंड हरेइ ।**
> **को कप्पंतु द्ठंतु जलु, जलणिहि भुएहिं तरेइ ॥**

५.४

भाषा में कवि ने अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग भी किया है। निम्नलिखित उद्धरण में युद्ध के समय बजते हुए नाना वाद्यों को ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है

> **पहय पडुपडह पडिरडिय दडि डंवरं,**
> **करड तड तडण तडि वडण फुरियंवरं।**
> **घुम्मु धुम्मुक धुमु धुमिय मद्दल वरं।**
> **साल कंसाल सल सलिय सललिय सरं।**
> **डक्क डम डंक डम डमिय डमरुब्भरं।**
> **घंट जय घंड टंकार रहसिय भडं**
> **टक्क चां चां हु डुक्कावली नाइयं**
> **रुंज गुंजंत संदिण्ण समघाइयं**
> **घग ग द्रुग ग ग द्रुग घग द्रुग्रे सज्जियं**
> **किरि रि किरि तट्टकिरिकिरिरि किरि वज्जियं।**
> **त खे खे खि त खे तखित खेत्ता सुरं।**
> **तं खुदे तं खुदे खुंदि खुदि भासुरं।**
> **घिरिरि कट तट्ट कट्ट घरि नाडियं।**
> **करिरि कर खुदं किरिरि तड ताडियं।**

५. ६

अलंकार—कृति में कवि ने अलंकारों का प्रयोग भी किया है। ये अलंकार उपमा और उत्प्रेक्षा के प्रसंगों में बाण की शैली पर चमत्कार उत्पन्न करते हुए भी दिखाई देते हैं (उदाहरण के लिए ऊपर विन्ध्याटवी वर्णन ५·८, और वेश्या वर्णन ९·११)। इसके अतिरिक्त इनका वर्णन भावाभिव्यक्ति के लिए स्वाभाविक रूप से भी कवि ने किया है। सादृश्य मूलक अलंकारों में कवि का ध्यान वस्तुस्वरूप बोध की ओर अधिक रहा। उदाहरणार्थ—

> **परिपक्कउ णहरुक्खहो णिवडिउ फलुव दिवायर मंडलु विहडिउ।**

८. १३

अर्थात् सूर्य मंडल अकाश वृक्ष के परिपक्व फल के समान गिर पड़ा।

भमिए तमंधयार वर यच्छिए दिण्णउ दीवउ णं णह लच्छिए।

८. १४

चन्द्रोदय पर कवि कल्पना करता है कि चन्द्र मानों घनान्धकार में नभश्री के लिए दीपक के समान था।

इसी प्रकार ऊपर दिये हुए वसन्त वर्णन में यमक के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

वियसिय कुसमु जाउ अइमत्तउ , घुम्मइ कामिणीयणु अइमत्तउ।
मंदमंद मलयानलु वाइय, महुर सद्दु जणु वल्लइ वायइ।

३. १२

भ्रान्ति का उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में मिलता है—

जाल गवक्खय पसरिय लालउ गोरस भंतिए लिहए विडालउ।

८. १२

गवाक्ष जाल से आती हुई ज्योत्स्ना को विडाल दुग्ध समझ कर चाट रहा था।

गेण्हइ समरि पडिउ वेरी हलु मण्णेविणु करि सिर मुत्तहलु।

८. १४

शबरी आगे पड़े बेर को सिर का मोती समझ कर उठा रही है।

सुभाषित—कृति में सुभाषित और लोकोक्तियों का प्रयोग भी कवि ने किया है।

कच्चें पल्लट्टइ को रयणु, पित्तलइ हेम विक्कइ कवणु।

२. १८

काँच से रत्न को कौन बदलेगा ? पीतल से सोने को कौन बेचेगा ?

छन्द—कृति में पज्झट्टिका, घत्ता, दुवई, दोहा, गाथा, वस्तु, खंडयं आदि मात्रिक छन्दों का और स्रग्विणी, शिखरिणी, भुजंग प्रयात आदि वर्ण वृत्तों का प्रयोग हुआ है। गाथाओं की भाषा निःसन्देह प्राकृत से प्रभावित है।

सुदंसण चरिउ—सुदर्शन चरित्र

यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में वर्त्तमान हैं (प्रं० सं० पृष्ठ १८७-१९०)। एक हस्तलिखित प्रति प्रो० हीरालाल जैन के पास उपलब्ध है। बारह संधियों में रचित इस काव्य का कर्ता नयनंदी है। सन्धियों में कड़वकों की कोई निश्चित संख्या नहीं। ५वीं, १०वीं और १२वीं सन्धियों में दस-दस कड़वक हैं और ८वीं सन्धि में चवालीस। प्रत्येक सन्धि के अन्तिम घत्ता में कवि का नाम निर्दिष्ट है। नयनंदी अपभ्रंश के एक उत्कृष्ट कवि और प्रकाण्ड पण्डित थे। इस ग्रंथ के अतिरिक्त कवि ने 'सकल विधि निधान काव्य' की भी रचना की। कवि माणिक्य नंदी का शिष्य था। कवि ने 'सुदंसण चरिउ' की रचना वि० सं० ११००

में की। उस समय अवन्ती देश की धारा नगरी में भोजदेव शासन करते थे।[1] प्रत्येक संधि की पुष्पिका में कवि ने अपने गुरु का नाम लिया है।[2]

ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित शब्दों से होता है—

नमो वीत रागाय।
ॐ नमः सिद्धेभ्यः। ॐ नमो अरहंताणं। णमो सिद्धाणं।
णमो आइरियाणं। णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्व साहूणं।
इह पंच णमोकारइं लहेवि गोविउ हुवउ सुदंसणु।
गउ मोक्खहो अक्खमि तहो चरिउ वर चउवग्ग पयासणु। १. १.

अर्थात् अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु जनों के नमस्कार—पंच नमस्कार—के फलस्वरूप एक गोप सुदर्शन नाम से जन्म लेकर किस प्रकार मोक्ष को प्राप्त हुआ उसी के चतुर्वर्ग-प्रकाशक चरित्र को कहता हूँ।

इसके पश्चात् मंगलाचरण किया गया है। तदनन्तर एक दिन कवि मन में सोचता है कि सुकवित्व, त्याग और पौरुष से संसार में यश फैलता है। सुकवित्व में मैं अकुशल हूँ, त्याग में क्या करूँ? धन हीन हूँ और सुभटत्व भी तपस्वी को निषिद्ध है। ऐसा होते हुए भी मैं यश का लोभी हूँ। अस्तु, मैं निज शक्ति के अनुसार ऐसा काव्य रचता हूँ जो पद्धडिया-बंध में अपूर्व हो। मेरा काव्य जिन-स्तवन कारण से सुकवित्व युक्त हो प्रकाशित होगा। क्या नलिनी पत्र-संयुक्त जलबिन्दु मोती के समान सुन्दर और पवित्र ही नहीं शोभित होते?[3]

---

१. आराम गाम पुरवर णिवेसे, सुपसिद्ध अवंती णाम देसे।
. . . . . तहिं अत्थि धार णयरी गरिट्ठ।
तिहुयण नारायण सिरि णिकेउ, तहिं णरवर पुंगमु भोयदेउ।
......
णिव विक्कम कालहो ववगएसु एयारह संवच्छर सएसु।
तहिं केवलि चरिउ अमच्छरेण, णयणंदें विरइउ वित्थरेण।
१२. १०

२. इत्थ सुदंसण चरिए पंचणमोक्कार फल पयासयरे माणिक्कणंदि तइविज्ज सीस णयणंदिणा रइए.... इत्यादि।

३. घत्ता—
अह एक्कहिं दिणे वियसिय वयणु, मणे णयणाणंदि वियप्पइ।
सुकवित्तें चाएं पोरिसेण जसु, भुवणम्मि विढप्पइ॥ १.१
सुकवित्तं ता हउ अप्पवीणु, चाउ वि करेमि किं दविण हीणु।
सुहडत्तु तवहु दूरें णिसिद्ध, एवंविहों वि हउं जस विलुद्धु।
णिय सत्तिए तं विरएमि कव्वु, पद्धडिया बंधे जं अउव्वु।
छुड्डु करिइ जिणसंभरण चित्ते, ता सयं जि पयट्टइ मइ कवित्ते।
जल बिंदुड णलिणी पत्त जुत्तु, कि हइ ण मुत्ताहलु पवित्तु। १.२

कथानक—संक्षेप में कथा इस प्रकार है—

भरत क्षेत्रान्तर्गत मगध देश के राजगृह नामक नगर में श्रेणिक राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम चेल्लना महादेवी था। एक बार वर्धमान के राजगृह में पधारने पर राजा और सब नगरवासी उनके दर्शनार्थ गए। दूसरी सन्धि से राजा की प्रार्थना पर गौतम गणधर कथा आरम्भ करते हैं।

भरत क्षेत्रान्तर्गत अंग देश का कवि ने श्लिष्ट और अलंकृत भाषा में वर्णन किया है। उसी देश की चंपापुरी में धाड़ीवाहन नामक राजा राज्य करता था। उनकी रानी का नाम अभया था। चंपापुरी में ऋषभदास नामक धनी मानी श्रेष्ठी भी रहता था। इसकी पत्नी का नाम अरुहदासी था। एक गोपाल इस श्रेष्ठी का परिचित मित्र था। वह दौर्भाग्य से गंगा में डूब गया। इसी घटना के साथ दूसरी सन्धि समाप्त होती है।

अरुहदासी ने स्वप्न देखा कि उसके घर उसी सुभग गोपाल ने जन्म लिया। मरते समय पंचनमस्कार करने के परिणामस्वरूप ही उस गोपाल ने जन्मान्तर में ऋषभ दास श्रेष्ठी के घर पुत्र रूप में जन्म लिया। पुत्र का नाम सुदर्शन रखा गया। सुदर्शन की बाल क्रीड़ाओं का कवि ने विस्तृत वर्णन किया है। वह धीरे-धीरे बड़ा हुआ और उसने समग्र कलायें सीखीं। क्रमशः उसने युवावस्था में पदार्पण किया। वह अत्यन्त रूपवान् और आकर्षक युवक था। उसके सौंदर्य को देख कर पुर सुन्दरियों का चित्त विक्षुब्ध हो उठता था। उनके चित्त-विक्षोभ का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है—

"आहरण कावि विवरीय लेइ, दप्पण णिय बिंबए तिलउ देइ"

अर्थात् कोई स्त्री उलटा अभूषण पहिरने लगी, कोई दर्पणस्थित अपने प्रतिबिम्ब पर तिलक लगाने लगी। इत्यादि।

चौथी संधि में कवि ने सागर दत्त श्रेष्ठी की पुत्री मनोरमा के सौंदर्य का वर्णन किया है। मनोरमा के सौंदर्य को देखकर सुदर्शन उस पर मुग्ध हो गया। इसी अवसर पर कवि ने अनेक प्रकार की स्त्रियों के लक्षण, गुण, स्वभावादि का परिचय दिया है। सुदर्शन मनोरमा को देख विरह व्याकुल हो उठा।

मनोरमा के विरह वर्णन के साथ पांचवीं संधि प्रारम्भ होती है। अन्ततोगत्वा सुदर्शन का मनोरमा के साथ विवाह हो गया। विवाह में भोजन-दावत का वर्णन करना भी कवि न भूला। इसी प्रसंग में सूर्यास्त, सुरतक्रीडा और प्रभात के सुन्दर वर्णन कवि ने प्रस्तुत किये हैं। अधो लिखित गाथा से छठी संधि का आरम्भ होता है—

सरसं विंजण सहियं मोययसारं पमाण सिद्धं खु।
भोज्जं कव्व विसेसं विरलं सहि एरिसं लोए॥

६. १

समाधिगुप्त मुनि द्वारा उपदेश दिये जाने पर ऋषभदास के स्वर्ग-गमन के साथ संधि समाप्त होती है।

सुदर्शन के अनुपम सौंदर्य से आकृष्ट हो धाडी वाहन राजा की रानी अभया और कपिला नामक एक अन्य स्त्री उस पर आसक्त हो गईं। वसन्त और जलक्रीड़ा के मनो-

हारी वर्णन इस संधि में उपलब्ध होते हैं। निम्नलिखित गाथा से आठवीं संधि प्रारम्भ होती है—

कोमल पयं उदारं छंदाणुवरं गहीर मत्थड्ढं।
हिय इछिय सोहग्गं कस्स कलत्तं व इह कव्वं॥

८.१

अभया ने पंडिता नामक अपनी सेविका धाय से अपनी मनोव्यथा प्रकट की और सुदर्शन को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। चतुरा दासी पंडिता सुदर्शन को रानी के पास ले तो आई किन्तु रानी उसको अपने आधीन न कर सकी। अभया कहने लगी—

भो सुहय इय जम्मे। णयवत्ते जिणधम्मे।
करिऊण आयासु। पाविहसि सुरवासु।
किं तेण सोक्खेण। जं होइ दुक्खेण।
लइ ताम पच्चक्खु। तुहुं माणि रइ सोक्खु।
मा होइ अवियारु। संसारे तं सारु।
भुंजियइं तं मिट्ठु। माणियइं स मणिट्ठु।
पर जम्मु किं दिट्ठु।

घत्ता—हे सुंदर अम्हइं दुहुवि, जइ णेहें कालु गमिज्जइ।
तो सग्गेण मणाहरेणा लद्धेण वि भणु किं किज्जइ॥

८. १५

अभया ने अनेक दृष्टान्त दिये—व्याख्यान दिये किन्तु सुदर्शन को विचलित न कर सकी। अंत में निराश होकर अभया अपने ही नाखूनों से अपने शरीर को रुधिर रंजित कर चिल्लाने लगी—लोगो दौड़ो, मेरी रक्षा करो।

घत्ता—

महु लडहं गइं वणिवरेण, एयइं गंजियइं पलोयहो।
जामण मारइ ता मिलेवि, अहो धावहो धावहो लोयहो।

८.३४

राजकर्मचारियों ने आकर सुदर्शन को पकड़ लिया। एक अति मानव—देव—(विंतर) ने आकर उसकी रक्षा की। नवीं संधि में धाड़ीवाहन और उस अतिमानव के युद्ध का वर्णन किया गया हैं। धाडीवाहन ने परास्त हो कर आत्मसमर्पण कर दिया और सुदर्शन की शरण में चला गया। यथार्थ घटना के ज्ञात होने पर राजा धाडीवाहन ने सुदर्शन को आधा राज्य देकर विरक्त होना चाहा किन्तु सुदर्शन स्वयं विरक्त हो तपस्वी का जीवन विताने लगा। रानी अभया और उसकी परिचारिका पंडिता दोनों ने आत्मघात कर लिया। सुदर्शन मरणोपरान्त स्वर्ग में गया। दसवीं और ग्यारहवीं संधियों में अनेक पूर्व जन्म के वृत्तान्तों का वर्णन किया गया है। पंच नमस्कार फल का माहात्म्य प्रतिपादन करते हुए कवि ने ग्रंथ की समाप्ति की है।

कथानक में कुछ घटनाओं का अनावश्यक विस्तार किया गया है। धाड़ीवाहन

और अतिमानव (विंतर) का यह युद्धप्रसंग कथा प्रवाह में किसी प्रकार का योग नहीं देता। रानी अभया और कपिला का सुदर्शन के प्रति प्रेम-प्रसंग तो सुदर्शन के चरित्र की दृढ़ता प्रदर्शन करने के लिए आवश्यक समझा जा सकता है किन्तु चौथी सन्धि में अनेक वर्गों और अनेक प्रान्तों की स्त्रियों का वर्णन, उनका स्वभाव प्रदर्शन और उनका वर्गीकरण कथाप्रवाह में किसी प्रकार का योग नहीं देता। धार्मिक प्रवृत्ति के कारण कवि ने बीच बीच में उपदेश भी दे डाले। प्रबंधात्मकता की दृष्टि से इनकी आवश्यकता न थी।

नायक—इस काव्य का नायक संस्कृत काव्यों की परंपरा के विपरीत एक वणिक् पुत्र है। संस्कृत काव्यों के अन्य तत्व जहाँ अपभ्रंश काव्यों में शिथिल हुए वहाँ नायक संबन्धी तत्व भी शिथिल हो गये। क्षत्रियकुलोत्पन्न धीरोदात्त गुण विशिष्ट राजा नायक नहीं अपितु एक सामान्य मध्यमश्रेणी का पुरुष नायक है। इस दृष्टि से साधारण श्रेणी का होते हुए भी नायक अनेक गुणों से युक्त है। वह अत्यन्त सुन्दर, दृढ़व्रती और आचारनिष्ठ मानव है। मानव स्वभाव सुलभ प्रेम के वशीभूत हो वह सागरदत्त की पुत्री मनोरमा की ओर आकृष्ट हो जाता है।

वर्ण्य-विषय—कवि ने महाकाव्यों की परंपरा के अनुकूल मानव का, नारी का, भौगोलिक प्रदेशों का, प्राकृतिक दृश्यों आदि का अलंकृत भाषा में वर्णन किया है। कवि ने स्वयं इस बात की घोषणा की है कि सुकवि के सालंकार काव्य में अपूर्व रस होता है।[1]

नयनंदी अपभ्रंश के प्रकांड पंडित थे। इन के पाण्डित्य का उदाहरण काव्य की प्रत्येक सन्धि के प्रत्येक कडवक के पद-पद में दिखाई देता है। बाण और सुबन्धु ने जिस क्लिष्ट और अलंकृत-पदावली का गद्य में प्रयोग किया नयनंदी ने उसी का पद्य में सफलतापूर्वक निर्वाह किया। उदाहरण के लिये निम्नलिखित धाड़ीवाहन राजा का अलंकृत वर्णन देखिये—

जो अहिणव मेहु विणउ जडमउ, जो सोमु वि अदोसु उज्झियमउ।
सूरु वि णउ कुवलय संतावणु, वज्जिय रयणियरु वि णउ विहीसणु।
विवुहवइ वि जो सुर ण णिहालउ, अजुणगुणु वि ण गुरु पडिकूलउ।
णर जेट्ठु वि इछिय धयरट्ठउ, बाहुवलि वि जो भरह गरिट्ठउ।
जो रामु वि हलहरु विण भणियउ, परवंसग्गि वि णउ अविणीयउ।
जो सामि वि णउ ईसर संगउ, सारंगु वि पुंडरिय समग्गउ।

---

१. **णो संजादं तरुणि अहरे विद्दुमारत्त सोहे।**
णो साहारे भमिय भमरे णेव पुंडुच्छु दंडे।
णो पीऊसे हले सहिण तं चंदणे णेव चंदे।
सालंकारे सुकइ भणिदे जं रसं होदि कव्वे॥ ३·१

णाय वियारणो वि ण मयाहिउ, सायरो वि णउ सझस खोहिउ।
चउरासु वि जो अक्ख रहिय करु, जो विवक्ख वहणु वि णउ सिरिहरु।
णीसु वि कमलछि आलिंगणु, सुगुणु धणु वि ण परम्मुह मग्गणु। २.४

अर्थात् जो अभिनव मेघ होते हुए भी जलमय न था अर्थात् जो अभिनव-मेधा युक्त था और जड़ न था। जो चन्द्र होता हुआ भी दोषा-रात्रि-रहित था एवं मृग अथवा अमृत रहित था अर्थात् यह सोम वंशी था, दोषरहित एवं मद रहित था। जो सूर्य होते हुए भी कुवलयों-कुमुदों को संतापित करने वाला न था अर्थात् जो शूर और कुवलय-पृथ्वी मंडल को पीड़ित करने वाला न था। जिसने रजनीचरों (रमणियरु) को छोड़ा था किन्तु विभीषण न था अर्थात् जिसने रज समूह का परित्याग किया था और जो भयंकर न था। जो विवुधों—देवताओं-का पति (विवुहवइ) होते हुए भी सूरों को न देखता था अर्थात् जो विद्वानों का स्वामी—रक्षक—था और सुरासेवी न था। जो अर्जुन होते हुए गुरु द्रोणाचार्य के प्रतिकूल न था अर्थात् जो ऋजु गुणों से युक्त था और गुरुजनों के प्रतिकूल न था। जो नर ज्येष्ठ–अर्जुन का ज्येष्ठ भाई (युधिष्ठिर) होते हुए भी धृतराष्ट्र को चाहता था अर्थात् जो पुरुषों में श्रेष्ठ था और ध्वजा एवं राष्ट्र का इच्छुक था। जो बाहुबली होते हुए भी भरत से ज्येष्ठ था अर्थात् जो भुजशाली था और भरत क्षेत्र में उत्कृष्ट था। जो राम होते हुए भी हलधर के बिना था अर्थात् जो अभिराम—सुन्दर था और हलिक न था। जो शत्रुपक्ष के लिए अग्निरूप था किन्तु अविनीत न था अर्थात् जो उत्कृष्ट वंश में अग्रणी था और नम्र था। जो स्वामी कार्त्तिकेय था किन्तु ईश्वर, महादेव से संगत न था अर्थात् जो मनुष्यों का स्वामी था और नीति, लक्ष्मी (ई) एवं काम (सर) का सखा था। जो सारंग होते हुए भी पुण्डरीक—व्याघ्र–के सम गामी था अर्थात् जो सुडौल अंगों वाला था या लक्ष्मी (सा) की रंगभूमि के समान था और पुण्डरीक—छत्र जिसके सम्यक् रूप से आगे रहता था। जो नागों–हाथियों–का विदारण करने वाला था किन्तु मृगाधिप (मयाहिउ) न था अर्थात् जो न्याय से विचार करता था और मदाधिक न था। जो सागर था किन्तु मत्स्यों से क्षोभित न था अर्थात् जो आकर युक्त था अथवा लक्ष्मी (सा) का आकर था और काम से क्षोभित न था। जो चतुरास्य–ब्रह्मा–होते हुए भी अक्ष जयमाला से शून्य कर वाला था। अर्थात् जो चतुर मुख वाला था और अक्ष, पासे आदि से शून्य हाथ वाला था। जो गरुड (वि पक्ष) वाहन होते हुए भी श्रीधर–विष्णु–न था अर्थात् जो विपक्षियों-शत्रुओं का हन्ता था और नय-नीति-से लक्ष्मी का धारण करने वाला था। जो निःस्व-दरिद्र होते हुए भी कमलाक्षि-सुन्दरियों से आलिंगित था अर्थात् जो नरेश (नृ—ईश) था और विक्रम एवं लक्ष्मी से आलिंगित था। जो गुण-प्रत्यंचा-सहित धनुष वाला था किन्तु पराङ्मुख बाण वाला न था अर्थात् जो गुण और धन से युक्त था एवं याचकों को पराङ्मुख न करता था।

इसी प्रकार निम्नलिखित वंशस्थ छन्द में कवि ने वन की तुलना श्लिष्ट पदों द्वारा एक साथ ही नृप और राम से की है। कवि वन का वर्णन करते हुए कहता है—

वसत्थ—

महासरं पत्र विसेस भूसियं
सुहालयं सक्कइ विंद सेवियं।
सुलक्खणा लंकरियं सुणाययं
णिउव्व रामुव्व वणं विराइयं॥ ७.८

अर्थात् वन नृप के समान और राम के समान शोभित था। क्योंकि तीनों महासर थे। वन—महान सरोवरों से युक्त, नृप—महान् स्वर वाला और राम—महान् शर वाला। तीनों पत्र विसेस भूसिय थे। वन—अनेक प्रकार के पत्रों से भूषित अथवा पत्रों, पक्षियों और सर्पों से व्याप्त पृथ्वी से युक्त, नृप—राज्योचित विशेष पत्रों से भूषित और राम—पत्र विशेष से उपलक्षित भू रूपी श्री-शोभा-वाला। तीनों सुहालय थे। वन—सुखदायक, नृप—शुभ-सुन्दर अलकों वाला और राम—शोभन भाल वाला। तीनों सक्कइ विंद सेविय थे। वन—अनेक कपि वृन्द से युक्त, नृप—सत्कवि वृन्द से सेवित और राम भी अनेक कपिवृन्द सेवित था। तीनों सुलक्खवणालंकरिय थे। वन—सुन्दर लक्ष्मण नामक वृक्षों से अलंकृत, नृप—सुन्दर लक्षणों से अलंकृत और राम—सुन्दर लक्ष्मण से अलंकृत थे। इसी प्रकार तीनों सणायय थे। वन—सुंदर नागों से युक्त, नृप—सुन्दर न्याय कर्त्ता और राम—एक सुन्दर नायक था।

निम्नलिखित मगध देश का वर्णन भी श्लिष्ट और अलंकृत शैली में एवं सरस भाषा में कवि ने अंकित किया है। वर्णन में कवि की दृष्टि इस भौगोलिक प्रदेश की नदियों, इक्षुवणों, उपवनों, राजहंसों और उत्कृष्ट राजाओं आदि विस्तृत विषयों तक पहुँच गई। देखिये—

घत्ता—

जहिं णइउ पऊहरिउ, दीसहिं मंथर गमणिउं।
णाहहो सायरहो सलोणाहो, जंतिउ णं वररमणिउं॥ १.२
जहिं पंडु छुवणइं कयहरिसइं, कामिणि वयणाइव अइसरसइं।
... ...
उववणाइं सुरमण कय हरिसइं, भद्द साल णंदणवण सरिसइं।
कमल कोसे भमरहिं महु पिज्जइ, महुयराहं अह एहउ छज्जइ।
जहिं ससरासण सोहिय विग्गह, कय समराली केलि परिग्गह।
रायहंस वर कमलु क्कंठिय, विलसहिं वहुविह पत्तं परिट्ठिय।[1]
सु. च. १. ३

प्रकृति वर्णन—प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि ने प्रायः प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग किया है। यह वर्णन अधिकतर उद्दीपन के रूप में ही दिखाई देता है। नदी, वसन्त ऋतु,

१. पऊहरिउ—पयोधर, पय भरित। कामिणि वयणा—कामिनी वचन या वदन। भद्दसाल—सुन्दर शाल वृक्ष या सुन्दर शालायें। रायहंस—राजहंस, श्रेष्ठ राजा।

सूर्यास्त, प्रभात आदि के सुन्दर चित्र कवि ने अंकित किये हैं।

निम्नलिखित गंगा नदी के वर्णन में कवि ने नदी की तुलना एक नारी से की है। नदी के प्रफुल्ल कमल नारी के विकसित मुख के समान हैं; भ्रमर समूह अलकपाश के समान, मत्स्य दीर्घ नयनों के समान, मोती दंतावली के समान और प्रतिबिम्बित शशि दर्पण के समान प्रतीत होता है। कूलवृक्षों की शाखा रूप बाहुओं से नाचती हुई, इतस्ततः प्रक्षलन से त्रिभंगियों को प्रकट करती हुई, सुन्दर चक्रवाक रूप स्तनवाली, गंभीर आवर्त रूप नाभि वाली, फेन समूह रूप शुभ्र हार वाली, तरंग रूप त्रिवली से शोभित, नील कमल रूप नीलांचल धारण करती हुई, जलविक्षोभ रूप रशनादाम से युक्त नदी वेश्या के समान लीला से और मंथरगति से सागर की ओर जा रही है।

घत्ता—

सुंदर पय लक्खण संगय, विमल पसण्ण सुकइहे सुहावह।
णावइ तिय सहइ सइंत्तिय, णइ अहवा सुकहे कहा॥ २.११
पप्फुल्ल कमलवत्तें हसंति, अलि वलय घुलिय अलयइं सहंति।
दीहर झसणयणहिं मणुहरंति, सिप्पिउ डुट्ठ वडहिं दिहि जणंति।
मोत्तिय दंतावलि दरिसयंति, पडिबिंविउ ससि दप्पणु णियंति।
तड विडविसाह वाहहिं णडंति, पक्खवलण तिभंगिउ पायडंति।
वर चक्कवाय थणहर णवंति, गंभीरणीर भम णाहि वंति।
फेणोह तार हारु व्वहंति, उम्मि विसेस तिवलिउ सहंति।
सय दल णीलंचल सोह दिंति, जल खलह रसण्णा दामु लिंति।
मंथर गइ लीलए संचरंति, वेसाइ व सायरु अणुसरंति।[1]

सु. च. २. १२

निम्नलिखित वसन्त वर्णन में कवि ने ऋतु के अनुकूल मधुर और सरस पदों की योजना की है। प्रारम्भिक वंशस्थ में तो भ्रमरों का गुंजन सुनाई देता है। वसन्त में गेय 'चच्चरि' का भी कवि ने निर्देश किया है।

घत्ता—

दूर यर पियाहं, पहियहं मण संतावणु।
तहिं अवसरे पत्तु, मासु वसंतु सुहावणु॥ ७.४

वंसत्थ—

सुयंधु मंदो मलयद्दिमारुऊ, वसंत रायस्स पुराणु सारऊ।
जणंतु खोहं हियए वियंभए, समाणिणी णं अणुमाणु सुंभए।

---

१. **पयलक्खण—नदी पक्ष में जलयुक्त, स्त्रीपक्ष में पदन्यास से शोभित, कथा पक्ष में सुन्दर पदों से युक्त। तड विडवि साह—तट विटपि शाखा। रसण्णा दामु—रशना दाम।**

जहिं जहिं मलयालिणिलु परिधावइ, तहिं तहिं मयणाणलु उद्दीवइ।
अइ मुत्तउ जहिं वियसइ सुद्धउ, छप्पउ किण्ण होइ रस लुद्धउ।
जो मंदारएण णिरु कुप्पइ, सो किं अप्पउ कुरए समप्पइ।
सामल कोमल सरस सुणिम्मल, कयली वज्जेवि केयइ णिप्फल।
सेवइ फर सु विछप्पउ भुल्लउ, जं जसु रुच्चइ तं तसु भल्लउ।
मह महंतु विरहिणि मणदमणउं, कासु ण इट्ठु पप्फुल्लिय दवणउं।
जिण हरेसु आढविय सुचच्चरि, करहिं तरुणि सवियारी चच्चरि।
कत्थइ गिज्जइ वर हिंदोलउ, जो कामीयण मण हिंदोलउ।
अहिसारिहिं संकेयहो गम्मइं, गयवईहिं गंडयलुणिहम्मइं।
पियविरहें पहियहंडोल्लिज्जइं, अहवा महुमासें भुल्लिज्जइ॥

सु. च. ७. ५.

निम्नलिखित प्रभात वर्णन में कवि ने प्रत्यूष-मातंग द्वारा संसार सरोवर से नक्षत्र रूप कुमुद और कुमुदिनियों के नाश और शशि रूप हंस के पलायन का दृश्य प्रस्तुत किया है। सूर्य को केसरी और गाढ़ान्धकार को गज बताते हुए एवं सूर्य को दिग्वधू का लीला कमल, गगनाशोक का कुसुम गुच्छक, दिनश्री का विद्रुम लता का कंद और नभश्री का सुन्दर कस्तूरी बिन्दु--निर्देश करते हुए कवि ने प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह किया है।

तो जग सरवरम्मि णिसि कुमइणि, उड्डु पफुल्ल कुसुय उब्भासिणि।
उम्मूलिय पच्चूस मयंगें, गमु सहिउ ससि हंस विहंगें।
वहल तमंधयार वारण-अरि, दीसइ उयय सिहरे रवि केसरि।
पुव्व दिसावहूय अरुण छवि, लीला कमलु व उब्भासइ रवि।
सोहम्माइ कप्पफल जोयहो, कोसुम गुंछु व गयणा सोयहो।
दिण सिरि विद्दुम विल्लिहे कंडुव, णहसिरि घुसिण ललाम य विंदुव।

५.१०

निम्नलिखित सूर्यास्त वर्णन में कवि ने सूर्य के अस्त हो जाने के कारण की सुन्दर कल्पना की है--वारुणी, सुरा में अनुरक्त कौन उठकर भी नष्ट नहीं होता ? अतएव सूर्य भी वारुणी--पश्चिम-दिशा के अनुराग से उदित होकर अस्त हो गया।

दुवई--

बहु पहरेहिं सूरु अत्थमियउ, अहवा काइं सीसए।
जो वारुणिहे रत्तु सो उग्गुवि, कवणु ण कवणु णासए॥
णह मरगय भायणे वर वंदुण, संझा राउ घुसिणु ससि चंदणु।
ससि मिगु कत्थूरी णिरु सामल, वियसिय गह कुवलयउडु तंडुल।
लेवि णु मंगल करण णुराइय, णिसि तट्टि तहिं समए पराइय।

सु. च. ५.८

कवि केशवदास ने भी अपनी रामचन्द्रिका में एक स्थान पर यही भाव अभिव्यक्त

किया है ।[1]

रस—काव्य में श्रृंगार, वीर और शान्त तीनों रस मिलते हैं। मनोरमा के सौन्दर्य चित्रण में और अनेक प्रकार की स्त्रियों के वर्णन में श्रृंगार-रस की अभिव्यक्ति की गई हैं। धाड़ीवाहन के युद्ध प्रसंग में वीर रस मिलता है। श्रृंगार-रस का अन्ततोगत्वा शान्त रस में पर्यवसान दिख ई देता है।

श्रृंगार रस की अभिव्यंजना में कवि का निम्नलिखित मनोरमा-रूप-वर्णन देखिये—

घत्ता–

जा लछि समा तहे काउवमा जाहे गइए सकलत्तइं।
णिरु णिज्जियइं, णं लज्जियइं हंसइं माणसे पत्तइं ।। ४.१
जाहे चरण सारुण अइ कोमल, पेछेवि जले पइट्ठ रत्तुप्पल।
जाहे पायणह मणिहि विचित्तइं, णिरसियाइं णहे ठिय णक्खत्तइं।
... ...
जाहि लडह जंघहिं उहामिउं, रंभउ णीसारउ होएवि थिउ।
जाहे णियंबु बिंवुब अलहंतें, परिसेसियउ अंगु रइ कंतें।
... ...
जाहि णाहि गंभीरिम जित्तउ, गंगा वत्तु ण थाइ भमंतउ।
जाहे मज्झु किमु अवलोएवि, हरि णं तव चरण चित्तु गउ गिरि दरि।
जाहे सुरोमावलिए परज्जिय, णाइणि विले पइसइ णं लज्जिय।

घत्ता—

अह मइं कलिय रोमावलिय, जइ णवि विहि विरयंतउ।
तो मणहरेण गुरु थलहरेण, मज्झु अवसु भज्जंतउ ।। ४.२
जाहे णिएविणु कोमलु वाहउ, विस विक रहित गुणउम्मा हउ।
जाहे पाणि पल्लवइं सुललिलयइं, कंकेल्ली दलहिंवि अहिलसि यहिं।
जाहि सद्द्‌ णिसणेवि अहिह वियए, णं किण्हत्तु धरिउ माहवियए।
जाहे कंठ रेहत्तय णिज्जिय, संख समुद्दे वुड्डु णं लज्जिय।
जाहे अहरराएं विद्दुम गुणु, जित्तउ जेण धरइ कठिणत्तणु।
जाहे दंसण कंतिए जिय णिम्मल, सिप्पिहें तें पइट्ठ मुत्ताहल।
जाहे सास सुरहि मणउ पावइ, पवणु तेणउव्विं विरु धावइ।
जाहे विमल मुह इंद सयासए, णि वडण खप्परं व ससि भासइ।
... ...

---

१. जहीं वारुणी की करी रंचक रुचि द्विजराज।
तहीं कियो भगवंत बिन संपति सोभा साज ।।
केशव कौमुदी प्रथम भाग, टीकाकार ला० भगवानदीन, सं० १९८६ वि०, पृ० ७२

जाहे णयण अवलोइवि हरिणिहिं, विंभिएहिं रइ वड्ढी गहणेहिं।
जाहे भउ वंकत्तें सुरधणु, जित्तउ हवइ तेण सो णिग्गुणु।
जाहे भालहिउ किण्हट्ठमि ससि, हवइं खीणु अज्जुवि खेयहो वसि।
केसहिं जाए जित्त अलि सत्थवि, रुणुरुणंत रइ करवि ण कत्थवि।

सु. च. ४.३

अर्थात् जो मनोरमा लक्ष्मी के समान है उसकी तुलना किस से की जा सकती है? जिसकी गति से नितान्त पराजित होकर मानो लज्जित हुए हंस सकलत्र मानस में चले गये। जिसके अतिकोमल और अरुण चरणों को देखकर रक्तकमल जल में प्रविष्ट हो गये। जिसके चरणों की सुन्दर नख कान्ति से पराभूत नक्षत्र आकाश में चले गये।.... जिसकी सुन्दर जंघाओं से तुलना करने पर कदली निस्सार हो खड़ा रहा। जिसके नितंब बिंब को न प्राप्त कर काम ने अपने शरीर को भस्मावशेष कर दिया।...जिसकी नाभि के गाम्भीर्य से जीती हुई गंगा की जल भंवर सदा घूमती हुई स्थिर नहीं हो पाती। जिसकी कटि को देखकर क्या सिंह तपश्चरण के विचार से गिरि कन्दरा में चला गया? जिसकी सुन्दर रोमावली से पराजित होकर लज्जित नागिनी मानो बिल में प्रविष्ट हो गई। यदि विधाता उसकी रोमावली रूपी लोहशृंखला का निर्माण न करता तो उसके मनोहारी और गुरु स्तनभार से कटि अवश्य भग्न हो जाती।

जिसकी कोमल बाहुओं को देखकर.....जिसके सुललित पाणिपल्लवों की अशोक दल भी इच्छा करते हैं। जिसके मधुर स्वर को सुन कर कोकिला ने कृष्णता धारण कर ली। जिसकी कंठ रेखाओं से पराजित होकर लज्जित शंख समुद्र में डूब गया। जिसके अधर-राग से विजित विद्रुम ने कठिनता धारण कर ली। जिसकी दन्त कान्ति से विजित निर्मल मोती सीपियों के अन्दर जा छिपे। जिसके श्वास सौरभ को न पाकर पवन विक्षिप्त सा चारों ओर दौड़ता फिरता है। जिसके मुख चन्द्र के सामने चन्द्रमा एक ... खप्पर के समान प्रतीत होता है।... जिसकी आँखों को देखकर हरिणियों ने विस्मित होकर पाशबन्धन की कामना बढ़ा ली। जिसकी भौहों की वक्रता से पराजित होकर इन्द्रधनुष निर्गुण हो गया। जिसके भाल से विजित कृष्णपक्ष की अष्टमी का चन्द्र आज भी क्षीण होता है और आकाश में बसता है। जिसके केशों से विजित भ्रमर समूह चारों ओर गुन-गुनाता हुआ फिरता है और कहीं भी उसका दिल नहीं लगता।

उपरिलिखित वर्णन में कवि ने मनोरमा के अंगों का वर्णन किया है। इसमें नख-शिख वर्णन की परिपाटी स्पष्ट परिलक्षित होती है। नख शिख वर्णन वास्तविक नख शिख वर्णन है क्योंकि कवि ने मनोरमा के चरणों से प्रारम्भ कर केशों पर समाप्ति की है। अंगों के उपमान यद्यपि प्रसिद्ध हैं तथापि वर्णन में अनूठापन है। इस प्रकार के वर्णन का आभास संस्कृत कवियों के कुछ पद्यों में भी मिलता है। जैसे—

"यत् त्वन्नेत्र समान कान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्"। इत्यादि

अर्थात् हे सुन्दरि! तुम्हारे नेत्रों के समान कान्तिवाला नील कमल जल में डूब गया।

रूप वर्णन की इस शैली का आभास विद्यापति के पदों में भी दिखाई देता है।[1]

इस रूप वर्णन में कुछ उपमानों की छाया जायसी के पद्मावती रूप-वर्णन में दिखाई देती है।

सुदर्शन के सौन्दर्य को देखकर मनोरमा भी उसके प्रति आकृष्ट हो गई। मनोरमा की व्याकुलता में विप्रलंभ शृंगार की अभिव्यंजना हुई है। मनोरमा व्याकुल हो काम को उपालम्भ देती है—

अरे खल स्वभाव काम ! तुम भी मेरे देह को तपाते हो क्या सज्जन को यह उचित है ? रुद्र ने तुम्हारी देह जलाई फिर मुझ महिला के ऊपर यह क्रोध क्यों ? अरे मूर्ख ! तुम ने पांचों बाण मेरे हृदय पर छोड़ दिये फिर दूसरी युवतियों को किससे विद्ध करेगा ?

दुवई—

कमलु जलद्द गेउ भूसण विहिणवि कप्पूर चंदणं।
असणु ण सयणु भवणु पडिहासइ पवियं भेइ रणरणं॥

---

१. कबरी-भय चामरि गिरि कन्दर
मुख-भय चाँद अकासे।
हरिन नयन-भय, सर-भय कोकिल
गति-भय गज बनवासे॥ २
कुच-भय कमल-कोरक जल मुदि रहु
घट परवेस हुतासे।
दाडिम सिरिफल गगन वास करु
सम्भु गरल करु ग्रासे॥ ६
भुज भय पंक मृनाल नुकाएल
कर भय किसलय काँपे।
....

विद्यापति पदावली—रामवृक्ष बेनीपुरी संकलित पदसंख्या २०, पृष्ठ ३०.

विहि निरमलि रामा दोसर लछि समा
भल तुला एल निरमान॥ ३
कुच-मंडल सिरि हेरि कनक-गिरि
लाजे दिगन्तर गेल।
....
माझ-खीनि तनु भरे भांगि जाय जनु
विधि अनुसये भल साजि।
नील पटोर आनि अति से सुदृढ़ जानि
जतन सिरिजु रोमराजि॥७

विद्यापति पदावली, पदसंख्या २२, पृ० ३२.

पुणु पुणु सा पभणइ जणिय ताव, रे रे मयरद्धय खल सहाव।
छलु लहेवि तुहुं वि महु तवहि देहु, सपुरिसहो होइ कि जुत्तु एहु।
रुद्देण आसि यव इ द देहु, भणु महिलहे उप्परि कोण कोहु।
पंचवि महुं लायवतिणि ि वाण, अण्णाउ केण हणिहसि अयाण।
सय वत्त वत्त लोयह [ुद्धवसाल, जहिं जहिं आलोयइ कहिं वि वाल।
तहिं तहिं आवंतउ सुहउ भाइ, सुह दंसण भरियउ जगु जि णाइ।

५.१

इस व्याकुलता का पर्यवसान विवाह में होता है। इसी प्रसंग में संध्या और प्रातः के सुन्दर वर्णनों के साथ संभोग श्रृंगार का भी कवि ने वर्णन किया है।

संयोग श्रृंगार के वर्णन के प्रसंग में ही कवि ने वसन्तोत्सव, उपवन-विहार और जलक्रीड़ा के भी सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये हैं।

श्रृंगार रस का अन्ततोगत्वा पर्यवसान शान्त रस में दिखाई देता है। अन्त में सब पात्र तपस्वी और विरक्त हो जाते हैं। वहीं वैराग्य, शान्ति के चित्रों में शान्त रस परिलक्षित होता है।

श्रृंगार के प्रसंग में कवि ने अनेक प्रकार की स्त्रियों का वर्णन किया है। स्त्रियों का भेद अनेक आधारों पर कवि ने प्रदर्शित किया है। पहले विशेष इंगितों के आधार पर स्त्रियों के चार भेद बताये गये हैं—भद्द, मंदा, लय और हंसी। तदनन्तर भिन्न-भिन्न वर्गों के आधार पर भेद किये गये हैं—ऋषि स्त्री, विद्याधरी, यक्षिणी, सारसी, मृगी आदि (४.५)। तदनन्तर प्रान्त भेद या देश भेद से उनका विभाग किया गया है—मालविनी, सेंधवी, कोशली, सिंहली, गौड़ी, लाटी, कालिंगी, महाराष्ट्री, सौराष्ट्री आदि। भिन्न-भिन्न देशों के अनुसार उनके स्वभाव का भी दिग्दर्शन कराया गया है (४.६)। इसके बाद वात, पित्त और कफ़ की प्रधानता के आधार पर उनका वर्गीकरण किया गया है (४-७)। इसी प्रसंग में मंदा, तीक्ष्णा, तीक्ष्णतरा और शुद्ध, अशुद्ध मिश्र आदि भेदों की ओर निर्देश किया गया है (४.८)।[1] डा० रामसिंह तोमर ने इस वर्गीकरण में रीतिकाल की नायिका भेद की प्रवृत्ति के बीज की ओर निर्देश किया है। रानी अभया की परिचारिका पंडिता में दूती का रूप देखा जा सकता है। पहिले निर्देश किया जा चुका है कि इस प्रवृत्ति का अस्फुट सा आभास जंबु समि चरिउ (४.१४) में भी दिखाई देता है।

नवीं सन्धि में धाड़ीवाहन के युद्ध प्रसंग में वीररस दिखाई देता है। समुचित छन्द की गति द्वारा योद्धाओं की गति प्रदर्शित की गई है। अनुरणनात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा शब्द चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। निम्नलिखित उद्धरण में राजा धाड़ी-

---

१. रामसिंह तोमर—सुदंसण चरिउ, विश्वभारती पत्रिका, खंड ४, अंक ४, अक्तू०, दिसं०, १९४५, पृ० २६३।
परमानन्द शास्त्री—अपभ्रंश भाषा के दो महाकाव्य और कविवर नयनन्दी, अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०.

वाहन और राक्षस के युद्ध की तुलना स्त्री और पुरुष के मिथुन से की गई है—

तो गज्जइं रण रह सुब्भिण्णइं, अब्भिट्टइं णिव णिसियर सेण्णइं।
मिहुणइं जिह रोमंचिय गत्तइं, मिहुणइं जिह तरलाविय णेत्तइं।
मिहुणइं जिह उद्दीविय रोसइं, मिहुणइं जिह धाविय मुह सोसइं।
मिहुणइं जिह विरइय संबंधइं, मिहुणइं जिह वर करण मयंधइं।
मिहुणइं जिह विक्खित्ताहरणइं, मिहुणइं जिह उच्चाइय चरणइं।
मिहुणइं जिह आमेल्लिय सुसरइं, मिहुणइं जिह पुणु पुणु दर हसिरइं।
मिहुणइं जिह सेउल्लणि लाइइं, मिहुणइं जिह कड्ढिय कर वालइं।
मिहुणइं जिह आहय वछयलइं, मिहुणइं जिह मुछए तणु वियलइं।
घत्ता—
तोउल्ललइ चलइ खलइ, तसइ ल्हसइ णीससइ पणासइ।
णिसियर वलु णिव साहणहो, णव वहु जेम ससज्झए दीसइ॥ ९.४

निम्नलिखित उद्धरण में छन्द की गति देखिये—

जुज्झ कोछरा तोसियछरा
... ...
णं भयावणा राम रावणा
ढुक्क सम्मुहा मुक्क आउहा
घाय घुम्मिरा रत्त त्तिम्मिरा
दो वि सुंदरा णाइं मंदरा
कंप वज्जिया देव पुज्जिया ९.९

राजा और राक्षस दोनों रथ पर चढ़ युद्ध करते हैं। टन टन बजते घंटे और खन-खन करती शृंखला से चित्र सजीव हो उठा है—

कंचण णिबद्धए, उब्भिय सुचिंतए
घगघगगिय मणियरे, मंद किंकिणि सरे।
मणजव पयट्टए, टण टणिय घंटए॥
धूव धूमाउले, गुमगुमिय अलिउले
खण खणिय संखले, वहु वलण चंचले,
हिलि हिलिय हयवरे, एरिसे रहवरे। ९.११

इस प्रकार कवि के वसन्तोत्सव, उपवन विहार, सूर्यास्त आदि वर्णनों में उसका बाह्य-प्रकृति का निरीक्षण दिखाई देता है। अतः प्रकृति का निरीक्षण स्त्री-प्रकृति अंकन में दृष्टिगत होता है। निम्नलिखित वस्तु-छंदों में कवि ने स्त्री-प्रकृति का सुन्दर विश्लेषण किया है। कवि के विचार में अनेक तर्क, लक्षण, छंदालंकार, सिद्धान्त-शास्त्र आदि गंभीर ग्रन्थों के रहस्य को समझा जा सकता है। जीवन-मरण, शुभाशुभ कर्म, मंत्र, तंत्र, शकुन आदि का भी निर्भ्रान्ति ज्ञान संभव है। एक स्त्री-चरित को छोड़ कर सब कुछ जाना जा सकता है। क्रुद्ध सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि के चित्त को समझा जा सकता है

किन्तु इस वसुधा-पीठ पर स्त्री-चित्त की थाह लेने में कौन समर्थ है ? किसी-न-किसी उपाय से ग्रह-चक्र, अंबुधि-सलिल, वालु-निकर इत्यादि जाने जा सकते हैं किन्तु तिया-चरित्र का समझना संभव नहीं ।

वस्तु छंद—

सव्व लक्खण तक्क मुणिघंट ।
स छंदालंकार वर—
चरण करण सिद्धांत भेयइं ।
जीवण मरण सुहासुहइं
कम्म पयडि वंधइं अणेयइं ।
मंतइं तंतइं सउणाइं, एत्थु ण कीरइ भंति ।
एक्कु मुएविणु तिय चरिउ, सव्वइं जाणिज्जंति ।। ७
अइ सरोसहं सीह वग्घाहं ।
आसी विसहरहं,
कहव चित्तु घिप्पइ अलीढइं ।
अणुमेत्तु वि त्तियहे पुणु,
को समत्थु इह वसुह वीढए ।
गह चक्कु वि अंबुहि सलिलु, वालुय णियरु वि चित्त ।
कह व पवाएं जाणियइ, णउ पुणु तियहे चरित्तु ।। ८

८.३६

भाषा—कवि ने काव्य में क्लिष्ट और अनेक प्रकार के अलंकारों और मुहावरों से युक्त भाषा का प्रयोग किया है । स्थान-स्थान पर सुन्दर सुभाषित भी प्रयुक्त हुए हैं । क्लिष्ट शैली के प्रयोग से यद्यपि भाषा कछ क्लिष्ट प्रतीत होती है तथापि सरल और प्रसादगुण युक्त भाषा का अभाव नहीं ।

देखिये—

किं मित्तें कवडु पयासिरेण, किं सुयणें परउवहासिरेण ।
किं राएं जण संताविरेण, किं वाएं कडु उपलाविरेण ।
किं णेहें विप्पिय दाविरेण, किं लद्धें धम्में पाविरेण ।
किं लछि विहीणें पंकएण, किं मणुएं लग्ग कलंकएण ।
किं कुसुमें गन्ध विवज्जिएण, किं सूरें समर परज्जिएण ।
किं भिच्चें पेसण संकिएण, किं तुरएं ऊरूढं किएण ।
किं दव्वें किविण करासिएण, किं कव्वें लक्खण दूसिएण ।
किं णीरसेण णच्चिय णडेण, किं साहुहु इंदिय लंपडेण ।

सु० च० ११. ९.

ग्रन्थ में श्लेष, उपमा, रूपक, विरोधाभास आदि अलंकारों का प्रचुरता से प्रयोग मिलता है । साम्य प्रदर्शन के लिए कवि ने शब्दगत साम्य की ही ओर अधिक ध्यान दिया

है। अप्रस्तुत योजना में कवि ने प्रायः मूर्त्त उपमानों का ही प्रयोग किया है। उपमानों के चयन में कवि की दृष्टि कहीं-कहीं ग्राम्य दृश्यों की ओर भी गई है। उपमा में कहीं-कहीं हलकी-सी उपदेश भावना की ओर भी ध्यान चला जाता है। उदाहरणार्थ–

काहे वि रमणिए पिय दिट्ठि पत्त,
ण चलइ णं कद्दमे ढोरि खुत्त। ७.१७

अर्थात् प्रिय पर पड़ी किसी रमणी की दृष्टि इस प्रकार आगे न बढ़ी, जिस प्रकार कीचड़ में फसा पशु।

कुमुय संड दुज्जण सम दरिसिय, मित्त विणासणे वि जें वियसिय। ८.१७

अर्थात् कुमुद समूह दुर्जन के समान दिखाई दिया जो मित्र–सूर्य–के विनाश हो जाने पर भी विकसित था।

अग्गए णिउ पच्छए दिव्वु जाइ,
जीवहु पुव्व क्किउ कम्मु णाइ। ९.१७

ग्रन्थ की भाषा में अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

धुमु धुमिय मद्दलइं कणकणिय कंसाइं, दुमु दुमिय गंभीर दुंदुहि विसेसाइं।
रण झणिय तालाइं झं झं सढुक्काइं, डम डमिय डमरु यइ दंडंत डक्काइं।
थर थरिरि थर थरि रि कर डोह सद्दाइं, झिं झिं झिंत शिक्किरि सुहद्दाइं।
थगेडुगेगे थगे डुगेगे तखि तक्खि पडहाइं, किरि किरिरि किरि किरिरि तटर कुंदलडहाइं
कर मिलण झिमि झिमिय झल्लरि वियंभाइं, रुजंत रुंजाइं भंभंत भंभाइं। ७.६

भिन्न-भिन्न अनुरणनात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा कवि ने वसन्तोत्सव में बजते हुए विभिन्न वाद्य यन्त्रों की ध्वनियों का अंकन किया है।

सुभाषित––कवि ने अनेक सुभाषितों और मुहावरों के प्रयोग से भाषा को रोचक बनाया है—

'करे कंकणु कि आरिसे दीसइ'। ७.२

अर्थात् हाथ कंगन को आरसी क्या?

'जं जसु रुच्चइ तं तसु भल्लउ'। ७.५

अर्थात् जो जिसे अच्छा लगे वही उसके लिए भला।

'अह ण कवणु णेहें संताविउ'। ७.२

अर्थात् प्रेम से कौन दुःखित नहीं होता?

'एक्कें हत्थें ताल कि वज्जइ,
'किं मरेवि पंचमु गाइज्जइ।' ८.३

अर्थात् एक हाथ से ताली कैसे बजाई जा सकती है? क्या मरण पर भी पंचम गाया जा सकता है!

'सग्गु मुएवि णरउ किं वंछहिं'। ८.५

अर्थात् स्वर्ग को छोड़ नरक क्यों चाहता है ?

'तं खज्जइ जं परिणइ पावइ'। ८.५

अर्थात् वह खाओ जो हज़म हो जाय।

'अण्णु मज्झु तं हासउ दिज्जइ, घरे रंद्धिए जं भिक्ख भमिज्जइ।'

अन्य व्यक्तियों में वह उपहसित होता है जो घर में भोजन पका कर भिक्षा के लिए घूमता फिरे।

'वर सुवण्ण कलसहो उवरि, ढंकणु किं खप्परु दिज्जइ'। ८.६

क्या सुवर्ण-कलश के ऊपर खप्पर का ढकना दिया जाता है ?

'पर उवएसु दिंतु बहु जाणउ'। ८.८

दूसरे को उपदेश देना बहुत लोग जानते हैं।

'दुद्ध सुद्ध किं कंजिउ पूरइ'। ८.८

क्या शुद्ध दूध काँजी की समता कर सकता है ?

'दइवायत्तु होंतु को वारइ

अवसु विवसि किज्जइ जं रुच्चइ, विस भएण किं फणि मुणि मुच्चइ'। ८.२१

'देवहं वि दुलक्खउ तिय चरित्तु'। ९.१८

अर्थात् स्त्री-चरित्र देवताओं से भी दुर्लक्ष्य है।

'जोव्वणु पुणु गिरिणइ वेय तुल्लु, विद्धत्तें होइ सव्वंगु ढिल्लु'। ९.२१

यौवन पहाड़ी नदी के वेग के तुल्य होता है। वृद्धत्व से अंग अंग शिथिल हो जाता है।

'सप्पुरिसहो किं बहुगुणहिं, पज्जतं दोसहिं णराहिव।
तडि विप्फुरणु व रोसु मणे मित्ती पाहण रेहा इव॥ ९.१८

'अमिलंताण व दीसइ णेहो दूरे वि संठियाणं पि।
जइविहु रवि गयणयले इह तहवि हुलइ सुहु णलिणी॥' ८.४

अर्थात् परस्पर न मिलते हुए दूर स्थित प्राणियों में भी स्नेह देखा जाता है। जिस प्रकार सूर्य दूर गगनतल में रहता है किन्तु फिर भी नीचे भूतल पर नलिनी विकसित होती है।

इस प्रकार नयनंदी की भाषा और वर्णन शैली को देखने से 'सुदंसण चरिउ', निस्सन्देह अपभ्रंश का एक उत्कृष्ट काव्य सिद्ध होता है। कवि ने तो इसे पूर्णरूप से दोष रहित घोषित किया है।[१]

---

१. रामो सीय विऊय सोय विहुरं संपत्तु रामायणे
जादा पंडव धायरट्ठ सद दं गोत्तं क्कली भारहे।
हेड्डा कोलिय चोर रज्जु निरदा आहासिदा सुद्दये।
णो एक्कं पि सुदंसणस्स चरिदे दोसं समुब्भासिदं॥ शार्दूल०
सु० च० ३.१

छन्द—कवि ने ग्रन्थ में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। केशवदास की रामचन्द्रिका और इस काव्य में प्रयुक्त अनेक छन्द समान हैं। छन्दों की विविधता भी दोनों काव्यों में समान रूप से दृष्टिगत होती है। इस काव्य में वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है किन्तु प्रधानता मात्रिक छन्दों की ही है। आठवीं सन्धि के छठे कडवक के आरम्भ में कवि ने आठ दोहों (दोहाष्टकं) के बाद कडवक प्रारम्भ किया है। उदाहरण स्वरूप दो दोहे देखिये—

जाणामि हउं डवहाणइं, किं तुहुं चवइ वहुत्तु।
अंविए को वि ण पंडियउ, पर उवएस कहंतु ॥२
इय णिसुणेवि णु पंडियए, तो वुत्तउ विहसेवि।
खीलय कारणे देवउलु, णउ जुत्तउ णासेवि ॥८

वर्णिक वृत्तों में भी नवीनता उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। निम्नलिखित मालिनी वृत्त देखिये—

खलयण सिर सूलं, सज्जणाणंद मूलं।
पसरइ अविरोलं, मागहाणं सुरोलं।
सिरि णविय जिणिंदो, देइ वायं वणिंदो।
वसु हय जुइ जुत्तो, मालिणी छंदु वुत्तो ॥ ३.४

प्रत्येक चरण में यति के स्थान पर और चरणान्त में अनुप्रास (तुक) के प्रयोग द्वारा चार चरणों की मालिनी आठ चरणों वाली प्रतीत होती है।[1]

सकल विधि निधान काव्य

यह भी नयनंदी का लिखा हुआ अप्रकाशित ग्रंथ है। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भंडार में उपलब्ध है (प्र० सं० पृष्ठ १८१ तथा २८५)।

---

१. कवि ने निम्नलिखित वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है—

पादाकुलक, रमणी, मत्तमायंग, कामवाण, दुवई-मयण विलासा, भुजंग प्रयात, प्रमाणिका, तोडणऊ, मंदाक्रान्ता, शार्दूल विक्रीडित, मालिनी, दोधय, समानिका, मयण, त्रिभंगिका (मंजरी, खंडियं और गाथा का मिश्रण), आनंद, द्विभंगिका (दुवई और गाही का मिश्रण), आरणाल, तोमर, मंदयारुत्ति, अमरपुरसुन्दरी मदनावतार, मागहणक्कुडिया, शाल भंजिका, विलासिनी, उविंद वज्जा, इंडवज्जा, अथवा अखीणइ, उवजाइ (उपजाति), वसंत चच्चर, वंसत्थ, उव्वसी, सारीय, चंडवाल, भ्रमरपद, आवली, चंद्रलेखा, वस्तु, णिसेणी, लता कुसुम, रचिता, कुवलयमालिनी मणिशेखर, दोहा, गाथा, पद्धडिया, उण्हिया, मोत्तिय दाम, तोणउ, पंच-चामर, स्रग्गिणी, मंदारदाम, माणिणी, पद्धडिया के निम्नलिखित भेद—

रयणमाल, चित्तलेह, चंदलेह, पारंदिया, रयडा इत्यादि।

कृतिकार ने ५८ सन्धियों में ग्रन्थ की रचना की । सन्धियों में कडवकों की कोई निश्चित संख्या नहीं। दूसरी सन्धि में ५ कड़वक हैं और बयालीसवीं में २९। हस्त लिखित प्रति में १५ वीं सन्धि के बाद ३२ वीं सन्धि समाप्त होती है। १६ वीं सन्धि में ७ वें कड़वक के बाद ३२ वीं सन्धि के ८ वें कड़वक का कुछ अंश देकर आगे कड़वक चलने लगते हैं। कृत्ति में कवि ने रचना काल नहीं दिया किन्तु 'सुदंसण चरिउ' के रचना काल से कल्पना की जा सकती है कि इस ग्रन्थ की रचना भी कवि ने वि० सं० ११०० के लगभग की होगी।

यद्यपि इस ग्रन्थ में अनेक विधि विधानों और आराधनाओं का उल्लेख एवं विवेचन है तथापि ग्रन्थ की पुष्पिकाओं में कृतिकार ने इसे काव्य कहा है।[1]

कृतिकार ने अपने से पूर्ववर्त्ती और समकालीन अनेक ग्रन्थकारों एवं कवियों का उल्लेख किया है। इनके नाम निम्नलिखित हैं —[2]

मनु, याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, व्यास, वररुचि, वामन, कालिदास, कौतूहल, बाण, मयूर, जिनसेन, वारायण, श्रीहर्ष, राजशेखर, जसचन्द्र, जयराम, जयदेव, पालित्त (पादलिप्त), पाणिनि, प्रवरसेन, पातंजलि, पिंगल, वीर सेन, सिंह-नंदी, गुर्णसिह, गुणभद्र, सामंतभद्र, अकलंक, रुद्र, गोविंद, दंडी, भामह, भारवि, भरह, चउमुह, स्वयंभू, पुष्पदन्त, श्रीचन्द्र, प्रभाचन्द्र, श्री कुमार और सरस्वती कुमार।

---

१. मुणिवर णयणंदी सण्णिबद्धे पसिद्धे
सयल विहि णिहाणे एत्थ कव्वे सुभव्वे।
अरिह पमुहँ सुत्तु वुत्तु माराहणाए
पभणिउं फुडू संधी अट्ठावण समोत्ति॥

५८वीं सन्धि

२. मणु जण्ण वक्कु वम्मीउ वासु, वररूइ वामणु कवि कालियासु।
कोऊहलु वाणु मऊरु सूरु, जिणसेण जिणागम कमल सूरु।
वारायणवरणाउ विवियदवु, सिरि हरिसु राय सेहरु गुणदवु
जसइंधु जए जयराय णामु, जय देउ जणमणाणंद कामु।
पालित्तउ पाणिणि पवरसेणु, पायंजलि पिंगलु वीरसेणु।
सिरि सिहणंदि गुर्णसिह भद्दु, गुणभददु गुणिल्लु समंतभद्दु।
अकलंकु विसम वाईय विहंडि, कामददु रुद्दु गोविंदु दंडि।
भम्मुइ भारहि भरहुवि महंतु, चउमुहु सयंभु कइ पुप्फयंतु।

घत्ता–
सिरि चंदु पहाचंदु वि विवुह, गुण गण णंदि मणोहरु।
कइ सिरि कुमारु सरसइ कुमरु, कित्ति विलासिणि सेहरु॥

स० वि० ति० का० १.५

ग्रन्थ का आरम्भ करते हुए कृतिकार ने मंगलाचरण के अनन्तर चार गाथाओं द्वारा सरस्वती वन्दना की है—

छद्दंसण छच्चरण छंदालंकार फुरिय पक्खउडा।
णवरस कुसुमासत्ता, भिंगिव्व गिरा जए जयउ ॥१॥
थपथ्या

विलसिय सविलास पया वाएसी परमहंस तल्लीणा।
मुणिगण हर पमुह मुहारविंद ठिय जयउहं सिव्व ॥२॥
पूर्वपथ्या

केवल णाण सरोवर समुज्झ वाअरुह दिणयरुल्लसिया।
जयउ भिसिणिव्व वाणी छद्दंसण छप्पयावरिया ॥३॥
परपथ्या

दीहर समास कर पसर छित्तक्क वायरण वारण विसेसा।
करिणिव्व काल काणण कयत्थ कीला गिरा जयउ ॥४॥
विपुलाणाम गाथा
१.१

कृतिकार आत्म-विनय प्रकट करता है और कहता है —

'अलंकार सल्लक्खणं देसि छंदं,
ण लक्खेमि सत्थांतरं अत्थमंदं।'

इसी प्रसंग में कृतिकार अपने ग्रन्थको शृङ्गार, वीर रसादि से भिन्न धारा में रचने का कारण बतलाता हुआ कहता है —

किं करिमि किं पि सिंगार गंथु, णं णं तं जीवहो णरय पंथु।
किं वीरु वीर जण जणिय राउ, णं णं सो बहु हिंसा सहाउ।
किं करमि किं पि कायमुय मणोज्जु, णं णं णिण्णासिय धम्मकज्जु।
१. १२

ग्रन्थ मे स्थान-स्थान पर लेखक ने "उक्तं च" लिखकर संस्कृत ग्रन्थों के अनेक उद्धरण दिये हैं[1]। १५ वीं सन्धि में तो संस्कृत शैली के साथ-साथ ग्रन्थकार ने संस्कृत

---

१ दिवसस्याष्टमे भागे मंदीभूते दिवाकरे।
नक्तं तद् विजानीया न्न नक्तं निशिभोजनम् ॥
यथाहि सिद्धि माकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः।
संकीर्ण मिव मात्राभि श्चित्राभि रभि मन्यते ॥
तथेद ममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रशस्यते ॥ ३३.६
बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धे हि कुतो बलम् ?
वने सिंह मदोन्मत्तः, शशकेन निपातितः ॥ ४८.१०

पदावली का भी प्रयोग किया है।[1]

ग्रन्थकार ने अपनी धार्मिकभावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिए प्राचीन कथाओं और उपाख्यानों का आश्रय लिया है। इन आख्यानों का कवि ने अलंकृत और काव्य-मय भाषा में वर्णन किया है। जैसे, ३५ वीं और ३६ वीं सन्धियों में कृतिकार ने क्रमशः रामायण और महाभारत युद्ध का वर्णन किया है। इनका प्रसंग यह दिखाने के लिए लाया गया है कि स्त्री में आसक्ति से अनिष्ट उत्पन्न होता है।

कवि मही-महिला का वर्णन करता हुआ उसके मुख-मंडल को अलंकृत करने वाले विधि-निर्मित मगध-मंडल रूपी कुंडल का निर्देश करता है—

जलहि वलय चल रसणा दामहे। महि महिलहे महिवइ अहिरामहे।
किं वित्थिण्ण घोर थिर महिहर। णं णं तहि सोहहि सुपऊहर।
किं सरीरु कल्लोलुल्ललियउ। णं णं तहेचल हारावलियउ।
किं जल लहरिया उपडिहासिउ। णं णं तहे तिवलिट्टिउ हूसिउ।
किं परिपक्कं सालि द्रिहिकारिणी। णं णं तहे पीयल मण हारिणि।
किं भंगुर भावइ भमरावलि। णं णं तहि णिडालि अलयावलि।
किं सरि सरल मछ मण मोयण। णं णं तह तरलिय मुह लोयण॥
किं पवणंदोलिय डुम साहउ। णं णं तहे कोमल चल वाहउ।
किं पुर वर पएसु संपुण्णउं। णं णं तहि णियंवु वित्थिण्णउं।
किं पंडुछु जंतरसु अविरलु। णं णं तहे वियरइ णव रइ जलु।
किं कयलिउ पेसल उस लग्घउ। णं णं तम्मि सेणतहे जंघउ।
किं मोरहं कलाउ अंदोलइ। णं णं केस पासु तहे घोलइ।
घत्ता—
महि महिलहे मुह मंडणु सहइ। णामें मगहामंडलु॥
णिम्मलु सुवण्ण सुरयण सहिउ। विहि विहियउ णं कुंडलु॥

३.३

रामायण और महाभारत के युद्ध प्रसंगों में वीररस व्यंजक अनेक वर्णन उपलब्ध होते हैं। इन वर्णनों में कवि ने परंपरानुकूल संयुक्ताक्षरों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

कामललिया।
जाणइ जाय राय मणु रावणु राम सेरहिं संगरे।
जा जम पट्टणं मिण पवट्टइ तापइ सेह अंतरे॥

---

१ स्वभाव नियति काल ईश्वर आत्म कर्त्तृत्वानि।
जीवाजीव श्रव संवर निर्ज्जरावंध मोक्ष पुण्य पापानि।
स्वतः परतः नित्यानित्याः एतेषां सदृष्टि ४९४००००००
अनयनं परस्पर घातेन॥ १८० उक्तंच॥

ण पेच्छसि लंकेस लंकाविणासं। इमंजंपिउ पंसुणा मुक्कसासं।
पंडतेण तेणा वि संरुद्ध चारं। कयं चाउरंगं वले अंधयारं।
रयंधारए जूरिया के वि वीरा। रणंतो विकुव्वंति अण्णोणु धीरा।
धणुम्मुक्कटंकार सद्दाउ जोहे। विसज्जेइ वाणावली बद्ध कोहे।
चलंते रहे चक्क चिक्कारसद्दे। रहीउ रहीयस्स मेल्लेवि कंदे।
हया हिंसणे आसुरो आसवारे। पधावेइ णिक्खो ज्ज तिक्खा सिधारे।
गए गज्जिए गज्जमाणो गइंदो। समुद्धावए णं मइंदे मइंदो।
महा पक्कले पक्कलोणो वलुक्को। सहक्कंत पाइक्के पाइक्क चक्को।
तलप्पंतं फारक्के फारक्क फारो। पइट्ठो पइझंति दिण्ण प्पहारो।
पिसक्कोह सुंकार सद्दे अभग्गो। सुधाणुक्किए को वि धाणुक्कु लग्गो।
घत्ता–
पडु कोवि पयासहिं। वाण सहासहिं। सीरि उरहुरेहइ पवरु।
णिय करहिं सुदारुणु। पर हिंसारुणु। णावइ फग्गुण दिवसयरु॥
३५. १८

कवि ने निर्वेद भाव जागृत करने वाले वर्णन भी प्रस्तुत किये हैं। निम्नलिखित उद्धरण में कवि ने सांसारिक असारता और मानव की उन्नति-अवनति का हृदयग्राही वर्णन किया है—

तडिव चवल घरिणी सुहासिणी। कासु सासया सिरि विलासिणी॥
उक्तं च ॥गाथा।
उययं चडणं पडणं तिण्णि वि ठाणाइं इक्क दियहंमि।
सूरस्स य एस गई, अण्णस्स य केत्तियं थामं॥ ६.८

अर्थात् जब एक ही दिन में सूर्य जैसे पराक्रमी को भी उदय, उपरिगमन और पतन इन तीनों अवस्थाओं का अनुभव करना पड़ता है तो फिर औरों का क्या कहना ?

इसी प्रकार निम्नलिखित दुवई छन्द में नलिनी दलगत जल बिन्दु के समान जीवन, को चपल बताया गया है—

दुवई—अणिलुल्ललिय ललिय णलिणी दल जल लव चपल जीवियं।
जणु जोवणु घणं ण किं जोवइ वइवस लण दीवियं॥ ६.९

भाषा—कवि ने ग्रन्थ में सरस और अनुप्रासमयी भाषा का प्रयोग किया है।

"ससि कास कुसुम संकास जस, पसर पूर पूरिय दिस।"
"तयलोय लोय लोयणहं पिय"

जैसी मधुर पदावली से ग्रन्थ परिपूर्ण है। कहीं कहीं पर युद्ध प्रसंग में भी कवि ने इसी प्रकार की सरस भाषा का प्रयोग किया है। जैसे निम्नलिखित उद्धरण में रणभूमि की सरिता से तुलना की गई है। दोनों वस्तुओं के अंगों में उपलब्ध धर्मों द्वारा दृश्य को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है—

रेहंति रणंगणे चउत्तुरंग। णं सरि तरलिय चंचल तरंग।
रेहंति रणंगणि चमर विमल। णं सरि वलय चलवलिय धवल।
रेहंति रणंगणे वर रहंग। णं सरसरंत सुंदर रहंग।
रेहहि रणे घोलिर चवल हार। णं सरिउमज्जिरेणेक्कहार।
रेहंहि रणे महइं सविब्भमाइं। णं सरिमण मोहइं विब्भमाइं।
रेहंहि रणे करि मयर द्धयाइं। णं सरि करि मयरइं उद्धयाइं।
रेहंहि रणे कयसज्झ सज्झ साइं। णं सरि वियसंतइं सज्झसाइं।
रेहंहि रणे पंडुर पुंडरीय। णं सरि पप्फुलिय पंडरीय।
रेहंहि रणम्मि रत्तुप्पलाइं। णं सरि वियसिय रत्तुप्पलाइं।
रेहंहि रणे विलसिय रायहंस। णं सरिहे सलक्खण रायहंस।

३६.२

भाषा में अगुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है। निम्नलिखित उद्धरण में युद्ध में प्रयुक्त अनेक वाद्यध्वनियों का संकेत मिलता है——

डुण कट क्रियट क्रियटर त्रट खुत्र।
खु खुंद खंद तक्खे त्रखु भ्रि भ्रि
कुं गिड डु भ्रां भ्रें धोगिद डुधागिद
डुरट मट किटि क्रिय क्रिय क्रियात्र
हथ हप्पु खु खुखु खु क्रिय क्रिय।
थरि थरि थरि रि थरि त्तूय त्तूय तखु तखु तखु।
तखु देत खंदे खंद खंदक्खु।
किरिरिकिरिरि किरि यरि किरि रावहिं।
झं झं झिणि किटि झिणि किटि भावहिं।
ठहुं ठहुं ठहुं ठहुं ठग डुगे डुगे डंगहिं।
झि झि झि त्रां त्रां संजोगहिं।

३५.१२

ग्रन्थ की भाषा में अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। निम्नलिखित छंद में सुन्दर कल्पना की गई है——

कामललिया——

रामण राम राय कुरु पंडव कामिणि कारणे रणे।
घुली रव छलेण अवकित्ति व धाइव दिम्मुहाणणे॥

३५.१

ग्रन्थकार ने ४६ वीं सन्धि के १५ वें कडवक में निम्नलिखित उद्धरण दिया है—— उक्तं च।

संता भोय जि परिहरइ, तहो कंतहो वलि कीसु।
सो दइवेण जि मंडियउ, जासु खडिल्लउ सीसु॥

यह दोहा योगीन्दु के परमात्म प्रकाश में भी निम्नलिखित रूप में मिलता है—

संता विसय जु परिहरइ, वलि किज्जउं हउं तासु।
सो दइवेण जि मुंडियउ, सीस खडिल्लउ जासु।।

२. १३९

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में भी यह दोहा मिलता है—

संता भोग जु परिहरइ, तसु कंतहो बलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुंडिउउं, जसु खल्लिहडउं सीसु।।

८.४.२८९

कवि के सुदंसण चरिउ के समान इस ग्रन्थ में भी छन्दों की बहुलता दृष्टिगत होती है। प्रत्येक सन्धि के प्रत्येक कडवक की समाप्ति पर कवि ने प्रयुक्त छन्द का नाम दे दिया है। आत्म विनय के प्रसंग में कवि ने अपने आपको 'देसी छंदों' से अनभिज्ञ कहा है। इससे प्रतीत होता है कि कवि के समय तक संस्कृत और प्राकृत के छन्दों से अतिरिक्त अनेक प्रकार के अपभ्रंश छन्दों का प्रचलन हो गया था। कवि ने स्थान-स्थान पर छन्दों का दूसरा नाम भी दे दिया है। जैसे—

"वसंत तिलक सिंहोद्धता व णामेदं छंदः"
"तुरंग गति मदनो वा छंदः"
"प्रियंवदा अनंतकोकिला वा नामेदं छंदः" इत्यादि।

कवि ने वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। ग्रन्थ में ६२ के लगभग मात्रिक और २० के लगभग वर्णिक छन्दों का प्रयोग मिलता है।[1]

---

१. इस ग्रन्थ में सुदंसणचरिउ में प्रयुक्त छंदों के अतिरिक्त निम्नलिखित छंद प्रयुक्त हुए हैं—
श्रेणिका, उपश्रेणिका, विषम शीर्षक, हेम मणिमाल, रासाकुलक, मंदरतार, खंडिका, मंजरी, तुरंगगति (मदन), मंदतारावली (कुमुय कुसुमावली), सिंधुर-गति, चारुपदपंक्ति, मनोरथ, कुसुम मंजरी, विश्लोक, मयण-मंजरी, कुसुमछर, भुजंग विलास, हेला, उवविछिया, रासावलय, कामल-लिया, सुंदरमणिभूषण, हंस लील, रक्ता, हंसिणी, जामिणी, मंदरावली, जयंतिया, मंदोद्धता, कामकीड़ा, णागकण्णा, अणंगभूषण, गइंद लील, गुण-भूषण, रुचिरंग, स्त्री, जगन्सार, संगीतकगांधर्व, वालभुजंगललित, चंड, श्रृंगार, पवन, हरिणकुल, अंकणिका, धणराजिका (हेला), अंजनिका, वसंत तिलक, पृथिवी, प्रियंवदा, (अनंतकोकिला), पुप्फमाल, पंतिया, शालिनी, विद्युन्माला, रथोद्धता, कौस्तुभ (तोणक), अशोक मालिनी इत्यादि।

करकंड चरिउ[1]

करकंड चरिउ १० संधियों में रचा हुआ एक काव्य है। इसके रचयिता का नाम मुनि कनकामर है। प्रत्येक संधि के अन्त में इनका नाम लिखा मिलता है। कवि आरम्भ में (१. २. १.) अपने गुरु पंडित मंगलदेव के चरणों का स्मरण करता है। अन्तिम संधि (१०. २८. ३) में भी कवि ने अपने को बुध मंगलदेव का शिष्य कहा है। इसी स्थल पर कवि ने अपने विषय में थोड़ा सा और परिचय दिया है। कवि ब्राह्मण वंश के चन्द्र ऋषि गोत्र में उत्पन्न हुआ था और वैराग्य ले दिगम्बर साधु हो गया था। देशाटन करते करते आसाइय नगरी में पहुँच कर इन्होंने ग्रंथ रचना की (क०च० १०. २८. १–४)

अंतिम संधि के अन्तिम कडवक में कवि ने अपने आश्रयदाता का भी कुछ परिचय दिया है (वही १०. २९. २–१३) किन्तु उसके नाम का कहीं निर्देश नहीं किया।

कवि ने ग्रंथ के निर्माण का समय भी कहीं सूचित नहीं किया। ग्रंथकार ने इसमें सिद्धसेण, सुसमंत भद्द, अकलंक देव, जयदेव, सयंभु और पुप्फयंत (पुष्पदन्त) का उल्लेख किया (वही १. २. ८–९)। पुष्पदन्त ने अपना महापुराण सन् ९६५ ई० में समाप्त किया अतः कनकामर इस काल के पश्चात् ही मानने पड़ेंगे। प्रो० हीरालाल जैन ने इस ग्रंथ का समय सन् १०६५ ई० के लगभग स्वीकार किया है और आसाइय नगरी को कहीं बुन्देलखंड प्रान्त में माना है (वही पृ० ४)।

कवि ने यह ग्रंथ जैन धर्म की दृष्टि से लिखा है किन्तु जैन धर्म के गंभीर तत्वों का विश्लेषण कवि का लक्ष्य न था। जैन धर्म के सदाचारमय जीवन का दिग्दर्शन ही कवि को अभिप्रेत था। उपवास, व्रत, देशाटन, रात्रिभोजन निषेध आदि अनेक सर्वसाधारण अंगों का उल्लेख कवि ने ग्रंथ में किया है। हिन्दुओं के देवताओं का भी ग्रंथ में उल्लेख मिलता है।[2] महाभारत के पात्र अज्जुण—अर्जुन—का उल्लेख भी कवि ने किया है (क. च. १०.२२.७)।

ग्रंथ में अन्य धर्मों के तत्वों का खंडन नहीं मिलता इससे कवि के हृदय में धार्मिक संकीर्णता के अभाव की सूचना मिलती है। ग्रंथ सर्व-साधारण जनता के लिए लिखा गया प्रतीत होता है और संभवतः जैन धर्म के साधारण अंगों का सर्व-साधारण में प्रचार ही कवि का लक्ष्य था।

कथानक—इस ग्रंथ में करकंडु महाराज का चरित्र-वर्णन किया गया है। संक्षेप में कथा इस प्रकार है। अंग देश की चम्पा पुरी में धाड़ी वाहन राजा राज्य करते थे। एक बार राजा कुसुमपुर गये और एक युवती पर मुग्ध हो गये। युवती के संरक्षक माली से यह जानकर कि वह राजपुत्री पद्मावती है परन्तु जन्म समय के अपशकुन के विचार से

---

१. प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, कारंजा जैन—ग्रंथमाला, बरार, १९३४ ई.

२. बलभद्र, हरि ९.५.५; बलभद्र, यम, वरुण ९.७.८-९; वलराव, णरायण १०.२५.३; हरि, हर, बम्ह, पुरंदर १०.८.९–१०.

उसका परित्याग कर दिया था—राजा ने उससे विवाह कर लिया। गर्भवती होने पर उसकी इच्छा हुई कि पुरुषवेश में अपने पति के साथ एक ही हाथी पर नगर की सैर करूँ। तदनुसार प्रबन्ध हुआ पर हाथी राजा और रानी को लेकर जंगल भाग निकला। रानी ने राजा को जैसे तैसे अपनी प्राण-रक्षा के लिए विवश किया किन्तु स्वयं उसी पर सवार रही। हाथी एक जलाशय में घुसा। रानी ने कूद कर वन में प्रवेश किया। वन हरा भरा हो गया। यह देख वनमाली रानी को बहिन बना कर घर ले गया। मालिन ने पद्मावती के अनन्त सौन्दर्य पर ईर्ष्या कर एक दिन घर से निकाल दिया। रानी निराश हो श्मशान में चली गई और वहीं उसने पुत्र रत्न को जन्म दिया—जिसे एक चांडाल उठा ले चला। रानी के विरोध करने पर उसने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं यथार्थ में विद्याधर हूँ। मुनि के शाप से मातंग-चांडाल हो गया हूँ। शाप के प्रतीकार के लिए मुनि ने यही बतलाया था कि दन्तिपुर के श्मशान में करकंड का जन्म होने पर उसे ले जाकर उसका पालन-पोषण तब तक करना जब तक कि बड़ा होने पर उसे राज्य न मिल जाये—तभी उसका शाप भी मिट जायगा। यह सुनकर रानी ने अनिच्छापूर्वक पुत्र को मातंग के हाथ सौंप दिया। मातंग ने उसे स्वयं अत्यन्त योग्य बनाया। उसके हाथ पर कंडु—खुजली होने से उसका नाम करकंड पड़ गया। युवावस्था में दन्तिपुर नरेश के स्वर्गवासी होने पर एक विचित्र विधि से करकंड राज सिंहासन पर आसीन हुए। कुछ समय पश्चात् ही उनका विवाह गिरिनगर की राजकुमारी मदनावती से हो गया।

एक बार चम्पा के राजा का दूत आया और उसने करकंडु से चम्पा नरेश का आधिपत्य स्वीकार करने की प्रेरणा की। करकंडु ने क्रोध में आकर चम्पा पर धावा बोल दिया। घोर युद्ध हुआ। रानी पद्मावती ने समय पर उपस्थित होकर पिता पुत्र का मेल करा दिया। धाड़ीवाहन पुत्र पाकर आनन्द में भर गये और अपना राज्य उसे सौंप वैराग्य धारण कर लिया।

करकंडु ने अपने साम्राज्य का खूब विस्तार कर एक दिन मन्त्री से प्रश्न किया कि —हे मंत्री अभी भी क्या कोई राजा है जो मुझे मस्तक न नमाता हो? मंत्री ने कहा महाराज! चोल, चेर और पांड्य नरेश आप के प्रभुत्व को नहीं मानते। राजा ने तुरन्त उन चढ़ाई कर दी।

उसके पश्चात् एक विषादपूर्ण घटना हुई। एक विद्याधर हाथी का रूप धारण कर मदनावली को हर ले गया। करकंडु पत्नी-वियोग से बहुत ही विह्वल हो गये। एक पूर्व जन्म के संयोगी विद्याधर ने उनके संयोग का आश्वासन दिया। वह आगे बढ़े। सिंहल द्वीप पहुँच कर वहाँ की राजकुमारी रतिवेगा का पाणिग्रहण किया। उसके साथ जब नौका में लौट रहे थे, तब एक मच्छ ने उनकी नौका पर आक्रमण किया। वह उसे मारने समुद्र में कूद पड़े। मच्छ मारा गया पर वह नाव पर न आ सके। उन्हें एक विद्याधर-पुत्री हर ले गई। रतिवेगा ने किनारे पर आकर शोक से अधीर हो पूजा पाठ प्रारम्भ कर दिया जिससे पद्मावती ने प्रकट हो उसे आश्वासन दिया। उधर विद्याधरी ने अपने पिता की आज्ञा लेकर उन्हें अपना पति बना लिया। वहाँ के ऐश्वर्य का उपभोग

कर अपनी नववधू सहित वह फिर रतिवेगा से आ मिले।

अब उन्होंने चोल, चेर और पांडु नरेशों की सम्मिलित सेना का सामना किया और उन्हें हरा कर प्रण पूरा किया। उनके मस्तकों पर पैर रखते ही उन्हें उनके मुकुटों पर जिन प्रतिमा के दर्शन हुए। यह देख राजा को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने राज्य पुनः उन्हें लौटाना चाहा पर वे स्वाभिमानी द्रविड़ नरेश यह कह कर तपस्या करने चले गये कि अब हमारे पुत्र पौत्रादि ही आपकी सेवा करेंगे। वहाँ से वह फिर तेरापुर आये। यहाँ कुटिल विद्याधर ने मदनावली को लाकर सौंप दिया। वह फिर चम्पा पुरी आकर राज सुख का आनन्द लूटने लगे।

एक दिन वनमाली ने आकर समाचार दिया कि नगर के उपवन में शील-गुप्त नामक मुनिराज पधारे हैं। राजा पुर-परिजन सहित अत्यन्त भक्तिभाव से उनके चरणों में उपस्थित हुए और अपने जीवन सम्बन्धी अनेक प्रश्न पूछे––मुनिराज ने पूर्व जन्म के उल्लेख के साथ उनका यथोचित समाधान किया। सब वृत्तान्त सुन कर करकंडु को वैराग्य हो गया और वह अपने पुत्र वसुपाल को राज्य देकर मुनि हो गये। उनकी माता पद्मावती भी अर्जिका हो गई और उनकी रानियों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया। करकंडु ने घोर तपश्चर्या करके केवल ज्ञान और मोक्ष प्राप्त किया।

चरित नायक की कथा के अतिरिक्त कथा के अन्दर नौ अवान्तर कथाओं का वर्णन है। प्रथम चार द्वितीय संधि में वर्णित हैं। इनमें क्रमशः मंत्र शक्ति का प्रभाव, अज्ञान से आपत्ति, नीच संगति का बुरा परिणाम और सत्संगति का शुभ परिणाम दिखाया गया है। पाँचवीं कथा, एक विद्याधर ने मदनावली के विरह से व्याकुल करकंडु को यह समझाने के लिए सुनाई, कि वियोग के बाद भी पति पत्नी का संमिलन हो जाता है। छठी कथा पाँचवीं कथा के अन्तर्गत एक अन्य कथा है। सातवीं कथा (७. १–४) शुभ शकुन का फल बताने के लिए कही गई है। आठवीं (८. १–१६) कथा पद्मावती ने समुद्र में विद्याधरी द्वारा करकंडु के हरण किये जाने पर शोकाकुला रतिवेगा को सुनाई। नौवीं कथा आठवीं कथा का प्रारम्भिक भाग है जो एक तोते की कथा के रूप में स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। वह नौवीं कथा मुनिराज ने करकंडु की माता पद्मावती को यह बताने के लिए सुनाई कि भवान्तर में नारी अपने नारीत्व का त्याग भी कर सकती है।

इनमें से कुछ कथाएँ तत्कालीन समाज में प्रचलित होंगी या कवि की अपनी कल्पना होगी किन्तु अनेक कथाएँ संस्कृत साहित्य में उपलब्ध होती हैं। आठवीं कथा को पढ़ कर बाण कृत कादम्बरी के वैशम्पायन शुक का स्मरण हो आता है।

ये कथाएँ मूल कथा के विकास में अधिक सहायक नहीं हो पातीं। किसी भी घटना को समझाने के लिए एक स्वतन्त्र कथा का वर्णन, पंचतंत्र के ढंग पर, या अन्य आख्यायिकाकारों की शैली पर, इस ग्रंथ में उपलब्ध होता है। इन कथाओं के आधार पर कवि ने कथा वस्तु को रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। वस्तु में रसोत्कर्ष, पात्रों की चरित्रगत विशेषता और काव्यों में प्राप्य प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन के अभाव को, कवि ने भिन्न-

भिन्न कथाओं के प्रयोग द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया है।

करकंड चरिउ एक धार्मिक काव्य है और अन्य ग्रंथों के समान अनेक अलौकिक और चमत्कार पूर्ण घटनाओं से युक्त है। काव्य प्राचुर्य की अपेक्षा घटना प्राचुर्य ग्रंथ में दृष्टिगत होता है।

काव्य का चरित नायक पौराणिक पात्र है। पौराणिक, काल्पनिक और अलौकिक घटनाओं के कारण कथानक में संबंध निर्वाह भली भाँति नहीं हो पाया। प्रबंध में कवि का ध्यान यथार्थ की अपेक्षा आदर्श की ओर अधिक है।

पात्र—कथा में मुख्य पात्र करकंडु है वही कथा का नायक है। इसके अतिरिक्त करकंडु की माता पद्मावती, मुनि शीलगुप्त, मदनावली, रति वेगा आदि अन्य पात्र भी हैं। इन सब में करकंडु के चरित्र का विकास ही पूर्ण रूप से दिखाई देता है। मुनि शीलगुप्त और पद्मावती का चरित्र भी कुछ अंशों में कवि विकसित कर सका है।

करकंडु धीरोदात्त गुण विशिष्ट बहुपत्नीक नायक है। काव्य में करकंडु की धीरता के दर्शन तो भलीभाँति होते हैं किन्तु उसकी उदात्तता संदिग्ध है। नायक के अन्दर वीरता, स्वाभिमान, उत्साह, मातृ भक्ति आदि गुणों का विकास भलीभाँति दिखाई देता है।

मुनि शीलगुप्त के चरित्र में भी एक जैन महात्मा के अन्दर पाये जाने वाले सब गुणों के दर्शन हो जाते हैं। पद्मावती के अन्दर पुत्र प्रेम, वात्सल्य और नारीत्व से छुटकारा पाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

वर्ण्य विषय—काव्य में मानव जगत् और प्राकृतिक जगत् दोनों का वर्णन पाया जाता है। मानव हृदय के भावों का चित्रण कवि-हृदय ही कर सकता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति में यद्यपि समान रूप से तीव्रता नहीं पाई जाती तथापि भावानुभूति की तीव्रता में संदेह नहीं।

करकंड के दन्तिपुर में प्रवेश करने पर पुर नारियों के हृदय की व्यग्रता का चित्रण कवि ने सुन्दरता से किया है।

तहिं पुरवरि खुहियउ रमणियाउ। झाणट्ठिय मुणिमण दमणियाउ।
कवि रहसइं तुरलिय चलिय णारि। विहडप्फउ संठिय का वि वारि।
क वि धावइ णव णिव णेह लुद्ध। परिहाणु न गलियउ गणइ मुद्ध।
क वि कज्जलु बहलउ अहरे देइ। णयणल्लएं लक्खारसु करेइ।
णिग्गंथ वित्ति क वि अणु सरेइ। विवरीउ डिंभु क वि कडिहिं लेइ।
क वि णेउरु करयलि करइ बाल। सिरु छंडिवि कडियले धरइ माल।
णिय णंदणु मण्णिवि क वि वराय। मज्जारु ण मेल्लइ साणुराय।

घत्ता–क वि माण महल्ली मयणभर। करकंडहो समुहिय चलिय।
थिर थोर पओहरि मयणयण। उत्तत्त कणय छवि उज्जलिय ॥[1]
३.२.१–१०

अर्थात् करकंड के आगमन पर ध्यानावस्थित मुनियों के मन को विचलित करने वाली सुन्दरियाँ भी विक्षुब्ध हो उठीं। कोई स्त्री आवेग से चंचल हो चल पड़ी, कोई विह्वल हो द्वार पर खड़ी हो गई, कोई मुग्धा प्रेम लुब्ध हो दौड़ पड़ी, किसी ने गिरते हुए वस्त्र की भी परवाह न की, कोई अधरों पर काजल भरने लगी, आँखों में लाक्षारस लगाने लगी, कोई दिगम्बरों के समान आचरण करने लगी, किसी ने बच्चे को उलटा ही गोदी में ले लिया, किसी ने नूपुर को हाथ में पहना, किसी ने सिर के स्थान पर कटि प्रदेश पर माला डाल दी, और कोई बेचारे बिल्ली के बच्चे को अपना पुत्र समझ सप्रेम छोड़ना नहीं चाहती।.......कोई स्थिर और स्थूल पयोधर वाली, तप्त कनक छवि के समान उज्ज्वल वर्ण वाली, मृगनयनी, मानिनी कामाकुल हो करकंड के सामने चल पड़ी।

इसी प्रकार मुनिराज शीलगुप्त के आगमन पर पुर-नारियों के हृदय में उत्साह और उनके दर्शन की उत्सुकता का वर्णन कवि ने निम्न शब्दों में किया है—

क वि माणिणि चल्लिय ललिय देह। मुणि चरण सरोयहं बद्धणेह।
क वि णेउर सद्दें रण झणंति। संचल्लिय मुणिगुण णं थुणंति।
क वि रमणु ण जंतउ परिगणेइ। मुणि दंसणु हियवएं सइं मुणेइ।
क वि अक्खय धूव भरेवि थालु। अइरहसइं चल्लिय लेवि बालु।
क वि परमलु बहलु वहंति जाइ। विज्जाहरि णं महियलि विहाइ।[2]
९. २. ३–७

अर्थात् कोई सुन्दरी मानिनी मुनि के चरण कमलों में अनुरक्त हो चल दी। कोई नूपुर शब्दों से झनझन करती हुई मानो मुनि गुण गान करती हुई चल पड़ी। कोई मुनिदर्शनों का हृदय में ध्यान धरती हुई जाते हुए पति का भी विचार नहीं करती। कोई थाल में अक्षत और धूप भर कर बच्चे को ले वेग से चल पड़ी। कोई सुगंध युक्त जाती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानो विद्याधरी पृथ्वी पर शोभित हो रही हो।

ग्रंथ में भौगोलिक प्रदेशों के वर्णन भी कवि ने अनेक स्थलों पर किए हैं। इन वर्णनों में मानव जीवन का संबंध सर्वत्र दृष्टिगत होता है। अंग देश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

---

१. रहसइं—रभसेन, सहसा। विहडप्फड—विह्वल। वारि द्वार पर। णिव—नृप। णयलुल्लएं—नयन उल्ल (स्वार्थ में)। णिग्गंथ वित्ति—निर्ग्रन्थ वृत्ति। विवरीउ—विपरीत। वराय—वराका। मेल्लइ—छोड़ती है। थोर—स्थूल।
२. थुणंति—स्तुति करती हुई। जंतउ—यान्त, जाते हुए को। मुणेइ—विचारती है। अइरहसइं—अतिरभसेन, अति वेग से।

छखंड भमि रयणहं णिहाणु रयणायरो व्व सोहायमाणु।
एत्थत्थि रवण्णउ अंगदेसु महि महिलइं णं किउ दिव्व वेसु।
जहिं सरवरि उग्गय पंकयाइं णं धरणि वयणि णयणुल्लयाइं।
जहिं हालिणि रूवणिवद्धेणेह संल्लहिं जक्ख णं दिव्व देह।
जहिं बालहिं रक्खिय सालिखेत्त मोहेविणु गीयएं हरिण खंत।
जहिं दक्खइं भुंजिवि दुहु मुयंति थल कमलहिं पंथिय सुहु सुयंति।
जहिं सारणि सलिल सरोय पंतिं अइरेहइ मेइणि णं हसंति।
१. ३. ४-१०

अर्थात् अंगदेश ऐसा सुन्दर है मानो पृथ्वी रूपी नारी ने दिव्य वेश धारण कर लिया हो। जहाँ सरोवरों में उगे हुए कमल पृथ्वी-मुख पर नयनों के समान प्रतीत हो रहे हैं। जहाँ कृषक बालाओं के सौन्दर्य से आकृष्ट हो दिव्य देहधारी यक्ष भी स्तंभित और गतिशून्य हो खड़े रह जाते हैं। जहाँ चरते हुए हरिणों को गान से मुग्ध करती हुई बालाएँ शाली क्षेत्रों की रक्षा कर रही हैं। जहाँ द्राक्षाफलों का उपभोग करते हुए पथिक मार्ग के श्रमजन्य दुःख को खो देते हैं। जहाँ मार्ग में सरोवरों में खिले कमलों की पंक्ति शोभायमान हो रही है मानो हँसती हुई पृथ्वी शोभायमान हो रही हो।

इन भौगोलिक वर्णनों के अतिरिक्त राजा धाड़िवाहन का वर्णन (१.५), श्मशान का वर्णन (१.१७), राज प्रसाद का वर्णन (३.३), सिंहल द्वीप वर्णन (७.५) आदि प्रसंग भी काव्यमय हैं।

रस—काव्य में वीर रस के अनेक प्रसंग मिलते हैं। किसी स्त्री के सौंन्दर्य पर मुग्ध हो उसे पाने की इच्छा से युद्ध नहीं होता अपितु युद्ध के परिणामस्वरूप पराजित राजाओं की राज पुत्रियाँ करकंडु के आगे आत्मसमर्पण कर देती हैं। एवं युद्ध की समाप्ति अनेक विवाहों में परिणत होती है। विवाह युद्ध के परिणाम स्वरूप हैं। इस प्रकार कवि ने वीर रस को शृङ्गार की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। वीर रस का भी अन्ततोगत्वा शान्त रस में पर्यवसान होता है।

काव्य में उत्साह भाव को उद्बुद्ध करने वाले अनेक सुन्दर वर्णन मिलते हैं। चम्पाधिपति युद्ध के लिए प्रस्थान करता है—

ताव सो उट्ठिओ धाइया किंकरा। संगरे जे वि देवाण भीयंकरा।
वायु वेया हया सज्जिया कुंजरा। चक्क चिक्कार संचल्लिया रहवरा।
हक्क डक्कार हुंकार मेल्लंतया। धाविया के वि कुंताइं गेण्हंतया।
के वि सम्माणु सामिस्स मण्णंतया। पायपोमाण रायस्स जे भत्तया।
चावहत्था पसत्था रणे दुद्धरा। धाविया ते णरा चारुचित्ता वरा।
के वि कोवेण धावंति कप्पंतया। के वि उग्गिण्ण खग्गेंहि दिप्पंतया।
के वि रोमंच कंचेण संजुत्तया। के वि सण्णाह संवद्ध संगत्तया।
के वि संगाम भूमी रसे रत्तया। सग्गिणी छंद मग्गेण संपत्तया।

घत्ता--चंपाहिउ णिग्गउ पुरवरहो हरि करि रहवर परियरिउ।
उद्दंड चंड परिवरकरहिं भणु केहिं ण केहिं ण अणु सरिउ ॥[1]

३. १४. १-१०

कवि ने सैनिकों, घोड़ों, हाथियों और रथों की गति के अनुकूल ही छंद का प्रयोग किया है। छंद की गति से ही सेना के प्रयाण का आभास मिल जाता है। वास्तविक युद्ध आरम्भ होने पर शस्त्र संपात की तीव्र गति और सहसा प्रभाव के साथ ही छंद भी बदल जाता है--

ता हयइं तूराइं भुवणयल पूराइं।
वज्जंति वज्जाइं सज्जंति सेण्णाइं।
आणाए घडियाइं परबलइं भिडियाइं।
कुंताइं भज्जंति कुंजरइं गज्जंति।
रहसेण वग्गंति करि दसणे लग्गंति।
गत्ताइं तुट्टंति मुंडाइं फुट्टंति।
रुंडाइं धावंति अरि थाणु पावंति।
अंताइं गुप्पंति रुहिरेण थिप्पंति।
हड्डाइं मोडंति गीवाइं तोडंति।

घत्ता--के वि भग्गा कायर जे वि णर के वि भिडिया के वि पुणु।
खग्गु ग्गामिय के विभड मंडेविणु थक्का के वि रणु ॥[2]

३. १५. १-११

युद्ध गत भिन्न-भिन्न क्रियाओं और चेष्टाओं का सजीव चित्र उचित शब्द योजना द्वारा कवि ने पाठकों के सामने प्रस्तुत कर दिया है।

करकंड क्रुद्ध हो अपने धनुष को हाथ में ले लेता है। उसका प्रभाव क्या होता है, कवि वर्णन करता है—

रोसं वहंतेण करे धणु हु किउ तेण।
तहो चप्पे गुणु दिण्णु तं पेखि जणु खिण्णु।
ता गयणे गुण सेव खोहं गया देव।
टंकार सद्देण घोरें रउद्देण।
धरणि यलु तडयडिउ तस कुम्मु कडयडिउ।

---

१. चक्क चिक्कार--चक्र का शब्द। कुंताइं--भाले। चावहत्था--धनुष हाथ में लिये हुए। रोमंच कंचेण--रोमांचित शरीर से। सण्णह--कवच। सग्गिणी--स्वर्गिणी, सुग्विणी छंद।

२. रहसेण वग्गंति--शीघ्रता से चलते हैं। अंताइं गुप्पंति--आंतें स्थान भ्रष्ट हो जाती हैं। भग्गा कायर जे वि णर--कुछ मनुष्य जो कायर थे भाग गये। थक्का--स्थित हुए।

भुवणयलु खलभलिउ गिरि पवरु टलटलिउ ।
मयरहरु झलझलिउ धरणिंदु सलवलिउ ।
खगणाहु परिसरिउ सुरराउ थर हरिउ ।
घत्ता—सो सद्दु सुणेविण धणु गुणहो रह भग्गा णट्ठा गय पवर ।
मउ गलियउ चंपणराहिवहो भयभीय ण चल्लहिं कहिं खयर ॥[१]
३. १८. २–११

शृङ्गार में संयोग वियोग दोनों पक्षों का वर्णन है। नारी रूप वर्णन में कवि ने परंपरा का आश्रय लिया है। भिन्न-भिन्न अंगों की सुन्दरता के लिए परंपरागत उपमान ही अधिकता से पाये जाते हैं। पद्मावती के रूप-वर्णन में अधरों की रक्तिमा का कारण आगे उठी हुई नासिका की उन्नति पर अधरों का कोप-कल्पित किया गया है। इस एक उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त शेष वर्णन प्रायः प्राचीन रूढ़ि पर ही आश्रित हैं। कवि का ध्यान शारीरिक सौंदर्य तक ही जा पाया है। पद्मावती के हृदय के सौंदर्य की ओर निर्देश नहीं मिलता।

वियोग पक्ष में नायक-वियोग और नायिका-वियोग दोनों का वर्णन मिलता है। नायिका के वियोग वर्णन में जो तीव्रता है वह नायक-वियोग में नहीं दिखाई देती।

करकंड के वियोग पर रतिवेगा के विलाप से समुद्र जल विक्षुब्ध हो उठा, नौकाएँ परस्पर टकराने लगीं। हा हा का करुण शब्द उठ पड़ा, उसके शोक से मनुष्य व्याकुल हो गये—

घत्ता—हल्लोहलि हूयउ सयलु जलु अपरंपरि जाणइं संचलहिं।
हा हा रउ उट्ठिउ करुणसरु तहो सोएं णरवर सलवलहिं॥
७. १०. ९–१०

रतिवेगा विलाप करने लगी—

जा णरपंगणु वियसिय आणणु जलि पडिउ।
ता सयलहिं लोयहिं पसरिय सोयहिं अइउरिउ॥
रइवेय सुभामिणि णं फणि कामिणि विमणभया।
सव्वंगे कंपिय चित्ति चमक्किय मुच्छगया।
किय चमर सुवाएं सलिल सहाएं गुणभरिया।
उट्ठाविय रमणिहिं मुणिमण दमणिहिं मणहरिया॥
सा करयल कमलहिं सुललिय सरलहिं उरु हणइ।
उव्वाहुलणयणी गग्गिर वयण पुणु भणइ॥
हा वइरिय वइवस पावमलीमस किं कियउ।

---

१. गुण सेव—गुणसेवी। खोहं—क्षोभ को। कुम्मु—कूर्म जिस की पीठ पर पृथ्वी स्थित है। मयर हरु झलझलिउ—मकरों का घर, समुद्र विक्षुब्ध हो गया। सलवलिउ—कांप उठा। परिसरिउ—चकरा गया। मउ—मद।

मइं आसि वरायउ रमणु परायउ किं हियउ ॥
हा दइव परम्मुह दुण्णय दुम्मुह तुहुं हुयउ ।
हा सामि सलक्खण सुट्ठु वियक्खण कहिं गयउ ।
महो उवरि भडारा णरवर सारा करुण करि ।
दुहु जलहिं पडंती पलयहो जंती णाह धरि ॥
हउं णारि वराइय आवइं आइय को सरउं ।
परि छंडिय तुम्हहिं जीवमि एवहिं किं मरउं ॥
इय सोय विमुद्धइं लवियउ मुद्धइं जं हियइं ।
हउं बोल्लिसु तइयहुं मिलिहइ जइयहुं मज्झु पहि ।[1]

७.११.–१८

छंद की योजना द्वारा कवि ने नारी-विलाप की ध्वनि को कर्ण गोचर कराया है। वियोग-वर्णन में शरीर-ताप की मात्रा को सूचित करने वाले ऊहात्मक प्रसंगों का अभाव है। अनुभाव के प्रयोग से वियोग दृश्य के प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। रति वेगा के शब्दों से पाठक उसके हृदय के साथ सहानुभूति का अनुभव करता है। सारा वर्णन संवेदनात्मक है। कवि ने वियोगजन्य दुःख के हृदय पड़ने वाले प्रभाव को अंकित करने का प्रयास किया है। रति वेगा की आभ्यान्तर स्थिति का बाह्य जगत् में प्रतिबिम्ब भी, ऊपर के घत्ता में, स्पष्ट दिखाई देता है।

मदनावली के विलुप्त हो जाने पर करकंड विलाप करता है (क० च० ५.१५)। व्याकुल हो कभी भाग्य को कोसता है कभी पशुओं से पूछता है। किन्तु यह वर्णन उतना हृदयस्पर्शी नहीं जितना पूर्व का।

निर्वेद भाव—को उद्दीप्त करने वाले अनेक प्रसंग मिलते हैं। पुत्र-वियुक्ता विलाप करती हुई स्त्री को देख करकंड के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह कहता है—

तं सुणिवि वयणु रायाहिराउ संसारहो उवरि विरत्तभाउ ।
धी धी असुहावउ मच्चलोउ दुहु कारणु मणुवहं अंगभोउ ।
रयणायर तुल्लउ जेत्थु दुक्खु महु बिंदु समाणउ भोयसुक्खु ।
घत्ता–हा माणउ दुक्खइं दड्ढतणु विरसु रसंतउ जहिं मरइ ।
भणु णिग्घिणु विसयासत्तमणु सो छंडिवि को तहिं रइ करइ ॥

९. ४. ६–१०

मर्त्यलोक में समुद्र के समान विशाल दुःख है और मधु बिंदु के समान स्वल्प भोग

---

१. जाणइं—यान, नौकायें। संचलहिं—टकराते हैं। सोएं—शोक से। मुच्छ—मूर्छा। उट्ठाविय—उठाई गई। उव्वाहुल—उत्सुक। वइवस—वैवस्वत, यम भाग्य। हियउ—हर लिया। करि—क। दुहु—दुःख। वराइय—वराका। आवइं—आपत्ति में। सरउं—स्मरण करूं। पइ—पति।

सुख है। कवि ने इन शब्दों द्वारा दुःख की विशालता, गंभीरता, क्षारता, अनुपादेयता और सुख की मधुरता, स्वल्पता, दुर्लभता आदि अनेक भावों की व्यंजना कर दी है।

संसार की नश्वरता और अस्थिरता का वर्णन करता हुआ कवि आगे कहता है—

कम्मेंण परिट्ठिउ जो उवरे जमरायएं सो णिउ णिययपुरे।
जो बालउ बालहिं लालियहु सो विहिणा णियपुरि चालियउ।
णव जोव्वणि चडियउ जो पवरु जमु जाइ लएविणु सो जि णरु।
जो बूढउ वाहिसएहिं कलिउ जमदूयहिं सो पुणु परिमलिउ।
बलभद्दएं सहुं हरि अतुलबलु सो विहिणा णीयउ करिवि छलु।
छक्खंड वसुंधर जेहिं जिया चक्केसर ते कालेण णिया।
विज्जाहर किंणर जे खयरा बलवंता जममुहे पडिय सुरा।
फणि णाहइं सरिसउ अमरवइ जमु लितउ कवणु वि णउ मुअइ।
घत्ता—णउ सोत्तिउ बंभणु परिहरइ णउ छंडइ तवसिउ तवि ठियउ।
धणवंतु ण छुट्टइ ण वि णिहणु जह काणणे जलणु समुट्ठियउ॥

९. ५. १-१०.

काल के प्रभाव से कोई नहीं बचता। युवा, वृद्ध, बालक, चक्रवर्ती, विद्याधर, किन्नर, खेचर, सुर, अमरपति सब काल के वशवर्ती हैं। घत्ता-गत दृष्टान्त के द्वारा भाव सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है। जंगल में आग लग जाने पर श्रोत्रिय ब्राह्मण, तपस्वी, धनवान, निर्धन कोई नहीं बचता।

सांसारिक विषयों की क्षणभंगुरता की ओर निर्देश करता हुआ कवि आगे कहता है—

दइवेण विणिम्मिउ देहु जं पि लायण्णउ मणुवहं थिरु ण तं पि।
णव जोव्वणु मणहरु जं चडेइ देवहिं वि ण जाणिउ कहिं पडेइ।
जे अवर सरीरहिं गुण वसंति ण वि जाणहुं केण पहेण जंति।
ते कायहो जइ गुण अचल होंति संसारहं विरइं ण मुणि करंति।
करिकण्ण जेम थिर कहिं ण थाइ पेक्खंतहं सिरि णिण्णासु जाइ।
जह सूयउ करयलि थिउ गलेइ तह णारि विरत्ती खणि चलेइ।
भू णयण वयण गइ कुडिल जाहं को सरल करेवइं सक्कु ताहं।
मेल्लंती ण गणइ सयण इट्ठ सा दुज्जण मेत्ति व चल णिकिट्ठ।
घत्ता—णिज्झायइ जो अणुवेक्ख चल वइराय भाव संपत्तउ।
सो सुरहर मंडणु होइ णरु सुललिय मणहर गत्तउ॥[1]

९. ६

इस संसार में प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है। वह अकेला ही संसार

---

१. लायण्णउ—लावण्य। थाइ—ठहरती। सिरि—श्री। सूयउ—पारा। मेल्लंती—छोड़ती हुई। मेत्ति—मैत्री। सुरहर—सुर गृह। मणहर गत्तउ—मनोहर गात्र वाला।

से विदा होता है और अकेला ही कर्मानुकूल सुख दुःख भोगता है। अन्तिम समय में न बन्धु बान्धव और न धन उसके साथ जाता है।

जीवहो सुसहाउ ण अत्थि को वि णरयम्मि पडंतउ धरइ जो वि।
सुहि सज्जण णंदण इट्ठ भाय ण वि जीवहो जंतहो ए सहाय।
णिय जणणि जणणु रोवंतयाइं जीवें सहुं ताइं ण पउ गयाइं।
धणु ण चलइ गेहहो एक्कु पाउ एक्कलउ भुजंइ धम्मु पाउ।
तणु जलणि जलंतइं परिवडेइ एक्कलउ वइवसघरि ज चडेइ।
जहिं णयण णिमेसु ण सुहु हवेइ एक्कलउ तहिं दुहु अणु हवेइ।
अहि णउल सीह वणयरहं मज्झे उप्पज्जइ एक्कु वि जिउ असज्झे।
सुर खेयर किंणर सुहयगाम तहिं भुंजइ एक्कु वि जियइ जाम।
घत्ता--इह अणु वेक्खा जो अणुसरइ सीलें मंडिवि णिययतणु।
सासयपए सो सुहणिलए एक्कलउ सोहइ मुक्कतणु ॥[१] ९.९

प्रकृति वर्णन—कवि ने यद्यपि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया है किन्तु वर्णनों में कोई विशेष चमत्कार और नवीनता नहीं मिलती। कवि का हृदय प्रकृति में भली भाँति रम नहीं पाया। प्रकृति उसके हृदय में वह स्पन्दन और स्फूर्ति नहीं पैदा कर सकी जो इस के पूर्व पुष्पदन्त आदि कवियों में दिखाई देती है। उदाहरण के लिए एक दो प्रसंग नीचे दिये जाते हैं।

करकंड के प्रयाण करते हुए मार्ग में उसे गंगा नदी मिलती है। गंगा का वर्णन कवि ने निम्न शब्दों में किया है—

गंगा पएसु संपत्तएण गंगाणइ दिट्ठी जंतएण।
सा सोहइ सियजल कुडिलवंति णं सेयभुवंगहो महिल जंति।
दूराउ वहंती अइ विहाइ हिमवंत गिरिंदहो कित्ति णाइ।
बिहिं कूलहिं लोयहिं ण्हंतएहिं आइच्चहो जलु परिदितएहिं।
दब्भं किय उड्ढहिं करयलेहिं णइ भणइ णाइं एयहिं छलेहिं।
हउं सुद्धिय णिय मग्गेण जामि मा रूसहि अम्हहो उवरि सामि।
३. १२. ५-१०.

अर्थात् शुभ्र जल युक्त कुटिल प्रवाह वाली गंगा ऐसी शोभित हो रही थी मानो शेष नाग की स्त्री जा रही हो। दूर से बहती हुई गंगा अत्यधिक शोभित हो रही थी मानो गिरिराज हिमाचल की कीर्ति प्रवाहित हो रही हो। दोनों कूलों पर लोग स्नान कर रहे थे, आदित्य को जल दे रहे थे, मानों दर्भयुक्त दोनों हाथ ऊपर उठाये हुए गंगा कह रही हो—हे स्वामिन् (करकंड) मैं छल रहित शुद्ध हूँ, अपने मार्ग पर जा रही हूँ मुझ

---

१. पउ--पद, पैर। पाउ--पाप। वइवस--वैवस्वत, यम। अणुहवेइ—अनुभव करता है। सुहय गाम—सुभग ग्राम। जाम--यावत्। सासय पए--शाश्वत पद में।

से क्रुद्ध न हो।

कवि के वर्णन में स्वाभाविकता है। गंगा जल की शुभ्रता और उसमें हिमाचल की कीर्ति कल्पना परंपराभुक्त है। कवि प्रकृति को जड़ नहीं समझता।

सरोवर का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

जल कुंभि कुंभ कुंभइं धरंतु तण्हाउर जीवहं सुहु करंतु।
उद्दंड णलिणि उण्णइ वहंतु उच्छलिय मीर्णाहं मणु कहंतु।
डिंडीर पिंड रयर्णाहं हसंतु अइ णिम्मल पउर गुर्णाहं जंतु।
पच्छण्णउ वियसिय पंकएहिं णच्चंतउ विविह विहंगएहिं।
गायंतउ भमरावलि रवेण धावंतउ पवणाहय जलेण।
णं सुयणु सुहावउ णयणइट्ठु जलभरिउ सरोवरु तेहिं दिट्ठु।

४. ७. ३–८.

यहां पर भी कवि सरोवर को जड़ और स्पन्दन रहित नहीं देखता। शुभ्र फेन-पिंड से वह हँसता हुआ, विविध पक्षियों से नाचता हुआ, भ्रमरावलिगुंजन से गाता हुआ और पवन से विक्षुब्ध जल के कारण दौड़ता हुआ सा प्रतीत होता है। वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि प्रकृति में जीवन, जाग्रति और स्पन्दन मानता है।

भाषा—कवि ने भाषा को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए भावानुरूप शब्दों का प्रयोग किया है। पद-योजना में छन्द-प्रवाह भी सहायता प्रदान करता है। रति वेगा के विलाप (७. ११) में प्रयुक्त पद योजना और छन्द उसके हृदय की करुण अवस्था की अभिव्यंजना करते हैं। शब्दों से रति वेगा की रोदन-ध्वनि रह रह कर कानों में सुनाई देने लगती है। इसी प्रकार सरोवर वर्णन (४. ७) में पद योजना से सरोवर के जल को आलोड़ित करते हुए पशुओं और पंख फड़फड़ाते हुए पक्षियों का शब्द सा सुनाई देने लगता है। ऊपर वीर रस के वर्णन में भी इसी प्रकार भावाभिव्यंजक पद-योजना की ओर निर्देश किया जा चुका है।

भाषा को भावानुरूप बनाने के लिए कवि कभी-कभी ध्वन्यात्मक शब्दों का भी प्रयोग करता है।

धरणियलु तडयडिउ तस कुम्मु कडयडिउ।
भुवणयलु खलभलिउ गिरि पवरु टल टलिउ।
मयरहरु झलझलिउ इत्यादि

३.८

ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से पृथ्वी, समुद्र और आकाश के विक्षोभ की सूचना मिल जाती है।

शब्दाडम्बर रहित, सरल और संयमित भाषा में जहाँ कवि ने गम्भीर भाव अभिव्यक्त किए हैं वहाँ उसकी शैली अधिक प्रभावोत्पादक हो गई। संसार की क्षणभंगुरता और असारता का प्रतिपादन करने वाले स्थलों में ऐसी भाषा के दर्शन

होते हैं।

शैली के उत्कर्ष के लिए प्रतिपाद्य विषय को आकर्षक बनाना आवश्यक होता है। एतदर्थ लेखक बहुधा छोटे-छोटे हृदयस्पर्शी वाक्यों और सुभाषितों का प्रयोग करता है। इस काव्य में भी अनेक स्थलों पर इस प्रकार के वाक्य मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

गुरुआण संगु जो जण वहेइ हिय इच्छिय संपइ सो लहेइ।
२. १८. ७

अर्थात् जो गुरुजनों के साथ चलता है वह अभीष्ट संपत्ति प्राप्त करता है।

विणु केरइं लब्भइ णाहि मित्त एह मइणि भुजहुं हत्थ मेत्त।
३. ११. १

लोहेण विडंविउ सयलु जणु भणु किं किर चोज्जइं णउ करइ।
२. ९. १०

अर्थात् लोभ से पराभूत सकल जग क्या आश्चर्य जनक कार्य नहीं करता?

कवि में, थोड़े से शब्दों द्वारा सजीव सुन्दर चित्र खींचने की क्षमता भी पाई जाती है—

घत्ता—मुह कमलु करंती कर कमले अंगुलिएं लिहंती धरणियलु।
कोमल वयण पउत्तियहिं सा परिपुच्छिय मइं सयलु॥
६. ९. ८–१०

काव्य में अनेक शब्द-रूप इस प्रकार के प्रयुक्त हुए हैं जो हिन्दी के शब्दों से पर्याप्त समता रखते हैं।[१]

---

१. उदाहरण के लिए कुछ शब्द-रूप नीचे दिये जाते हैं:—

हुयउ	(१.४.१०)	—हुआ
डाल	(१.६.५)	—शाखा, डाल
चडेवि	(१.१०.९.)	—चढ़ कर
रुक्खहो तले	(१.१४.३)	—पेड़ के नीचे
अग्गइ	(१.१४.४)	—आगे
पुक्कार	(२.१.९)	—पुकार
लेवि जाहि	(२.१.१०)	—लेकर जाना
वत्त	(२.१.१३)	—वार्त्ता, बात
सयाणु	(२.५.८)	—सयाना, सज्ञान
गुड सक्कर लड्डु	(२.७.१)	—गुड़ शक्कर लड्डू
चुक्कइ	(२.८.५)	—चूकना
कहाणी	(२.१६.१)	—कहानी

अलंकार—कवि ने भाषा को यद्यपि अलंकारों द्वारा ही अलंकृत करने का प्रयत्न नहीं किया फिर भी यत्र तत्र अलंकारों का प्रयोग हुआ ही है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों प्रकार के अलंकार प्रयुक्त हुए हैं। अर्थालंकारों में सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग अधिक दिखाई देता है। इन अलंकारों में भी सादृश्य योजना, वस्तु के स्वरूप का बोध कराने के लिए ही की गई है भाव तीव्रता के लिए नहीं। अप्रस्तुत योजना के लिए परंपरागत उपमानों के अतिरिक्त ऐसे भी उपमानों का प्रयोग कवि ने किया है जिनसे उसकी निरीक्षण शक्ति प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ—

करिकण्ण जेम थिर कहिं ण थाइ। पेक्खंतहं सिरि णिण्णासु जाइ।
जह सूयउ करयलि थिउ गलेइ। तह णारि विरत्ती खणि चलेइ॥ ९.६

श्री की चंचलता की उपमा हाथी के कानों की चंचलता से और नारी के अनुराग की क्षणिकता की उपमा करतलगत पारे की बूंदों से देकर कवि ने अपनी निरीक्षण शक्ति और अनुभूति का सच्चा परिचय दिया है।

शब्दालंकारों में श्लेष और अनुप्रास के अतिरिक्त यमक का भी कवि ने प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

श्लेष

के वि संगाम भूमीरसे रत्तया। सग्गिणी छंद मग्गेण संपत्तया।
३.१४.८

कोई वीर संग्राम भूमि में अनुरक्त स्वर्गिणी-स्वर्गवासिनी-अप्सराओं के अभीष्ट मार्ग को प्राप्त हुए। श्लेष से कवि ने स्रग्विणी छंद का भी नाम निर्देश किया है जिसमें उसने रचना की है।

ता एत्तहिं रवि अत्थइरि गउ। बहु पहरहिं णं सूरु वि सुयउ।
१०.९.४

इतने में सूर्य अस्त हो गया। बहुत पहरों के बाद थका सूर्य मानो सो गया हो या

ढालेसहि	(२.१९.१०)	—ढालेगा
भग्गा	(३.१५.१०)	—भागे
भिड़िया	(३.१५.१०)	—भिड़े
हेट्ठामुहुं	(५.१६.८)	—अधोमुख (पंजाबी)
अहीर	(८.६.५)	—आभीर, अहीर
सँबल	(८.७.७)	—सिंवल (वृक्ष)
घोडें	(८.१६.३)	—घोड़ा
फुल्लें	(१०.३.१०)	—फूल
थालु	(९.२.६)	—थाल
एयारसि एयारहमि	(१०.१६.६)	—ग्यारह
कप्पडु	(१०.२०.६)	—कपड़ा

बहुत प्रहारों से मानो शूर सो गया हो।

यमक

धणु ण चलइ गेहहो एक्कु पाउ। एक्कलउ भंजइ धम्मु पाउ।

९. ९. ४

प्रथम 'पाउ' पाद के अर्थ में और दूसरा 'पाउ' पाप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का अधिक प्रयोग हुआ है। उपमा के अनेक उदाहरण पूर्व वर्णनों में आ चुके हैं। अन्य अलंकारों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

उत्प्रेक्षा

जहिं सारणि सलिल सरोय पंति। अइरेहइ मेइणि णं हसंति।

१. ३. १०

जहाँ (अंग देश में) मार्ग मार्ग में सरोवरों में कमल खिले हुए हैं मानो हँसती हुई मेदिनी अतिशोभित हो रही हो।

सा सोहइ सियजल कुडिलवंति। णंसेय भुवंगहो महिल जंति।

३. १२. ६

गंगा नदी श्वेत जल से भरी चक्कर खाती हुई ऐसी शोभित थी मानो शेषनाग की स्त्री जा रही हो।

एत्थत्थि अवंती णाम देसु णं तुट्टिवि पडियउ स सग्गलेसु।

८. १. ६.

परिसंख्या

धणु देवएं पसरइ जासु करु णउ पाणि हेव्वइं धरइ सरु। १. ५. ५

जिसका हाथ धणु-धन-देने के लिए फैलता है। जिसका धणु-धनुष-प्राणिवध के लिए बाण नहीं धारण करता।

अलंकारों का प्रयोग अधिक नहीं मिलता। कवि ने अपने अलंकार-ज्ञान-प्रदर्शन के लिए व्यर्थ अलंकारों का प्रयोग कर वर्णनीय विषय को अलंकारों के भार से लादने का प्रयत्न नहीं किया।

छन्द—ग्रन्थ में कवि ने पज्झटिका छन्द का ही अधिकता से प्रयोग किया है। बीच बीच में कुछ पंक्तियाँ या कोई कड़वक, अलिल्लह या पादाकुलक छंद में भी प्रयुक्त हुआ है। भिन्न-भिन्न संधियों में छन्द परिवर्त्तन के लिए कवि ने निम्नलिखित छन्दों का भी प्रयोग किया है—

समानिका, तूण क, स्रग्विणी, दीपक, सोमराजी, चित्रपदा, प्रमाणिका।

कवि ने अधिकतर मात्रिक छन्दों का ही प्रयोग किया है। एकरूपता को दूर करने के लिए बीच बीच में उपरिलिखित वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है।

सामाजिक अवस्था--काव्य के अध्ययन से तत्कालीन समाज का जो रूप दिखाई देता है वह संक्षेप में इस प्रकार का है।

राजाओं का जीवन विलासमय था। ऐश्वर्याभिभूत राजाओं का अधिकांश समय अपनी अनेक रानियों-उपपत्नियों के साथ अन्तःपुर में या क्रीडोद्यान में बीतता था। राजा बहुपत्नीक होते थे। करकंडु की मदनावलि, रति वेगा, कुसुमावलि, रत्नावलि, अनंगलेखा, चन्द्र लेखा नामक रानियों का उल्लेख कवि ने किया है।

राजकुमारों को राजनीति, व्याकरण, तर्क शास्त्र, नाटक, कविरचित काव्य, वात्स्यायन कृत काम शास्त्र, गणित आदि शास्त्रों के अतिरिक्त नव रसों, मन्त्र, तंत्र, वशीकरण आदि की भी शिक्षा दी जाती थी (२. ९)।

स्त्री के विषय में समाज की धारणा अच्छी न थी, उसे भोग विलास का साधन समझा जाता था। मदनावलि के वियोग में व्याकुल करकंडु को एक विद्याधर कहता है—

किं महिलहे कारणे खवहि वेह जणे महिल होइ दुहणिवह गेहु।
जा कीरइ णारी णरयवासु कह किज्जइ णारीसहुं णिवासु।
परिफुरिए चित्ते जा जरु करेइ वुह कारणु सा को अणु सरेइ।
भव वल्ली वड्ढइ जाहे संगि रामा लायइदुह मणुय अंगि।
बलवंता कीरइ बलविहीण सा अवला सेवहिं जे णिहीण।

५. १६. २-६

९. ६. ६ में कवि ने नारी को चंचल और निकृष्ट कहा है।

आजकल की तरह स्त्रियाँ मुनि दर्शन के लिए अधिक उत्सुक होती थीं। मुनिराज शील गुप्त के आने पर स्त्रियों के स्वाभाविक उत्साह का वर्णन कवि ने ९. २ में किया है।

भोग विलास मय जीवन से नारी भी ऊब गई थी। वह भी अपने नारीत्व से छुटकारा पाने के लिए व्यग्र हो उठी थी इसका आभास पद्मावती के शब्दों में मिलता है। वह मुनि शीलगुप्त से धार्मिक उपदेश सुनती है जिससे 'थीवेउ णिहम्मइ जेण एहुं' (१०. १५. ५)। मुनि उसे सुमित्रा की कथा सुनाकर आश्वासन देते हैं कि वह भी भवान्तर में नारीत्व से छुटकारा पा गई (१०. १८)। १०. २२. ९-१० में इसी भाव का संकेत है कि पद्मावती नारीत्व त्याग कर संन्यासी हो स्वर्ग सिधारी।

ग्रंथ में शुभ शकुन के लिए एक कथा का उल्लेख है। लोग स्वप्न ज्ञान और शकुन ज्ञान में विश्वास करते थे। पद्मावती ने स्वप्न में हाथी के दर्शन किये जिसका फल उसके पति ने पुत्रोत्पत्ति बताया (१. ८)।

मन्त्रों और तन्त्रों में भी लोगों की आस्था थी। मंत्र शक्ति के प्रभाव को सूचित करने के लिए अवान्तर कथा कवि ने २. १०. १२ में दी है। मन्त्र के प्रभव से राक्षस को वश में करने का उल्लेख २. १२. ३-४ में मिलता है।

शाप में भी लोग विश्वास किया करते थे। एक तपस्विनी के शाप से मनुष्य तोता हो गया—ऐसा उल्लेख ६. १२ में मिलता है। अलौकिक और दिव्य घटनाओं पर भी लोग विश्वास किया करते थे। इस प्रकार की अनेक घटनाओं का उल्लेख ग्रंथ

में मिलता है।

समाज में सदाचार--सदाचार की दृष्टि से समाज उन्नत न था। सत्संगति सम्बन्धी एक कथा का वर्णन् करते हुए कवि बतलाता है कि एक सज्जन व्यापारी जिसे राजा ने उसकी साधुता एवं उदारता से मन्त्री बना दिया था एक दिन राजकुमार के सब आभूषण हर कर एक वेश्या के घर में गया (२. १७. २)। करकंड के पूर्व जन्म का परिचय देता हुआ कवि बताता है पूर्व जन्म में उसकी माता नागदत्ता का चरित्र अच्छा न था। वह अपने दत्तक पुत्र के साथ प्रेम में फंस गई थी (१०. ६. ८–१०)। संभव है कि इन घटनाओं के उल्लेख से कवि समाज में पतित और नीच व्यक्ति के हृदय में भी उद्धार की भावना का संचार करना चाहता हो।

पउम सिरी चरिउ[1] पद्म श्री चरित

पउम सिरी चरिउ, दिव्य दृष्टि धाहिल का लिखा हुआ चार संधियों का काव्य है। दिव्य दृष्टि, धाहिल का उपनाम था। काव्य का आरम्भ 'धाहिलु दिव्व दिट्ठि कवि जंपइ' से होता है। प्रत्येक सन्धि के अन्त में भी कवि ने इस नाम का प्रयोग किया है। कवि ने अपनी कृति के अन्त (४. १६) में अपने विषय में जो सूचना दी है उससे विदित होता है कि कवि शिशुपालवध काव्यकर्त्ता माघ के वंश में उत्पन्न हुआ था।

ससि पाल-कव्व-कइ आसु माहु ?
जसु विमल कित्ती जगु भमई साहु।
तसु निम्मलि वंसि समुब्भवेण
पउमसिरि चरिउ किउ धाहिलेण।

घत्ता--कवि-पासहँ नंदणु दोस विमद्दणु सूराइंहि महासइहि।
जिण-चलणह भत्तउ तायह पोत्तउ दिव्व दिट्ठि निम्मल मइहि॥
प. सि. च. ४. १६

पउम सिरि चरिउ की हस्त लिखित प्रति वि. सं. ११९१ में लिखी हुई प्राप्त हुई है। (प्रास्ताविक वक्तव्य पृ० २)। कवि माघ का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। अतः धाहिल विक्रम की आठवीं शताब्दी के बाद और बारहवीं शताब्दी के पूर्व ही किसी समय हुए होंगे।

पउम सिरि चरिउ (पद्म श्री चरित) में कवि ने चार संधियों में पद्म श्री के पूर्व जन्म की कथा का वर्णन किया है। यह काव्य धार्मिक आवरण से आवृत एक सुन्दर प्रेम कथा है। काव्य ऐहलौकिक पात्रों को लेकर उनके जीवन की घटनाओं का

---

१. श्री मधु सूदन मोदी तथा श्री हरिवल्लभ भायाणी द्वारा संपादित, भारतीय विद्या भवन, बंबई, वि० सं० २००५।

वर्णन करता है।

कथानक—संक्षेप में कथा इस प्रकार है—कवि आठवें तीर्थंकर चंद्रप्रभ और सरस्वती की वन्दना से काव्य का आरम्भ करता है। भरत क्षेत्र में मध्यदेश नामक सुप्रसिद्ध देश था। उसमें वसन्तपुर नामक, देवनगर के समान एक सुन्दर नगर था। कवि ने मध्यदेश और वसन्तपुर का काव्यमय भाषा में सुन्दर वर्णन किया है। वहाँ जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम लीलावती था। उसी नगर में कुबेर के समान धनी धनसेन नामक एक श्रेष्ठी रहता था। उसके धनदत्त और धनावह नामक दो पुत्र और धनश्री नामक अद्वितीय सुन्दरी पुत्री थी। युवावस्था में ही धनश्री विधवा हो गई। भाइयों के आश्वासन से वह उन्हीं के घर में रहकर घर की देख भाल करती हुई पूजा, दानादि से समय बिताने लगी।

एक दिन धर्मघोष नामक एक मुनि उस नगर में आया। उसके धर्मोपदेश से धनश्री देव पूजा, दानादि पुण्य कर्म में निरत हो गई। उसकी दानशीलता पर उसकी भाभियाँ उससे जलने लगीं और उस पर व्यंग्य करने लगीं। धनश्री ने बड़े भाई और उसकी स्त्री यशोमती में भेद-भाव कर दिया। यशोमती व्याकुल और खिन्न हो गई। कालान्तर में उनकी भेदभावना धनश्री ने मिटा दी। इसी प्रकार छोटे भाई और उसकी स्त्री यशोदा में धनश्री ने पहले भेदभाव पैदा कर दिया, फिर उसे दूर किया। धनश्री धार्मिक जीवन बिताती हुई तपश्चर्या और व्रतों का पालन करती हुई देवलोक को प्राप्त हुई (संधि १)। जन्मान्तर में धनदत्त औक धनावह, अयोध्या के राजा अशोकदत्त और उसकी रानी चंद्रलेखा के यहाँ क्रमशः समुद्रदत्त और वृषभदत्त नाम से उत्पन्न हुए। धनश्री हस्तिनापुर के राजा इभ्यपति शंख और उसकी रानी शीलवती के घर में पद्मश्री नाम से उत्पन्न हुई। पद्मश्री ने धीरे-धीरे युवावस्था में पदार्पण किया और वह अपनी सौन्दर्य छटा का चारों ओर प्रसार करने लगी।

एक दिन वसन्तमास में जब चारों ओर कामदेव का साम्राज्य था पद्मश्री, अपूर्व श्री नामक उद्यान में गई। दैवयोग से वहाँ युवक समुद्रदत्त भी पहुँच गया। एक दूसरे के दर्शन कर दोनों परस्पर अनुरक्त हो गये। कवि ने पद्मश्री के पूर्वानुराग और उनकी प्रेम विह्वलता का सुन्दर वर्णन किया है। कालान्तर में दोनों का विवाह हो गया। वर, वधू सहित अपने घर लौटा (२)। दोनों आनन्द से जीवन बिताने लगे। आठ वर्षों के बाद साकेत से वराह नामक एक लेख-वाहक ने आकर समुद्रदत्त को उसकी माता की व्याकुलता का समाचार दिया। वराहदत्त घर लौट पड़ा। कवि ने इस प्रसंग में दोनों के हृदय की वियोग-वेदना का सुन्दर वर्णन किया है। गुरुजनों के आदेश से समुद्रदत्त अपनी स्त्री को ले जाने के लिए हस्तिनापुर गया। वहीं पद्मश्री के पूर्व-जन्म के कर्म विपाक के कारण केलिप्रिय नामक पिशाच ने दोनों के प्रेम में भेदभाव पैदा कर दिया। समुद्रदत्त के मन में यह वात बैठ गई कि पद्मश्री किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती है। समुद्रदत्त पद्मश्री से विरक्त हो उसे कोसने, डांटने फटकारने और धिक्कारने लगा। पति के इस दुर्व्यवहार से आश्चर्य चकित हुई पद्मश्री पति के आगे अनुनय विनय करने

लगी। पति-प्रवास में अपनी म्लान और खिन्न अवस्था का वर्णन करती हुई करुण-क्रन्दन करने लगी। (३)।

रोती-रोती और करुण-क्रन्दन करती पद्मश्री को छोड़ उद्विग्नमन समुद्रदत्त अपने नगर में लौट पड़ा। कोशल पुरी में नंद नामक एक वणिक् के घर में उसकी स्त्री पुष्पवती से कान्तिमती और कीर्त्तिमती नामक दो लड़कियां हुई थीं जो पूर्व जन्म में यशोमती और यशोदा थीं। सुन्दरी युवती कांतिमती ने समुद्रदत्त और कीर्त्तिमत्ती ने उसके भाई उदधिदत्त के साथ विवाह किया। ये उनकी पूर्व जन्म की पत्नियां थीं। यह समाचार पाकर पद्मश्री का पिता शंख कन्या जन्म से खिन्न हुआ। पद्मश्री भी व्याकुल हुई। इसी बीच विमलशीला नामक एक गणिनी आई। उसके आश्वासन, उद्वोधन और धर्मोपदेश से पद्मश्री व्रत, स्वाध्याय, तपश्चर्या में रत हो गई। इसी बीच वे दोनों साकेत नगरी में कांतिमती और कीत्तिमती के घर में पहुँचे। पूर्वजन्म-विपाक के कारण पद्मश्री पर चोरी का कलंक लगा। व्रत, तपश्चर्या आदि में दृढ़ता से निरत पद्मश्री ने केवल ज्ञान प्राप्त किया। ज्ञानाग्नि से कर्मों का दाह कर धर्मोपदेश करती हुई पद्मश्री ने अन्त में मोक्षप्राप्त किया।

धार्मिक आवरण के कारण इस प्रेम-कथा में कहीं-कहीं अलौकिक घटनाओं का समावेश हो गया है।[1] इस आवरण को हटा देने से प्रेम कथा स्वाभाविक रूप में हमारे सामने आ जाती है। धनश्री और समुद्रदत्त का एक दूसरे को देखकर परस्पर अनुरक्त होना, एक दूसरे को न पाकर व्याकुल होना, इस पूर्वानुराग का विवाह में परिणत होना, विवाहानन्तर वियोग के कारण विह्वलता आदि सब स्वाभाविक वर्णन कवि ने उपस्थित किये हैं।

प्रबन्ध कल्पना—पद्मश्री न तो ऐतिहासिक पात्र है और न पौराणिक। कवि ने उसके पूर्व जन्म की कथा से, मानव द्वारा भिन्न-भिन्न जन्मों में किये कर्मों के फलभोग को लक्ष्य कर, उसके उच्च चरित का वर्णन किया है। एवं जीवन में नैतिक और पुण्यकार्य करते हुए मानव द्वारा मोक्ष प्राप्ति की ओर संकेत किया है।

संबन्ध निर्वाह—कथा प्रवाह में एक प्रसंग दूसरे से संबद्ध है। पद्मश्री पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का फल भोगती हुई अन्त में निर्वाण पद प्राप्त करती है, सारे प्रसंग इसी कार्य की ओर अग्रसर होते हुए दिखाई देते हैं। कथा की गति में कहीं अनावश्यक विराम नहीं। कवि ने रसात्मकता के लिए घटनाचक्र में मानव की रागात्मिका प्रकृति को उद्बुद्ध करने वाले एवं हृदय को भावमग्न करने वाले स्थलों को पहिचान कर उनका सुन्दर वर्णन किया है। कवि की इस सहृदयता के कारण उसका वस्तुवर्णन और पात्रों द्वारा भावाभिव्यंजन दोनों सरल और सुन्दर हो सके हैं।

वस्तु वर्णन—कवि ने अलंकृत भाषा में अनेक भौगोलिक प्रदेशों का वर्णन किया

---

१. उदाहरण के लिए चित्र मयूर कांतिमती के हार को निगल जाता है और फिर माया द्वारा आकर उसे वापस कर देता है।

है। मध्य देश का अलंकृत भाषा में वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

इह भरहि अत्थि उज्जल सुवेसु सुपसिद्धउ नामिं मज्झदेसु।
तहिं तिन्नि वि हरि-कमलाउलाइँ कंतार-सरोवर राउलाइँ॥
धम्मासत्त नरेसर मुणिवर स ह सुयसालि लोग गुणि दियवर।
गामागर पुर नियर मणोहर विउल नीर गंभीर सरोवर॥
उदलिय कमल संड उब्भासिय केयइ कुसुम गंघ परिवासिय॥
वहुविह जण धण धन्न रवाउलु गो महिस उल रवाउल गोउलु॥
भूसिउ धवल तुंग वरभवणेहि संकुल गाम सीम उच्छरणेहि॥
कोमल केलिभवण कय सोहिहि फलभर नामिय तुंग दुमोहिहि॥
फोप्फल नागवेल्लि दल थामेहिं मंडिउ गामुज्जाणारामेहि॥
कयवर चक्कमालि कुसुमालिहि वज्जिउ दूराउल दुक्कालिहि॥
पंथियजण विइन्न वरभोयणु विविहूसव आणंदिय जण मणु॥
घत्ता—कइवर नड नट्टिहि चारण वंदिहि नच्चिउ सुपुरिसहँ चरिउ।
वर गेय रवाउलु रहस सुराउलु महिहिं सग्गु नं अवयरिउ॥

१.२

वर्णन में कवि की दृष्टि मध्यदेश के कांतार, सरोवर और राजकुलों के साथ साथ वहाँ के ग्रामों पर भी गई। गो महिष कुल के रम्य शब्द, ग्राम सीमावर्त्ती इक्षु वन, ग्रामोद्यान आदि भी उसकी दृष्टि से ओझल नहीं हुए। वर्णन करते हुए मध्यदेश में सुपारी और नागवेल (पान) का भी उल्लेख किया है। वर्णन की समाप्ति में कवि कहता है कि मध्यदेश ऐसा प्रतीत होता था 'महिहिं सग्गु नं अवयरिउ' मानो पृथ्वी पर स्वर्ग अवतीर्ण हुआ हो। यह कल्पना अपभ्रंश कवियों को अत्यन्त प्रिय थी। स्वयंभू (रि० च० २८.४), पुष्पदन्त (म० पु० १.१५ और ९२.२), धनपाल (भ० क० १.५), ने भी अपने काव्यों में इसका प्रयोग किया है। इसी प्रकार कवि का वसन्तपुर वर्णन (प० सि० च० १.३) भी रमणीय है। कवि के वस्तु-वर्णन में संश्लिष्ट-वर्णन शैली मिलती है। इनके अतिरिक्त विवाह की धूमधाम, (२.१८–२१) का, वर के हाथी का (२.१९) वर्णन भी सरस और सुन्दर है।

काव्य में रतिभाव ही प्रधानता से वर्णित है। समाप्ति में निर्वेदभाव भी अंकित किया गया है। कथा प्रवाह में ऐसे स्थल अनेक हैं जहाँ कवि की दृष्टि गूढ़ मानसिक विकारों तक पहुँचती हुई दिखाई देती है। हृदय को भावमग्न करने वाले प्रसंगों के प्रति कवि उदासीन नहीं दिखाई देता अपितु ऐसे प्रसंगों पर पात्रों द्वारा सुन्दरता से भाव व्यंजना कराता हुआ दिखाई देता है।

धनदत्त और यशोमती के प्रेमभाव उत्पन्न हो जाने पर धनदत्त में अमर्ष भाव की व्यंजना (प० सि० च० १.१२) और यशोमती में वेदना की व्यंजना कवि ने सुन्दरता से की है। कवि कहता है—

जसवइ पिय-वयणिं निट्ठुरेण विज्झाइय वण-लय जिह देवेण।
तुट्ठरुठ गरुय-दुक्खह भरेण सिरि ताडिय नावइ मोग्गरेण।
सोहग्ग-मडप्फरु भग्गु केम धीरेण रणंगणि भीरु जेम।
उम्मूलिउ कह सुरयाहिलासु नइ-पूरिं जिह दोत्तडि-पलासु।
संताउ वियंभइ हियए केम नव-जोवणि वम्मह-जलणु जेम।
रोवंतिए निवडहिं उज्जलाइ अंसुयइ नाइ मोत्ताहलाइँ।
एउ अज्जु "काइं विणु कारणेण, महु रुट्ठु नाहु" चिंतइ मणेण।
....
भय-वन्नु हरिणि जिह दिट्ठ-सीह। जरिय व्व मुयइ नीसास दीह।

१. १३

अर्थात् यशोमती निष्ठुर, प्रिय के वचनों से वनाग्नि से दग्ध वनलता के समान हो गई। गुरु दुःखभार से ऐसी शिथिल हो गई मानो मुद्गर से उसके सिर पर प्रहार किया हो। धीर पुरुष द्वारा रणक्षेत्र से भगाये कायर के समान उसका सौभाग्य-गर्व लुप्त हो गया। नदी-वेग से कूलवर्ती पलाश वृक्ष के समान उसका सुरताभिलाष उन्मूलित हो गया। नव यौवन में कामाग्नि प्रसार के समान उसके हृदय में संताप प्रसृत हो गया। ऐसा प्रतीत होता था कि रोती हुई यशोमती के मोती न थे अपितु उज्ज्वल आँसू थे।...... सिंह को देख भयाकुल हरिणी के समान संतप्त यशोमती दीर्घ निःश्वास छोड़ने लगी।

कवि के वर्णन में वेदना की मात्रा का अतिरंजित वर्णन नहीं अपितु उसके वेदनाभिभूत विक्षुब्ध हृदय का अंकन है। जहाँ कवि ने उसकी शारीरिक अवस्था का चित्र खींचा है वहाँ भी वह हृदय को ही प्रभावित करना चाहता है--

आरत्त-नयण, विच्छाय-वयण उम्मुक्क-हास, पसरंत-सास।
दरमलिय-कंति, कलुणं रुयंति उव्विग्ग दीण, निसि सयल खीण।
आहरण-विवज्जिय विगय-हार उच्चिणिय-कुसुम नं कुंद-साह।

१. १४. ७४-४६

रक्त नयन वाली, निस्तेज मुख वाली, हास्य रहित, निःश्वास छोड़ती हुई, विलुप्त कांति वाली, करुण क्रन्दन करती हुई उद्विग्न एवं दीन यशोमती की जैसे तैसे सारी रात्री व्यतीत हुई। आभरण रहित यशोमती ऐसी कुंद शाखा के समान दिखाई दे रही थी जिस पर से सब फूल बीन लिये गये हों।

इसी प्रकार समुद्रदत्त से तिरस्कृत पद्मश्री के हृदय की व्याकुलता (३.९-१०), पद्मश्री के परित्याग पर उसके पिता शङ्ख का कुल में कन्या-जन्म से खिन्न होना (४. २. १८-२४) आदि प्रसंग कवि के भावक हृदय की सूचना देते हैं।

स्वभाव चित्रण--कवि धार्मिक भावना से प्रेरित हो अपने पात्रों को निश्चित दिशा और निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाने में प्रयत्नशील था। अतएव सीमित क्षेत्र के अन्दर पात्रों के चरित्र को विकसित होने का पूर्ण अवसर नहीं मिल सका। फिर भी उस सीमित क्षेत्र में पात्रों के चरित्र में स्वाभाविकता दिखाई देती है। यशोमती और यशोदा

का धनश्री के दान से खीझना और उससे ईर्ष्या करना, पति द्वारा अपमानित होने पर विक्षुब्ध होना, समुद्रदत्त और पद्मश्री का पूर्वानुराग और उसका विकास, समुद्रदत्त से परित्यक्त पद्मश्री का दुःखी होना, उसे छोड़ समुद्रदत्त का कांतिमती नामक युवती से विवाह करना सब स्वाभाविक प्रसंग हैं।

रस—काव्य में रति, शोक और निर्वेद भावों के ही अधिक प्रसंग हैं। शृङ्गार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्ष अंकित किये गये हैं। प्रेम, स्त्री-पुरुष के पारस्परिक दर्शन के कारण स्वाभाविक रूप में उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ दिखाई देता है।

सौन्दर्य वर्णन में कवि धनश्री के रूप का वर्णन करता हुआ उसके अंगों की शोभा का वर्णन करता है—

मिउकसिण-वाल संगय-निलाड।
वयणारविंद- उवहसिय-चंद।
पंकय-दलच्छि नं भुयण-लच्छि।
कुंडल-विलोल उज्जल-कवोल।
विप्फुरिय-कंति सिय-दसण-पंति।
विंवाह (रोट्ठ) वर-कंवु-कंठ।
थण-हार-तुंग तणु-तिवलिभंग।
वित्थिन्न-रमणि मंथरिय-गमणि।
आयंव-हत्थ लक्खण-पसत्थ।
जिय-वाल-रंभ पीणोरु-थंभ।
नव-कणय-गोरि मुणि-चित्त-चोरि।
सोहग्ग-खाणि निरु महुर-वाणि॥

१. ४

रूप-वर्णन परंपरा भुक्त है। कवि की दृष्टि धनश्री के अंगों तक ही पहुँचती है। अन्तिम घत्ता द्वारा कवि उसके सौन्दर्य का प्रभाव भी प्रदर्शित करता है।

रइ-रूओहामिणि सुंदर कामिणि नवजोवण-सज्जिय रहहु।
खंडिय-सुर-दप्पहु गुरु-माहप्पहु हत्थि भल्लि नं वम्महु॥

१. ४. ५७

अर्थात् रति के रूप का उपहास करने वाली वह सुन्दरी, नव यौवन रूपी सज्जित रथ वाले, देवताओं के दर्प को खंडित करने वाले अतिशय माहात्म्य वाले काम देव के हाथ में मानो भाले के समान थी।

धनपाल ने भविसयत कहा में एक स्त्री के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए इसी भाव को ऐसे ही शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

"णं वम्मह भल्लि विंधण सील जुवाण जणि"

म० क० ५. ७. ९

इसी प्रकार पद्मश्री के रूप वर्णन में (२. ३) उसके अंगों के सौन्दर्य का वर्णन

करते हुए कवि ने परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग किया है। अन्तिम घत्ता में उसे

उन्नय-वंसुब्भव आसासिय-तिहुयण-जयहु ।
अहिणव-गुण-सुंदरि चाव-लट्ठि मयरद्धयहु ।।

२. ३. ३६

त्रिभुवन को जीतने का आश्वासन देने वाले मकरध्वज की अभिनव अभिनव-गुण-सुन्दरी चाप-यष्टी कह कर उसके सौन्दर्य के अनुपम और अत्यधिक प्रभाव की ओर संकेत किया है। श्लिष्ट गुण शब्द से वर्णन में चमत्कार भी आ गया है।

विप्रलम्भ शृंगार के भी अनेक उदाहरण काव्य में मिलते हैं। पति परित्यक्ता यशोमती के करुण क्रन्दन की ओर ऊपर निर्देश किया जा चुका है। विवाह से पूर्व कामाग्नि से पीड़ित पद्‌मश्री का वर्णन कवि ने २. ११-१२ में किया है। इस प्रेम विह्वलता का आविर्भाव कवि ने पद्‌मश्री और समुद्रदत्त दोनों में दिखाकर प्रेम को उभयापेक्षी बनाया है।

वियोग वर्णन का एक अन्य अवसर समुद्रदत्त के माता के पास चले जाने पर उपस्थित होता है। पद्‌मश्री कभी ज्योतिषियों से पूछती है कि मेरा पति कब लौटेगा। कभी कौए को संबोधन करती है कि यदि तुम्हारे शब्द से पति आ गया तो मैं तुम्हें दही भात खिलाऊँगी। आँखों से गालों पर बहते बड़े बड़े आँसुओं से पद्‌मश्री दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगी और कृष्ण पक्ष की निस्तेज चन्द्रलेखा के समान हो गई (३. ४)।

इसी प्रकार विरह वर्णन का एक अन्य अवसर समुद्रदत्त के पद्‌मश्री को परित्याग कर चले जाने पर आता है। पद्‌मश्री की अवस्था का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

अच्छेइ वाल जिह वुन्न हरिणि नइ कलुणइं ? झत्ति विहाइ रयणि ।
पउमसिरि-सरीरहु जेम्व कंति णक्खत्त-निवह नयहलि गलंति ।
इंदिय-सुहं व नासइ तमोहु कुक्कुड-रउ पसरइ नाइ मोहु ।
गयणे वि चंदु विच्छाउ जाउ सोयं वि व विइंयभ चक्कवा ।
नयणा इव कुमुयइं संकुयंति आसा इव दीहउ दिसउ होंति ।
उग्गमइ अरुणु संताउ नाइ रवि बुद्धि ? जेम्व निसि खयहु जाइ ।
घत्ता—हरिसो इव निग्गउ कुमरु सदेसहु पट्ठियउ ।
दोहग्गु जेम्व वर-वालहिं उयलि ? महीयलि संठियउ ।।

३. ९. १७-२३

अर्थात् वह बाला दुःखिनी हरिणी के समान थी। जैसे पद्‌मश्री के शरीर में से वैसे ही आकाश में से चन्द्र-नक्षत्र की कान्ति लुप्त हो गई। मोह, मुर्गों के शब्द के समान फैलने लगा। आकाश में चन्द्र समान वह निस्तेज हो गई। जिस प्रकार उसका शोक बढ़ता जाता उसी प्रकार चक्रवाक का आनन्द। उसकी आँखों के समान कुमुद संकुचित होने लगे। जिस प्रकार से उसकी आशा दीर्घ हुई उसी प्रकार दिशाएँ दीर्घ हो गईं। उसके संताप के समान सूर्य उदित हुआ। ज्यों-ज्यों दिन बढ़ता या बीतता जाता है, विरहिणी रात्री की

भाँति छीजती जाती है। पद्मश्री के हर्ष के समान समुद्रदत्त अपने देश निकल गया। बाला के दुर्भाग्य के समान प्रकाश महीतल पर स्थित हो गया।

कवि के विरह-वर्णन में केवल संताप मात्रा का ही वर्णन नहीं अपितु उस संताप के प्रभाव की व्यंजना भी कवि ने की है।

शृंगार के अतिरिक्त वीर रसादि अन्य रसों का काव्य में प्रायः अभाव ही है।

प्रकृति वर्णन--काव्य में प्रकृति के कुछ खंड चित्र कवि ने अंकित किये हैं। वर्णन नायक नायिका के कार्य की पृष्ठभूमि के रूप में उपलब्ध होते हैं। पद्मश्री युवावस्था में पदार्पण करती है। उसके और समुद्रदत्त के हृदय में पूर्वानुराग को उत्पन्न करने के लिए कवि ने वसंत मास का (२. ४) और अपूर्वश्री उद्यान की शोभा (२. ५) का वर्णन किया है। वर्णन में कोई विशेषता नहीं। परम्परानुसार अनेक वृक्षों के नाम दिये गये हैं। कोयल का कूकना, भौरों का गूंजना आदि कवि ने वर्णन किया है।

इसी पकार पद्मश्री और समुद्रदत्त के विवाहानन्तर कवि सन्ध्या और चंद्रोदय का वर्णन करता है।

घत्ता--उज्जोइउ भुयणु असेसु इ। गरुय - राय - रंजिय - हियउ।
अत्थवण सिहरि रवि संठियउ। संझा - वहु उक्कंठियउ॥
अत्थमिउ दिवायरु संझ जाय। थिय कणय घडिय नं भुयण-भा।
कमलिणि कमलुन्निय-महुयरेहि। अंसुएहि रुएइ सकज्जलेहिं।
सोआउरु मणि चक्काउ होइ। कउ मित्त विओउ न दुक्ख देइ।
अंधारिय सयल वि दिसि विहाइ। किलिकिलिय-भूय-रक्खस - पिसाय।
तम पसरिउ किंपि न जणु विहाइ। जगु गब्भ वासि निक्खित्तु नाइ।
वोहंत कुमुय वणु उइउ चंदु। कंदप्प महोसहि रुंद कंदु।
वणि जेम मइंदहु हत्थि जूहु। नासेइ मियंकह तिम्व तमोहु।
हरिणंक किरण विप्फुरिउ भाइ। गयणंगणु धवलिउ नं छुहाइ।
निसि पढम पहरि उद्दाम कामि वासहरि कुमारु मणाभिरामि।
महमहिय बहल वर धूय गंधि पंचन्न कुसुममाला सुगंधि।
रुणुरुणिय महुर रवि भमर लीवि पज्जालिय मणि मंगल पईवि।
पउमसिरि सहिउ पल्लंकि ठाइ सहियणु आणंदिउ ख घरहु जाइ।
घत्ता--नाणाविह करण विसेसेहि सुर सोक्खइँ माणेउँ कुमरु।
आलिंगिउ कंत पसुत्तउ नाइ सविग्गहु पंचसरु॥

३. १

इन वर्णनों में प्रकृति बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से भी अंकित की गई है। इधर पद्मश्री का हृदय अनुराग पूर्ण और पति मिलन के लिए उत्सुक है उधर गुरु राग रंजित सन्ध्या-वधू उत्कंठित है। इन वर्णनों में कवि की कल्पना कहीं कहीं अनूठी और अद्भुत है। सन्ध्या समय कमल वंद होने को हैं उनमें से भौंरे निकल निकल कर उड़ रहे हैं। कवि कहता है मानो कमलिनी काजल पूर्ण अश्रुओं से रो रही है (३. १. ६)।

प्रकृति वर्णन में एक हलकी सी उपदेश भावना भी मिलती है। सूर्योदय का वर्णन करता हुआ कवि कहता है--

परिगलय रयणि उग्गमिउ भाणु उज्जोइउ मज्झिम भुयण भाणु।
विच्छाय कंति ससि अत्थमेइ सकलंकह कि थिरु उदउ होइ।
......
मउलंति कुमुय महुयर मुयंति थिर नेह मलिण कि कह वि हुंति।

३. २

अर्थात् रात बीत गई सूर्य उदित हुआ।......मंद कांति वाला चन्द्रमा अस्त हो रहा है। कलंकित का उदय क्या स्थिर रह सकता है ? कुमुद मुकुलित हो रहे हैं मधुकर उन्हें छोड़ उड़ रहे हैं--क्या मलिन काले कहीं स्थिर प्रेमी होते हैं !

भाषा--कवि की भाषा सरल और चलती हुई है। इस भाषा में प्राचीन संस्कृत-प्राकृत की धारा की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। पुष्पदन्त में भाषा की दो धारायें स्पष्ट रूप से दिखाई देती थीं किन्तु धाहिल की रचना में तत्कालीन लोक-प्रचलित अपभ्रंश भाषा की ही धारा बहती हुई दिखाई देती है। ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं दिखाई देता। किन्तु प्रभाववृद्धि के लिए शब्दों की आवृत्ति कवि ने की है (जैसे १. ८; ४. २; ४. ३ में)।

सुभाषित--भाषा में स्थान स्थान पर वाग्धाराओं, लोकोक्तियों और सुभाषितों का प्रयोग भी दिखाई देता है।

"ओसहु निरु मिट्ठं विज्जुवइट्ठं अहु जण कासु न होइ पिउ।"

२. ७. ८८

हे लोगो ! अतिशय मधुर और वैद्य-निर्दिष्ट औषध किस को अच्छी नहीं लगती है ?

"उइइ चंदि कि तारियहं" १. १०. ३३

चन्द्र के उदय हो जाने पर तारों से क्या ?

"अलि वंचेवि केयइ वउले लग्गु ज जसु मणिट्ठु तं तासु लग्गु।"

भ्रमर केतकी को छोड़कर वकुल के पास चला जाता है, जो जिसको अभीष्ट होता है वह उसी में रत होता है।

"कउ मित्त-विओउ न दुक्खु देइ" ३. १. ७

मित्र-वियोग किसे दुःख नहीं देता ?

काव्य में अनेक शब्द-रूप हिन्दी शब्दों से मिलते जुलते से हैं।[1]

---

१. उदाहरण के लिए--
नक्कु--नाक (१.१२.५४); **निक्कालइ**--निकालता है (१.१३.६९); घर (१.१४.७८); **फुट्टइ भंडइ**--फूटा बर्तन (१.१४.१८४); **पूरिउ चउक्कु**--

अलंकार—काव्य में अलंकारों का प्रयोग भी मिलता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास और श्लेष, अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा, व्यति रेक, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकार ही अधिकता से कवि ने प्रयुक्त किये हैं। इन सादृश्यमूलक अलंकारों में सादृश्य-योजना वस्तु-स्वरूप-बोध के लिए नहीं अपितु भावों को उद्‌बुद्ध करने के लिए की गई है। निम्नलिखित अलंकारों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकेगी।

"भय-वुन्न हरिणि जिह दिट्ठ-सीह"

१. १३. ७१

धनश्री ऐसी हरिणी के समान थी जिसने सिंह को देखा हो और भयाकुल हो।

"आहरण-विवज्जिय विगय-हार उच्चिणिय-कुसुम नं कुंद-साह।"

१. १४. ७६

आभरण-रहित और हार-शून्य धनश्री ऐसी कुन्द-शाखा के समान थी जिस पर से सब फूल बीन लिये गये हों।

"सरि नलिणि जेम जल-वज्जिय रत्ति-दियहु परिसुक्कइ।"

३. ३. ४३

समुद्रदत्त की माता जल-रहित सरोवर में दिन-रात सूखती हुई नलिनी के समान थी।

"दीउन्ह मुयइ नीसास केव घण-सलिल-सित्तु गिरि गिम्हे जेस"

२. १४. ६६

समुद्रदत्त के अभाव में पद्‌मश्री ऐसे दीर्घ निःश्वास छोड़ रही थी जैसे ग्रीष्म में घन जल से सिक्त पर्वत।

निम्न लिखित उत्प्रेक्षा में कवि की कल्पना नवीन और अद्‌भुत है।

"कमलिणि कमलुन्निय-महुयरेहि अंसुएहि रुएहि सकज्जलेहिं" १.३.६

सन्ध्या समय वंद होते कमलों से निकलते हुए भ्रमरों के कारण कमलिनी ऐसी प्रतीत होती थी मानो काजलयुक्त आँसुओं से रो रही हो।

इसी प्रकार रूपक (१. ३. ३४–३८) और व्यक्तिरेक (१. ६. ७९–८०) के उदाहारण भी काव्य में मिलते हैं।

जिस प्रकार भाषा में कवि ने प्राचीन संस्कृत-प्राकृत-कवियों की परिपाटी को नहीं अपनाया उसी प्रकार अलंकारों में भी उस शैली का अभाव ही है। उपमा अलंकार

चौक पूरा (२.१८.२००); जालेवि—जलाकर (२.२१.४६); लड्डुयहं—लड्डू (३.४.५४); माइ बप्पु सासुय ससुरउ (३.७.९१); नक्कु कन्न—नाक कान (३.७.९६); सुक्क—शुष्क; (४-१०.२८); खीर खंड घिय वंजणेहिं—खीर, खांड, घी, व्यंजन (४.७.८६); पोएइ तट्टु कंतिमइ हारु—कांतिमती टूटे हार को पोती है (४.८.९२); भरिउ लड्डुयहं थालु—लड्डुओं से भरा थाल (४.९.३) इत्यादि।

में एक आध स्थान पर ही बाण की शैली के दर्शन होते हैं। अन्यथा उस प्रकार के वर्णनों का अभाव ही है।

> **विंझाउइ व्व गय-मय-वियार पाउसु-सिरि व्व संतावहार।**
> **वाडव-सिहि व्व कय-जलहि-सोस दिणयर-पह व्व निद्दलिय दोस।**
>
> ४. ४. ४१-४२

(गय-मय-वियार) मद झरते गजों वाली विन्ध्याटवी के समान वह विमलशीला गणिनी (गय-मय-विकार) मद विकार रहित थी। जलधि—समुद्र—का शोषण करने वाली वाडवाग्नि के समान वह भी जलधि—जडधी—को शोषण करने वाली थी।

सामाजिक अवस्था—काव्य के अध्ययन से कुछ तत्कालीन अवस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। समाज में बहु विवाह की प्रथा थी। समुद्रदत्त ने पद्मश्री का परित्याग कर कांतिमती से विवाह किया। विवाह खूब धूमधाम से होता था। समुद्रदत्त विवाह के लिए हाथी पर सवार हो कर आया (२. २०.)। विवाह के समय वधू भी श्वेत वस्त्र धारण करती थी (२. १८. २०८)। वर के माता पिता दोनों उसके साथ विवाहार्थ गये। वर की माता और वधू की माता दोनों विवाह की खुशी में परस्पर नाचीं (२. २२. २५२.)।

स्त्रियाँ मुख को पत्रलेखा से सजाती थीं (२. ४. ४४)। कन्या का जन्म माता पिता के लिए चिन्ता का कारण होता था। पद्मश्री का पिता शंख समझता था कि जिस घर में लड़की नहीं वह अत्यधिक कृतार्थ है (४. २. १८)।

ज्योतिषियों की बातों में लोग विश्वास करते थे (२. १६. १८४)। शकुनों में भी विश्वास किया जाता था (३. ४. ५३)। अलौकिक घटनाओं को भी असंभव नहीं समझा जाता था (४. ८)। सन्तों, महात्माओं पर लोगों की श्रद्धा थी और घर आने पर उनका भली भाँति सत्कार किया जाता था (४. ७)।

छंद—ग्रंथ में मुख्य रूप से पद्धडिका छन्द का ही प्रयोग हुआ है। एक ही कडवक में दो छन्दों का प्रयोग भी कुछ स्थलों पर मिलता है। (जैसे १.२, १.९, २.२०, ३.७, ३.१०)

पास चरिउ—पार्श्व पुराण

यह ग्रंथ अप्रकाशित है। आमेर शास्त्र भंडार में इस ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ वर्तमान हैं। इसमें पद्मकीर्त्ति ने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र वर्णित किया है। इसमें १८ सन्धियाँ हैं। सन्धियों में कडवकों की संख्या निश्चित नहीं। चौथी और पांचवीं सन्धियों में बारह-बारह कडवक हैं किन्तु चौदहवीं सन्धि में तीस कडवक मिलते हैं। वि० संवत् १६११ में लिखित प्रति में लेखक ने ग्रन्थ संख्या अर्थात् पद्य संख्या ३३२३ बताई है।

ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति में कवि ने अपने आपको जिनसेन का शिष्य कहा है।[1] कृति के रचनाकाल के संबन्ध में निम्नलिखित पद्य मिलता है—

णव सय णउ वाणुइये कत्तिय अमावस दिवसे।
लिहियं पास पुराणं कइणा इह पउम णामेण।

(१८वीं सन्धि के अन्त की प्रशस्ति)

इस पद्य के अनुसार कृति का रचना काल ९९२ वि० सं० प्रतीत होता है। प्रो० हीरालाल जैन ने इसका समय शक संवत् ९९९ माना है।[2]

ग्रन्थ का आरम्भ कवि ने "स्वस्ति श्री गणेशाय नमः। नमः श्री पार्श्वनाथाय।" इन शब्दों से किया है। इसके अनन्तर २४ तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है तदनंतर आत्म विनय और सज्जन दुर्जन स्मरण मिलता है। जैन संप्रदायानुकूल पार्श्वनाथ का चरित ही ग्रन्थ में अंकित किया गया है।

कवित्व की दृष्टि से छठी, दसवीं और ग्यारहवीं सन्धियाँ उल्लेखनीय हैं। छठी सन्धि में ग्रीष्मकाल और उस काल में जलक्रीड़ा (६. ११), वर्षाकाल (६. १२), हेमंत काल (६. १३) आदि के वर्णन सुन्दर हैं। दसवीं सन्धि में सूर्यास्त (१०. ९), रजनी (१०. १०) चन्द्रोदय (१०. ११) आदि के वर्णन और ग्यारहवीं सन्धि में युद्ध वर्णन आकर्षक हैं।

कवि की कविता शक्ति के निदर्शन के लिए नीचे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं।

नारी वर्णन—

सुकइ कइव्व जेम जण मणहर, हंस गवणि उत्तुंग पउहर।
णव णीलुप्पलणयण सुहावण, वम्मह हियय वाण उल्हावण।
कुडिल चिहुर वर तिवलि विपसिय, सालंकार सरूह सुहासिय।
खंति जेम जिण वरहु पियारी, गवरि हरहो भुवणत्तय सारी।
राम हो जेम सीय मण खोहणि, कण्हहो रूप्पिणि जिह थिय मोहणि।
जह रइ मणि वल्लहिय अणंगहो, रोहिणिव्व जह गइण मियंक हो।

१-९

परंपरागत उपमानों और उदाहरणों के द्वारा ही कवि ने नारी-रूप का अंकन किया है।

ग्रीष्मकाल में जलक्रीड़ा—

दुवई—पेखिवि गिंभ कालुं अइ दूसहो, जुवईहिं सहुं सवारणो।
णिग्गउ पुरजणेण जल कीडहिं, सहरसु वइरि वारणो॥

---

१. सिरि माहव सेणु महाणुहाउ, जिण सेण सिसु पुणुं तासु जाउ।
तसु पुव्व सिणेहि पउमकित्ति, उप्पण्णु सीसु जणु जासु चित्ति।
तें जिण वर सासण भाविएण, कह विरइय जिणसेणहो मएण। १८.२२

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, अंक ३-४, पृ. ११७.

अंतेउर परिमिउं णर वरेंदु। गउ विहवें सरेणं सुरवरिंदु।
सुरवर करि सुपमाण वाहु। अवयरिउ सलिले जवइहि सणाहु।
अवगाहइ वाहिंहिं जल णरेंदु। णं करिणि सहिउ सरवइ गयंदु।
उप्पाडिवि राएं पउम णालु। कोमलु सुगंधु (गंधु) केसर विसाल।
ताडिय सिरि सहरसु कावि णारि। तोअण्ण भणइं मइंदेव मारि।
सालेवि मुणालें हणइ जाम। वछच्छलि निवडिय अण्ण ताम।
तह प्पेल्लिवि णालें घाउ देवि। ताअण्ण कडछिहि दिढु खलेइ।
वुडेवि कावि चलणेंहिं धरेंहि। कर जुवलें णिट्ठुरु वंधु देइ।
चउ दिसहिं पीण उण्णय थणीउ। जलुखिवहिं णरिंदहो रइ मणीउ।
कच्छूरी चंदणु घुसिण रंगु। पक्खालिउ सलिलें अंगलग्गु।
कज्जल जल भरियहिं लोयणेंहिं। जुवईहिं मुक्कु णं जलु घणेंहिं।
घत्ता—णयणंजण घुसिण समूहें अमलु वि सलिलउ किउ समलु।
सोहइ वहु वण्ण विचित्तउ इंद चाव सरिसु जलु॥ ६.११

वर्षा काल—

गय गिंभ याल हुउ वरिसयालु। अवयरिउ मोर दद्दुर वमालु।
पेखेवि महंतु णहे घणगयंदु। अरुढु तेथु पावसु णरेंदु।
वज्जेण हणंतु णहग्ग मग्गु। दुप्पेछ दछ कय विज्जु खग्गु।
महि मंडलि जलु वरिसणहिं लग्गु। गुलु गुलु गुलन्तु मारुय समग्गु।
गज्जंतु पलय घण रव पचंडु। तडि तरलु भयंकर भीमचंडु।
कज्जल तमाल घण सामदेहु। दस दिसि झरंतु कय दोण मेहु।
मेल्लंतु मुसलधारहि जलोहु। जल थल पायाल सुभरिय सोहु।
अवयरिउ एम पाउसु रउद्दु, संचारिउ मेहहिं णं समुद्द।
दीहिय तडाय सरवर अणेय, सम सरि सा भावहिं भरिय तोय।

घत्ता—

णवि दियहु रयणि जाणिज्जइ, णहि रवि मेहहिं छाइयउ।
पिय रहियहों पाउसि पंथियहो, तीयईहिं विरहु ण माइयउ॥

६. १२

दोनों जलक्रीड़ा और वर्षा काल के वर्णनों में स्वाभाविकता है। दोनों वर्णनों के घत्ता में दृश्य का सार दृष्टिगत होता है। जलक्रीड़ा में आँखों के अंजन, शरीर के चन्दनादि से निर्मल जल भी मलिन हो गया। नाना वर्णों से चित्रित जल इंद्रचाप के समान शोभित होने लगा। वर्षाकाल में आकाश में सूर्य मेघों से आच्छन्न हो गया। दिन और रात का भेद नष्ट हो गया। इस काल में प्रिया-रहित पथिकों की स्त्रियों के हृदय में विरह अपरिमित हो उठा।

भाषा में अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है (८. ७)। मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त भुजंग प्रयात (५. १२, ७. ९), स्रग्विणी (७. १) आदि वर्णिक छन्दों का

प्रयोग भी कवि ने यत्र तत्र किया है। ग्यारहवीं सन्धि के प्रत्येक कडवक के आरम्भ में पहिले एक 'दुवई', फिर एक 'मात्रा' और तदनन्तर एक 'दोहय' (दोहा) का प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ—

चडिवि महारहि भड सहिउ, वइरिय माण मयंदु।
अहिमुहु चल्लिउ पर वलहो, सण्णज्झेवि णरेंदु॥ दोहयं
११. १

दूसरी प्रति में दोहयं के स्थान पर 'दोहडा' शब्द का प्रयोग भी मिलता है।

पासणाह चरिउ (पार्श्वनाथ चरित)

श्रीधर कवि के लिखे हुए पासणाह चरिउ, सुकमाल चरिउ और भविसयत्त चरिउ नामक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं। तीनों ग्रन्थ अप्रकाशित हैं किन्तु इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार में विद्यमान हैं (प्र. सं. पृष्ठ १२९, १९३ और १५०)

श्रीधर अयरवाल (अग्रवाल) कुल में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम बील्हा और पिता का नाम गोल्ह था। इन्होंने संभवतः चंदप्पह चरिउ की भी रचना की थी।[1] कवि दिल्ली के पास हरियाना में रहते थे। इन्होंने ग्रंथ में स्वयं अपनी काव्य रचना के विषय में बताया है कि किस प्रकार मैं हरियाना से चल जमुना पार कर दिल्ली पहुँचा और वहाँ अयरवाल (अग्रवाल) कुलोत्पन्न नट्टल साहु की प्रेरणा से काव्य रचना की। पासणाह चरिउ में 'ढिल्ली' प्रदेश का वर्णन भी किया गया है। इनकी कृतियों की रचना के आधार पर इनका काल लगभग वि० सं० ११८९ और १२३० के बीच अर्थात् विक्रम की १२ वीं शताब्दी का अंत और १३ वीं का मध्य माना जा सकता है।

कवि ने प्रथम सन्धि की समाप्ति पर और अन्य सन्धियों के प्रारम्भ में संस्कृत भाषा और संस्कृत छन्दों में नट्टल साहु की प्रशंसा भी की है।[2] कृति की समाप्ति भी

---

१ **विरएवि चंदप्पह चरिउ चारु, चिर चरिय कम्म दुक्खा वहारु।**
विहरंतें कोऊहल वसेण, परिहच्छिय वाष सरि सरेण।
सिरि अयरवाल कुल संभवेण, जणणी वील्हा गब्भुवेण।
अणवरय विणय पणयारुहेण, कइणा वुह गोल्ह तणूरुहेण।
पयडिय तिहुअणवइ गुण भरेण, मण्णिय सुहि सुअणें सिरि हरेण॥
१.२

२. **यस्याभाति शशांक सन्निभ लसत्कीर्त्ति र्द्धरित्री तले**
यस्माद् वंदि जनो बभूव सकलः कल्याण तुल्योऽर्थिनां।
येना वाचि वचः प्रपंच रचना हीनां (नं) जनानां प्रियं
स श्रीमान् जयतात् सुधीरनुपमः श्री नट्टलः सर्व्वदा॥ २.१
जीयादसौ जगति नट्टल नामधेयः ६. १

नट्टल की मंगलकामना के साथ की गई है । अंत में संस्कृत छंदों में नट्टल के गुणों का वर्णन, उसकी मंगल कामना और उसका परिचय दिया गया है ।

कवि ने पासणाह चरिउ की रचना दिल्ली में आग्रहायण मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी, रविवार, वि० सं० ११८९ में की ।[1]

इस ग्रन्थ में बारह सन्धियों में पार्श्वनाथ के चरित्र का वर्णन है । पार्श्वनाथ की कथा वही है जो अन्य ग्रन्थों में मिलती है ।

कवि के वर्णनों में परंपरागत प्राचीन शैली के दर्शन होते हैं । कवि यमुना नदी का वर्णन करता हुआ, प्रियतम के पास जाती हुई एक वार विलासिनी से उसकी तुलना करता है---

जउणा सरि सुरणय हियहार, णं वार विलासिणिए उरहार ।
डिंडीर पिंड उप्परिय णिल्ल, कोलिर रहंग थोव्वड थणिण्ण ।
सेवाल जाल रोमावलिल्ल, वुहयण मण परि रंजणच्छइल्ल ।
भमरावलि वेणी वलयलच्छि, पप्फुल्ल पोमदल दीहरच्छि ।
पवणा हय सलिलावत्त णाहि, विणिहय जणवय तणु ताव वाहि ।
वणमयगल मयजल घसिणलित्त, दर फुडिय सिप्पिउड दसणदित्त ।
वियसंत सरोरुह पवर वत्त, रयणायर पवर पियाणुरत्त ।
विउला मल पुलिण णियंव जाम, उत्तिण्णी णयणहिं दिट्ठुताम ।
हरियाणए देसे असंख गामे, गमियिण जणिय अगवरय कामे ।

घत्ता---

पर चक्क विहट्टणु, सिरि संघट्टणु, जो सुर वइणा परिगणिउं ।
रिउ रुहिरावट्टणु, पविउलु पट्टणु, ढिल्ली णामेण जिभणिउं ।

१.२

अर्थात् यमुना नदी सुर नर का हृदय हार थी मानो वारविलासिनी का उर-हार हो । नदी का फेन पुंज मानो उस नारी का उपरितन वस्त्र हो । क्रीड़ा करते हुए चक्रवाक मानो उसके स्तन हों । शैवाल जाल, बुधजनों के मन का अनुरंजन करने वाली रोमावली, भ्रमरावली वलयाकार शोभित वेणी, प्रफुल्ल पद्म दल विशाल नेत्र, पवन प्रकम्पित जल की भंवर तनु ताप नाशक नाभि, वन्य हाथियों को मद से युक्त जल चन्दन लेप, ईषत् व्यक्त होते हुए शुक्ति पुट दाँत और विकसित कमल सुन्दर मुख के समान था । नदी रत्नाकर समुद्र रूपी प्रिय के प्रति अनुरक्त थी और नारी रत्नालंकृत अपने प्रिय के प्रति । उसके विपुल और निर्मल पुलिन मानो नितंब थे । इस प्रकार

---

१. **"विक्कमणरिंद सुपसिद्ध कालि, ढिल्ली पट्टणि धणकण विसालि ।**
सणवासी एयारह सएहिं, परिवाडिए वरिसहं परिगएहिं ।
कसणट्ठमीहिं आगहण मासि, रविवारि समाणिउं सिसिर भासि।"

१२. १८

की नदी कवि ने देखी और पार की । नदी को पार कर कवि हरियाना प्रदेश के ढिल्ली नामक नगर में गया।

कवि ने दिल्ली नगर का वर्णन भी अलंकृत शैली में किया है। वहां की ऊँची ऊँची शालाओं, विशाल रणमंडपों, सुन्दर मन्दिरों, समद गज घटाओं, गतिशील तुरंगों, स्त्रियों की पद नूपुर-ध्वनि को सुनकर नाचते हुए मयूरों और विशाल हट्ट मार्गों का निर्देश किया गया है। कवि वर्णन करता है--

जहिं गयणामंडला लग्गु सालु, रण मंडव परिमंडिउ विसालु।
गोउर सिरि कलसा हय पयंगु, जल पूरिय परिहा लिंगि यंगु।
जहि जण मण णयणाणंदिराइं, मणियर गण मंडिय मंदिराइं।
जहिं चउदिसु सोहहिं घणवणाइं, णायरणर खयर सुहावणाइं।
जहिं समय करडि घड घड हडंति, पडिसद्दें दिसि विदिसि विफुडंति।
जहिं पवण गमण धाविर तुरंग, णं वारि रासि भंगुर तरंग।
पविउलु अणंग सरु जहिं विहाइ, रयणायरु सइं अवयरिउ णाइं।
जहिं तिय पयणेउर रउ सुणेवि, हरिसें सिहि णच्चइ तणु धुणेवि।
जहि मणुहरु रेहइ हट्ट मग्गु, णीसेस वत्थु संवियस मग्गु।
कातंतं पिव पंजी समिद्धु, णव कामि जोव्वण मिव समिद्धु।
सुर रमणि यणु व वरणेत्तवत्तु, पेक्खणयर मिव वहु वेस वंतु।
वायरणु व साहिय वर सुवण्णु, णाडय पेक्खणयं पिव सपण्णु।
चक्कवइ व वरहा अप्फलिल्लु, संच्चुण्ण णाइं सद्दंसणिल्लु।
दप्पुब्भड भड तोणु व कणिल्लु, सविणय सीसु व वहु गोर सिल्लु।
पारावारु व वित्थरिय संखु, तिहुअण वइ गुण णियरु व असंखु।

घत्ता--

णयण मिव सतारउ, सरुव सहारउ, पउर माणु कामिणि यणु व।
संगरु व सणायउ, णहु व सरायउ, णिहय कंसु णारायणु व॥[1]

१.३

अन्तिम घत्ता में कवि ने बाण की श्लिष्ट शैली का प्रयोग करते हुए दिल्ली नगर की अनेक वस्तुओं से तुलना की है--

वह नगर नयन के समान तारक युक्त था, सरोवर के समान हार युक्त और हार नामक जीवों से युक्त था, कामिनी जन के समान प्रचुर मान वाला था, युद्धभूमि के समान नाग सहित और न्याय युक्त था, नभ के समान चंद्र सहित एवं राजसहित था

---

१. पयंगु--पतंग, सूर्य। समय--समद। पयणेउर रउ--पद नूपुर रव। कातंतं ...समिद्धु--कातंत्र व्याकरण के समान पंजिका से युक्त एवं प्रचुर अर्थ युक्त। साहिय...सुवण्णु--जहां सोने का वर्ण या अक्षर परखा जा रहा था। संखु--मर्यादा।

और कंसघाती नारायण के समान वहां कांसा पीटा जा रहा था।

इसी प्रसंग में कवि ने अनंगपाल और हम्मीर का भी निर्देश किया है—

जहिं असिवर तोडिय रिउ कवालु, णरणाहु पसिद्धु अणंग वालु।
णिरु दल वट्टिय हम्मीर वीरु, वंदियण विंद पइव्वण चीरु॥
१.४

युद्ध वर्णनों में कवि ने भावानुकूल शब्दों और छन्दों की योजना की है। निम्न-लिखित उद्धरण में युद्ध में सैनिकों और क्रियाओं की तीव्र गति अभिव्यक्त होती है—

तिक्खु कुंतेण केणावि विद्धा हया, रत्त लित्ता वि मत्ता गया णिग्गया।
को वि केणा वि मुट्ठी हिए द्धारिउ, को वि केणावि पण्हीएल त्थारिउ।
....
कोवि केणावि आवंतु आलाविउ, कुंजरारिव्व सिग्घं समुद्धाविउ।
कोवि केणावि रुद्धो विरुद्धो भडो, कंधरं तोडि णच्चाविऊ णं णडो।
कोवि केणावि धावंतु पोमाइउ, तोमरेणोरु वच्छच्छले घाइउ।
कोवि केणावि—रुसा भीसणो, वाण जालं मुअंतो महाणीसणो।
४.९

सुकुमाल चरिउ

श्रीधर कवि ने इस ग्रंथ की रचना वलड (अहमदाबाद-गुजरात) नगर में राजा गोविन्द चन्द्र के समय में की थी।[1] ग्रंथ रचना का समय वि० सं० १२०८, आग्रहायण मास के कृष्ण पक्ष की तृतीया, चन्द्रवार है।[2]

कवि ने यह ग्रंथ साहु पीथा के पुत्र पुरवाड वंशोत्पन्न कुमार की प्रेरणा से लिखा। संधि की पुष्पिकाओं में उस के नाम का उल्लेख किया गया है।[3] प्रत्येक संधि के आरम्भ

---

१. एक्कहिं दिणि भव्वयण पियारइ, बलडइ नामे गामे मण हारइ।
सिरि गोविंद चंद निव पालिए, जणवइ सुहयारय कर लालिए॥
१.२

२. वारह सयइ गयइ कय हरिसइ, अट्ठोत्तरइ महीयलि वरिसइ।
कसण पक्खि आगहणो जायए, तिज्ज दिवसि ससि वासरि मायइ।
बारह सइय गंत्थं कहइ पद्धडिएहिं रवण्णु।
जण मण हरणु सुह वित्थरणु एउ अत्थु संपुण्णउं॥ ६.१७

३. इय सिरि सुकुमाल सामि मणोहर चरिउ, सुंदर यर गुण रयण नियर भरिए, विवुह सिरि सुकइ सिरिहर विरइए, साहु पीथे पुत्त कुमर नामंकिए,... इत्यादि।

में संस्कृत पद्यों में कुमार की मंगल कामना की गई है।[1] और ग्रंथ के अन्त में उस के वंश का परिचय भी दिया गया है।

कवि ने इस ग्रंथ में छः संधियों और २२४ कड़वकों में सुकुमाल स्वामी के पूर्व जन्म का वर्णन किया है। पूर्व जन्म में वह कौशाम्बी में राजमंत्री के पुत्र थे। जिन-धर्म में अनुरक्ति होने के कारण इन्होंने जिनधर्म में दीक्षा ले ली। संसार को छोड़ कर विरक्त हो गये। पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण हो आने पर तपस्या में लीन हो गये। फलतः अगले जन्म में उज्जैन में जन्म लिया और इनका नाम सुकुमाल रखा गया।

कवि की कविता का उदाहरण निम्नलिखित रानी के वर्णन में देखा जा सकता है—

तहो णरवइहे घरिणि मयणावलि, पहय कामियण मण गहियावलि।
दंत पंति णिजिय मुत्तावलि, नं मयहो करी वाणावलि।
सयलंतेउर मज्झे पहाणी, उछ सरासण मणि सम्माणी।
जहि वयण कमलहो नउ पुज्जइ, चंदु वि अज्जु विवट्टइ खिज्जइ।
कंकेल्ली पल्लव सम पाणिहिं, कलकल हंठि वीणणिह वाणिहिं।
णिय सोहग्ग परज्जिय गोरिहिं, विज्जाहर सुरमण धण चोरिहे।
अहर लछि परिभविय पवालहें, परिमिय चंचल अलिणिह वालहें।
सुर नर विसहर पयणिय कामहे, अमर राय कर पहरण खामहें।
णयणो हामिय सिसु सारंगहे, संदरि सय लावखय वहि चंगिहे।
जाहि नियंवु णिहाणु अकामहे, सोहइ जिय तिहु अण जण गामहे।
थोव्वड वयण सिहिणजुअ लुल्लउ, अह कमणीय कणय घडतुल्लउ।
रहइ जाहे कसण रोमावलि, नं कामानल घण धूमावलि।
१. ८.

कवि ने नारी के अंग वर्णन में प्रायः परंपरागत उपमानों का ही प्रयोग किया है।

भविसयत्त चरिउ (भविष्यदत्त चरित्र)

श्रीधर ने इस ग्रंथ की रचना वि० सं० १२३० में फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष की

---

१. यः सर्व्व वित्पद पयोज रज द्विरेफः
स दृष्टि रुत्तम मति र्म्मद मान मुक्तः।
श्लाघ्यः सदैव हि सतां विदुषां च सो त्र
श्रीमत्कुमार इति नंदतु भूतलेऽस्मिन्॥ २.१
भक्तिर्यस्य जिनेंद्र पाद युगले धर्म्मे मतिः सर्वदा
वैराग्यं भव भोग—विषये वांछा जिने सागमे।
सद्दाने व्यसनं गुरौ विनयता प्रीति र्व्वुधे विद्यते
स श्रीमान् जयता ज्जितेंद्रिय रिपुः श्रीमत्कुमाराभिधः॥ ३.१

दशमी तिथि रविवार को समाप्त की थी ।[1]

यह कृति कवि ने माथुर वंशी नारायण साहु की पत्नी रुप्पिणी के लिए लिखी थी। सन्धि की पुष्पिकाओं में इसके नाम का उल्लेख भी किया गया है ।[2] प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में कवि ने इन्द्रवज्रा, शार्दूल विक्रीडित आदि संस्कृत छन्दों में रुक्मिणी की मंगल कामना भी की है।[3]

ग्रंथ में श्रुत पंचमी व्रत के फल और माहात्म्य को प्रदर्शित करने के लिए भविष्यदत्त के चरित्र का वर्णन छह सन्धियों और १४३ कड़वकों में किया गया है। कवि ग्रंथ के आरम्भ में ही मंगलाचरण करता हुआ कहता है—

ससि पह जिण चरणइं, सिवसुह करणइं, पणविवि णिम्मल गुणभरिउ ।
आहासमि पविमलु, सुअ पंचमि फलु, भविसयत्त कुमरहो चरिउ ॥ १.१

कवि की कविता का उदाहरण निम्नलिखित हस्तिनापुर वर्णन में देखा जा सकता है—

तहिं हत्थिणायउरु वसइ णयरु, पवरावण दरिसिय रयण पवरु ।
जहिं सहलइ सालु गयणग्गलग्गु, हिमगिरि व तुंगु विछिण्ण मग्गु ।
परिहा सलिलंतरे ठिय मरालु, णाणा मणि णिम्मिय तोरणालु ।
सुर हर धय चय चंविय णहग्गु, पर चक्क मुक्क पहरण अभग्गु ।
कवसीसय पंतिय सोह माणु, मणिगण जुइ अमुणिय सेयभाणु ।
मंगल रव बहिरिय दस दिसासु, बुहयण घणट्ट माण वणि वासु ।
जहिं मुणिवरेंहिं पयडिय धम्मु, परिहरियइं भव्वयणेंहिं छम्मु ।
जहिं दिज्जइ सावय जणहिं दाणु, विरएवि णु मुणि वर पयहिं माणु ।
जहिं को वि ण कासु वि लेइ दोसु, ण पियइ धण धण्ण कएण कोसु ।

---

१. "णरणाह विक्कमाइच्च काले, पवहंतए सुहयारए विसाले ।
बारहसय वरिसहिं परिगएहिं, दुगुणिय पणरह वच्छर जुएहिं ।
फग्गुण मासम्मि वलक्ख पक्खे, दसमिहि दिणे तिमिरुक्कर विविक्खे ।
रविवारि समाणिउं एउ सत्थु,....................... ।
६.३०

२. इय सिरि भविसयत्त चरिए विवुह सिरि सुकइ सिरिसिहर विरइए,
साहु णारायण भज्जा रुप्पिणि णामंकिए.......इत्यादि ।

३. या देव धर्म्म गुरु पाद पयोज भक्ता,
सर्व्वज्ञ देव सुख दायिमतानुरक्ता ।
संसार कारि कुकथा कथने विरक्ता
सा रुक्मिनी बुध जनै र्न कथं प्रशस्या ॥
२. १

मणि को वि खणुवि धरेइ रोसु, मणि दित्तिए ण वियणियइं गोसु।
जहिं कुलहु कहिं वि णउ करइ कोवि, मिहुणइं रइ कालि भिडंति तोवि ॥[1] १.५

इस वर्णन में कवि की धार्मिक भावना ही प्रधान रूप से परिलक्षित हुई है।

सुलोचना चरिउ (सुलोचना चरित्र)

'सुलोचना चरिउ' अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है। (प्र० सं० पृष्ठ १९०)

यह देवसेन गणि का लिखा हुआ २८ सन्धियों का एक काव्य है। कवि ने यह कृति राक्षस संवत्सर में श्रावण शुक्ला चतुर्दशी बुधवार के दिन समाप्त की।[2] ज्योतिष की गणनानुसार इस तिथि और इस दिन दो राक्षस संवत्सर पड़ते हैं। एक २९ जुलाई सन् १०७५ में और दूसरा १६ जुलाई सन् १३१५ में।[3]

कवि ने वाल्मीकि, व्यास, श्री हर्ष, कालिदास, बाण, मयूर, हलिय, गोविन्द, चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त, भूपाल नामक कवियों का उल्लेख किया है।[4] इनमें से जितने

---

१. पवरावण—प्रवर आपण,—हट्ट। रयण पवरु—रत्न समूह। सहलइ—शोभित होता है। विच्छिण्णमग्गु—विस्तीर्ण मार्ग। तोरणालु—तोरण से संयुक्त शाला। अभग्गु—अभग्न शाला। कवसीसय—कांगुर पंक्ति, टिप्पणी। सेयभाणु—चन्द्रमा। छम्मु—छद्म पाखंड। कएण—कारण से। मणि...गोसु—मणियों की दीप्ति से प्रभात समय ज्ञात नहीं होता। रइ कालि—रति काल में।

२. रक्खस संवत्सरे बुह दिवसए, सुक्क चउद्दसि सावण मासए।
चरिउ सुलोयणाहिं णिप्पउं, सद्द अत्थ वण्णय संपुंण्णउं।
घत्ता—ण वि मइं कवित्त गव्वेण कियउ, अवरु ण केणवि लाहें।
किउ जिण धम्महो अणुत्तर ?? मणे कय घमुच्छ हें ॥ सु० च० अन्तिम प्रशस्ति

३. पं० परमानन्द जैन शास्त्री का लेख सुलोचना चरित्र और देवसेन, अनेकान्त वर्ष ७, किरण ११-१२ पृष्ठ १६२

४. जहिं वम्मिय वास सिरि हरिसहिं।
कालयास पमहइ कय हरिसहिं।
वाण मयूर हलिय गोविंदहिं।
चउमुह अवर सयंभु कयंदहिं।
पुप्फयंत भूवाल पहाणहें।
अवरेहि मि वहु सत्थ वियाणहिं।
विरइयाइं कव्वइं णिसुणेप्पिणु।
अम्हारिसह न रंजइ वुह यणु।
हउ तहावि धिट्ठ पयासमि।
सत्थ रहिउ अप्पउ आयासमि। १.३

भी ज्ञात कवि हैं उनमें सब से उत्तरकालीन कवि पुष्पदन्त हैं। अतः देवसेन भी पुष्पदन्त के बाद और १३१५ ई० से पूर्व ही किसी समय में उत्पन्न हुए माने जा सकते हैं।

काव्य में प्रत्येक सन्धि के अन्तिम घत्ता में कवि के नाम का निर्देश है। कवि निबड़ि देव के प्रशिष्य और विमलसेन गणधर के शिष्य थे।

सुलोचना कथा जैन कवियों का प्रिय विषय रही है। आचार्य जिनसेन ने अपने हरिवंश पुराण में महासेन की सुलोचना कथा की प्रशंसा की है।[1]

कुवलयमाला के कर्त्ता उद्योतन सूरी ने भी सुलोचना कथा का निर्देश किया है।[2] पुष्पदन्त ने अपने महापुराण की २८ वीं संधि में इसी कथा का विस्तार से सुन्दर वर्णन किया है। धवल कवि ने अपने हरिवंश पुराण में रविषेण के पद्म चरित्र के साथ महासेन की सुलोचना कथा का उल्लेख किया है।[3] कवि ने अपने इस काव्य में कुन्दकुन्द के सुलोचना चरित्र का उल्लेख किया है और कहा है कि कुंद कुंद के गाथाबद्ध सुलोचना चरित्र का मैंने पद्धडिया आदि छंदों में अनुवाद किया है।[4] न महासेन की सुलोचना कथा और न कुंदकुंद का सुलोचना चरित आजकल उपलब्ध है। किन्तु कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों की विशेषतः पुष्पदन्त की रचना से प्रभावित हुआ होगा, इसका अनुमान कवि की निम्नलिखित गाथा से लगाया जा सकता है :

"चउमुह सयंभु पमुहेहिं रक्खिय दुहिय जा पुप्फयंतेण।
सुरसइ सुरहीए पयं पियं सिरि देवसेणेण॥ १०.१

अर्थात् चतुर्मुख, स्वयंभू आदि कवियों द्वारा रक्षित और पुष्पदन्त द्वारा दोही गई सरस्वती रूपी गौ के दुग्ध का देवसेन ने पान किया।

इस काव्य में कवि ने सुलोचना के चरित्र का वर्णन किया है।

चक्रवर्ती भरत के प्रधान सेनापति, जयकुमार की धर्मपत्नी का नाम सुलोचना था। वह राजा अकंपन और सुप्रभा की पुत्री थी। सुलोचना अनुपम सुन्दरी थी। इसके स्वयंवर में अनेक देशों के बड़े-बड़े राजा आये। सुलोचना को देख कर वे मुग्ध हो गये,

---

१. नाथू राम प्रेमी, जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० ५३८.
महासेनस्य मधुरा शीलालंकार धारिणी।
कथा न वर्णिता केन वनितेव सुलोचना॥

२. वही पृ० ५३८
सण्णिहिय जिण वरिंदा धम्म कहा बंध दिक्खिय णरिंदा।
कहिया जेण सुकहिया सुलोयणा समवसरणं व॥

३. मुणि महसेणु सुलोयण जेणवि, पउम चरिउ मुणि रविसेणणवि।
हरि० पु० १. ३

४. जं गाहाबंधे आसिउत्तु, सिरि कुंद कुंद गणिणा णिरुत्तु।
तं एमहिं पद्धडियहिं करेमि, वरि किंपि ण गूढउ अत्थु देमि॥
१. ६

उनका हृदय विक्षुब्ध हो उठा और उसकी प्राप्ति की प्रबल इच्छा करने लगे। स्वयंवर में सुलोचना ने जय को चुना। परिणामस्वरूप चक्रवर्ती भरत का पुत्र अर्ककीर्ति क्रुद्ध हो उठा और उसने इसमें अपना अपमान समझा। अपने अपमान का बदला लेने के लिए अर्ककीर्ति और जय में युद्ध होता है और अन्त में जय विजयी होता है।

ग्रंथ का आरम्भ कवि ने पंच नमस्कार से किया है। तदनन्तर जिन स्तवन करता हुआ अपने गुरु विमलसेन का स्मरण करता है (१. ३)। अपने से पूर्वकाल के अनेक उत्कृष्ट कवियों के काव्यों के होते हुए भी अपने काव्य के लिखने का प्रयोजन बताता है।

जइ कप्पदुमु फलइ मणोहरु, तो किं फलउ णाहि अवरु वि तरु।
जइ पवहइ सुरसरि मंथर गइ, तो किं अवर णाहि पवहउ पाइ॥
१.४

इसके अनन्तर कवि ने आत्म विनय प्रदर्शित करते हुए (१. ४) सज्जन-दुर्जन स्मरण किया है—

चंदण वयणु कुठारहं केरउ, करइ सुयंधु सुच्छेय जणेरउ।
उछ दडू पीलिवि ताविउ, तो वि तेण महुरत्तणु क्षविउ॥ १.५

काव्य में मगध, राजगृहादि के काव्यमय वर्णन उपलब्ध होते हैं। श्रृङ्गार, वीर इत्यादि रसों की भी उपयुक्त व्यंजना की गई है। संधि की पुष्पिकाओ में कवि ने अपने ग्रंथ को महाकाव्य कहा है।[1]

कवि ने नारी वर्णन में परंपरागत उपमानों का प्रयोग किया है। जैसे चेल्लना महादेवी का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

चलणइं अइरत्तइं कोमलाइं, सोहंति णाइं रत्तुप्पलाइं।
उरू जुवलउ तहि केम भाइं, मणहरण व रंभा खंभणाइं।
कडियलु विसालु रइ सुहणिहाणु, णं मयण णिवहो आवासठाणु।
तहिं थण तुंग तें मझु खीणु, णं सुयणहो रिद्धिए पिसुणु झीणु।
जिरुवमउं जाहिं भुय डालियाउ, ललियउं णं मालइ मालियाउ।
गल कंदलु समु कोमल विहाइ, वट्टुलु वरयोप्फलि कवुणाइ।
(सद्दलु सर कोकिल कंठ्ठु णाइ)।
तहिं अहरु पवट्ठुलु सरसु रत्तु, णं पिक्कउ विंवीहलु पवित्तु।
णयण इंदीहरु कसुणुज्जलाइं, णं वम्महं कंडइं पत्तलाइं।
अलयावलि तहो भाल यलिदिट्ठ, णं णव सय दलि छप्पय वइट्ठ।

घत्ता–

जित्तउ मुह सोहाए, जेण तेण सकलंकउ।
लज्जए जाइ विदूरि, णहयलि थक्कु ससंकउ॥ १. १२

---

१. इय सुलोयणा चरिए महाकव्वे, महापुरा हिट्ठिए, गणि देवसेण विरइए ....इत्यादि।

कवि के युद्ध वर्णन सजीव हैं। युद्ध की अनेक क्रियाओं को अभिव्यक्त करने के लिए तदनुकूल शब्दों की योजना की गई है। झर-झर रुधिर का बहना, चर-चर चर्म का फटना, कड़-कड़ हड्डियों का मुड़ना आदि वाक्य युद्ध के दृश्य का सजीव चित्र उपस्थित करते हैं। देखिये—

असि णिहसण उट्ठिय सिहि जालइं, जोह मुक्क जालिय सर जालइं।
पहरि पहरि आमिल्लिय सद्दइं, अरि वर घड थक्कय सम्मद्दइं।
झरझरंत पवहिय वहुरत्तइं, णं कुसंभ रय राएं रत्तइं।
चरयरंत फाडिय चल चम्मइं, कसमसंत चरिय तणु वम्मइं।
कडयडंत मोडिय घण हड्डइं, मंस खंड पोसिय भे रुंडइं।
दडदडंत धाविय वहुरुंडइं, हुंकरंत धरणि वडिय मुंडइं।
....
फाडिय चमर छत्त धयदंडइं, खंड खंड कय गय वर सोंडइं।
सु० च० ६. ११

निम्नलिखित जय और अर्ककीर्ति के युद्ध के वर्णन में कवि ने भुजंग प्रयात छन्द द्वारा योद्धाओं की गति का भी चित्रण किया है। देखिये—

"भडो को वि खग्गेण खग्गं खलंतो,
रणे सम्मुहे सम्मुहो आहणंतो।
भडो को वि वाणेण वाणो दलंतो,
समद्धाइउ दुद्धरो णं कयंतो।
भडो को वि कोंतेण कोंतं सरंतो।
करे गीढ चक्को अरी संपहुंत्तो।
मडो को वि खंडेंहि खंडी कयंगो,
भडन्तं ण मुक्को सगावो अभंगो।
भडो को वि संगाम भूमी घुलंतो,
विवण्णोहु गिद्धावली णीअ अंतो।
भडो को वि घाएण णिव्वट्ट सीसो,
असी वावरेई अरी साण भीसो।
भडो को वि रत्तप्पवाहे तरंतो,
फुरंतप्पएणं तर्हि सिग्घपत्तो।
भडो को वि हत्थी विसाणेंहि भिण्णो,
भडो को वि कंठद्ध छिण्णो णिसण्णो।

घत्ता—तहिं अवसरि णियसेण्णु पेच्छिवि सर-जज्जरियउ।
धायिउ भुय तोलंतु जउ वहु मच्छर भरियउ॥ ६. १२

कवि ने भाषा में अनुरणात्मक शब्दों का प्रयोग भी किया है—

डम डमिय डमरु वसयागहिर सद्दाइं, दों दों तिकय दिविलु उट्ठियणिणद्दाइं।
भं भंत उच्च सर भेरी गहीराइं, घण घा यरुण रुणिय जय घंट साराइं।
कडरडिय करडेंहि भुवणेक्क पूराइं, धुम धुमिय मद्दलहिं वज्जियइं तूराइं॥ ६. १०

काव्य में कवि ने खंडय, जंभेट्टिया, दुवई, उवखंडय, आरणाल, गलिलय, दोहय, वस्तु, मंजरी आदि छन्दों का सन्धियों के आरम्भ में प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त पद्धडिया, पादाकुलक, समानिका, मदनावतार, भुजंग प्रयात,सग्गिणी, कामिनी, विज्जुमाला, सोमराजी, सरासणी, णिसेणी, वसंत चच्चर, द्रुतमध्या, मंदरावली, मदनशेखर आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

कवि ने अठारहवीं सन्धि में कडवकों के आरम्भ में दोहयं का प्रयोग किया है। तुक प्रेम के कारण दोहे के प्रथम और तृतीय चरण में भी तुक मिलाई गई है—

कोइ णु कासु वि दुह सुहइं, करइ ण को वि हरेइ।
अप्पाणेण विढत्तु वढ, सयलु वि जीउ लहेइ॥ १८.९

सील रयणु वय कित्ति घरु, सव्व गुणेंहिं सउण्णु।
सो धणवंतउ होइ णरु, सो तिहुयण कय पुण्णु॥
१८.११

पज्जुण्ण चरिउ (प्रद्युम्न चरित)

सिंह विरचित १५ सन्धियों का अप्रकाशित काव्य है। तीन हस्तलिखित प्रतियां आमेर शास्त्र भण्डार में विद्यमान हैं (प्र० सं० पृष्ठ १३२-१३८)।

कवि के पिता का नाम रल्हण और माता का जिनमती था। ग्रन्थ को कवि ने अपनी माता के अनुरोध से बनाया। ग्रन्थ की सन्धियों के आरम्भ में संस्कृत भाषा में पद्य भी दिये हुए हैं जिनसे प्रतीत होता है कि कवि संस्कृत का भी ज्ञाता था।[1] कवि ने अपने

---

१. यत्काव्यं चतुराननानु नितरं सत्पद्म मातन्वतः
स्वैरं भ्राम्यति भूमि भागमखिलं कुर्वन्वलक्षं क्षणात्।
तेनेदं प्रकृतं चरित्र मसमं सिद्धेन नाम्ना परं
प्रद्युम्नस्य सुतस्य कर्ण्ण सुखदं श्री पूर्व्व देव द्विषः॥ २.१
छंदालंकृत लक्षणं न पठितं नाश्रावि तर्कागमः
ज्योति हंत न कर्ण्ण गोचर चरं साहित्य नामापि च।
सिंहः सत्कविरग्रणी समभव त्राप्य प्रसादं वरं
वाग्देव्या सुकवित्वया जयतु सामान्यो मनसं प्रिया॥ १४.१

आपको चार भाषाओं में निपुण कहा है ।[1] ये चार भाषायें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी ही हो सकती हैं । कवि ने यद्यपि काव्यारम्भ में विनय प्रदर्शित करते हुए अपने आपको तक, छन्द, लक्षण, समास, सन्धि आदि के ज्ञान से रहित बतलाया है तथापि कवि स्वभाव से अभिमानी था । अपनी काव्य-प्रतिभा का उसे गर्व था । पंद्रहवीं सन्धि के आरम्भ में दिये एक पद्य से यह बात पुष्ट होती है ।[2] कवि गुर्जर वंश में उत्पन्न हुआ था और उस वंश में सूर्य के समान था (गुज्जर कुल णह उज्जोय भाणु) । सिंह अमृत चन्द्र के शिष्य थे ।

काव्य में सन्धियों की पुष्पिकाओं में सिंह और सिद्ध दोनों नाम मिलते हैं । प्रथम आठ सन्धियों की पुष्पिकाओं में सिद्ध और अन्य सन्धियों की पुष्पिकाओं में सिंह मिलता है ।[3] अतः कल्पना की गई कि सिंह और सिद्ध एक ही व्यक्ति के नाम थे । वह कहीं अपने आपको सिंह और कहीं सिद्ध कहता है । यह भी कल्पना की गई कि सिंह और सिद्ध नामक दो कवियों ने रचना की । यही अनुमान अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि काव्य के प्रारम्भ में सिद्ध के माता पिता के नाम और आगे सिंह के पिता का नाम भी भिन्न मिलता है । पं० परमानन्द जैन का अनुमान है किसिद्ध कवि ने प्रद्युम्न चरित्र का निर्माण किया था । कालवश यह ग्रन्थ नष्ट हो गया और सिंह ने खंडित रूप से प्राप्त इस ग्रन्थ का पुनः उद्धार किया ।[4] प्रो०] हीरालाल जैन का भी यही विचार है ।[5] इसकी पुष्टि एक हस्तलिखित प्रति में ग्रंथ की अन्तिम पुष्पिका से होती है जिसमें सिद्ध और सिंह दोनों का नाम दिया हुआ है ।[6] पज्जुण्ण

---

१. यत्र श्री जिन धर्म कर्म्म निरतः शास्त्रार्थ सर्व्वं प्रियः
भाषाभिः प्रवणश्चतुर्भिरभवत् श्री सिंह नामा कविः ।
पुत्रो रल्हक पंडितस्य मतिमान् श्री गुर्जरागोमिह
इष्ट ज्ञान चरित्र भूषित तनुः विस्पे विशाले वनौ ॥ प० च० १३.१

२. साहाय्यं समवाप्य नात्र सुकव प्रद्युम्न काव्यस्य यः
कर्त्ताभूद् भव भेदनैक चतुरः श्री सिंह नामः समां
साम्यं ,तस्य कवित्व गर्व सहितः को नाम जातो वनौ
श्रीमज्जैन मत-प्रणीत सुपथे सार्थ प्रवृत्तिं क्षमः ॥ १५.१

३. इय पज्जुण कहाए, पयडिय धम्मत्थ कास मोक्खाए,
कइ सिद्ध वि रइयाए पठमो संधी परिसमत्तो ।
इय पज्जुण्ण कहाए पयडिय धम्मत्थ काम मोखाए वुहरल्हण सुव कइ सीह विरइयाए णवमो संधी परिछेऊ समत्तो ।

४. पं० परमानन्द जैन—महाकवि सिंह और प्रद्युम्न चरित, अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०–११, पृ० ३९१,

५. नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल, सन् १९४२, पृ० ८२-८३

६. इति प्रद्युम्न चरित्रं सिद्ध तथा सिंह कवेः कृतं समाप्तं ।

चरिउ की अन्तिम प्रशस्ति में दी हुई गाथाओं से भी यही मत समीचीन प्रतीत होता है।[1] प्रो० हीरालाल जैन ने ग्रंथ का काल ईसा की १२वीं सदी का पूर्वार्द्ध माना है।[2] पं० परमानन्द जैन ने ग्रंथ का रचना काल विक्रम की १३वीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग माना है।[3]

कवि ने जैन सम्प्रदायानुसार २४ कामदेवों में से २१वें कामदेव कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न के चरित्र का १५ सन्धियों में वर्णन किया है। रुक्मिणी से उत्पन्न होते ही प्रद्युम्न को, पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार, एक राक्षस उठा कर ले जाता है। प्रद्युम्न वहीं बड़े होते हैं और फिर बारह वर्ष के बाद कृष्ण से आकर मिलते हैं।

ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित पद्य से हुआ है--

स्वस्ति। ॐ नमो वीत रागाय।
खम दम जम निलयहो, तिहुयणतिलयहो, वियलिय कम्म कलंकहो।
थुइ करमि स सत्तिए, अइणिरु भत्तिए, हरि कुल गयण ससंकहो॥

इसके अनन्तर कवि ने जिन नाथ वन्दन, सरस्वती वन्दन और आत्म विनय प्रदर्शित किया है—

तं सुणेवि कवि सिद्धु जंपए, मज्झु माए णिरु हियउ कंपए।
कव्व वुद्धि चितंतु लज्जिउ, तक्क छंद लक्खण विवज्जिउ।
णवि समासु णविहत्तिकारउं, संधि सुत्त गंथहं असारउं।
कव्वु कोवि ण कयावि दिट्ठऊ, महु णिघंटु केण वि ण सिद्धऊ।
तेण वहिणि चितंतु अछमि, खुज्जहो वि तालफलु वंछमि।
अंधु हो वि णवणट्ट पिछिरो, गेय सुणणि वहिरो वि इछिरो। १.२

कवि ने परंपरागत दुर्जन स्मरण भी किया है—

ता सिद्ध भणइं महु गरुय सकं, दुज्जणहु ण छुट्टइ रवि मयंक।
तहिं पुणु अम्हारिस कवण मत्त, ण मुणहिं जि कयावि कवित्त वत्त।
१.४

कवि की काव्य शैली का उदाहरण देखिये। कवि परिसंख्यालंकार द्वारा सौराष्ट्र देश का वर्णन करता है—

मय संगु करिणि जहिं वेए कंडु, खरदंडु सरोरुहु ससि सखंडु।
जहिं कव्वे वंधु विग्गहु सरीरु, धम्माणु रत्तु जणु पाव भीरु।

---

१. संभवइ वहु विग्घं, मणुवाणं सेयमग्ग लग्गाण।
मा होहि सिढिलो विरयहि कप्पवं तरंतो वि॥
सुहअ सुहण वियाणवि, चित्तं धीर वि ते अए घण्णा।
पर कज्जं पर कव्वं, विहडं ते जेंहि उद्धरियं॥

२. नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल, सन् १९४२, पृ० ८२-८३।

३. अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०–११, पृ० ३९३.

थट्टत्तणु मलणु वि मण हराह, वर तरुणी पीण घण थण हराहं।
हय हिंसणि रायणि हेलणेसु, खलि विगयणेहु तिल पीलणेसु।
मज्झण्णयाले गुण गण हराहँ, परयार गमणु जहिं मुणि वराहं।
पिय विरहु वि जहिं कडु वउकसाउ, कुडिल विज्जुव इहिं कुंतल कलाउ।
१.९

निम्नलिखित उद्धरण में कवि ने कृष्ण और सत्यभामा का वर्णन किया है। वर्णन में कवि की दृष्टि वस्तु के सविस्तार वर्णन पर न जाकर संक्षेप से ही सन्तुष्ट हो जाती है—

घत्ता—

चाणउर विमद्दणु, देवइणंदणु, संख चक्क सारंगधरु।
रणि कंस खयंकरु, असुर भयंकरु, वसुह तिखंडहं गहिय करु॥
१.१२

रजो दाणव माणव दलइ दप्पु, जिणि गहिउअसुर णर खयर कप्पु।
णव णव जोव्वण सुमणोहराइं, चक्कल घण पीण पउं हराइं।
छण इदं विवसम वयणि याहं, कुवलय दल दीहर णयणियाहं।
केऊर हार कुंडल धराहं, कण कण कणंत कंकण कराहं।
कयरं खोलिर पयणेउराहं, सोलह सहसइं अंतेउराहं।
तह मज्झि सरस ताम रस मुहिय, जा विज्जाहरहंसु केउ दुहिय।
सइं सव्व सुलक्खण सुस्सहाव, णामेण पसिद्धिय सच्चहाव।
दाडिम कुसुमाहर सुद्धसाम, अइ वियडर मणणिरु मज्झ खाम।
ता अग्ग महिसि तहो सुंदरासु, इंदाणि व सग्गि पुरंदरासु।
१.१३

सनत्कुमार चरित[1] (नेमिनाथ चरित)

हरिभद्र रचित नेमिनाथ चरित का एक अंश सनत्कुमार चरित के नाम से प्रकाशित हुआ है। नेमिनाथ चरित के ४४३ पद्य से ७८५ पद्य तक अर्थात् ३४३ रड्डा पद्यों में सनत्कुमार का चरित मिलता है।

हरिभद्र श्वेताम्बर जैन थे। यह जिनचन्द्र सूरि के शिष्य श्रीचन्द्र के शिष्य थे। कवि ने ग्रंथ रचना अणहिल पाटन-पत्तन में वि० सं० १२१६ में की थी।[2] हरिभद्र ने चालुक्य वंशी राजा सिद्धराज और कुमारपाल के अमात्य पृथ्वीपाल के आश्रय में रह कर अपने ग्रंथ की रचना की थी। कवि ने मल्लिनाथ चरित नामक ग्रंथ प्राकृत में लिखा।

---

१. सनत्कुमार चरितम्—डा० हरमन जैकोबी द्वारा संपादित, जर्मनी, १९२१ ई०
२. वही पृ० १५४, पद्य २१

इसके अतिरिक्त कवि की चन्द्रप्रभ चरित नामक एक अन्य कृति का भी उल्लेख मिलता है।[1]

कथानक—सनत्कुमार चरित यद्यपि नेमिनाथ चरित का एक भाग है किन्तु कथानक की दृष्टि से अपने आप में पूर्ण-स्वतंत्र प्रतीत होता है। कवि इसके आरम्भ में जम्बु-द्वीप, भरत खंड, और गजपुर का काव्यमय भाषा में वर्णन करता है। सनत्कुमार गजपुर के राजा अश्वसेन और उनकी रानी सहदेवी के पुत्र थे। धीरे-धीरे सनत्कुमार बड़े होते हैं, अनेक शिक्षायें प्राप्त कर युवावस्था में पदार्पण करते हैं। एक दिन मदनोत्सव के अवसर पर सनत्कुमार उद्यान में एक स्त्री को देख उस पर मुग्ध हो जाते हैं। युवती भी उनके सौन्दर्य से आकृष्ट हो जाती है। दोनों मदनायतन में मिलते हैं और अपनी प्रेम भावना को अभिव्यक्त करते हैं। इसी बीच भोजराज पुत्र, जलधि कल्लोल नामक एक प्रसिद्ध घोड़ा सनत्कुमार को भेंट करता है। पवन से और मन से भी वेगवान अश्व एक दिन कुमार को लेकर दूर देश जा निकलता है। राजधानी में कोलाहल और हाहाकार मच जाता है। सनत्कुमार का मित्र अश्वसेन उसकी खोज में निकल पड़ता है। ढूंढ़ता-ढूंढ़ता और भटकता-भटकता अश्वसेन मानस सरोवर जा पहुँचता है। बीच के मार्ग में अनेक जंगल आते हैं, अनेक ऋतुएँ अपनी मोहकता लिये उसके आगे आती हैं। इनका कवि ने सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है। मानस में अश्वसेन एक किन्नरी को मधुर कंठ से कुमार का गुणगान करते हुए सुनता है। उसी से इसे सनत्कुमार का वृत्तान्त ज्ञात होता है। इस बीच सनत्कुमार अनेक रमणियों से विवाह कर लेते हैं। कदाचित् मदनोत्सव पर वह जिस युवती पर मुग्ध हुए थे उसे एक यक्ष हर ले गया था। उन दोनों का यहाँ मेल हो जाता है और यह मिलन विवाह में सम्पन्न होता है। कुमार के इस भोग-मय जीवन के बाद उनके अनेक वीर एवं पराक्रम कार्यों का कवि ने वर्णन किया है। इसी बीच मुनि अर्चिमाली कुमार के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त सुनाते हैं।

इसके अनन्तर फिर कुमार के अनेक विवाहों का वर्णन है। इतने में ही कुमार का बाल्यसखा महेन्द्र वहाँ पहुँचता है और उसके मुख से अपने माता-पिता की दुर्दशा का समाचार सुन कर वह गजपुर लौट पड़ते हैं।

कुमार का पिता अश्वसेन उसे राज्य देकर स्वयं विरक्त हो जाता है। समस्त पृथ्वी को वशवर्ती करते हुए सनत्कुमार पूर्ण चक्रवर्ती पद को प्राप्त करते हैं। इन्द्रादि देवता उनका अभिषेक करते हैं। उनके अमिततेज और सौंदर्य का वर्णन करते हैं। सनत्कुमार अपने रूप को अस्थायी समझ विरक्त हो जाते हैं और विरक्त हो घोर तपस्या करते हैं। देवता आ आकर उनसे आशीर्वाद लेते हैं। ऋषि सनत्कुमार लाखों वर्ष तपस्या करते हुए स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

कथानक अन्य चरित काव्यों के समान वीर और शृंगार के वर्णनों से युक्त है। दोनों का पर्यवसान शान्त रस में होता है। अन्य चरित काव्यों की अपेक्षा प्रेम तत्व कुछ

१. जिन रत्न कोष, पृ० ११९

अधिक प्रस्फुरित हो सका है। प्रेम के श्रृंगार पक्ष के अतिरिक्त वियोग का भी वर्णन मिलता है अतएव कथा में कुछ स्वाभाविकता आ गई है। ग्रंथान्तर्गत काव्यमय वर्णनों में ऋतुओं का वर्णन[1] विशेष आकर्षक है।

कवि प्रातः काल का वर्णन करता हुआ कहता है—

"तपणु वियलिर तिमिर धम्मिलु परिल्हसिर तारय वसण
कलयलंत तरु सिहर पक्खिय।
परिसंदिर कुसुम-महु-बिंदु मिसिणएँ पइ वड्डक्खिय।
....
हरिय तारय-रेणु–नियरं मिअइ निप्पहे दोसयरे, निम्मलं मि
गयणयले चड्ढिउ।
रवि रेहइ कणयमउ-मंगलज्जुनं कलसु मंडिउ।
भमरा धावहिं कुमुइणिउ उब्भिवि कमलवणेसु,
कस्सव कहिं पडिबंधु जगे चिरपरिचिय-गणेसु।
विरह विहुरिय चक्कमिहुणाइँ मिलिऊण साणंद,
हुय तुट्ठ भमहिं पहियण महियले।
कोसिय-कुलु एक्कु परिदुहिउ रविहिं आरूढे नहयले॥
(७ वीं सन्धि)

निम्नलिखित वसंत-वर्णन में भी अलंकृत, और साहित्यिक परंपरागत बाण की वर्णन शैली के दर्शन होते हैं—

"जहिं पवालं कुरेहिं कयसोह डिंभाइँ 'व तिलयकय गरुय-
महिम कामिणि मुहाइँ 'व।
बहु लक्खण चित्त-सय मणहराइं नर-वइ-गिहाइँ 'व।
उत्तिम जाइ प्पसवकय-महिमंडणाइं वणाइँ
विलसइं भुवणाणंदयर, नं नरनाह कुलाइँ॥
जहिय विज्ज सिय कुसुम कणियार-वणराइ कंचणमय व कुणइ
पहिय हिययाण विब्भमु।
अहिकिंखहिँ भुवणयले सयल मिहुण निय-दइय-संगमु।
गिज्जहिँ रासहिँ चच्चरिउ, पेज्जहिँ वर महराउ।
माणिज्जहिँ तुंगत्थणिउ, किज्जहिँ जल-कीलाउँ॥
(वही सन्धि ४)

कवि का नारी-सौन्दर्य वर्णन देखिये—

जीए रयणिहिं तणु किरणमालच्चिय दीव सिव सोह मेतु मंगल पईवय।
सवणाण विहुसणइँ नयणकमल विइ मेत्त मेवय।

---

१. सनत्कुमार चरित—पद्य ५३८-५५०.

गंडयलच्चिय तिमिर-हर, जगे पहु ससि-रवि-संख।
सवण जे अंदोलय ललिय, विहल महुहु आकंख ॥
जणु सुहावहिँ मुहह निसास कि मलयानिल भरेण,
दंत किरण धवल किहिँ चंदेण।
अहरो वि हु रंजवइ जगु विकइण कि अंगरागेण।
रसण पउच्चिय मिउफरि, सूनपा-मयण सयणेज्ज।
नहमणि-किरणच्चिय कुणहिँ, कुसुम वयारह कज्जु ॥
तरल-नयणेहिं कुडिल-केसेहिँ थण-जुयलेण, पुणु कठिण
तुज्झ रूव मज्झ पएसेण।
अच्वंत वाउलिय देवपूय गुरु विणय हरिसेण।
इय सा सयलुवि जगु जिणइ, निय-गुण-दोस-सएण ॥

(वही सन्धि ७)

वह नारी अपने किरण मालाचित शरीर से रात्रि में मंगलमय प्रदीप शिखा के समान प्रतीत होती थी। कर्ण-कुण्डल आन्दोलित होने पर हृदय को आन्दोलित कर देते थे। उसके सुखद मुख निःश्वास से मलयानिल, दंत-किरणों की धवलिमा से चन्द्र, अधरों के राग से अंगराग व्यर्थ प्रतीत होते थे।

निम्नलिखित नारी-विलाप वर्णन में स्वाभाविकता है। शोकावेग नारी-हृदय तक ही सीमित नहीं रहता, उससे धरणी और गगन का अन्तराल भी भर गया है। पद-योजना भी भावानुकूल ही हुई है। देखिये—

हरिण-णयणिय चंपयच्छाय ससि सोम वयणंबुरुह,
कुंद-कलिय-सम-दंत-पंतिया।
परिदेवियरव-भरिय धरणि गयण अन्तरमय विय ॥
कुट्टहिँ सिरु कर-मुग्गरिहिँ, पीडहिँ उरु वादाहिँ।
ताडहिँ वच्छोरुह वियउ, निय-करसाहाहिँ ॥
रुयहिँ गायहिँ ललहिँ मुच्छहिँ सिक्कारहिँ पुक्कारहिँ,
सहिहि गहियउ उरे हार तोडहिँ।
उल्लूरहिँ चिहुर-भर कणय-रयण-वलयालि मोडहिँ ॥
सरवि सरवि निय-पियय महु, गुण गुण तहिँ विलवंति।
जह स विहट्ठिय तरु विहय, नियरु वि रोयावंति ॥

(वही संधि ६)

जिणदत्त चरित

जिणदत्त चरिउ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर भण्डार में है (प्र० सं० पृष्ठ १०१-१०४)।

इसमें पण्डित लाखू या लक्खण ने ग्यारह संधियों में जिनदत्त के चरित्र का वर्णन किया है। कवि के पिता का नाम साहुल और माता का नाम जयता था। कवि ने विल्ल-रामिपुर में इस ग्रंथ की रचना की। कवि पहिले त्रिभुवन गिरि में रहता था। म्लेच्छाधिप द्वारा बलपूर्वक त्रिभुवन गिरि के आधीन किये जाने पर कवि वहाँ से जाकर विल्लरामिपुर रहने लगा।[1] पं० परमानन्द के विचार में विलरामिपुर एटा जिले के अन्तर्गत वर्तमान विलरामपुर ही है।[2] कवि ने श्रीधर के आश्रय में रहते हुए उसी के अनुरोध से ग्रंथ की रचना की। प्रत्येक संधि की पुष्पिका में श्रीधर का नाम मिलता है[3] और कुछ संधियों के आरम्भ में कवि ने श्रीधर के मंगल की कामना की है। ग्रंथ रचना का समय वि० सं० १२७५ है।

"बारह सय सत्तरयं पंचोत्तरयं, विक्कम कालि विइत्तउ।
पढम पक्खि रवि वारइ च्छट्टि सहारइ, पूसमासे सम्मत्तिउ॥"
(अन्तिमप्रशस्ति)

कथानक—कवि जिन वन्दना, सरस्वती वन्दना के अनन्तर जंबुद्वीप, भरत क्षेत्र और मगध देश का अलंकृत भाषा में वर्णन करता है। मगध राज्यान्तर्गत वसन्तपुर नगर के राजा शशि-शेखर और उसकी रानी मयना सुन्दरी के वर्णन के अनन्तर कवि उस नगर के श्रेष्ठी जीवदेव और उसकी स्त्री जीवंजसा के सौंदर्य का वर्णन करता है। जीवंजसा जिन कृपा से एक सुन्दर पुत्र को जन्म देती है, जिस का नाम जिनदत्त रखा जाता है। क्रमशः बालक युवावस्था में पदार्पण करता है अपने सौंदर्य से नगर की युवतियों के मन को मुग्ध करता है। अंगदेशस्थित चंपा नगरी के सेठ की सुन्दरी कन्या विमलमती से उसका विवाह होता है। इसी प्रसंग में कवि ने रात्रि, चंद्रोदय आदि के सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये हैं।

---

१. साहुलहु सुपिय पियमम मणुज्ज, णामें जयता कय णिलय कज्ज।
ताह जि णंदणु लक्खणु सलक्खु, लक्खण लक्खिउ सयदल दलक्खु।
विलसिय विलास रस गलिय गव्व, ते तिहुअण गिरि णिवसंति सव्व।
सो तिहुवण गिरि भग्गउ जवेण, घित्तउ वलेण मिच्छाहिवेण।
लक्खणु सव्वा उस माणुसाउ, विच्छोयउ विहिणा जणियराउ।
सो इत्थु तत्थ हिंडंतु पत्तु, पुरे विल्लरामि लक्खणु सुपत्तु।
१.२

२. पं० परमानन्द जैन, कवि वर लक्ष्मण और जिन दत्त चरित, अनेकान्त वर्ष ८, किरण १०-११, पृ० ४०१।

३. इय जिणयत्त चरित्ते धम्मत्थ काम मुक्ख वण्णणुब्भाव सुपवित्ते,
सगुण सिरि साहुल सुय लक्खण-विरइए भव्वसिरि सिरिहरस्स
णामंकिए जिणयत्त कुमारुप्पत्ति
विरह वण्णणो णाम पढमो परिच्छेउ सम्मत्तो।
(सन्धि १)

विवाह के पश्चात् वे दोनों कुछ काल सुखपूर्वक रहते हैं, तदनन्तर जिनदत्त धनोपार्जन की इच्छा से व्यापार करने के लिए अनेक वणिकों के साथ समुद्र यात्रा करता हुआ सिंहल द्वीप पहुँचता है। वहाँ के राजा की सुन्दरी राजकुमारी श्रीमती उससे प्रभावित होती है। दोनों का विवाह होता है। जिनदत्त श्रीमती को जिनधर्म का उपदेश देता है। कालान्तर में जिनदत्त प्रभूत धन-संपत्ति उपार्जित कर अपने साथियों के साथ स्वदेश लौटता है। ईर्ष्या के कारण उसका एक संबंधी धोखे से उसे समुद्र में फेंक देता है और स्वयं श्रीमती से प्रेम का प्रस्ताव करता है। श्रीमती पति-प्रेम में दृढ़ रहती है। वे चंपा नगरी पहुँचते हैं। श्रीमती चंपा में एक चैत्य में पहुँचती है। जिनदत्त भी भाग्य से बच जाता है और मणिद्वीप पहुँच कर शृंगारमती से विवाह करता है। वहाँ से कपट वेश में वह चम्पा नगरी पहुँचता है। वहाँ श्रीमती विमलवती की सब से भेंट होती है और जिनदत्त उनके साथ अपने घर वसन्तपुर पहुँचता है। माता पिता की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। जिनदत्त सुखपूर्वक समय बिताता हुआ अन्त में समाधिगुप्त नामक मुनि से धर्म में दीक्षित होता है। तपस्या करता हुआ शरीर त्याग के अनन्तर निर्वाण प्राप्त करता है।

धर्म के आवरण से आवृत एक सुन्दर प्रेम कथा का कवि ने वर्णन किया है। चित्र में विमलमती के सुन्दर रूप को देख कर जिनदत्त और विमलमती का विवाह होता है। कथानक अन्य कथानकों के समान अनेक अलौकिक घटनाओं से युक्त है। उदाहरण के लिए श्रीमती के पेट में एक विषधर सर्प का होना। उसके सो जाने पर वह सर्प निकल कर श्रीमती के अनेक प्रेमी राजकुमारों की जीवन लीला समाप्त कर देता था। जिनदत्त ने उस सर्प को मारा। सिंहलद्वीप में जाकर किसी सुन्दरी राजकुमारी से विवाह करने और प्रभूत धन संपत्ति प्राप्त कर लौटने की कथा उत्तर काल में जायसी की पद्मावती में भी मिलती है। सम्भवतः यह कथा चिरकाल से चली आ रही थी।

काव्य में स्थल-स्थल पर सुन्दर वर्णन मिलते हैं। अंतिम संधियाँ काव्यगत सरसता से रहित हैं।

कवि ने निम्नलिखित जिन वन्दना से ग्रंथ का आरम्भ किया है—

ॐ नमो वीतरागाय।

सप्पय सर कल हंसहो, हिय कल हंसहो, कलहंसहो सेयंसवहा।
भणमि भुवण कल हंसहो, णविवि जिणहो जिणयत्त कहा॥[1]

अर्थात् मोक्ष सरोवर के मनोज्ञ हंस, कलह के अंश को हरण करने वाले, करि

---

१. पद्य की निम्नलिखित संस्कृत टिप्पणी दी गई है—
सप्पय......—मोक्ष सर मनोज्ञ हंसस्य। हिय कल......—हृत कलहस्यांशो येन। कलहंसहो.....—कलभस्य च करि पोतकस्य चांशो यस्य तस्य कलभांशस्य करिशावकवदुन्नतस्कंधस्येत्यर्थः। भुवण कल....—कलो मनोज्ञो हंस आदित्य इव स तस्य। रजो अज्ञान लक्षणं तस्य याः कलाः तासां भ्रंशो यस्मात् तस्य।

श्रावक के समान उन्नत स्कंध वाले और भुवन में मनोज्ञ हंस-आदित्य-के समान जिन देव की वन्दना कर मंगलकारिणी जिनदत्त कथा कहता हूँ।

कवि के यमकालंकर युत मंगलाचरण से ही उसके पांडित्य की ध्वनि मिलती है।

कृति के आरम्भ में ही कवि ने अपना और अपने आश्रय-दाता का परिचय दिया है। श्रीधर से प्रेरणा पाकर भी कवि दुर्जनों से भयभीत हो अपने पूर्ववर्ती अकलंक, चतुर्मुख, कालिदास, श्रीहर्ष, व्यास, द्रोण, बाण, ईशान, पुष्पदन्त, स्वयंभू, वाल्मीकि आदि कवियों का स्मरण करता है और आत्म-विनय भी प्रदर्शित करता है—

णिक्कलंकु अकलंकु चउम्मुहो, कालियासु सिरि हरिसु कयसुहो।
वय विलासु कइ वासु असरिसो, दोणु वाणु ईसाणु सहरिसो।
पुप्फयंतु, सुसयंभु भल्लऊ, बालम्मीउ समइं सुरसिल्लऊ।
इय कईउ भो मइ ण दिट्ठिया, फुरइ केम मुहु मइ वरिट्ठिया॥
१.६

इन कवियों के काव्य के होते हुए भी कवि अपने काव्य-निर्माण की निम्नलिखित शब्दों द्वारा सार्थकता प्रतिपादित करता है—

इंद हत्थि जइ तित्थ भासए, लक्खु जोयणो महि पयासये।
इयरु दंति किं णउ सतेयऊ, पयडु करइ णिय वल समेयऊ।
चंदु देइ जइ अमिय फारऊ, ऊस हीण किं णिय पयारऊ।
१.६

कवि ने अपने काव्य में स्थल-स्थल पर अलंकृत और काव्यमय वर्णन प्रस्तुत किये हैं। वर्णनों में अनुप्रास के साथ-साथ श्लेष और यमक अलंकार का भी स्थान-स्थान पर प्रयोग किया गया है। इससे छन्द, लय युक्त होकर श्रुतिसुखद और हृदयहारी हो गये हैं। शब्द-योजना में कवि के चातुर्य से भाषा भी अत्यन्त सरल बन गई है। कवि की काव्य शैली के कुछ उदाहरण देखिये। कवि के भौगोलिक वर्णनों में भी विशेषता परिलक्षित होती है—

जहिं पवर पायवा राम राम, णिवसहि अमुणिय संगाम गाम।
जहिं पिक्क कमल कल सालि सालि, घर दारि दारि कलसालि सालि।
इच्छु वरहि जिह हरिणारि णारि, वणे वणे कीलिर सुअ सारि सारि।
रयण मय सोहार हार, भूमिउज्ज वईउ सतार तार।
जहि सीमंतिणिउ सकंत कंत, णायण णर वर णिवसंत संत।
जहि साहि सयल सविसाल साल, कीलंति गोट्ठि गोवाल वाल।
१.९

जहिं कलम सालि परिमलु सुसंतु, वावरइ वाउ वासिय दिसंतु।
णउ खिज्जइ दक्खारसु गलंतु, थल पुडइणि पत्तुप्परि पडंतु।
पिज्जइ गोवालहिं वाणरेहिं, जंह तंह गोवालहिं वा णेरहिं।
१.१०

जहिं सारि सरसि सरे सारसाइं, णं पुरहो पउर सर सा रसाइं।
....
जहिं पर मरगय मय वारणाइं, देवुल सिरि गय मय वारणाइं।
सुंदर अवि गयमय वारणाइं, जहिं अरिवर गयमय वा रणाइं ॥[1]
१. १३

अमदा समदा अपि रणरहिमानि

नारी-वर्णन में कवि की दृष्टि नारी के बाह्यरूप तक ही सीमित न रही। सौंदर्य का प्रभाव भी कवि ने अंकित किया है। शरीर की सुकुमारता, कोमलता और मधुरता की व्यंजना कवि ने कोमल और मधुर पदावली द्वारा की है। कवि का विमलावती वर्णन देखिये—

तहं दुहिय दुहरहिय विमलाइमइ कण्ण, कमणीय कुंडल अलवकंत वरकण्ण।
उद्दित्त संतविय सोवण्ण सुपहाल, पिछंत जणमोहणो सहि व णेहाल।
लंवंत वेणी लया लंकरिय पिट्ठि, चेलंचला चारु चल हार लय सिट्ठि।
सेंलिंध परिमल मिलंतालि संदोह, वियलंत गंडाउ सेयंवु विंदोह।
कंचणहं घडियव्व पडिमेव सोहंति, वहु गेय कल कुसल मुणिमणु व मोहंति।
वहु गुणहं अहिय परि परपुट्ठि सम वाय, किं एक्क जीहाए वण्णियइ वणिराय ॥[2]
२. ७.

नारी के शारीरिक सौंदर्य का अंकन करते हुए भी कवि ने वासनाजनक शृङ्गार का रूप उपस्थित नहीं किया है। 'मुणि मणु व मोहंति' पद द्वारा शारीरिक सौंदर्य के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव की भी व्यंजना की गई है।

कवि के प्राकृतिक वर्णन भी परंपरागत शैली से युक्त हैं। कवि ने चन्द्रोदय पर चारों ओर छिटकती हुई चन्द्रिका का भ्रान्तिमान् अलंकार से समन्वित वर्णन प्रस्तुत

---

१. कमल कल सालि सा लि—कमल और मधुर शालि धान्य भ्रमर सहित थे। कलसा लि सालि—शाला में द्वार-द्वार पर कलशों की पंक्ति थी। सुअ सारि सारि—शुक सारिका और हंस। सोहार—सहाधार। सतार तार—शुभ्र चंचल और रुकम। सकंत कंत—प्रिय के साथ और मनोज्ञ। संत—शान्त। साहि—शाखी, वृक्ष। सयल—सजल और शोभायमान। वाल—बालक, अज्ञानी। गोवालहिं—ग्वाले, राजा। सरसि—जल में। सरे—सरोवर में। सर—स्वर, शब्द। वारणाइं—गवाक्ष। गय मय वारणाइं—सिंह। गयमय वारणाइं—राजद्वार पर मदोन्मत्त हाथी। गयमय वारणाइं—मद रहित या मदोन्मत्त भी शत्रु रणरहित थे।

२. कण्ण—कन्या। वर कण्ण—सुन्दर कान। उद्दित्त संतविय—उद्दीप्त और तपाया हुआ। सेयंवु विंदोह—प्रस्वेद जल कणों का समूह। परपुट्ठि सम वाय—कोयल के समान वाणी।

किया है। शवर स्त्रियाँ प्रसन्नचित्त से बेर के फलों को मोती समझ कर बीन रही हैं। उलूक कौए को हंस के बच्चे की भ्रान्ति से विदीर्ण नहीं करता। ज्योत्स्ना-जल से समग्र विश्व प्रक्षालित हो गया। गृह में गवाक्षजाल से आती हुई काम-बांधव चन्द्र किरणों को मयूर श्वेत सर्प समझ तत्क्षण दौड़ कर गवाक्ष में मुँह डालता है। बिल्ली दूध की भ्रान्ति से चन्द्र कर चाटती फिरती है इत्यादि। देखिये—

णं सरिण सपउरिस सिरि मुणेवि, कउ एय छत्तु इह जगु जिणे वि।
मुत्ताहल भंतिए समरियणु, वीणइं वोरी हलु हवियमणु।
सिसु पट्टुल भंतिए लंपडऊ, काकहो ण वियारइ घूयडऊ।
जोण्हा जलेण जगु खालियउ, सीययरहिं सुहियणु लालियउ।
किं अंबराउ णिब्भर घणइं, विहडंति सुहाहिल कंकणइं।
किं सिरि चंदण रस सीयरइं, गयणाउ लुलिर ससहर करइं।
मयरद्धय बंधव चंद करा, गेहाण गवक्खए विसि विवरा।
मण्णेवि पंडुरु फणि वण फणिणा, घल्लिउ मुहुं धाइवि तक्खणिणा।
पेछिवि गोरस भंतिए वहइ, विसदंसउ णिय जोहए लिहए।
परिगिण्हइं वावड मुद्धडिया, मुत्ताहल हारहो लंपडिया।

घत्ता—

इय कइरव णंदिणि चंदिणिए, णिय वहूइ सुविसिट्ठउ,
कइ वय परियण सुहियण सहिउं, वरु वास हरे पइट्ठउ ॥[1]

२.१६

काव्य में वर्ण वृत्त और मात्रिक दोनों प्रकार के अनेक छंदों का प्रयोग कवि ने किया है।

कवि ने ग्रंथ की चार संधियों में ही निम्नलिखित छंदों का प्रयोग किया है—

विलासिणी, मदनावतार, चित्तंगया, मोत्तियादाम, पिंगल, विचित्तमणोहरा, आरणाल, वस्तु, खंडय, जंभेट्टिया, भुजंगप्पयाउ, सोमराजी, सग्गिणी, पमाणिया पोमणी, चच्चर, पंचचामर, णराच, तिभंगिणिया, रमणीलता, समाणिया चित्तिया, भमरपय, मोणय, अमरपुर सुन्दरी, लहुमत्तिय सिग्गिणी, ललिता इत्यादि।

---

१. समरियणु—शबर स्त्रियाँ। वोरी हलु—बद्रीफल, बेर। हवियमणु—प्रसन्न चित्त से। सिसु पट्टुल—हंस बालक। वियारइ—विदीर्ण करता है। घूयडऊ—उलूक। सीय यरहिं—शीत किरणों से। सुहाहिलकं कणइं—अमृत जल कण। सिरि चंदन—उत्तम चन्दन। वण फणिणा—मयूर। विस दंसउ—विडाल। वावड—व्याकुल हुई। णिय वहूइ—अपनी वधू के साथ।

णेमिणाह चरिउ (नेमिनाथ चरित)

यह कृति अप्रकाशित है । इसकी एक हस्तलिखित प्रति पाटोदी शास्त्र भण्डार, जयपुर में है[१] और दूसरी पंचायती मन्दिर देहली में । कृति के रचयिता का नाम लखम देव (लक्ष्मण देव) है । सन्धि की पुष्पिकाओं में कवि ने अपने आपको रयण (रत्नदेव) का पुत्र कहा है ।[२] आरम्भ की प्रशस्ति से विदित होता है कि कवि मालवा देश के समृद्ध नगर गोणंद में रहता था । यह नगर उस समय जैन धर्म और विद्या का केन्द्र था । कवि पुर वाड़ वंश में उत्पन्न हुआ था । कवि अति धार्मिक, धन-धान्य-सम्पन्न और रूपवान् था । काव्य-रचना में कवि को साढ़े आठ मास लगे । रचना-काल का कवि ने निर्देश नहीं किया। पंचायती मन्दिर देहली में प्राप्त इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति का लेखन काल वि० सं० १५९७ है । किन्तु इसी ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५१० की लिखी उपलब्ध हुई है ।[३] अतएव इतना ही निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ग्रंथ की रचना इस काल से पूर्व हुई ।

इस ग्रंथ में कवि ने २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित अंकित किया है । ग्रंथ में ४ सन्धियाँ और ८३ कडवक हैं ।

कथानक—ग्रंथ का आरम्भ जिन स्तुति और सरस्वती वंदना से होता है । मनुष्य जन्म की दुर्लभता का निर्देश कर कवि सज्जन-दुर्जन स्मरण और अपनी अल्पज्ञता का प्रकाशन करता है ।[४] मगध देश और राजगृह के वर्णन के अनन्तर श्रेणिक

---

१. पं० परमानन्द जैन—जयपुर में एक महीना, अनेकान्त वर्ष ६, किरण १०-११, पृ० ३७४ ।

२. इयणेमिणाह चरिए अबुह कय रयण सुअ लखम एवेण विरइए, भव्वयण जणमणाणंदो णेमि कुमार संभवो णाम पढमो संधी परिछेऊ समत्तो ।।संधि ।।१।।

३. प्रो० हीरालाल जैन—नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल, दिसं० १९४२, पृ ९२.

४. अहवा जिण गुण कित्तणु करेमि, णिय सत्तियता दुज्जण डरेमि ।
दुज्जण जलणहो एक्कुवि सहाउ, पर दिहिविउ पावइ पवर छाउ ।
दुज्जीहुवि पर छिद्दाणु वेखि, जिह कोसिउ ण सहइ रवि पयाउ ।
तिह खलु ण डहेइ गुणागुराउ, जा णिव्वउ इय दुज्जण सहाउ ।
गुणु मेलिवि दोसु गहेइ पाउ, मेल्लि घउ परिहरि दुट्ठ सोउ ।
जलणु व जलेइ सइ भूइ होइ, जइ को कुविससि विरुयउ भणेइ ।
तां इयर लोइ किण अमिउ देइं, जइ दोसइं दुज्जणु करइ हासु ।
ता सुयणु करेसइं गुण पयासु, १.३
कि वुह रंजमि जाणमि ण अत्थु ।
ण समास ण छंदु ण बंधु भेउ, णउ हीणाहिउ मत्ता विवेउ ।
णउ सक्कउ पायउ देस भासि, णउ सद्दु वणु जाणमि समासु । १.४

राज का वर्णन कर कवि बतलाता है कि किस प्रकार श्रेणिक की जिज्ञासा को शांत करने के लिए गणधर नेमिनाथ की कथा का वर्णन करता है । वराडक देश स्थित द्वारवती नगरी में जनार्दन नामक राजा राज्य करता था । वहीं गुण संपूर्ण समुद्रविजय रहता था। उसकी पत्नी का नाम शिवदेवी था । उसके पुत्र उत्पन्न होने पर देवता आकर उसके बालक का संस्कार करते हैं (संधि १) । दूसरी संधि में नेमिनाथ की युवावस्था, वसंत वर्णन, जल क्रीड़ादि के प्रसंगों का वर्णन है । कृष्ण को नेमिनाथ से ईर्ष्या होने लगती है और वह उन्हें विरक्त करना चाहते हैं । नेमि का विवाह निश्चित होता है और उस अवसर पर अनेक बलि पशुओं के दर्शन से नेमि विरक्त हो जाता है । उसकी भावी पत्नी राजीमती अति दुःखित होती है । तीसरी संधि में इसी के वियोग का वर्णन है । नेमि को सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त करने का प्रयत्न किया जाता है किन्तु सब व्यर्थ होता है । उसकी माता भी दुःखी होती है । नेमि अपने पूर्व जन्म की कथा कहता हुआ संसार की निस्सारता का प्रतिपादन करता है और वैराग्य धारण करता है । अन्तिम सन्धि में नेमि के समवसरण का, अनेक धार्मिक प्रवचनों और नेमि की निर्वाण प्राप्ति का वर्णन है ।

धार्मिक और उपदेशात्मक भावना प्रधान होते हुए भी काव्य में अनेक सुन्दर और अलंकृत स्थल हैं ।

कवि की कविता के उदाहरण के लिए निम्नलिखित उद्धरण देखिये । कवि समुद्र-विजय की पत्नी का वर्णन करता हुआ कहता है—

तहि गुण संपुण्ण संमुद्द विजउ, भुअदंड चंड संगाम अजउ ।
तहि गेहिणि णिव सिवएविणा म, सोहइ रइ णं संजुत्त काम ।
वय राम रुणावइं वज्जदित्ति, णं सुर गिरि रेहइं कणय कित्ति ।
णं ससि कलाइं अमियहो पयासु, णं दिणमणि पंरपण्णहि तिमिर णासु ।
णं मुणि वर रेहइं (कणय कित्ति) णं खत्तिएण, णं तिणयणु णरवइ गिरि सुएण ।
१. १४

इसी प्रकार निम्नलिखित उद्धरण में कवि ने संसार की विवशता का अंकन किया है—

जसु गेहि अण्णु तसु अरुइ होइ, जसु भोजसत्ति तसु ससु ण होइ ।
जसु दाण छाहु तसु दविणु णत्थि, जसु दविणु तासु ऊइ लोहु अत्थि ।
जसु मयण राउ तसि णत्थि भाम, जसु भाम तासु उछवण काम ।। ३.२

अर्थात् जिस मनुष्य के घर में अन्न भरा हुआ है उसे भोजन के प्रति अरुचि है । जिसमें भोजन खाने की शक्ति है उसके पास शस्य नहीं । जिसमें दान का उत्साह है उसके पास द्रविण नहीं । जिसके पास द्रविण है उसमें अति लोभ है । जिसमें काम का प्रभुत्व है उसके भार्या नहीं । जिसके पास भार्या है उसका काम शांत है ।

कवि ने स्थान-स्थान पर सुन्दर सुभाषितों और सूक्तियों का प्रयोग किया है—

किं जीयइं धम्म विवज्जिएण,...
किं सुहडइं संगरि कायरेण,...
किं वयण असच्चा भासणेण, किं पुत्तइं गोत्त विणासणेण ।

... ... किं फुल्लइं गन्ध विवज्जिएण।
किं भोजइं जत्थ ण होइ लवणु, जहि णयण ण वर सो काहू वयणु। १.४

इसी प्रकार–

'विणु तरु पत्तइं णउ होइ छाहिं'
'विणु छेत्तइं णउ वावियहि धणा'
'विणु देवइ देवलु कत्थ होइं' ३.५

कवि ने कड़वकों के आरम्भ में हेला, दुवई, वस्तुबंध आदि छंदों का प्रयोग किया है। ग्रंथ में छंदों की बहुरूपता दृष्टिगोचर नहीं होती। छंदों में कहीं कहीं अन्त्यानुप्रास (तुक) उचित रूप से प्रयुक्त नहीं हुई। यथा–

संसारिउ सुक्ख अणत्थ मूलु, सेवइ मोहंधउ जीव वालु।
....
विसयहो सुहवासहो वेवि होइ, पुणु जीउ अणंतउ दुहु सहेइ। २.२०

बाहु बलि चरित

इस अप्रकाशित ग्रंथ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार जयपुर में वर्तमान हैं। (प्र० सं० पृ० १३८–१४७)।

ग्रंथ के लेखक धनपाल गुर्जर देश के रहने वाले थे। पल्हण पुर इन का वास-स्थान था। इनके पिता का नाम सुहड एव (सुभट देव) तथा माता का नाम सुहडा एवी (सुभटा देवी) था। यह पोखर जाति में उत्पन्न हुए थे। कवि के समय राजा वीसल देव राज्य करते थे। योगिनी पुर (दिल्ली) के शासक का नाम इन्होंने महमंद साह लिखा है।[1]

---

१. गुज्जर देस मज्झि णयवट्टणु, वसइ विउलु पल्हणपुरु पट्टणु।
वीसलएउ राउ पयपालउ, कुवलय मंडणु सयलु व मालउ।
तहिं पुर वाड वंस जायामल, अगणिय पुव्व पुरिस णिम्मल कुल।
पुणु हुउ राय सेट्ठि जिण भत्तउ, भोवइं णामें दयगुण जुत्तउ।
सुहडपउ तहो णंदणु जायउ, गुरुसज्जणहं भुअणि विक्खायउ।
तहो सुउ हुउ धणवाल धरायले, परमप्पय पय पंकयरउ अलि।
एतहिं तहिं तहि जिणतित्थण मंतउ, महि भमंतु पल्हणपुरे पत्तउ।
घत्ता— पट्टणे खंभायच्चे, धारणयरि देवगिरि।
मिछामय विहुणंतु, गणि पत्तउ जोइणि पुरि ॥१.३
तहिं भव्वहिं सुमहोछउ विहियउ, सिरि रयण कित्ति पट्टे णिहियउ।
महमंद साहि मणु रंजियउ, विज्जहिं वाइय मउ भंजियउ।
....
पुणु दिट्ठउ चंदवाडु णयरु, १.४

कवि ने ग्रंथ-रचना चंदवाड नगर के राजा सारंग के मन्त्री यादव वंशोत्पन्न वासद्धर (वासाधर) की प्रेरणा से की थी। कृति समर्पित भी उसी को की गई है। कृति की पुष्पिकाओं में वासद्धर का नाम मिलता है।[1] संधियों के आरम्भ में और ग्रंथ समाप्ति पर कवि ने आश्रयदाता वासाधर की स्तुति में संस्कृत पद्य भी दिये हैं।[2]

कवि ने ग्रंथ-रचना, वैशाख शुक्ल त्रयोदशी—सोमवार स्वाति नक्षत्र में वि० सं० १४५४ में की।[3]

कृति में कवि ने अपने से पूर्वकाल के अनेक दर्शन, व्याकरणादि के विद्वानों का और कवियों का उल्लेख किया है। विद्वानों और कवियों के नामोल्लेख के साथ-साथ उनमें

---

१. इय सिरि वाहुवलिदेव चरिए, सुहडदेव तणय वुह
धणवाल विरइए, महाभव्व वासद्धर णामंकिए. . . . इत्यादि

२. सम्मत्त जुत्तो जिण पाय भत्तो, दयाणुरत्तो वहु लोय मित्तो।
मिछत्त चत्तो सुविसुद्ध चित्तो, वासाधरो णंदउ पुण्ण चित्तो॥ ३. १

श्री लंव कंच कुल पद्म विकास भानुः
सोमात्मजो दुरितदारुचयकृशानुः।
धर्म्मैकसाधनपरो भुवि भव्य बंधु।
र्व्वासाधरो विजयते गुणरत्नसिंधुः ॥ ४.१

आद्याक्षरं श्री वसु पूज्य सूनोः साधो द्वितीयं धनदात्तृतीयं।
रवेश्चतुर्थं विधिना गृहीत्वा वासाधाराख्या विहिता विभूतिः॥ ५. १.

यावत्सागरमेखला वसुमती यावत्सुवर्णाचलः।
स्वर्न्नारी कुच संकुलः खममितं यावच्च तत्त्वांचितं।
सूर्याचन्द्रमसौ च यावदभितो लोकप्रकाशोद्यतौ।
तावन्नंदतु पुत्रपौत्रसहितो वासाधरः शुद्धधीः॥

अन्तिम प्रशस्ति

३. "विक्कमणरिदं अंकिय समए, चउदहसय संवच्छरहं गए।
पंचास वरिस चउअहिय गणि, वइसाहहो सियतेरसिसुदिणि।
साई णक्खत्ते परिठि्ठयइं, वर सिद्धि जोग णामें वियइं।
ससिवासरे रासि मयंकतुले, गोलग्गेमुत्ति सुक्कें सवले।
चउ वग्ग सहिउ णवरस भरिउ, बाहु बलिदेव सिद्धउ चरिउ।"

अन्तिम प्रशस्ति

से अनेक के ग्रंथों का भी उल्लेख किया है।[1]

इस ग्रंथ की १८ संधियों में कवि ने जैन संप्रदाय के प्रथम कामदेव बाहुबलि के चरित्र का वर्णन किया है। ग्रंथ अपभ्रंश काल के उत्तरकाल की रचना है अतएव कवि पूर्ववर्त्ती अनेक कवियों की लम्बी सूची दे सका।

ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित पद्य से हुआ है:—

स्वस्ति। ऊँ नमो वीतरागाय।
सिरि रिसहणाह जिण पय जुयलु, पणविवि णासिय कलिमलु।
पुणु पढम कामएवहो चरितु, आहासमि कयमंगलु॥

इसके अनन्तर कवि ने चौवीस तीर्थंकरों का स्तवन किया है। तदनन्तर सरस्वती वन्दन कर कवि ने अपना परिचय दिया है। कवि की वासद्धर से भेंट होती है। कवि

---

१. वाएसरि कीला सरय वास, हुअ आसि महाकइ झुणि पयास।
सुअ पवणु ड्डाविय कुमयरेणु, कइ चक्कवट्टि सिरि धीरसेणु।
महिमंडलि वण्णिउं विवुह विंदि, वायरण कारि सिरि देवणंदि।
जइणेंद णामु जड यण दुलक्खु, किउ जेण पसिद्धु सवाय लक्खु।
सम्मत्तारु वसु राय भव्वु, दंसण पमाणु वरु रयउ कव्वु।
सिरि वज्ज सूरि गणि गुण णिहाणु, विरइउ मह छद्दंसण पमाणु।
महसेण महामइ विउ समहिउ, घण णाय सुलोयण चरिउ कहिउ।
रविसेणें पउम चरित्तु वुत्तु, जिणसेणें हरिवंसु वि पवित्तु।
मुणि जडिलि जडत्तणि वारणत्थु, णवरंग चरिउ खंडणु पयत्थु।
दिणयरसेणें कंदप्प चरिउ, वित्थरिउ महिहिं णवरसहं भरिउ।
जिण पास चरिउ अइसय वसेण, विरइउ मुणि पुंगव पउमसेण।
अमियाराहण विरइय विचित्त, गणि अंवरसेण भवदोस चत्त।
चंदप्पह चरिउ मणोहि रामु, मुणि विल्हुसेण किउ धम्म धामु।
धणयत्त चरिउ चउवग्गसारु, अवरेंहि विहिउ णाणा पयारु।
मुणि सीहणंदि सद्दत्थ वासु, अणुपेहा कय संकप्प णासु।
ण व यारणेहु णरदेव वुत्तु, कइ असग विहिउ वीरहो चरित्तु।
सिरि सिद्धि सेण पवयण विणोउ, जिणसेणें विरइउ आरिसेउ।
गोविंदु कइंदें सणकुमारु, कह रयण समुद्दहो लद्धयारु।
जय धवल सिद्ध गुण मुणिउंभेउ, सुय सालिहत्थु कइ जीवदेउ।
वर पउम चरिउ किउ सुकइ सेढि, इय अवर जाय धरवलय पीढे।
घत्ता—चउमुहुं दोणु सयंभु कइ, पुपफयंतु पुणु वीरु भणु।
तेणाण दुमणि उज्जोय कर, हउ दीवो वमु हीणु गुणु॥ १.८

उसका परिचय देता है। वासद्धर बाहुबलि चरिते की रचना के लिए कहता है—

किं विज्जए जाए ण होइ सिद्धि, किं पुरिसें जेण ण लद्धलद्धि।
किं किविणएण संचिय धणेण, किं णिण्णेहें पिय संगमेण।
किं णिज्जलेण घण गज्जिएण, किं सुहडें संगर भज्जिएण।
किं अप्पणेण गुण कित्तणेण, किं अविवेएं विउ सत्तणेण।
किं विप्पिएण पुणु रूसिएण, किं कव्वें लक्खण दूसिएण।
किं मणुयत्तणि जं जणि अभव्वु, किं बुद्धिए जाए ण रइउ कव्वु।

१. ७.

इसी प्रसंग में कवि अपने से पूर्व के आचार्यों और कवियों का उल्लेख करता है। प्राचीन कवियों के पांडित्य को स्मरण कर निराश हुए कवि को प्रोत्साहित करता हुआ वासाधर कहता है—

"तं णिसुणिवि वासाहरू जंपइ, किं तुहुं वुह चिंताउलु संपइ।
जइ मयंकु किरणहिं धवलइ भुवि, तो खज्जोउ ण छंडइ णियछवि।
जइ खयराउ गयणे गमुं सज्जइ, तो सिहिंडि किं णियकमु वज्जइ।
जइ कप्पयरु अमिय फल कप्पइ, तो किं तरु लज्जइ णिय संपइ।
जसु जेत्तिउ मइ पसरु पवट्टइ, सो तेत्तिउ धरणियले पयट्टइ।

१. ९

अर्थात् यदि चन्द्रमा किरणों से पृथ्वी को धवलित करता है तो क्या खद्योत अपनी कान्ति छोड़ देता है? यदि खगराज गरुड़ आकाश में उड़ता है तो क्या शिखण्डी अपनी चाल छोड़ देता है? यदि कल्प वृक्ष अमृतफल-संपन्न होता है तो क्या साधारण वृक्ष अपनी संपदा से लज्जित होते हैं? जिसका जितना मति-प्रसार होता है वह उतना ही धरणीतल पर प्रकट करता है।

इसके अनन्तर कवि सज्जन दुर्जन स्मरण करता है—

णिंवु कोवि जइ खीरहिं सिंचइ, तोवि ण सो कडुवत्तणु मुंचइ।
उच्छु को वि जइ सत्थें खंडइ, तोवि ण सो महुरत्तणु छंडइ॥
दुज्जण सुअण सहावें तप्परु, सूरु तवइ ससहरु सीयरकरु॥

१. ९

इसके पश्चात् कवि ने काव्य-कथा प्रारम्भ की है। बीच-बीच में संस्कृत पद्य भी उद्धृत किये हैं।[1] अन्त में निम्नलिखित पद्य से ग्रंथ समाप्त किया है—

श्रीमत्प्रभा चंद्र पदप्रसादादवाप्त बुद्धया धन पाल दक्षः।
श्री साधु वासाधरनामधेयं स्वकाव्य सौधेयं कलसी करोति॥

---

१. लोक त्रयाभ्युदय कारण तीर्थनाथः इत्यादि २.१८
यद् गौरवं वहति विंशति तण्डुलानाम् इत्यादि। २. २०

ग्रंथ में अनेक काव्यमय और अलंकृत स्थल मिलते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित राजगृह का वर्णन देखिये—

घत्ता—तहिँ पट्टणु णामें रायगिहु, चउराणणु समरालउ।
पय कम साहाहिं अलंकरिउ, णं विरिंचि वण्णालउ। १.१०
वहु पऊह पुरिउ वि सायरु, कुवलय मंडणो वि ण णिसायरु।
मंगल वुह गुरु कइ परियरियउ, णं गयणंगणु धणु वित्थरियउ।
वहु वाणिउं मंदाइणि पट्टु व, रंगालउ णं णवरस णट्टु व।
वहु खण णिलउ जईसहो चित्तु व, विउडु पवेसु महासइ चित्तु व॥
१. ११

कवि विवाहानन्तर वरवधू मिलन का वर्णन करता है—

सोहइ कोइल झुणि महुरसमए, सोहइ मेइणि पहु लद्ध जए।
सोहइ मणि कणयालंकरिया, सोहइ सासय सिरि सिद्ध जुया।
सोहइ संपइ सम्माण जणें, सोहइ जयलछी सुहडु रणें।
सोहइ साहा जलहरस वणें, सोहइ वाया सुपुरिस वयणें।
जह सोहइ एयहिं वहु कलिया, तह सोहइ कण्णा वर मिलिया।
किं वहुणा वाया उब्भसए, कीरइ विवाहु सोमंजसए। ७.५

कवि ने भाषा में अनुरणनात्मक शब्दों का भी प्रयोग किया है। जैसे—

घुमु घुमु धुम्मिय मद्दल सद्दें, दुमु दुमियइं वर दुंदुहि णदें।
दों दों दो वर तिविलो तालहिं, झं झं झं झं किर कंसालहिं।
रण झण रण झण घघर सद्दें, झें झें झें झव्वरिहि सुहद्दें।
७. २८

काव्य में छन्दों की बहुलता उपलब्ध नहीं होती। ग्यारहवीं संधि के कड़वकों के आरम्भ में 'दोहड़ा' का प्रयोग मिलता है—

दोहड़ा—
अंदोलिउ गह चक्क णहि, तारायणु सजलद्दु।
धणु हर गुण टंकार रव, गिरि दरि हुउ पडिसद्दु॥
णिरुवमु चाउ करग्गें कलियउ, दिट्ठि मुट्ठि संधाणें मिलियउ।
संधिउ वाणु वसंधरु णाहें, पेसिउ वइरि भवणु सोछाहें।
इत्यादि ११. ११

चंदप्पह चरिउ (चन्द्र प्रभ चरित)

चंदप्पह चरिउ यशःकीर्ति की अप्रकाशित कृति है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भंडार में वर्तमान हैं (प्र०सं०पृष्ठ ९८)। कृति की रचना कवि ने (हुवउ कुलके) कुमर सिंह के पुत्र सिद्धपाल के आग्रह से की थी। सिद्धपाल गुर्जर देशांतर्गत उमत्तगाम

(उन्मत्त ग्राम) के रहने वाले थे।[१] संधियों की पुष्पिकाओं में सिद्धपाल का नाम भी लिया गया है।[२] कृति में कवि ने न तो रचना-काल दिया है और न अपनी गुरु परंपरा का निर्देश किया है। अतः निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि चन्द्रप्रभ चरित्र का रचयिता यशःकीर्ति और हरिवंश पुराण एवं पाण्डव पुराण का रचयिता यशःकीर्ति एक ही हैं या भिन्न-भिन्न व्यक्ति।

चंद्रप्रभ चरित्र ग्यारह संधियों की कृति है। इसमें कवि ने आठवें जिन चंद्रप्रभ की कथा का उल्लेख किया है। ग्रंथ का आरम्भ मंगलाचरण, सज्जन दुर्जन स्मरण से होता है। तदनन्तर कवि मंगलवती पुरी के राजा कनकप्रभ का वर्णन करता है। संसार को असार जान राजा अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य देकर विरक्त हो जाता है। दूसरी से पाँचवीं संधियों तक पद्मनाभ का चरित्र वर्णन और श्रीधर मुनि से राजा का अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त सुनने का उल्लेख है। छठी संधि में राजा पद्मनाभ और एक दूसरे राजा पृथ्वीपाल के बीच हुए युद्ध का वर्णन है। राजा विजित होता है किन्तु युद्ध से पद्मनाभ विरक्त हो जाता है और राज्यभार अपने पुत्र को देकर श्रीधर मुनि से दीक्षा ले तपस्वी जीवन बिताने लगता है। अगली संधियों में पद्मनाभ के चन्द्रपुरी के राजा महासेन के यहाँ चंद्रप्रभ रूप में जन्म लेने, संसार से विरक्त हो केवल ज्ञान प्राप्त कर अंत में निर्वाण पद प्राप्त करने आदि का वर्णन है।

कृति में इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है। कहीं कहीं कुछ काव्यात्मक स्थल भी मिल जाते हैं। कवि की कविता का आभास निम्नलिखित उद्धरणों से मिल सकता है—

तहिं कणयप्पहु नामेण राउ, जं पिछिवि सुरवइ हुउ विराउ।
जसु भमइं कित्ति भुवणंतरम्मि, थेरिव अइसंकडि निय घरम्मि।
जसु तेय जलणि नं दीवियंगु, जलनिहि सलिलट्ठिउ सिरिचु वंगु।
आइच्चु वि दिणि दिणि देइ झंप, तत्तेअ तत्तु जय जणिय कंप।
सक्कुवि निप्पाइउ पढमु तासु, अब्भास करणि पडिमहं पयासु।

---

१. गुज्जर देसह उमत्तगामु तहिं छड्डा सुउ हुउ दोण णामु।
सिद्धउ तहो णंदणु भव्व बंधु, जिण धम्मु भारि जं दिण्णु खंधु।
... ...
रहु लहु जायउ सिरि कुमर सिंह, कलि काल करिंदहो हणणसींहु।
तहो सुउ संजायउ सिद्ध पालु, जिण पुज्जदाणु गुण गण रसालु।
तहो उवरोहें इय कियउ गंथु, हउं ण मुणणि किं पि विसत्थ गंथु।
प्रशस्ति संग्रह पृ० ९८-९९

२. इय सिरि चंदप्पह चरिए महाकव्वे, महाकइ जसुकित्ति विरइए, महाभव्व सिद्ध पाल सवण भूसणे चंदप्पहं सामि णिव्वाण गमणो णाम एयारहमो संधी परिछेउ सम्मतो।

रूवाहंकारिउ काम वीरु, किउ तासु अंगु मलिनहु सरीरु।
तहु नयणुप्पलि निवसेइ लछि, जा पुव्व वसिय हरि पिहुल वछि।
तें कारणें जहिं जहि देइ दिट्ठि, तहिं तहिं ऊहट्टइ दुच्छ सिट्ठि।
जसु संगरि संमुहुं धणुहु होइ, णहु पुणु विचित्त पडिवक्खु कोइ।
मुहिं निवसइ सरसइ जासु निच्च, पयमित्तु लहइ कहिं तहिं असच्चु।

घत्ता—

इह
तिहुयणि वहु गुणजणि तसु पडिछंदु न दीसइ।
होसइ गुण लेसइ जसु वाई सरि सी सइ ॥[1] १.९
अह

नारी वर्णन—

सिरिकंताणामें तास कंता, वहुरूव लछि सोहगा वंता।
जीयें मुहु इंदहुलंण वाणउ, जं पुण्णिम चंदहु उवमाणउ।
तारु तरलु णिम्मिलु जुउ णित्तहं, णं अलि उरि ठिउ केइय पत्तहं।
जइ सवणू जुवलु सोहाविलासु, णं मयण विहंगम घरण पासु।
वच्छच्छलु नं पीऊस कुंभ, अह मयण गंध गय पीण कुंभ।
अइ क्खीणु मज्झु णं पिसुणजणू, थण रमण गुरुत्तणि कुवियमणू।
जह पिहुल णियंवउ अप्पमाणु, ठिउ मयणराय पीढहु समाणु।

घत्ता—

हा इय मयणहु, जय जय जयणहु, ऊरु जुअलु घर तोरणु।
अइ कोमलु रत्तुप्पलु जिय पय कंतिहिं चोरणु ॥[2] २. १०.

निम्नलिखित घत्ता से ग्रंथ समाप्त किया गया है—

जा चंद दिवायर, सव्व वि सायर, जा कुलपव्वय भूवलउ।
ता एहु पवट्टउ, हियइ चहुट्टउ, सरसइ देविहिं मुहतिलउ ॥ ११.२९

अन्य ग्रंथों के समान छंदों की विविधता इस ग्रंथ में दृष्टिगत नहीं होती।

सुकौशल चरित

यह रयधू का लिखा हुआ अप्रकाशित ग्रंथ है। इसकी हस्तलिखित प्रति पंचायती मंदिर देहली में वर्तमान है।

अपभ्रंश भाषा में सबसे अधिक रचनाएँ लिखने वाले यही कवि हैं। यह ग्वालियर के निवासी थे और वहीं तोमर वंशी राजा डूंगर सिंह और उनके पुत्र कीर्ति सिंह के राज्य

---

१. थेरिव—वृद्धा के समान, दीर्घ नारी के समान। सिरि चुवंगु—धरणेंद्र अथवा कृष्ण। सक्कुवि·····पयासु—राजा के प्रतिबिंब को ले कर विधाता ने पहिले शक्र का निर्माण किया। असच्चु—असत्य।

२. अलि उरि—भ्रमर के ऊपर। ऊरु जुअलु—जंघा युगल। जिय—जीता।

काल में इन्होंने अपने ग्रंथों का प्रणयन किया। इनके लिखे २५ के लगभग ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। जिन में से अनेक की हस्तलिखित प्रतियाँ भी अभी उपलब्ध नहीं हो सकीं।[१] आमेर शास्त्र भण्डार में रयधू के लिखे निम्नलिखित ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ वर्तमान हैं :

१.	आत्म संबोध काव्य	(प्र० सं० पृष्ठ ८५)
२.	धनकुमार चरित्र	(प्र० सं० पृष्ठ १०४)
३.	पद्म पुराण	(प्र० सं० पृष्ठ ११६)
४.	मेघेश्वर चरित्र	(प्र० सं० पृष्ठ १५६)
५.	श्रीपाल चरित्र	(प्र० सं० पृष्ठ १७८)
६.	सन्मति जिन चरित्र	(प्र० सं० पृष्ठ १८१)

रयधू के पिता का नाम हरिसिंह था।[२] यशःकीर्ति एवं कुमार सेन इन के गुरु थे।[३] रयधू ने अपनी कृतियों में अपने आश्रयदाता और ग्रंथ-रचना की प्रेरणा देने वाले श्रावकों की मंगल कामना एवं आशीर्वादपरक अनेक संस्कृत पद्य रचे। इन पद्यों से इनके संस्कृतज्ञ होने की कल्पना की जा सकती है। इनकी कृतियों की शैली के आधार पर १५ वीं शताब्दी का अंतिम चतुर्थांश और १६वीं शताब्दी का प्रारम्भिक चतुर्थांश इनका रचना काल अनुमित किया जा सकता है।[४]

सुकौशल चरित की रचना रयधू ने अपने गुरु कुमार सेन के आदेशानुसार रणमल्ल वणिक् के आश्रय में रहते हुए की। उस समय तोमर वंशीय राजा डूंगरसिंह शासन करते थे। कवि ने माघ मास कृष्णपक्ष की दशमी तिथि को वि० सं० १४९६ में ग्रंथ की रचना की।[५]

---

१. इनके ग्रंथों की सूची पं० परमानन्द जैन ने अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, जनवरी सन् १९४३, पृ० ४०४ में दी है। श्री अगरचन्द नाहटा इनमें से कुछ को भ्रान्तिपूर्ण मानते हैं। जिसका निर्देश उन्होंने अनेकान्त वर्ष ६, पृ० ३७४ पर किया है।

२. श्रीपाल चरित्र की अन्तिम प्रशस्ति (प्रशस्ति संग्रह पृ० १८०), 'हर सिंघ संघविहु पुत्तु रइधू कइ गुण गण निलउ।'
सन्मति जिन चरित्र की प्रशस्ति (प्र० सं०पृ० १८२) और मेघेश्वर चरित्र की प्रशस्ति (वही पृ० १५७) में भी ऐसा ही निर्देश है।

३. सुकौशल चरित्र में रयधू ने कुमार सेन को अपना गुरु कहा है और सन्मति जिन चरित्र में यशः कीर्त्ति को। कवि ने मेघेश्वर चरित और सम्मत्त गुण णिहाण में यशः कीर्त्ति का गुणगान किया है। अनेकान्त वर्ष १०, किरण १२, पृ० ३८१

४. अनेकान्त वर्ष ५, किरण १२, पृ० ४०४

५. श्री रामजी उपाध्याय—सुकौशल चरित, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १०, किरण २.

'सिरि विक्कम समयंतरालि.........
चउदह संवच्छर अन्न छण्णउव अहिय पुणु जाय पुण्ण।
माहहु जि किण्ह दहमा दिणम्मि, अणुराहरिक्खि पयडियसकम्मि।
गोवागिरि डुंगरणिवहु रज्जि, पह पालंतइ अरिरायतज्ज।'
(४. २३)

कथानक—कवि ने चार संधियों में सुकौशल मुनि के चरित्र का वर्णन किया है। ग्रंथ रचना के आरम्भ में कवि ने वन्दना, आश्रयदाता का परिचय और आत्म नम्रता का प्रदर्शन किया है। कवि अपने आप को जड़मति और अगर्व कहता है (१·५), शब्दार्थ पिंगल-ज्ञानरहित बतलाता है (१·३·४)। कवि मगध देश, राजगृह और राजा श्रेणिक का वर्णन करता है। श्रेणिक के जिनेश्वर से केवली सुकौशल का चरित्र पूछने पर गणधर कथा कहते हैं।

इक्ष्वाकु वंश में कीर्तिधर नाम के एक प्रसिद्ध राजा थे। उल्का देखने के पश्चात् इन्हें प्रतीत हुआ कि संसार असार है। उनकी संन्यासी होकर जीवन बिताने की इच्छा हुई किन्तु मन्त्रियों के कहने पर इन्होंने निश्चय किया कि जब तक पुत्रोत्पन्न न होगा मैं संन्यासी न होऊँगा।

कई वर्षों तक इन्हें कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ। एक दिन इनकी रानी सहदेवी एक जैन मन्दिर में गई। वहाँ एक मुनि ने बताया कि तुम्हें पुत्र तो होगा किन्तु वह किसी भी मुनि को देख संन्यासी हो जायगा।

कुछ समय के वाद रानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। यह समाचार राजा से छिपाने का प्रयत्न किया गया! किन्तु राजा ने यह समाचार जान ही लिया और राज्यभार कुमार को सौंप वह जंगल में चले गये। इस पुत्र का नाम सुकौशल रखा गया।

रानी को पतिवियोग सहना पड़ा। साथ ही उसे यह भी भय था कि कहीं पुत्र भी संन्यासी न हो जाय। युवावस्था में राजकुमार का विवाह वत्तीस राजकुमारियों से कर दिया गया और वह भोग विलास से महल में जीवन बिताने लगा। उसे वाहर जाने की आज्ञा न थी। किसी मुनि को नगर में आने की आज्ञा न थी। यदि कोई मुनि दिखाई दे जाता तो उसको पीटा जाता।

एक दिन राजकुमार के पिता जो मुनि हो गये थे नगर में आये। उनकी भी वही दुर्गति हुई। राजकुमार ने अट्टालिका के ऊपर से मुनि को देख लिया और सूपकार से उस को ज्ञात हुआ कि मुनि उसके पिता कीर्ति धवल थे और मुनियों का नगर में प्रवेश निषिद्ध होने के कारण उन्हें बाँधा गया। जब राजकुमार को यह पता चला तो उसने भी राजपाट छोड़ संन्यास ले लिया और अपने पिता कीर्ति धवल का शिष्य बन जैन धर्म के व्रतों एवं आचारों का पालन करते हुए जीवन व्यतीत किया।

सहदेवी मरने के बाद व्याघ्री हुई क्योंकि वह सांसारिक मोह माया में पड़ी हुई थी। एक दिन उसने अत्यधिक क्षुधार्त होने पर पर्वत पर घूमते हुए सुकौशल मुनि को खा लिया। सुकौशल ने मृत्यु के बाद मोक्ष पद पाया। सहदेवी को कीर्ति धवल ने अपने

पूर्व जन्म का स्मरण कराया। मुनि के उपदेशों को सुन कर उसे जाति स्मरण हुआ तथा मन में विरक्ति उत्पन्न हुई और अन्त में उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। कीर्ति धवल ने भी अपने कुकर्मों का नाश कर के मोक्ष पद प्राप्त किया।

ग्रंथ की चार सन्धियों में ७४ कड़वक हैं। पहली दो सन्धियों में कवि ने पुराणों की तरह काल, कुलधर, जिननाथ और देशादि का वर्णन किया है। चतुर्थ सन्धि में अन्तःपुर की रमणियों के हाव-भाव और अलंकारों का काव्यमय वर्णन मिलता है। ग्रंथ की समाप्ति कवि ने निम्नलिखित वाक्यों से की है:

"राणउ णंदउ सुहि वसउ देसु।
जिण सासण णंदउ विगयलेसु॥"

छन्दों की नवीनता और विविधता की दृष्टि से काव्य में कोई विशेषता नहीं।

सन्मति नाथ चरित

सन्मति नाथ चरित की हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार में विद्यमान है (प्र० सं० पृ० १८१-१८७)।

रयधू ने १० सन्धियों में अन्तिम तीर्थंकर महावीर के चरित का वर्णन किया है। इस ग्रंथ में कवि ने यशः कीर्ति को अपना गुरु कहा है। कवि ने रचनाकाल का निर्देश नहीं किया।

रयधू के समय में आधुनिक काल की भारतीय आर्यभाषायें अपनी प्रारम्भिक अवस्था में साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी थीं। रयधू के पश्चात् अपभ्रंश की जो कतिपय अप्रकाशित कृतियाँ मिलती हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीपाल चरित—नरसेन रचित इस कृति की हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार में उपलब्ध है (प्र० सं० पृष्ठ १७६-१७७)। हस्तलिखित प्रति का समय वि० सं० १५१२ है।

वर्द्धमान कथा—यह भी नरसेन द्वारा रचित कृति है। प्र० सं० पृ० १७०-१७१।

वर्द्धमान चरित—जयमित्र हल्ल ने ग्यारह सन्धियों में तीर्थंकर महावीर की कथा लिखी है (प्र० सं० पृष्ठ १६७-१७०)। हस्तलिखित प्रति का समय वि० सं० १५४५ है।

अमरसेन चरित—माणिक्य राज ने सात सन्धियों में अमरसेन का चरित वर्णन किया है। रचना काल वि० सं० १५७६ है। (प्र० सं० पृष्ठ ७९-८५)।

सुकुमाल चरिउ—पूर्णभद्र ने छह सन्धियों में सुकुमाल स्वामी की कथा का वर्णन किया है। (प्र० सं० पृष्ठ १९२)

नागकुमार चरित—यह ग्रंथ भी माणिक्य राज ने वि० सं० १५७९ में रचा। (प्र० सं० पृष्ठ ११३-११६)। इसमें नौ संधियों में पूर्व कवियों द्वारा वर्णित कथा के अनुसार

ही नाग कुमार की कथा का वर्णन किया गया है।[1]

शान्ति नाथ चरित--यह कवि महिन्दु द्वारा रचित ग्रंथ है। इसकी रचना कवि ने योगिनी पुर (दिल्ली) में बादशाह बाबर के राज्य काल में वि० सं० १५८७ में की। इसमें चौपाई, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग कवि ने किया है।[2]

मृगांक लेखा चरित्र

यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी वि० सं. १७०० की हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भंडार में विद्यमान है (प्र० सं० १५४-१५५)। भगवतीदास ने वि० सं० १७०० में इस ग्रंथ की रचना की।[3] यह अग्रवाल दिगम्बर जैन थे और दिल्ली के भट्टारक महेन्द्रसेन के शिष्य थे। यह हिन्दी के भी अच्छे विद्वान् थे। हिन्दी में लिखी हु इनकी अनेक रचनायें मिलती हैं।[4] ग्रंथ में केवल चार सन्धियाँ ह। इसकी रचना घत्ता कड़वक शैली में की गई है किन्तु वीच वीच में दोहा, सोरठा और गाथा छन्द भी मिल जाते हैं।

भगवतीदास अपभ्रंश के ज्ञात कवियों में सबसे अन्तिम कवि हैं अतः ग्रंथ का संक्षिप्त परिचय अप्रासंगिक न होगा।

ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित वाक्यों से किया गया है—

ॐ नमः सिद्धेभ्यः। श्रीमद् भट्टारक श्री माहेंदसेण गुरवे नमः।

पणविवि जिणवीरं, णाणगहीरं, तिहुवण वइ रिसि राइ जई।
णिरुवम विस अच्छं, सील पसच्छं, भणमि कहा ससि लेह सई।।

ग्रंथ में कवि ने शील को अत्यधिक महत्व दिया है—

दोहा—

जो चुक्का गुण संपदा, चुक्का कित्ति मुहाउ।
जो जणु चुक्का सील तें, चुक्का सयल सुहाउ।। १.२

ग्रंथ की पुष्पिकाओं में कवि ने ग्रंथ का नाम चन्द्रलेखा भी दिया है।[5]

---

१. अमरसेन चरित और नागकुमार चरित का परिचय पं० परमानन्द जैन ने १६वीं शताब्दी के दो अपभ्रंश काव्य नामक लेख द्वारा अनेकान्त वर्ष १०, किरण ४, पृ० १६०-१६२ में दिया है।

२. अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, पृ० १५३-१५६

३. सग दह सय संवदतीदतदां, विक्कमराइ महप्पए।
अगहण सिय पंचमि सोमदिणे, पुण्ण वियउ अवियप्पए।। ४. १४

४. अनेकान्त वर्ष ५, किरण १-२ में पं० परमानन्द का लेख, कविवर भगवतीदास और उनकी रचनाएँ।

५. इय सिरि चंद्दलेह कहाए, रंजिय वुह चित्त सहाए,
भट्टारय सिरि महिंदसेण सीस पंडिय भगवद् दा विरइए······इत्यादि।

कवि चन्द्रलेखा का वर्णन करता हुआ कहता है—

सुहलग्ग जोइ वर सुहण खत्ति, सुउवण्ण कण्ण ण्णं कांम थत्ति।
कम पांणि कवल सुसुवण्ण देह, तिहं णांउ धरिउ सुमइंक लेह।
कमि कमि सुपवड्ढइ सांगुणाल, दिग मिग ससिवत्तु मराल वाल।
रूव रइ दासि व णियडि तासु, किं वण्णमि अमरी खयरि जासु।
लछी सुविलछी सोह दित्ति, तिहं तुल्लि ण छज्जइ बुद्धि कित्ति।

१. ३

चन्द्रलेखा की आँखें मृग की आंखों के समान, वक्त्र चंद्र के समान और चाल हंस के समान थी। उसके निकट रति दासी के समान प्रतीत होती थी फिर अमरांगना या विद्याधरी उसके सामने कैसी ? इसकी तुलना किस से की जाय ?

ग्रंथ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि कवि ने इस ग्रंथ की रचना हिसार में की थी।

ग्रंथ की भाषा खिचड़ी है। पद्धड़ी बंध में अपभ्रंश, दोहा सोरठा आदि में हिन्दी और गाथाओं में प्राकृत दृष्टिगत होती है।

देखिये—

पद्धडी पयडी

रोवइ व संतपरि यणं सपत्ति, खणीधाह पमिल्लहि अद्धरत्ति।
णारी आइंद्दइं णांह णांह, हा कह गउ सामिय करि अणांह।
हा रोइवि सूई मुअ कंतु, हा कोण वि यांणइ मम्म अंतु।
सं कारु करिवि सज्जण जणेहिं, मिलि सयल जलंजलि तासु देहिं।

२.

दोहा—

एक अंग को नेहड़ा, भूलि करउ मति कोइ।
जलु मूरिषु मांनइ नही, मीनुं मरइ तनु खोइ ॥१.४२

सोरठा—

संपति विपति विजोगु, रोगु भोगु भावी उदइ।
हरिषु विषादु रु सोगु, समां न चलई तिहं तणउं ॥१.१३

गाथा—

इय जंपिय पउमाए, परिवार णिवारणाय पुणरुत्तं।
अवगण्णिय सहि सहिया, गिहाउ णिव्वासिया एसा ॥२.१

इस काल तक अपभ्रंश भाषा का क्या रूप हो गया था इसका ज्ञान ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है।

भाषा की दृष्टि से निम्नलिखित दो दोहों का स्वरूप देखिये—

जो चुक्का गुण संपदा, चुक्का कित्ति सुहाउ।
जो जण चुक्का सील तें, चुक्का सयल सुहाउ॥ १.२

'सीलु बड़ा संसार महि सलि सरहिं सब काज।
इह भवि पर भवि सुहु लहइं आसि भणहिं मुणिराज॥'

चौथी संधि

ये दोहे अपभ्रंश के उस स्वरूप को प्रकट करते हैं जब कि वह खड़ी बोली रूप में परिवर्तित हो रही थी। हेमचन्द्र के निम्नलिखित दोहे से इन दोहों की तुलना कीजिये :

"भल्ला हुआ जो मारिआ बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जं तु वयंसियहु जइ भग्गा घर एंतु॥"

दोनों की भाषा में शब्दों का आकारान्त रूप मिलता है (जैसे, भल्ला, बड़ा, भग्गा, चुक्का) जो खड़ी बोली का लक्षण है। खड़ी बोली ने हेमचन्द्र के दोहे से चल कर भगवती दास के दोहों को पार करके आधुनिक स्वरूप को धारण किया। भगवती दास के गुरु भट्टारक महेन्द्र सेन दिल्ली निवासी थे। दिल्ली नगर की भाषा होने के कारण संभवत: आकारान्त स्वरूपवाली अपभ्रंश ही नागर भाषा है जो खड़ी बोली अथवा नागरी की जननी है।

इन कृतियों के अतिरिक्त अनेक कृतियाँ हस्तलिखित रूप में अप्रकाशित हैं और जैन भण्डारों में पड़ी हैं। अनेक कृतियों का उल्लेख पाटण (पत्तन) भंडार की ग्रंथ सूची में मिलता है।[1] इस सामग्री के प्रकाश में न आने से इस पर विचार अभी संभव नहीं।

इस अध्याय में जिन भी खंड काव्यों का विवेचन किया गया है, वे सब इस प्रकार के हैं जिनमें धार्मिक तत्व की प्रधानता है। यदि कोई प्रेमकथा है तो वह भी धार्मिक आवरण से आवृत है, यदि कोई साहस को प्रदर्शित करने वाली कथा है तो वह भी उसी आवरण से आवृत। इस प्रकार ये सब खंडकाव्य कवियों ने धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे। इस दृष्टिकोण को छोड़ कर शुद्ध प्रेमकथा, राजा की विजय आदि धार्मिक दृष्टि-निरपेक्ष मानव जीवन से सम्बन्ध रखने वाले लौकिक और ऐतिहासिक प्रबंध काव्यों का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

---

१. ए डिस्क्रिप्टिव कैटेलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दी जैन भंडार ऐट पटना, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज जिल्द सं० ७६, ओरियंटल इंस्टिट्यूट बड़ोदा १९३७। इसमें उल्लिखित कुछ ग्रंथ----सुलसा चरित्र। (वही पृ० १८२), भव्यचरितम् (वही पृ० २६५), मल्लिनाथ चरित (वही पृ० २७०), सुभद्रा चरित (वही पृ० १२८), वयसामि चरिउ (वही पृ० १९०) इत्यादि।

आठवाँ अध्याय

अपभ्रंश-खण्ड काव्य (लौकिक)

सन्देश रासक[1]

यह कवि अद्दहमाण–अब्दुल रहमान–का लिखा हुआ एक खंड काव्य है। इसमें तीन प्रक्रम एवं २२३ पद हैं। धर्म-निरपेक्ष, लौकिक प्रेम भावना की अभिव्यक्ति इस काव्य में मिलती है। अपभ्रंश के प्राप्त काव्यों में से यही एक काव्य है जो कि एक मुसलमान कवि द्वारा लिखा हुआ है। अद्दहमाण ही सर्वप्रथम मुसलमान कवि हैं जिन्होंने कि भारत की संस्कृति को अभिव्यक्त करने वाली साहित्यिक भाषा में रचना की; हिन्दू सभ्यता या भारतीय सभ्यता को अपना कर प्रचलित भारतीय साहित्यिक शैली पर पूर्ण रूप से अधिकार प्राप्त किया। इन्हीं विशेषताओं के कारण यह काव्य विशेष महत्व का है।

कवि परिचय—कृति में कवि का नाम अद्दहमाण मिलता है जिसका परिवर्तित रूप अब्दुल रहमान समझा जाता है। कवि पश्चिम भारत में म्लेच्छ देशवासी तन्तुवाय मीरसेन का पुत्र था। यह प्राकृत काव्य तथा गीतों की रचना में प्रसिद्ध था।[2] संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का विद्वान् था। कवि के अपभ्रंश और प्राकृत ज्ञान का आभास वर्तमान ग्रंथ से मिलता है।

काव्य में पूर्वकालीन प्राकृत और संस्कृत कवियों के कुछ पद्य रूपान्तर से मिलते हैं। ऐसे पद्यों का आगे यथास्थान निर्देश कर दिया गया है। कवि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक विद्वानों और अपभ्रंश, संस्कृत, प्राकृत एवं पैशाची भाषा के कवियों का वन्दन और आदरपूर्वक स्मरण किया है।[3] कवि ने एक स्थान पर प्राकृत काव्य और वेद का उल्लेख किया है।[4] इसी प्रकार नलचरित्र, भारत, रामायणादि के उल्लेख[5] से विदित होता है

---

१. श्री जिन विजय मुनि और श्री हरि वल्लभ भायाणी द्वारा संपादित, भारतीय विद्या भवन बंबई से प्रकाशित, वि० सं० २००१.

२. सं० रा० १-३-४ सन्देश रासक के स्थल निर्देश में सर्वत्र प्रथम अंक प्रक्रम का और द्वितीय अंक पद्य संख्या का सूचक होगा।

३. सं० रा० १.५-६

पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सद्दसत्थ कुसलेण।
तिय लोये सुच्छंदे जेहिं कयं जंहि णिद्दिट्ठं॥ ५
अवहट्टय-सक्कय-पाइयंमि पेसाइयंमि भासाए।
लक्खण छंदाहरेण सुकइत्तं भूसियं जेहिं॥ ६

४. सं० रा० पद्य ४३

५. वही पद्य ४४

कि कवि को भारतीय साहित्य का ज्ञान था। कथा का पथिक सामोरु नगर का वासी था। टीकाकारों ने सामोरु का मूलस्थान—मुलतान—कहा है। सामोरु के वर्णन से कल्पना की गई है कि कवि मुलतान का रहने वाला था और उसने गुजरात तक के प्रदेशों का भ्रमण किया था।

डा० कात्रे ने कवि का समय ११वीं और १४वीं शताब्दी के बीच माना है।[१] ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति की टीका वि० सं० १४६५ की लिखी हुई उपलब्ध है।[२] अतएव इस समय से पूर्व कवि का होना निर्विवाद है। ग्रंथ से इतना स्पष्ट है कि कवि के समय मुलतान एक समृद्ध देश था। खंभात भी एक प्रसिद्ध व्यापार का केन्द्र था। मुनि जिन विजय जी के अनुसार ग्रंथ की रचना विक्रम संवत्सर की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच में हुई।[३] श्री अगरचंद नाहटा ग्रंथ की रचना वि०सं० १४०० के आसपास मानते हैं।[४] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी को यह काव्य ग्यारहवीं शती का प्रतीत होता है।[५]

संदेश रासक एक संदेश काव्य है। इसमें अन्य खंड काव्यों के समान कथानक संधियों में विभक्त नहीं है। अपितु कथा तीन भागों में विभक्त है जिन्हें प्रक्रम का नाम दिया गया है। संस्कृत में मेघदूत के पूर्व मेघ और उत्तर मेघ के समान प्रत्येक प्रक्रम कथा प्रवाह की गति का सूचक है। प्रथम प्रक्रम प्रस्तावना रूप में है, द्वितीय प्रक्रम से वास्तविक कथा प्रारम्भ होती है और तृतीय प्रक्रम में षड्ऋतु वर्णन है।

कथानक—कवि ग्रंथ का आरम्भ मंगलाचरण से करता है। मंगलाचरण में सृष्टि-कर्ता से कल्याण की प्रार्थना की गई है। आत्म-परिचय तथा पूर्वकाल के कवियों के स्मरण के अनन्तर कवि आत्म-विनय प्रदर्शित करता हुआ ग्रंथ के लिखने का औचित्य प्रदर्शित करता है। इस प्रसंग में दिये विचारों से कवि का जन-साधारण के साथ परिचय प्रतीत होता है। जैसे—रात्रि में चन्द्रमा के उदय होने पर क्या नक्षत्र प्रकाश नहीं करते? यदि कोकिला तरुशिखर पर बैठ मधुर गान करती है तो क्या कौए कां-कां करना छोड़ देते हैं? यदि त्रैलोक्य-पावना गंगा सागराभिमुख प्रवाहित होती है तो क्या अन्य नदियाँ बहना छोड़ दें? यदि अनेक भाव-भंगियों से युक्त नव राग रंजित नागरिक युवती नृत्य करती है तो क्या एक ग्रामीणा ताली शब्द से ही नहीं नाचती? वस्तुतः

१. दि करनाटिक हिस्टोरिकल रिव्यू भाग ४, जन-जुलाई १९३७, संख्या १-२ में डा० कात्रे का लेख
२. संदेश रासक भूमिका पृ० ७
३. वही पृ० १२-१३
४. राजस्थान भारती भाग ३, अंक १, पृ० ४८.
५. हिन्दी साहित्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक, अतरचन्द कपूर एंड संस, सन् १९५२, पृ० ७१.

जिसमें जो काव्य शक्ति है उसका उसे प्रकाशन अवश्य करना चाहिये । यदि चतुर्मुख ब्रह्मा ने चारों वेदों का प्रकाश किया तो क्या अन्य कवि कवित्व छोड़ दें ।[1]

कवि की उत्थानिका से ही स्पष्ट होता है कि यह काव्य उसने सामान्य जनों के लिए लिखा है । आगे कवि स्पष्ट कहता है कि:—

बुद्धिमान् इस कुकाव्य में मन नहीं लगायेंगे । मूर्खों का अपनी मूर्खता के कारण इसमें प्रवेश नहीं । जो न मूर्ख हैं न पण्डित किन्तु मध्यश्रेणी के हैं, उनके सामने यह काव्य पढ़ा जाना चाहिये ।[2]

द्वितीय प्रक्रम से कथा आरम्भ होती है । विजयनगर की एक सुन्दरी पति के प्रवास से दुःखी, दीन और विरह व्याकुल है । इतने में ही वह एक पथिक को देखती है । उसे देख विरहिणी उत्सुकता से उसके पास जाती है । दोनों का परिचय होने पर उसे पता लगता है कि पथिक सामोरु मूलस्थान (मुलतान) से आया है । कवि विरहिणी के सौंदर्य का वर्णन कर सामोरु नगर का और वहां की वारवनिताओं का वर्णन (२.४६–५४) करता है । वहां के उद्यानों के प्रसंग में कवि ने वहाँ की वनस्पतियों की पूरी सूची दी है (२.५५—६४) । पथिक से यह जान कर कि वह खंभात जा रहा है विरहिणी व्याकुल हो उठती है । उसका पति भी वहीं गया है । वह पथिक के द्वारा अपने प्रियतम को संदेश भेजने के लिए तड़पने लगती है—संदेश भेजती है । संदेश बड़े संवेदना-पूर्ण शब्दों में दिया गया है । इस काव्य की एक विशेषता है कि संदेश-प्रसंग में कवि ने भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया है । कभी विरहिणी एक छंद में संदेश देती है कभी दूसरे में । जाते हुए पथिक को क्षण भर रोक कर तीसरे छंद में थोड़ा सा संदेश और दे देती है । विरहिणी के शब्द मार्मिक हैं और उसके हृदय की पीड़ा के द्योतक हैं । भिन्न-भिन्न छंदों में उसने मानो अपना हृदय पथिक के सामने उड़ेल दिया है । इसी प्रसंग में भिन्न-भिन्न ऋतुओं का कवि ने वर्णन किया है । विरहिणी का पति ग्रीष्म ऋतु में उसे छोड़ कर गया था उसी ऋतु से आरम्भ कर वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसंत का भी वर्णन किया गया है । ये सब ऋतुएं विरहिणी के लिए दुःखदायिनी हो गईं ।

अन्त में जब पथिक अपनी यात्रा पर चल पड़ता है विरहिणी निम्नलिखित शब्दों से अपना संदेश समाप्त करती है—

"जइ अणक्खरु कहिउ मइ पहिय !
घण दुक्खाउन्नियह मयण अग्गि विरहिणि पलित्तिहिं,

---

१. संदेश रासक, १. ८-१७

२. णहु रहइ वुहा कुकवित्तरेसि,
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसि ।
जि ण मुक्ख ण पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्वार ॥
सं. रा० १० २१.

तं फरसउ मिल्हि तु हु विणियमग्गि पभणिज्ज झत्तिहि।
तिम जंपिय जिम कुवइ णहु तं पभणिय जं जुत्तु,
आसोसिवि वर कामिणिहिं वट्टाउ पडिउत्तु॥"

अर्थात् हे पथिक! यदि दुःखाकुला, कामाग्नि-पीड़िता और विरह-व्याकुलता मैंने कोई अकथनीय बात कही हो तो उसे न कह कर नम्र शब्दों में प्रिय से कहना। ऐसी कोई बात न कहना जिससे मेरा पति क्रुद्ध हो जाय। जो उचित हो वही कहना। यह कह कर वह पथिक को आशीर्वाद देती है और विदा करती है।

पथिक को विदा कर जब वह विरहिणी शीघ्रता से वापस लौट रही थी; उसने ज्योंही दक्षिण की ओर देखा उसे अपना पति लौट कर आता दिखाई दिया। उसका हृदय आनन्द से उद्वेलित हो उठा। कवि आशीर्वाद के शब्दों से ग्रन्थ समाप्त करता है कि जिस प्रकार अचानक ही उस सुन्दरी का कार्य सिद्ध हुआ उसी प्रकार इस काव्य के पढ़ने और लिखने वालों का कार्य सिद्ध हो। अनादि और अनन्त परम पुरुष की जय हो।[1]

काव्य के इस छोटे से कथानक में अलौकिक घटनाओं का अभाव है। ग्राम्य जीवन का चित्र काव्य में दिखाई देता है। काव्यगत वर्णनों से प्रतीत होता है कि कवि का हृदय लौकिक भावनाओं से प्रभावित था।

वस्तु वर्णन—यह काव्य एक सन्देश काव्य है अतः इसमें नगरादि के विस्तृत वर्णनों की अपेक्षा वियोगिनी के हृदय का चित्रण है। ऐसा होते हुए भी काव्य के आरम्भ में कवि ने सामोरु नगर का, वहाँ की वारवनिताओं का (२.५५–६४) और वहाँ के उद्यानों का वर्णन किया है।

सामोरु का वर्णन (२.४२.–४६) करता हुआ कवि कहता है कि वह नगर धवल और उच्च प्रासादों से मण्डित था। उसमें कोई मूर्ख न था, सब लोग पण्डित थे। नगर के अन्दर मधुर छंद और मधुर प्राकृत गीत सुनाई देते थे। कहीं चतुर्वेदी पंडित वेद को, कहीं बहुरूपिये रास को प्रकाशित करते थे। कहीं सुदय वच्छ कथा, कहीं नल चरित, कहीं भारत और कहीं रामायण का उच्चारण होता था। कहीं बांसुरी, वीणा, मुरजादि वाद्य यन्त्र सुनाई देते थे। कहीं सुन्दरियाँ नाच रही थीं। कहीं लोग विविध नट,

---

१. तं पडुंजिवि चलिय दीहच्छि
अइतुरिय, इत्थंतरिय दिसि दक्खिण तिणि जाम दरसिय,
आसन्न पहावरिउ दिट्ठु णाहु तिणि झत्ति हरसिय।
जेम अचिंतिउ कज्जु तसु सिद्धु खणद्धि महंतु,
तेम पढंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणंतु॥

संदेश रासक, ३. २२३

नाटकादि देखकर विस्मित हो रहे थे।[1]

वारवनिताओं के नृत्य वर्णन में भी स्वाभाविकता है। उद्यान वर्णन में अनेक वृक्षों और वनस्पतियों के नामों की सूची कवि ने प्रस्तुत की है। इन वर्णनों में कोई विशेषता नहीं।

स्थूल प्राकृत वर्णनों की अपेक्षा कवि मानव हृदय का वर्णन अधिक सुन्दरता से कर सका है। सारा काव्य विरहिणी के वियोगपूर्ण हृदय के भावमय चित्रों से परिपूर्ण है।

रस--काव्य में विप्रलम्भ शृंगार ही मुख्य रूप से व्यक्त किया गया है। विरहिणी के शरीर की अवस्था के वर्णन, उसकी शारीरिक चेष्टाओं के प्रकाशन और उसके हृदय के भावों के अभिव्यंजन द्वारा कवि ने उसके विरह का साक्षात् रूप अंकित किया है।

कवि विरहिणी की अवस्था का वर्णन करता हुआ शब्द-चित्र द्वारा उसका साक्षात् रूप हमारे सामने खड़ा कर देता है :

"विजय नयरहु कावि वर रमणि,
उत्तुंग थिर थोर थणि, बिरुड लक्क धयरट्ठपउहर।
दीणाणण पहु णिहइ, जलपवाह पवहंति दीहर।
विरहग्गिहि कणयंगि तणु, तह सामलिम पवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिअउ, ताराहिवइ सउन्नु॥
फुसइ लोयण रुवइ दुक्खत्त,
धम्मिल्लं उमुक्क मुह, विज्जंभइ अरु अंगु मोडइ।
विरहानलि संतविअ, ससइ दीह करसाह तोडइ।[2]
(२. २४-२५)

अर्थात्--विक्रमपुर की कोई सुन्दरी उन्नत, दृढ़ और स्थूल कुचवाली, बर्रे के समान कृशकटि वाली, राजहंस के समान गति वाली, दीनानना परदेश में गये अपने पति को देख रही थी। उसकी आँखों से दीर्घ जलप्रवाह वह रहा था। कनकांगी का शरीर विरहाग्नि से श्यामल हो गया था, ऐसा प्रतीत होता था मानो संपूर्ण चन्द्रबिम्ब को राहु ने ग्रस लिया हो। वह आँखें पोंछ रही थी, दुःखार्त हो रही थी। केश उसके मुख पर बिखरे हुए थे और जंभाई ले रही थी। कभी शरीर मोड़ती थी। विरहाग्नि में संतप्त लम्बी-लम्बी आहें भर रही थी और कभी अंगुलियों को चटका रही थी।

---

१. नर अउव्व विभविय विविह नडनाडइहिं
संदेश रासक, २.४६

२. विरुडलक्क--लक्क पंजाबी का शब्द है जिसका अर्थ कटि होता है। विरुड़--भिरड, बर्रा या ततैया। कृशकटि के लिए इसका प्रयोग कई कवियों ने किया है। धयरट्ठ पउहर--धार्तराष्ट्र या राजहंस के समान पैर रखती हुई। सउन्न--संपूर्ण। कर साह--कर शाखा, अँगुलियाँ।

सौन्दर्य वर्णन——सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि ने उस विरहिणी सुन्दरी को 'कुसुम सराउह रूवणिहि' (२.३१) कहा है। अर्थात् वह काम का आयुध और सौन्दर्य की निधि थी। कवि इन विशेषताओं से नारी सौन्दर्य के हृदय पर पड़ने वाले प्रभाव की व्यंजना करना चाहता है। इससे पूर्व कालीन कवियों ने भी सुन्दरी को 'वम्मह भल्लि' आदि कह कर इसी भाव की व्यंजना की है।[1]

कवि ने नारी के अंग-वर्णन प्रसंग (२.३२–३९) में उसके केशपाश, निष्कलंक मुख, लोचन, कपोल, बाहु, कुच, नाभि, कटि, ऊरू और चरणों की अंगुलियों का **वर्णन** किया है। इस वर्णन में अधिकतर परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग मिलता है। एक स्थल पर नखशिख वर्णन में कवि ने नारी के कपोलों को अनार के फूलों के गुच्छे से उपमा दे कर लौकिक जीवन से उपमान चुनने का प्रेम भी अभिव्यक्त कर दिया है। यद्यपि अंग-वर्णन में कोई विशेषता नहीं तथापि नारी के अंगों के सौन्दर्य का अतिशय प्रभाव निम्नलिखित छन्द में दिखाई देता है :

> **"सयलज्ज सिरेविणु पयडियाइँ अंगाइँ तीय सविसेसं।**
> **को कवियणाण दूसइ, सिट्ठं विहिणा वि पुणरुत्तं ॥"**
> २.४०

अर्थात् विधाता ने शैलजा–पार्वती–को रच कर उसके समान या उससे भी सविशेष अंगों को पुनः इस स्त्री के शरीर में रचा। फिर कौन कवियों को पुनरुक्ति के लिए दोष दे जब विधाता ने स्वयं पूर्वसृष्ट की पुनः सृष्टि की ?

इस पद्य से कवि ने नारी के अंग-सौन्दर्य के साथ-साथ उसके दिव्य रूप का भी आभास दिया है।

विरह वर्णन——कवि का विरह वर्णन संवेदनात्मक है, हृदय में विरहिणी के प्रति सहानुभूति जागृत करने वाला है। विरहिणी अपने प्रियतम को संदेश देती हुई लज्जा का अनुभव करती है :

> **"जसु पवसंत ण पवसिआ, मुइअ विओइ ण जासु।**
> **लज्जिज्जउ संदेसडउ, दिंती पहिय पियासु ॥२.७०॥**

अर्थात् जिसके प्रवासार्थ चले जाने पर मैं भी प्रोषित नहीं हुई और जिसके वियोग में मैं मर न गई हे पथिक ! उस प्रियतम को संदेसा देती हुई मैं लज्जित होती हूँ।

हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण (८.४.४१९) में भी इसी भाव का एक पद्य मिलता है :

> **"जउ पवसंते सहुं न गय न मुअ विओएं तस्सु।**
> **लज्जिज्जइ संदेसडा दिंतेहिं सुहय-जणस्सु ॥**

---

१. **"णं वम्मह भल्लि विंधण सील जुवाण जणि"**
भविसयत्त कहा ५.७.९.

विरहिणी के अंग-प्रत्यंग विरह प्रहार से संचूर्णित भी विघटित नहीं होते। कारण स्वयं विरहिणी बताती है कि आज या कल प्रियसंमिलन रूपी औषध के प्रभाव से।

"तुह विरह पहर संचरिआइं विहडंति जं न अंगाइं।
तं अज्ज कल्ल संघडण ओसहे णाह तग्गंति॥

(२.७२)

विरह की आग से जलती हुई भी विरहिणी प्रियतम की मंगल कामना चाहती है और कहती है कि :

"जिम हउ मुक्की वल्लहइ, तिम सो मुक्क जमेण"

अर्थात् जैसे में अपने प्रियतम से छोड़ दी गई वैसे ही मेरा प्रियतम यम से छोड़ दिया जाय।

विरहाग्नि से संतप्त वियोगिनी मरना नहीं चाहती। कारण ? हृदय स्थित अपने प्रियतम की सहचरी उसका साथ छोड़ कैसे अकेली स्वर्गलोक में चली जाय (२.७५)? वह वियोगिनी प्रियतम के हृदय स्थित होते हुए भी विरह से सताये जाने पर प्रियतम की ही विडम्बना समझती है।

विरहिणी कहती है कि विरहाग्नि बड़वानल से संभवतः उत्पन्न हुई है क्योंकि ज्यों-ज्यों स्थूलाश्रुओं से सिक्त होती है त्यों-त्यों शान्त होने की अपेक्षा और भी अधिक भड़क उठती है—

"पाइय पिय वडवानलहु, विरहग्गिहि उप्पत्ति।
जं सित्तउ थोरंसुयहि, जलइ पडिल्ली झत्ति॥ (२.८९)

जैसे तैसे साहस कर वियोगिनी पथिक को संदेश देती है। हे पथिक ! प्रियतम से कहना :

"तइया निवडंत णिवेसियाइं संगमइ जत्थ णहु हारो।
इन्हिं सायर-सरिया-गिरि-तरु-दुग्गाइं अंतरिया॥ (२.९३)

अर्थात् हे प्रिय ! पहिले तुम से गाढ़ालिंगन किये जाने पर इष्ट संगम के लिए मैंने कभी हार नहीं धारण किया। बीच में हार का भी व्यवधान असह्य था। अब मेरे और तुम्हारे बीच सागर, नदी, गिरि, तरु, दुर्गादि का व्यवधान हो गया है।

इसी भाव का एक पद सुभाषित रत्न भाण्डागार और हनुमन्नाटक में मिलता है :

"हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेष भीरुणा।
इदानीमन्तरे जाताः सरित्सागर भूधराः॥"

विरहिणी अपने आपको प्रियतम के लिए उचित संदेश देने में असमर्थ पाकर पथिक से कहती है कि :

"कहि ण सवित्थरु सक्कउ मयणाउह वहिय,
इय अवत्थ अम्हारिय कंतह सिव कहिय।
अंगभंगि णिरु अणरइ उज्जगउ णिसिहि,
विहलंघल गय मग्ग चलंतिहि आलसिहि॥ (२.१०५)

....

आसाजल संसित्त विरह उन्हत्त जलंतिय,

णहु जीवउ णहु मरउ पहिय ! अच्छउ धुक्खंतिय। (२.१०७)

हे पथिक ! तुम प्रियतम से मेरी अवस्था का वर्णन मात्र कर देना—अंग-भंग, अरति, रात भर जगते रहना, आलस्य युक्त और लड़खड़ाती गति, इत्यादि।

आशाजल से सिक्त और विरहाग्नि से प्रज्वलित मैं हे पथिक ! न तो जी ही पाती हूँ और न ही मर ही पाती हूँ। सुलगती आग के समान मेरी अवस्था है।

विरहिणी के लिए रातें भी और दिन भी बीतने कठिन हो गए। इसी भाव को कवि ने कितनी सुन्दरता से निम्नलिखित पद्य में अभिव्यक्त किया है :

"उत्तरायणि वड्ढिहि दिवस,

णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिउइउ।

दुच्चिय वड्ढहि जत्थ पिय,

इहु तीयउ विरहायणु होइयउ ॥ (२.११२)

अर्थात् उत्तरायण में दिन बड़े हो जाते है, दक्षिणायन में रातें बड़ी हो जाती हैं और दिन छोटे हो जाते हैं। अब मेरे लिए दोनों दिन भी और रातें भी बड़ी हो गईं—यह तीसरा विरहायण हो गया।

इस प्रकार कवि ने विरह का संवेदनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है। वर्णन में कहीं ताप मात्रा बताने का प्रयत्न नहीं। विरह-ताप हृदय को प्रभावित करता है। एक आध स्थल पर कुछ ऊहात्मक निर्देश भी कवि ने किये हैं। उदाहरण के लिए :

"संदेसडउ सवित्थरउ, हउ कहणह असमत्थ।

भण पिय इकत्ति बलियडइ, बे वि समाणा हत्थ ॥

संदेसडउ सवित्थरउ, पर मइ कहणु न जाइ।

जो कालंगुलि मूंदडउ, सो बाहडी समाइ ॥ (२. ८०-८१)

अर्थात् हे पथिक ! मैं विस्तार से सन्देश देने में असमर्थ हूँ। प्रिय से कहना कि एक हाथ की चूड़ी में दोनों हाथ आ जाते हैं। सन्देश तो विस्तृत है पर मुझ से कहा नहीं जाता। प्रिय से कहना कि कनिष्ठिका अंगुली की मुद्रिका बाहु में पूरी आने लगी।

प्रकृति वर्णन—कवि ने विरह वर्णन के प्रसंग में ही षड्-ऋतु-वर्णन प्रस्तुत किया है। विरहिणी को विरहताप के कारण ये सब ऋतुएँ दुःखदायिनी और अरुचिकर प्रतीत होती हैं। ग्रीष्म ऋतु में ताप को कम करने के लिए प्रयुक्त चन्दन, कर्पूर, कमल आदि साधन उसके ताप को और बढ़ाते हैं। वर्षा ऋतु में जल प्रवाह से सर्वत्र ग्रीष्म का ताप कम हो गया किन्तु आश्चर्य है कि विरहिणी के हृदय का ताप और भी अधिक बढ़ गया—

"उल्हवियं गिम्हहवी धारा निवहेण पाउसे पत्ते।

अच्चरियं मह हियए विरहग्गी तवइ अहिययरो ॥ (३.१४९)

शरद् ऋतु में नदियों की धारा के साथ साथ विरहिणी भी क्षीण हो गई—

"झिज्झउ पहिय जलिहि झिज्झंतिहि"

कार्तिक में दिवाली आई। लोगों ने घर सजाए, दीवे जलाए किन्तु विरहिणी का हृदय उसी प्रकार दुःखी है। शरत् का सारा सौन्दर्य उसके प्रीतम को घर न ला सका। वह आश्चर्य चकित हो कहती है—

"किं तहि देसि णहु फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह,
अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह।
अह पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण,
अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु
ओससिउ घण कुसुम भरु।
अह मुणिउ पहिय! अणरसिउ पिउ
सरइ समइ जु न सरइ घरु॥"[1]

अर्थात् क्या उस देश में रात को शुभ्र चन्द्र की चन्द्रिका नहीं छिटकती? क्या कमल सेवी हंस कलरव नहीं करते? क्या वहाँ कोई सुललित प्राकृत राग नहीं गाता? क्या वहाँ कोकिल पंचम स्वर में आलाप नहीं करती? क्या प्रातः काल सूय से विकसित और उच्छ्वासित कुसुम समूह नहीं महकते? अथवा हे पथिक! ऐसा प्रतीत होता है कि मेरा प्रियतम अरसिक है जो शरत्समय में भी घर नहीं लौटा।

शरत् के अनन्तर हेमन्त ऋतु आती है। चारों ओर शीत के प्रभाव से कोहरा और पाला दिखाई देना है किन्तु

"जलिउ पहिय सव्वंगु विरह अग्गिण तडयडवि"

विरहिणी का सारा शरीर विरहाग्नि से तप्त है।

इसी प्रकार हेमन्त आई और चली गई किन्तु प्रियतम घर न आया। हेमन्त के अनन्तर वसन्त अपनी पूर्ण संपत्ति के साथ विकसित हो उठा। वसन्त के उल्लास, उसकी पुष्प-समृद्धि, वर्ण-सौन्दर्य आदि का कवि ने सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है (३.२००-२२१)

ऋतु-वर्णन स्वाभाविक है और कवि की निरीक्षण शक्ति का परिचायक है। प्रत्येक ऋतु में प्राप्य और दृश्यमान वस्तुओं का वर्णन मिलता ह। इस प्रसंग में ग्राम्यजीवन का चित्र भी स्थान-स्थान पर कवि ने अंकित किया है। वर्षा ऋतु में पथिक हाथ में जूते उठा कर जल पार करते हैं (३.१४१) दीपावली के अवसर पर आँखों में काजल डाले और गाढ़े रंग के वस्त्र पहने ग्राम्यनारियाँ भी कवि की दृष्टि से ओझल न हो सकीं (३.१७६-१७७)। शिशिर में थोड़ा-सा औटा कर सुगन्धित ईख का रस पीते हुए लोग भी दिखाई देते हैं। इस प्रकार यह ऋतु-वर्णन उद्दीपन रूप में प्रयुक्त हुआ हुआ भी स्वाभाविक और आकर्षक है। वर्णन में हृदय की आभ्यन्तर स्थिति का बाह्य प्रकृति में भी कहीं कहीं दर्शन हो जाता है। शरत् में क्षीण जलधारा के साथ साथ विरहिणी भी क्षीण हो जाती है।

'जायसी की भांति अद्दहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार और बाह्यवस्तु-निरूपक

---

१. जुन्ह—ज्योत्स्ना, चन्द्रिका। रविंदह—अरविन्द के। राइण—राग से।

वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर व्यक्ति के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करते हैं। कवि प्राकृतिक दृश्यों का चित्र इस कुशलता से अंकित करता है कि इस से विरहिणी के विरहाकुल हृदय की मर्मवेदना ही मुखरित होती है। वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है।"[1]

अलंकार—भाषा में उपमा उत्प्रेक्षादि सादृश्यमूलक अलंकारों का ही अधिकता से प्रयोग हुआ है। अलंकारों की बहुलता नहीं। इन सादृश्यमूलक अलंकारों में सादृश्य योजना दो वस्तुओं के स्वरूप बोध के साथ-साथ भाव व्यंजना एवं भाव तीव्रता के लिए भी हुई है। उदाहरण के लिए—

"विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिम पवन्नु।
णज्जइ राहि विडंबिअउ ताराहिवइ सउन्नु॥"

अर्थात् उस सुवर्णांगी का शरीर विरहाग्नि से ऐसा काला हो गया था मानो पूर्ण चन्द्रबिम्ब, राहु ने ग्रस लिया हो। इस वाक्य से कवि ने विरहिणी के शरीर की श्यामता की ओर निर्देश करते हुए उसके शरीर की शोभा की अत्यधिक क्षीणता की ओर भी संकेत किया है।

कवि ने सादृश्य योजना के लिए उपमानों का चयन जीवन के लौकिक व्यापारों से भी किया है। यथा—

"पिंडीर कुसुमपुंजं तरुणि कवोला कलिज्जंति।" २.३४

अर्थात् तरुणी के कपोल अनार के फूल के गुच्छों के समान शोभित थे। इस उपमान के चुनने में कवि पर फारसी साहित्य का प्रभाव प्रतीत होता है।

"सुन्नारह जिम मह हियउ, पिय उक्किंख करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि, आसाजलि सिंचेइ॥ (२.१०८)

अर्थात् हे प्रिय! मेरा हृदय सुनार के समान है। जैसे सुनार इष्ट प्राप्ति के लिए सोने को आग में तपा कर पानी में डाल देता है ऐसे ही मेरा शरीर विरहाग्नि से जलता है और प्रिय समागम के आशारूपी जल से सिक्त रहता है।

इसी प्रकार श्लेष (२.८६) और यमक (१.१०४, ३.१८३) के उदाहरण भी मिलते हैं।

भाषा :—इस काव्य में प्रयुक्त भाषा का रूप अधिकतर बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली अपभ्रंश भाषा का रूप है। यह भाषा का रूप साहित्यिक (Classical) अपभ्रंश से भिन्न है। अपभ्रंश भाषा का उत्तर कालीन रूप, जिस पर प्रान्तीय भाषाओं का प्रभाव भी पड़ने लग गया था, इस काव्य में देखा जा सकता है।

भाषा में भावानुकूल शब्द-योजना हुई है। ग्रीष्म और पावस की प्रचण्डता एवं कठोरता

---

१. आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—हिन्दी-साहित्य का आदि काल, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, वि० सं० २००९.

भी विरहिणी के मुख से निकलते शब्दों से दूर हो जाती है। शब्दों में विरहिणी के कोमल और सुकुमार हृदय की झांकी मिलती है। भावानुकूल शब्द-योजना का सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित छन्द में मिलता है :

"झिज्झउ पहिय जलिहि झिज्झंतिहि,
खिज्जउ खज्जोयहिं खज्जंतिहि।
सारस सरसु रसहिं किं सारसि,
मह चिर जिण्ण दुक्खु किं सारसि॥" (३.१६५)

हे पथिक ! शरत् में जलधारा क्षीण हो गई है, मैं भी क्षीण हो गई हूँ। चमकते खद्योतों से मैं भी खिन्न हूँ। सारस सरस शब्द करते हैं। हे सारसि ! मुझ दुःखिनी के दुःख को क्यों स्मरण कराती हो ?

प्रथम दो पंक्तियों में विरहिणी के हृदय की झुंझलाहट के कारण शब्द-योजना कुछ कठोर है। किन्तु उसे ज्यों ही अपनी असहायावस्था का स्मरण हो आता है शब्द-योजना भी कठोर से सुकुमार हो जाती है। अन्तिम दो पंक्तियों में उसी असहायावस्था और विवशता का संकेत है।

इसी प्रकार निम्नलिखित छन्द में भी भाव के साथ ही शब्दयोजना भी बदल जाती है :

"वयण णिसुणेवि मणमत्थसर वट्टिया,
मयउसर मुक्क णं हरिणि उत्तट्टिया।
मुक्क दीउन्ह नीसास उससंतिया,
पढिय इय गाह णियणयणि बरसंतिया॥" (२.८३)

प्रथम दो पंक्तियों में शरविद्ध हरिणी की छटपटाहट और अन्तिम दो पंक्तियों में आंखों से बरसते आँसुओं, सिसकियों और आहों की ध्वनि है।

भाषा में ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

"काका करु करायंतु" (१.९)
"रव्वडिया मा दडव्वडउ" (१.१६)
"सगिग्गर गिरवयणि" (२.२९)
"तडयडिवि तडक्कइ" (३.१४८) इत्यादि।

कवि में शब्दों द्वारा वस्तुचित्र अंकित करने की शक्ति विद्यमान थी। उदाहरणार्थ—

"एय वयण आयन्नवि सिंधुब्भव वयणि,
ससिवि सासु दीहुन्हउ सलिलब्भव नयणि।
तोडि करंगुलि करुण सगग्गिर गिरपसरु,
जालंधरि व समीरिण मुंध थरहरिय चिरु॥
रुइवि खणद्धु फुसवि नयण पुण वज्जरिउ,
इत्यादि (२.६६)

अर्थात् पथिक के मुख से यह सुनकर कि वह उसी स्थान पर जा रहा है जहाँ उसका

पति गया है, चन्द्रमुखी कमलाक्षी वह विरहिणी लम्बी-लम्बी आहें भरने लगी, हाथ की अंगुलियों को चटकाती हुई गद्गद् वाणी से भरी पवनाहत कदली के समान वह मुग्धा कम्पित हो उठी। क्षण भर रो कर, आँखें पोंछ कर फिर बोली।

भाषा में लोकोक्तियों और वाग्धाराओं का प्रयोग भी मिलता है :

"सप्पुरिसह मरणा अहिउ, पर परिहव संताउ" (२.७६)

सज्जन के लिए पर परिभव मरण से भी अधिक दुःखदायी होता है।

(संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते—गीता, २.३४)

"सिंगत्थ गइय उवाडयणि, पिक्ख हराविय णिअ सवण"

(३.१९९)

गर्दभी सींगों के लिए गई, देखो अपने कान भी खो आई।

ग्रन्थ की भाषा में अनेक शब्दों का रूप हिन्दी शब्दों के बहुत निकट है। कहीं-कहीं पंजाबी शब्दों का आभास भी मिल जाता है।[1]

छंद :—काव्य में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग रासक की विशेषता मानी गई है। ग्रन्थ में निम्नलिखित छन्दों का प्रयोग मिलता है :

गाहा, रड्डा, पद्धडिया, डोमिलय, रासा, दोहा, कामिणी मोहण, वत्थु, मालिणी, अडिल्ला, फुल्लय, मडिल्ला, चूडिल्लय, खडहडय, दुवइ, नंदिणी, भमरावलि, रमणिज्ज।[2]

इन छन्दों में से अधिकांश मात्रिक छन्द हैं। रासा छन्द का प्रयोग काव्य में बहुलता से किया गया है।

---

१. उदाहरण के लिए कुछ शब्द रूप नीचे दिए जाते हैं। कोष्टक में अंक संख्या पद्य संख्या सूचित करती है।

रहइ—रहता है (१८)। मोडइ—मोडती है (२५)। उत्तावलि—उतावली (२६)। छुडवि खिसिय—छूट कर खिसक गई (२६)। फुडवि—फोड़ कर (२८)। बोलावियउ—बुलाया (४१)। चडाइयइ—चढ़ाया जाता है (५२)। ढक्क—ढाक, सीसम—शीशम, आमरूय—असरूद, लेसूड—लसूडा, नायरंग—नारंगी, बेरि—वेर, भीड—भीड़, लक्क—कटि (पंजाबी) (पृष्ठ २४-२५)। मन्नाइ—मनाना (७१)। समाणा—समा गये (८०)। पढिय—पढ़ी (८३)। बाउलिय—बावली (९४)। फिरंतये—फिरते हुए (१०३)। हुई—हुई (१३५)। चडिउ—चढ़े (१४४)। मच्छर भय—मच्छरों का भय (१४६)। बद्दलिण—बादल (१४८)। घुट्टिवि—घूंट घूंट पी कर (१६२)। इकट्ठु—इकट्ठा, सारा (१८०)। महमहइ—महकता है (१८३)। इक्कल्लिय—अकेली (१९०)।

२. संदेश रासक, भूमिका, पृष्ठ ७५।

कीर्तिलता[1]

विद्यापति-रचित कीर्तिलता एक ऐतिहासिक चरित काव्य है जिस में कवि ने अपने प्रथम आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह के यश का गान किया है। अपभ्रंश में इस प्रकार का काव्य अभी तक एकमात्र यही उपलब्ध हुआ है। इस प्रकार के अन्य काव्य भी लिखे गये होंगे किन्तु वे जैनधर्म सम्बन्धी कृति न होने के कारण संभवतः सुरक्षा न पा सके।

कविपरिचय—विद्यापति ठक्कुर मैथिल ब्राह्मण थे। दरभंगा जिले के अन्तर्गत विसपी ग्राम इनका वास स्थान था। इनके वंश के पूर्वज सभी असाधारण पण्डित थे। इनके पिता गणपति ठक्कुर कीर्तिलता के नायक कीर्तिसिंह के पिता गणेश्वर के सभा-पण्डित तथा मन्त्री थे। विद्यापति स्वयं संस्कृत और मैथिली के पण्डित थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ इन भाषाओं लिखे थे।[2]

विद्यापति ने ८७-८८ वर्ष की लम्बी आयु भोगी। अपने जीवनकाल में इन्होंने जीवन की सभी अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त किया, जीवन के सभी रसों का आस्वादन किया। इन्होंने वीरता और वदान्यता की भूरि भूरि प्रशंसा की है। इनके शृंगार रस पूरित पद इनकी युवावस्था की रसिकता की ओर संकेत करते हैं। वृद्धावस्था में इनमें वैराग्य और भक्ति की भावना जाग्रत हो उठी, इसका आभास भी इनके पदों से मिलता है। विद्यापति का काल १३६० ई० से लेकर १४४७ ई० तक अर्थात् लगभग १५ वीं सदी के मध्य तक कल्पित किया गया है।[3]

कीर्तिलता चार पल्लवों (भागों) में पल्लवित हुई है। यह विद्यापति की सर्वप्रथम रचना है इसकी रचना कवि ने २० वर्ष की अवस्था में की थी।

कथानक—ग्रंथ का आरम्भ संस्कृत में पार्वती और शिव के मंगलाचरण से किया गया है। फिर सरस्वती की वन्दना हैं तदनन्तर कवि कहता है—कलियुग में घर-घर में काव्य मिलते हैं, नगर-नगर में श्रोता और देश-देश में रसज्ञाता, किन्तु संसार में दाता दुर्लभ है।[4] कीर्तिसिंह उदार हृदय दाता हैं उनकी कीर्ति इस काव्य में प्रथित की जाती है। आगे कवि आत्मविनय के अनन्तर सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा करता हुआ कहता है कि सज्जन मेरे काव्य की प्रशंसा करेंगे और दुर्जन निन्दा। निश्चय से चन्द्रमा अमृत की वर्षा करता है और विषधर विष ही उगलता है :

---

१. डा० बाबूराम सक्सेना द्वारा संपादित, इंडियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित, वि० सं० १९८६।

२. कीर्त्तिलता भूमिका पृ० ११-१३

३. वही भूमिका पृ० ७-९

४. गेहे गेहे कलौ काव्यं श्रोता तस्य पुरे पुरे।
देशे देशे रसज्ञाता दाता जगति दुर्लभः॥
वही पृ० ४

सुअण पसंसइ कव्व मझु, दुज्जन बोलइ मन्द।
अवसओ विसहर विस वमइ, अमिअ विमुक्कइ चन्द ।।

किन्तु कवि को पूर्ण विश्वास है कि दुर्जन उसका कुछ विगाड़ न सकेगा—

बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ई णिच्चइ नाअर मन मोहइ ।।

आगे कवि काव्य भाषा प्रयोग के विषय में कहता है—

"सक्कय वाणी वहुअ न भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल वअना सव जन मिट्ठा, तँ तैसन जम्पओ अवहट्ठा ।।"

अर्थात् संस्कृत भाषा बहुतों को अच्छी नहीं लगती, प्राकृत रस का मर्म नहीं पा सकती। देशी (वचन) सब को मीठी लगती है, अतएव अवहट्ठ (अपभ्रंश) में रचना करता हूँ।

इसके अनन्तर भृंगी और भृंग के संवाद या प्रश्नोत्तर रूप से कथा प्रारम्भ होती है। भृंगी पूछती है—"संसार में सार क्या है?" भृंग उत्तर देता है—"मान पूर्ण जीवन और वीर पुरुष"। भृंगी पूछती है—कि यदि वीर पुरुष कहीं हुआ हो तो उसका नाम बताओ। भृंग वीर पुरुष के लक्षण बताकर राजा बलि, रामचन्द्रादि वीर पुरुषों का उल्लेख करता हुआ कीर्तिसिंह का भी निर्देश करता है। भृंगी के मन में कीर्तिसिंह का चरित्र सुनने की इच्छा होती है और भृंग उनका चरित्र वर्णन करता है। कीर्तिसिंह के वंश और पराक्रम के वर्णन के साथ-साथ प्रथम पल्लव समाप्त होता है।

दूसरे पल्लव में कवि बतलाता है कि किस प्रकार राजा गणेश्वर ने असलान नामक एक तुरुक को परास्त किया। असलान ने कपट से राजा गणेश्वर को मार दिया। राज्य में अराजकता छा गई। असलान ने अपने किये पर पछताते हुए राज्य कीर्तिसिंह को लौटाना चाहा। कीर्तिसिंह ने अपने पिता का बदला लेने की भावना से क्रुद्ध हो शत्रु द्वारा भिक्षा रूप में दिये राज्य को स्वीकार न किया और अपने पराक्रम से राज्य को जीत कर भोगने का निश्चय किया। वह अपने भाई के साथ पैदल जौनपुर गया। कवि ने राजपुत्रों की पैदल यात्रा का, जौनपुर यात्रा के बीच के मार्ग का, जौनपुर के बाजारों का और वहाँ की वेश्याओं का, मुसलमानों के उद्धत जीवन का और हिन्दुओं की दीन दशा का स्वाभाविक चित्र उपस्थित किया है।

तीसरे पल्लव में कीर्तिसिंह जौनपुर के बादशाह से मिल कर सारी कथा सुनाता है। बादशाह क्रुद्ध हो असलान के विरुद्ध सेना प्रयाण की आज्ञा देता है। सेना सजधज कर कूच कर देती है किन्तु सेना असलान के ऊपर आक्रमण के लिए न जा दिग्विजय के लिए पश्चिम की ओर चल पड़ती है। कीर्तिसिंह को निराशा हुई। सेना चारों ओर दिग्विजय करती रही। कीर्तिसिंह आशा में साथ लगे रहे। केशव कायस्थ और सोमेश्वर के सिवाय उनके सब साथी भी उन्हें छोड़ गये। कीर्तिसिंह ने फिर एक बार सुल्तान से प्रार्थना की। प्रार्थना स्वीकृत हो गई। सेना का मुंह पूर्व की ओर असलान के प्रति मोड़ दिया गया।

चतुर्थ पल्लव में भृंगी सेना प्रयाण का समाचार पूछती है। भृंग सेना का और उसके प्रयाण का वर्णन करता है। सेना के तिरहुत पहुँचने पर सुल्तान कुछ निराश हो गये। कीर्तिसिंह के प्रोत्साहन से सेना आगे बढ़ी। असलान के साथ घोर युद्ध हुआ। कीर्तिसिंह और वीरसिंह के अद्‌भुत पराक्रम से असलान युद्ध-भूमि से भाग गया। कीर्तिसिंह ने भागते हुए असलान पर हाथ उठाना कायरता समझी। कीर्तिसिंह विजित हुए। सुल्तान ने उनका राज्याभिषेक किया। संस्कृत पद्य में आशीर्वाद और मंगल कामना के साथ काव्य समाप्त होता है।

वर्णनीय विषय—यद्यपि कीर्तिलता राजा कीर्तिसिंह के पराक्रम और यश का वर्णन करने की इच्छा से लिखी गई किन्तु अधिकता सुल्तान की सेना के वर्णन की और यात्रा के मार्ग के दृश्यों के वर्णन की है। प्रथम पल्लव में कीर्तिसिंह के दानशील स्वभाव और आत्माभिमान की ओर संकेत किया गया है और अन्तिम पल्लव में उनके पराक्रम की कुछ झांकी मिलती है। काव्य में वर्णनात्मकता अधिक है किन्तु वर्णनों में स्वाभाविकता है। 'ऐतिहासिक तथ्य कल्पित घटनाओं या संभावनाओं के द्वारा धूमिल नहीं हो पाये।' बीच बीच में कई स्थल काव्यात्मक वर्णन से युक्त हैं। वीर पुरुष का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन।
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुञ्जिओ धूमो॥
सो पुरिसओ जसु मानो सो पुरिसओ जस्स अज्जने सत्ति।
इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूना पसू होइ॥
(कीर्तिलता, पृ० ६)

अर्थात् कोई पुरुषत्व से ही पुरुष होता है जन्म-मात्र से ही पुरुष नहीं होता। मेघ तभी जलद है जब वह जलदान करे। पुंजीभूत धूम्र को जलद नहीं कहते। पुरुष वही है जिसका मान हो, जिसमें धनोपार्जन की शक्ति हो। अन्य पुरुष तो पुरुष के आकार में पुच्छविहीन पशु रूप हैं।

राज गणेश्वर के वध के अनन्तर राज्य में क्रान्ति और अराजकता का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

मारन्त राए रण रोल परु मेइनि हाहासद्द हुअ।
सुरराए नएर नाएर रमनि वाम नयन पफुरिअ धुअ॥
ठाकुर ठक भए गेल चोरें चप्परि घर लिज्झिअ।
दास गोसाञनि गहिअ धम्म गए धन्ध निमज्जिअ॥
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहि होइ विचारक।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कां पारक॥
अक्खर रस बुज्झनिहार नहि, कइ कुल भमि भिक्खारि भउँ।
तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गुणे रा गणेस जवे सग्ग गउँ॥
(वही पृष्ठ १७-१८)

अर्थात् राजा गणेश्वर के मारे जाने पर रण में कोलाहल मच गया, पृथ्वी में हाहाकार मच गया। देवराज इन्द्र के पुर की नागरिक रमणियों के नयन प्रस्फुरित और कम्पित हो उठे। ठाकुर ठग हो गये, चोरों ने घर घेर लिये, नौकरों ने स्वामियों को पकड़ लिया, धर्म नष्ट हो गया, लोगों के धंधे डूब गये, दुष्ट सज्जन का तिरस्कार करने लगे, कोई विचार करने वाला नहीं रहा, जाति-अजाति-विवाह एवं अधम उत्तम का विचार जाता रहा। कोई अक्षर-रस-ज्ञाता नहीं रहा, कवि कुल घूम घूम कर भिखारी के समान हो गया और तिरहुत के सब गुण तिरोहित हो गये।

वीरसिंह और कीर्तिसिंह राज्य छोड़कर जौनपुर के सुल्तान से सहायता लेने के लिए निकल पड़े। दो-तीन पंक्तियों में ही कवि ने उनकी करुण दशा का चित्र अंकित कर दिया है—

णं वलभद्दह कण्ण ण उँण बन्निअउँ राम लक्खन।
राजह नन्दन पाञे चलु अइस विघाता भोर।
ता पेक्खन्ते कमण काँ नअण न लग्गइ नोर॥

(की० ल० पृ० २२)

क्या वे दोनों बलराम और कृष्ण थे या राम और लक्ष्मण ? दोनों राजकुमार पांव पांव चले, विधाता कैसा मूढ़ ! उनको देखकर किस की आँखों में जल नहीं भर आया ?

जौनपुर का वर्णन (वही पृष्ठ २६—३२) और वहाँ की वेश्याओं का वर्णन (वही पृष्ठ ३४—३८) स्वाभाविक एवं आकर्षक है। वहाँ के बाजारों और उन में व्यापार करने वाले तुर्क मुसलमानों के रहन-सहन और व्यवहार का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

सराफे सराहे भरे बे वि वाजू,
तौल्लन्ति हेरा लसूला पेआजू॥
षरीदे षरीदे वहूता गुलामो,
तुरुक्कं तुरुक्कें अनेको सलामो॥
बसाहन्ति षीसा मइज्जल्ल, मोजा,
भमे मीर वल्लीअ सइल्लार षोजा॥
अबे वे भणन्ता सराबा पिबन्ता,
कलीमा कहन्ता कलामे जीअन्ता।
कसीदा कढन्ता मसीदा भरन्ता,
कितेबा पढन्ता तुरुक्का अनन्ता॥

(की० ल० पृष्ठ ३८-४०)

अर्थात् दोनों ओर सुन्दर सराफे की दुकानें थीं। दुकानदार लहसन और प्याज तोल रहे थे। बहुत से गुलाम खरीद रहे थे। मुसलमान-मुसलमान में दुआ सलाम हो रही थी। बटुए, पाजेब और मौजें खरीदे जा रहे थे। मीर, वली, सालार और खोजे घूमते फिर रहे थे। अनन्त तुर्क थे। कोई अबे बे कहते थे, कोई शराब पीते थे, कोई करीमा कहते थे, कोई कलमा पढ़ रहे थे, कोई कसीदा काढ़ रहे थे अर्थात् प्रशस्तियाँ लिख रहे थे, कोई

मसीदा भर रहे थे अर्थात् मसविदा (draft) तैयार कर रहे थे और कोई किताबें पढ़ रहे थे।

सुल्तान इब्राहीम की सेना के प्रयाण के वर्णन में छन्द योजना भावानुकूल हुई है। सेना के प्रयाण का प्रभाव भी सुन्दरता से अभिव्यक्त हुआ है।

"चलिअ तकतान सुरुतान इबराहिमओ,
कुरुम भण धरणि सुण रणि वल नाहि मो।
गिरि टरइ महि पडइ नाग मन कंपिआ,
तरणि रथ गगन पथ धूलि भरे झंपिआ।
तवल शत बाज कत भेरि भरे फुक्किआ,
प्रलय घण सद्द हुअ णर रव लुक्किआ।
... ...
खग्ग लइ गव्व कइ तुलुक जव जुज्झइ,
अपि सगर सुरनअर संक पलि मुज्झइ।
सोखि जल किअउ थल पत्ति पअ भारहीं,
जानि धुअ संक हुअ सअल संसारहीं।"

(वही पृष्ठ ६४-६५)

अर्थात् सुल्तान की सेना के प्रयाण के समय कूर्म पृथ्वी से बोला कि हे पृथ्वी! सुन मुझ में युद्ध को सहने का बल नहीं। उस समय पर्वत टलने लगे, पृथ्वी गिरने लगी, शेष नाग का फन कंपित हो उठा, आकाश में सूर्य के रथ का मार्ग धूलि भार से ढक गया। सैकड़ों तबले बजने लगे, कितनी ही भेरियाँ बजने लगीं। प्रलय घन-गर्जन-सा शब्द हुआ, मनुष्यों का कोलाहल विलीन हो गया।.........तलवार लेकर गर्व से जब तुर्क युद्ध करता है तब सारा सुर नगर भयभीत हो मूर्च्छित हो जाता है। पदातियों ने पैरों के भार से ही जल को सुखाकर स्थल कर दिया, यह जान सारा संसार निश्चय ही सशंकित हो गया।

इसी प्रकार के युद्धोत्साह से भरे हुए स्वाभाविक वर्णन (वही पृष्ठ ९६, १०२, १०४) कवि ने प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रसंग में युद्ध जनित जुगुप्सा भाव का दृश्य (वही पृष्ठ १०६) भी सामने आ जाता है।

कीर्तिसिंह के साथ असलान का युद्ध कीर्तिसिंह की वीरता का एक सुन्दर उदाहरण है—

तहिं एक्कहि एक्क पहार पले, जहिं खग्गहिं खग्गहिं धार धरे।
हअ लग्गिय चंगिम चारु कला, तरवारि चमक्कइ विज्जु झला।
टरि टोप्परि टुट्टि शरीर रहे, तनु शोणित धारहिं धार वहे।
तनुरंग तुरंग तरंग बसे, ततु छड्डइ लगइ रोस रसे।
सव्वउँ जन पेक्खइ जुज्झु कहा, महभावइ अज्जुन कन्न जहा।

(वही पृ० ११०)

एक दूसरे पर प्रहार होने लगे, तलवार तलवार की धार को रोकने लगी। सुन्दर

घोड़े सुशोभित हो रहे थे। तलवार बिजली की चमक की तरह चमचमा रही थी। शरीर टूट टूट कर गिरने लगे, शरीर पर रक्त धारायें बहने लगीं। घोड़ों का शरीर रुधिर तरंगों से रंजित हो गया, मानो क्रोध शरीर छोड़ वहां लग गया हो। सब लोग युद्ध देख रहे थे और अर्जुन एवं कर्ण के युद्ध की कथा की कल्पना कर रहे थे।

इसी प्रसंग में असलान के रणभूमि से मुंह मोड़ लेने पर कीर्तिसिंह की उदारता का परिचय मिलता है।

"जइ रण भंगसि तइ तोजे काअर,
अरु तोइ मारइ से पुनु काअर।"

(वही पृष्ठ ११२)

इस प्रकार काव्यगत भिन्न-भिन्न वर्णनों को देखने से प्रतीत होता है कि कवि के अन्दर वर्णनों का सहज प्रत्यक्ष चित्र अंकित करने की क्षमता थी। किन्तु वर्णनों में संवेदना और हृदयस्पर्शिता नहीं। काव्य में कवि की उत्कृष्ट कल्पना और प्रतिभा के दर्शन नहीं होते। कवि की आरम्भिक अवस्था के कारण संभवतः उसका काव्य-सौन्दर्य निखर नहीं सका।

भाषा—काव्य में गद्य का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर मिलता है। इस दृष्टि से इसे चंपू भी कहा जा सकता है। ग्रंथ की भाषा मैथिल अपभ्रंश है जो उत्तरकालीन अपभ्रंश का रूप है। इसमें संस्कृत पदावली, प्राकृत शब्द-योजना, अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग और मैथिली का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। गद्य में तत्सम प्रधान संस्कृत पदावली और गाथाओं में प्राकृत प्रभाव अधिक उदग्र है। पद्य के समान गद्य में भी तुक का प्रयोग मिलता है। जैसे—

"हृदय गिरि कन्दरा निद्राण पितृ वैरि केशरी जागु" (पृ०१८)
"विस्मृत स्वामि शोकहु, कुटिल राजनीति चतुरहु" (पृ० २०)

आदि गद्य वाक्यांशों में संस्कृत पदयोजना और

"पुरिसत्तणेन पुरिसओ" इत्यादि और "सो पुरिसओ जसु मानो" इत्यादि पद्यों (पृ० ६) में प्राकृत का प्रभाव स्पष्ट है।

तुर्कों मुसलमानों के वर्णन में बाजू, सलाम, मोजा, कलीमा, कसीदा, कबाबा, पएदा (प्यादा) बांग, रोजा, षाण उमरा, महल, मजेदे, सुरतान (सुल्तान), दारिगह, नियाजगह, उज्जीर (वजीर) खोदालम्ब, पातिसाह, फौद आदि अनेक अरबी फारसी के शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन शब्दों को उच्चारण की सुविधा के लिए तोड़ मरोड़ कर प्रयोग में लाया गया है।

छन्द—संस्कृत के पद्यों में मालिनी, शार्दूल विक्रीड़ित आदि संस्कृत के छन्दों का प्रयोग हुआ है। अन्यत्र दोहा, छप्पय, मणवहला, गीतिका, भुजंगप्रयात, पद्मावती, निशिपाल, मधुकर, णाराच, अरिल्ल इत्यादि छन्द प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार जैन धर्म सम्बन्धी विषय के अतिरिक्त लौकिक विषय को लेकर लिखे गए काव्यों की संख्या अत्यन्त अल्प है। संदेश रासक और कीर्तिलता के समान अन्य

काव्यों की रचना ही न हुई ऐसी कल्पना असंगत सी प्रतीत होती है। इस प्रकार की अन्य रचनायें संभवतः लिखी गई होंगी किन्तु उनका जैन भण्डारों में या तो प्रवेश नहीं हो सका या उनका उचित संरक्षण न हो सका। जो कुछ भी हो इस प्रकार के खंड काव्यों की संख्या वर्तमान उपलब्ध अपभ्रंश खंडकाव्यों में अतीव स्वल्प है। संदेश रासक और कीर्तिलता ये दोनों काव्य अपभ्रंश साहित्य के उत्तर काल की रचनायें हैं और उत्तर कालीन साहित्य के इस रूप को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त हैं।

नवाँ अध्याय

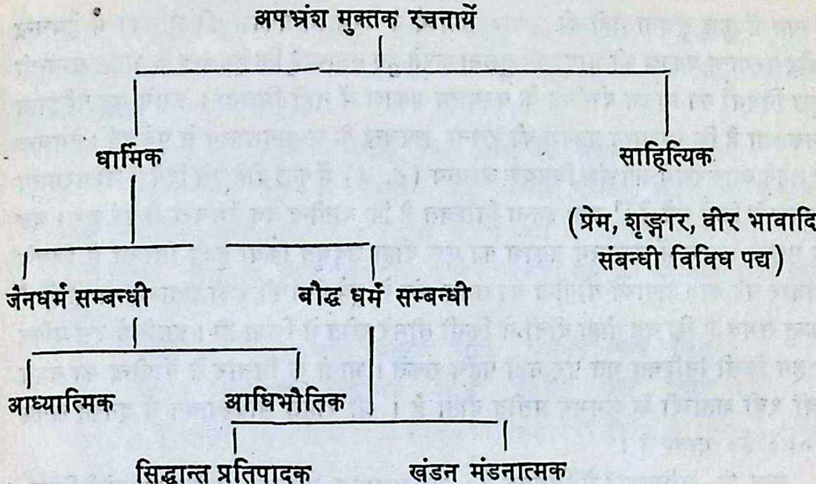
अपभ्रंश मुक्तक काव्य--
(१) धार्मिक--जैनधर्म सम्बन्धी

पिछले अध्यायों में अपभ्रंश के कतिपय प्रबन्ध काव्यों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इनमें से अधिकांश प्रबन्ध काव्य किसी तीर्थंकर, महापुरुष, धार्मिक पुरुष आदि के चरित से संवद्ध विशालकाय या लघु काय ग्रन्थ हैं। इनमें कवि का लक्ष्य चरित वर्णन के साथ साथ किसी धार्मिक भावना का प्रचार भी है। इस अध्याय में ऐसी मुक्तक रचनाओं का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा जिनका प्रधानतया किसी व्यक्ति विशेष के जीवन के साथ संवन्ध नहीं और जिनमें धर्मोपदेश की भावना मुख्य है।

ये रचनायें कुछ तो जैनधर्म संबन्धी हैं और कुछ बौद्ध सिद्धों की वज्रयान एवं सहजयान संवन्धी। प्रथम प्रकार की रचनायें अनेक लेखकों द्वारा लिखी हुई कृतियों के रूप में उपलब्ध होती हैं, दूसरे प्रकार की स्फुट दोहों और गानों के रूप में। इन धार्मिक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक स्फुट मुक्तक पद्य, प्राकृत ग्रन्थों में इतस्ततः विकीर्ण या व्याकरण, छन्द आदि के ग्रन्थों में उदाहरण स्वरूप में प्राप्त पद्यों के रूप में, उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रेम, शृंगार, वीर भाव आदि किसी हृदय के तीव्र भाव की व्यंजना मिलती है।

इन मुक्तक रचनाओं में से जैनधर्म या बौद्धधर्म सम्बन्धी रचनाओं में अपेक्षाकृत काव्य रस गौण है और स्फुट पद्यों के रूप में प्राप्त मुक्तक पद्यों में काव्य रस मुख्य है। धार्मिक रचनाओं का विवरण भाषा के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

जैन धर्म सम्बन्धी रचनायें हमें दो रूपों में मिलती हैं--आध्यात्मिक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक रचनाओं में लेखक का लक्ष्य जीव, आत्मा, परमात्मा का चिन्तन आदि धार्मिक तत्व विश्लेषण या धर्म के अंगों का प्रतिपादन रहा है। आधिभौतिक रचनाओं में नीति, सदाचार आदि सर्वसाधारण के योग्य लौकिक जीवन को उन्नत करने वाले उपदेशों का प्रतिपादन मिलता है। बौद्ध सिद्धों की रचनायें भी दो प्रकार की हैं एक धार्मिक सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाली और दूसरी खंडन मंडन परक। इस प्रकार अपभ्रंश के मुक्तक काव्य का निम्नलिखित विभाजन किया जा सकता है:—



पहिले हम जैनधर्म सम्बन्धी धार्मिक कृतियों का विवेचन करेंगे। उनमें से भी प्रथम आध्यात्मिक कृतियों का और फिर आधिभौतिक एवं उपदेशात्मक कृतियों का।

(क) आध्यात्मिक रचनायें

आध्यात्मिक रचना करने वाले कवि प्रायः जैन धर्मावलम्बी ही हैं। इस प्रकार की रचनाओं में जैन धर्म का जो रूप प्रस्तुत किया गया है उसमें संकीर्णता, कट्टरता और अन्य धर्मों के प्रति विद्वेष-भावना की गन्ध नहीं। इन कवियों का लक्ष्य मनुष्य को सदाचारी बना कर उसके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना था। इनका हृदय उदार था। इनके हृदय की तन्त्री चिर प्राचीन करुणा की तारों से झंकृत रहती थी।

इन लेखकों ने बाह्य आचार, कर्म कलाप, तीर्थयात्रा, व्रत आदि को गौण बताया और सदाचार एवं आन्तरिक शुद्धि को प्रधानता दी। इन्होंने बताया कि परम तत्व इसी शरीर मन्दिर में प्राप्य है और उसी की उपासना से मानव शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार इन कवियों का जीवन स्वयं धर्म-प्रवण था। ये लेखक पहिले संत थे पीछे कवि। हृदय के उद्गारों की अभिव्यक्ति इनका ध्येय था। भाव प्रधान था, भाषा गौण थी। इसलिये भाषा-सौन्दर्य या काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से संभवतः इनका मूल्य आंकना अनुचित होगा। इसी प्रकार की आध्यात्मिक कृतियों का विवरण नीचे दिया जाता है।

परमप्पयासु (परमात्म प्रकाश)[1]

यह ग्रन्थ योगीन्द्राचार्य या योगीन्दु द्वारा लिखा गया है। लेखक ने ग्रन्थ में अपने

१. डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा संपादित, प्रकाशक सेठ मनिलाल रेवा शंकर झावेरी, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३७ ई०

विषय में कुछ सूचना नहीं दी। डा० उपाध्ये ने परमात्म प्रकाश की भूमिका में हेमचन्द्र और परमात्म प्रकाश की भाषा की तुलना करते हुए बताया है कि हेमचन्द्र के भाषा सम्बन्धी कुछ नियमों का पालन योगीन्द्र के परमात्म प्रकाश में नहीं मिलता। इससे यह परिणाम निकलता है कि परमात्म प्रकाश की रचना हेमचन्द्र के शब्दानुशासन से पूर्व हुई। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश विषयक अध्याय (८. ४) में कुछ दोहे ऐसे दिये हैं जो परमात्म प्रकाश से लिये गये हैं।[1] अतः इतना निश्चित है कि योगीन्द्र देव हेमचन्द्र से पूर्व हुए। चंड के प्राकृत लक्षण में परमात्म प्रकाश का एक दोहा उद्धृत किया हुआ मिलता है जिसके आधार पर डा० उपाध्ये योगीन्द्र का समय चंड से पूर्व ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं।[2] किन्तु संभव है कि वह दोहा दोनों नें किसी तीसरे स्रोत से लिया हो। इसलिये इस युक्ति से हम किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच सकते। भाषा के विचार से योगीन्द्र का समय ८वीं ९वीं शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है। श्री राहुल सांकृत्यायन ने इनका समय १००० ई० माना है।

ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। भट्ट प्रभाकर, संभवतः योगीन्द्र का कोई शिष्य, उनसे आत्मा परमात्मा संबन्धी कुछ प्रश्न पूछता है (प० प्र० १. ८) और उन्हीं का उत्तर, देने के लिए योगीन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना की। प्रथम अधिकार में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप, विकल परमात्मा और सकल परमात्मा का स्वरूप, जीव के स्वशरीर प्रमाण की चर्चा और द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म निश्चय, सम्यग् दृष्टि, मिथ्यात्व आदि की चर्चा की गयी है। द्वितीय अधिकार में मोक्ष स्वरूप, मोक्ष फल, मोक्ष मार्ग, अभेद रत्नत्रय, समभाव, पापपुण्य की समानता और परम समाधि का वर्णन है।

योगीन्द्र बताते हैं कि परमात्मा ज्ञानस्वरूप, नित्य और निरंजन है। देह आत्मा से भिन्न है। परम समाधि में स्थित जो इस प्रकार आत्मा और शरीर में भेद करता है वही पंडित है :

"देह विभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परम समाहि परिठ्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ॥ १.१४

वह परमात्मा देह भिन्न है किन्तु इसी देह में स्थित है। उसी की अनुभूति से पूर्व कर्मों का क्षय होता है।

---

१. उदाहरण के लिये---

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउं हउं तासु।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीस खडिल्लउ जासु" ॥
प० प्र० २. १३९

संता भोग जु परिहरइ तसु कंतहो बलि कीसु।
तसु दइवेण वि मुण्डियउं जसु खल्लिहडउं सीसु॥ हे० च० ८.४.३८९

२. आ० ने० उपाध्ये का लेख, जोइन्दु एंड हिज अपभ्रंश वर्क्स, एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, जिल्द १२, सन् १९३१, पृ० १६१-१६२।

"जें दिठ्ठें तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ।
सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ ॥" १.२७ ॥

विमल स्वभाव वाले उस परमात्मा को छोड़ कर तीर्थ यात्रा, गुरु सेवा, किसी अन्य देव की चिन्ता करना व्यर्थ है—

"अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरुअ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा विमलु मुएवि ॥" १.९५॥

वह आत्म तत्व न देवालय में, न शिला में, न लेप्य में और न चित्र में है। वह अक्षय, निरंजन, ज्ञानमय शिव समचित्त में है। अर्थात् समदर्शी योगियों द्वारा जाना जाता है—

"देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति॥"

रागादि से मलिन चित्त में शुद्धात्म स्वरूप के दर्शन नहीं होते (१. १२०)। उसी आत्मा के ध्यान से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है (१. ११७)।

यदि क्षण भर भी कोई उस परमात्मतत्व से अनुराग कर ले तो उसके समग्र पाप इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार आग की चिनगारी से लकड़ियों का विशाल ढेर—

"जइ णिविसद्धु वि कुवि करइ परमप्पइ अणुराउ।
अग्गि-कणी जिम कट्ठ-गिरी डहइ असेसु वि पाउ॥" १.११४

ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर दूसरी वस्तु ज्ञानियों के मन में नहीं लगती। जिस ने मरकत को जान लिया उस को काँच से क्या प्रयोजन ?

योगीन्द्र ने बताया कि ज्ञानी पाप को भी अच्छा समझते हैं क्यों कि ये पाप जीवों में दुःख उत्पन्न कर उनमें सद् बुद्धि पैदा करते हैं। अतएव पुण्यों का निराकरण करने को भी प्रस्तुत रहना चाहिये—

"वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणंति।
जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइँ जाइँ कुणंति॥" २.५६॥
"पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ-मोहो।
मइ-मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥" २.६०॥

मोक्ष मार्ग का उल्लेख करते हुए कवि ने बताया कि चित्त शुद्धि ही मोक्ष का एक मात्र उपाय है—

"जहिं भावइ तहिं जाहि जिय जं भावइ करि तं जि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर चित्तहं सुद्धि ण जंजि॥" २.७०॥

सांसारिक विषयों की नश्वरता और असारता का प्रतिपादन करते हुए कवि ने विषय त्यागी की प्रशंसा की है—

"मूढ़ा सयलु वि कारिमउ भुल्लउ मं तुस कंडि।
सिव पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि॥"[१]
(२.१२८)

अर्थात् हे मूढ़ जीव! शुद्ध जीव के अतिरिक्त अन्य सब विषयादिक कृत्रिम, विनाशशील हैं। तू भ्रम से भूसे को मत कूट। निर्मल मोक्ष मार्ग से प्रेम कर। शीघ्र गृह परिजनादि को छोड़।

योगीन्द्र देवकुल, देव, शास्त्र, तीर्थ, वेद, काव्य, सब को नश्वर मानते हैं। जो कुछ कुसुमित दिखाई देता है सब कुछ (कालानल में) ईंधन हो...

"देउलु देउ वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउ ... कव्वु।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु[२]॥"२.१३०॥
"जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि न दिट्ठ।
तें कारणिं वढ धम्मु करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ॥"
(२.१३२)

हे मूर्ख! सूर्योदय पर जो दिखाई देता है वह सूर्यास्त पर नहीं रहता। इस कारण धर्माचरण कर। धन में और यौवन में क्या तृष्णा?

निम्नलिखित दोहे में विषयों की क्षण-भंगुरता का सुन्दरता से प्रतिपादन किया है—

"विषय-सुहइं बे दिवहडा पुणु दुक्खहँ परिवाडि।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुँ अप्पण खंधि कुडाडि[३]॥"२.१३८॥

विषय त्यागी की प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है—

"संता विसय जु परिहरइ वलि किज्जउँ हउँ तासु।
सो दइवेण जि मुंडियउ सीसु खडिल्लउ जासु॥२.१३९॥

हे संतो! जो विषयों का परित्याग करता है मैं उस पर बलिहारी जाऊँ। जिसका सिर गंजा है उसका सिर भाग्य ने ही मूण्ड दिया।

इसी अध्यात्म-चिन्तन में कवि ने नीति और सदाचार के उपदेश भी दिये हैं। कुसंगति से वचने का (२. ११०, ११४), मन को वश में करने का (२. १४०), क्रोध से दूर रहने (२.१८६) आदि का आदेश दिया है।

योगीन्द्र के विषय प्रतिपादन में कहीं धार्मिक संकीर्णता नहीं दिखाई देती। विषयों की निस्सारता और क्षण-भंगुरता का उपदेश देते हुए भी कवि ने कहीं पर कामिनी, कांचन और गृहस्थ जीवन के प्रति कटुता प्रदर्शित नहीं की।

भाषा—लेखक ने सरल भाषा में अनेक उपमाओं और दृष्टान्तों द्वारा भाव को सरल, सुवोध और स्पष्ट बनाया है। उपमा और दृष्टान्तों में उपमानों को सामान्य जीवन की

---

१. तुलना कीजिये पाहुड़ दोहा संख्या १३.
२. देखिये वही संख्या १६१.
३. तुलना कीजिये पाहुड़ दोहा संख्या १७.

घटनाओं और दृश्यों से चुन कर लिया गया है। उदाहरण के लिए :

"राएँ रंगिए हियवडए देउ ण दीसइ संतु।
दप्पणि मइलए बिंबु जिम एहुउ जाणि णिभंतु ॥"१.१२० ।

अर्थात् राग रंजित हृदय में शांत देव इसी प्रकार नहीं दीखता जिस प्रकार मलिन दर्पण में प्रतिबिम्व। यह निश्चय जानो।

"भल्लाहँ वि णासंति गुण जहँ संसग्ग खलेंहिं।
वइसाणरु लोहहँ मिलिउ तें पिट्टियइ घणेंहि ॥"२.११०॥

अर्थात् भद्र जनों के गुणों का भी खलों के संसर्ग से नाश हो जाता है। वैश्वानर अग्नि मलिन लोहे के संसर्ग से हथौड़ों से पीटा जाता है।

"जसु हरिणच्छी हियवडए तसु णवि बंभु वियारि।
एक्कहिं केम समंति वढ बे खंडा पडियारि" ॥१.१२१॥

अर्थात् जिसके हृदय में हरिणाक्षी सुन्दरी वास करती है वह ब्रह्म विचार कैसे करे? एक ही म्यान में दो तलवारें कैसे रह सकती हैं?

निम्नलिखित दोहे में श्लेषालंकार का प्रयोग मिलता है।

"तलि अहिरणि वरि घण-वडणु संडस्सय-लुंचोडु।
लोहहँ लग्गिवि हुयवहहँ पिक्खु पडंतउ तोडु" ॥२.११४॥

अर्थात् देखो लोहे का सम्बन्ध पाकर अग्नि नीचे रखे हुए अहरन (निहाई) के ऊपर घन की चोट, संडासी से खींचना, चोट लगने से टूटना आदि दुःखों को सहती है। अर्थात् लोहे की संगति से लोक-प्रसिद्ध देवतुल्य अग्नि दुःख भोगती है इसी तरह लोह अर्थात् लोभ के कारण परमात्मतत्व की भावना से रहित मिथ्या दृष्टि वाला जीव घन-पात सदृश नरकादि दुःखों को भोगता है।

कवि की भाषा में वाग्धाराओं और लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है—

"बहुएँ सलिल विरोलियइँ करु चोप्पडउ ण होइ।" (२.७४)

वार बार पानी मथने से भी हाथ चिकने चुपड़े नहीं होते।

"भुल्लउ जीव म वाहिं तुहुं अप्पण खंधि कुहाडि" (२.१३८)

हे जीव ! भ्रम से अपने कन्धे पर कुल्हाड़ी मत मार।

"मूल विणट्ठइ तरुवरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण।" (२.१४०)

अर्थात् सुन्दर वृक्ष के भी मूल नष्ट हो जाने पर उसके पत्ते अवश्य सूख जायंगे।

"मरगउ जें परियाणियउ तहुँ कच्चें कउ गण्णु"। (२.७८)

इत्यादि

भाषा में विभक्ति सूचक प्रत्यय के स्थान पर परसर्ग का प्रयोग भी कहीं कहीं दिखाई देता है :

"सिद्धिहिं केरा पंथडा (२.६९)—सिद्धि का मार्ग।

ग्रन्थ की भाषा में अनेक ऐसे शब्द-रूपों का प्रयोग मिलता है जो हिन्दी शब्दों के रूपा-

न्तर से प्रतीत होते हैं।[1]

परमात्म प्रकाश दोहों में रचा गया है। बीच-बीच में कुछ गाथायें भी मिलती हैं।[1]

---

१. इस प्रकार के शब्दों की सूची उनके संस्कृत पर्यायवाची शब्दों के साथ नीचे दी जाती है।

होसहिं--भविष्यन्ति (१. २); गउ--गतः (१. ९); अप्पा--आत्मा (१. १. ५१); लेइ--गृह्णाति (१. १८) हिन्दी लेना; लेति (२. ९१); लेवि (२. १५०); छिवइ--स्पृशति (१. ३४); वड्ढइ खिरइ--वर्धते क्षरति (१. ५४); बोल्लहिं--ब्रुवन्ति (१. ५४), (२. १०); देखइ--पश्यति (१.६४); जाइ--याति (१. ६६); उप्पज्जइ--उत्पद्यते--उपजना (१. ६८); पावहि--प्राप्नोषि (१. ७२, २. २०५, २१३); मेल्लिवि--छंडेविणु--त्यक्त्वा (१. ७४); छंडि--त्यज (२. १२८); बाहिरउ-बाह्यं (१. ७५, २.१०९); बूढउ--वृद्धः (१. ८२); जोइ--पश्यति (१.८६); जोअ--देखना (१. १०९); (२. ३४); लहइ--लभते (१. ११७); मइलए--मलिने (१. १२०); (२. १७७); खंडा--खड्ग (१. १२१); अक्खहि--आख्याहि पंजाबी आख (२. १); जाणउं--जानूं (२. १); तुट्टइ--त्रुट्यति (२. ११); पेच्छइ--पश्यति (२. १३); छह--षट् (२. १६); रयणहं--रत्नानां (२. २१); चडेइ--आरोहति (२. ४६); भल्लाइं--भद्राणि (२. ५७) (२. ११०); पडंतउ--पतन्तम् (२. ६८); सिद्धिहिं केरा पंथडा--सिद्धेः संबन्धी पन्थाः (२. ६९); जाहि--याहि हिन्दी जा (२. ७०); लग्गइ--लगति (२. ७८); बुज्झइ--बुध्यते हिन्दी बूझना (२. ८२) (२. २०४); पढिज्जइ--पठ्यते (२. ८४); चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिं--चेला, चेली, पुस्तकादिक से (२. ८८); छारेण--क्षारेण, राख से (२. ९०); डहंति--दहति (२. ९२); विहाणु--विभातः (२. ९८); णाव--नौः (२. १०५); पिट्टियउ--पिट्यते (२. ११०); संडस्सय--संदेशक, हिन्दी संडासी (२. ११४); धंधइ--धंधे में (२. १२१); घरु--गृह (२. १२४); भुल्लउ--भ्रान्तः (२. १२८); रुक्खें--वृक्षेण (२. १३३); वप्पेण--पित्रा (२. १३४); चरिवि--चरित्वा-चर कर (२. १३६); लहीसि--लभसे (२. १४१); (२. १७०); चोप्पडि--म्रक्षय-चुपडो (२. १४८); घिणावणउ--घृणास्पद-घिनौना (२. १५१); बलि किज्जउं--बलि मस्तकस्योपरि तनभागेनावतारणं क्रियेहमिति, बलि जाऊँ (२. १६०); झंपियएहिं--आच्छादितैः, ढके हुए (२. १६९); कोइ--कश्चित् (२. १८३); विलाइ--विलीयते (२. १८४); बुड्डहिं--मज्जन्ति--डूबते हैं (२. १८९); केत्तिउ या कित्तिउ--कियत् (२. १४१); जित्तिउ--यावन्मात्रं (२. ३८)। इत्यादि।

गाथाओं की भाषा प्राकृत से प्रभावित है। छन्दों में स्रग्धरा और मालिनी नामक दो वर्ण-वृत्तों का भी प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा भी प्राकृत से प्रभावित है।

योगसार[1]

इसका लेखक भी योगीन्द्र ही है। ग्रन्थकार ने निर्देश किया है कि संसार से भयभीत और मोक्ष के लिये उत्सुक प्राणियों की आत्मा को जगाने के लिये जोगिचन्द्र साधु ने इन दोहों को रचा (पद्य संख्या ३.१०८)। अन्तिम पद्य में ग्रन्थकर्ता के जोगिचन्द्र नाम का उल्लेख, आरम्भिक मंगलाचरण का सादृश्य, प्रतिपाद्य विषय की एकरूपता, वर्णन शैली और अनेक वाक्यों तथा पंक्तियों की समानता से कल्पना की जा सकती है कि यह जोगिचन्द्र परमात्म प्रकाश के रचयिता योगीन्द्र ही हैं।

योगसार का विषय भी परमात्म प्रकाश के सदृश ही है। लेखक ने बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बतलाते हुए परमात्मा के ध्यान पर बल दिया है। इसमें लेखक ने पाप पुण्य दोनों ही प्रकार के कर्मों के त्याग का आदेश दिया है। सांसारिक बन्धनों को और पाप पुण्यों को त्याग कर आत्म-ध्यान-लीन ज्ञानी ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

लेखक सब देवताओं को सन्मान की दृष्टि से देखता है। निम्नलिखित दोहों से इन की धार्मिक सहिष्णुता प्रकट होती है :

"सो सिउ संकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्धु" ॥१०५॥
"एवँहि लक्खण-लक्खियउ, जो पर णिक्कलु देउ।
देहहँ मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जइ भेउ" ॥१०६॥

भाषा हृदय को स्पर्श करने वाली है। सीधी और सरल भाषा में सुन्दरता से लेखक ने भावों को अभिव्यक्त किया है। लेखक की रचना शैली और भाषा का ज्ञान निम्नलिखित पद्यों से हो सकता है :

"पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावएं णरयणिवासु।
बे छंडिवि अप्पा मुणइ तो लब्भइ सिव-वासु" ॥३२॥

जीव पुण्य से स्वर्ग को पाता है और पाप से नरक निवास को। जब वह दोनों का परित्याग कर आत्मा को जानता है तो शिव वास प्राप्त करता है।

"आउ गलइ णवि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ।
मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इम संसार भमेइ" ॥४९॥

आयु क्षीण होती जाती है न तो मन क्षीण होता है और न आशा ही। मोह स्फुरित होता है आत्महित नहीं। इस प्रकार जीव भ्रमण करता रहता है।

"जेहउ मणु विसयहं रमइ तिमु जइ अप्प मुणेइ।
जोइउ भणइ हो जोइयहु लहु णिव्वाणु लहेइ" ॥५०॥

---

१. डा० आ० ने० उपाध्ये द्वारा संपादित और परमात्म प्रकाश के साथ ही प्रकाशित।

योगी कहता है, हे योगियो ! जिस प्रकार मन विषयों में रमता है उसी प्रकार यदि आत्म चिन्तन करे तो शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त हो।

ग्रन्थ की भाषा में अनेक शब्द रूप हिन्दी शब्दों के पूर्व रूप से प्रतीत होते हैं।[1]

पाहुड दोहा[2]

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि रामसिंह समझे जाते हैं। इसमें ग्रन्थकार के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। एक हस्तलिखित प्रति की पुष्पिका में इन दोहों के रचयिता मुनि रामसिंह कहे गये हैं।[3] ग्रन्थ के एक दोहे में भी ऐसा ही निर्देश है।[4] कुछ प्रतियों में इसके रचयिता योगीन्द्र माने गये हैं।[5] सम्भव है कि भाव साम्य, भाषा साम्य और योगीन्द्र की प्रसिद्धि के कारण इसका रचयिता भी उनको ही मान लिया गया हो। डा० उपाध्ये का विचार है कि सम्भवतः ग्रन्थ योगीन्द्र कृत ही है और रामसिंह केवल एक परम्परागत नाम है।[6]

ग्रन्थ-कर्ता के काल के विषय में भी निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ के कुछ पद्य हेमचन्द्र ने उद्धृत किये हैं।[7] अतः इतना निश्चित है कि लेखक हेमचन्द्र से पूर्व हुआ। 'पाहुड दोहा' के कुछ दोहे 'सावय धम्म दोहा' में भी मिलते हैं। ये दोहे सावयधम्म दोहा से लिये गये। सम्भवतः लेखक के समय तक सावयधम्म दोहा की रचना हो चुकी थी। अतः रामसिंह सावयधम्म दोहा के रचयिता देवसेन (वि० सं० ९९०, ९३७ ई०) और हेमचन्द्र (सन् ११००) के बीच सन् १००० ई० के लगभग हुए होंगे। लेखक के जैन

---

१. कहिया—कथितः दोहा संख्या १०; करहि—करोषि, पावहि—प्राप्नोषि सं० १५; छंडहु—त्यज सं० २१; चउरासी लक्खहिं फिरिउ—चौरासी लाख योनियों में फिरा सं० २५; चाहहु—इच्छत सं० २६; पावइ—पाता है, छंडिवि—छोड़ कर सं० ३२; छह—षट् सं० ३५; चाहहि—इच्छसि सं० ३९; पियहि—पिब ४६; पढियइं—पठितेन सं० ४७, ५३; पोत्था—पुस्तक सं० ४७; धंधइ-धन्धे में सं० ५२; गहहि—गृहाण सं० ५५; मण्णहिं—मन्यन्ते सं० ५६; दहिउ—दही, घीव—घी सं० ५७; ठाइ—तिष्ठति सं० ९१; विलाइ—विलीयते सं० ९१।

२. प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी, कारंजा, बरार, वि० सं०, १९९०

३. पाहुड़ दोहा भूमिका पृ० २६ तथा परमात्म प्रकाश भूमिका पृ० ६२

४. पाहुड़ दोहा संख्या २११—"रामसीहु मुणि इम भणइ"

५. पाहुड़ दोहा भूमिका पृ० २६, परमात्म प्रकाश भूमिका पृ० ६२

६. एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, जिल्द १२, सन् १९३१, पृ० १५२-१५४

७. पाहुड़ दोहा भूमिका पृ० २२

होने की कल्पना ग्रन्थ में वर्तमान अनेक उल्लेखों से की जा सकती है।[1]

पाहुड शब्द का अर्थ जैनाचार्यों ने विशेष विषय के प्रतिपादक ग्रन्थ के अर्थ में किया हैं। कुन्द कुन्दाचार्य के प्रायः सभी ग्रन्थ पाहुड कहलाते हैं। पाहुड शब्द संस्कृत शब्द प्राभृत का रूपान्तर माना गया है, जिसका अर्थ है उपहार। अतः पाहुड दोहा का अर्थ "दोहों का उपहार" समझा जा सकता है।

विषय :—इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विपय भी अध्यात्म चिन्तन है। आत्मानुभूति और सदाचरण के बिना कर्म काण्ड व्यर्थ है। सच्चा सुख इन्द्रिय निग्रह और आत्म ध्यान में है। मोक्ष मार्ग के लिये विषय परित्याग आवश्यक है। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, मन्दिर निर्माणादि की अपेक्षा देहस्थित देव का दर्शन करना चाहिये। कुछ दोहों में रहस्य भावना भी मिलती है।

लेखक कहता है कि आत्मा इसी देह में स्थित है किन्तु देह से भिन्न है और उसी का ज्ञान परमावश्यक है :

"हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं णा हि पवेसु।
संतु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु" ॥९४॥

यह साढ़े तीन हाथ का छोटा सा शरीर रूपी मन्दिर है। मूर्ख लोग इसमें प्रवेश नहीं कर सकते। इसी में निरंजन वास करता है। निर्मल हो कर उसे खोजो।

"भिण्णउ जेहिं ण जाणियउ णियदेहहं परमत्थु।
सो अंधउ अवरहं अंधयहं किम दरिसावइ पंथु" ॥२८॥

जब आत्मज्ञान हो गया तो देहानुराग कैसा ?

"अप्पा बुज्झिउ णिच्चु जइ केवल णाण सहाउ।
ता पर किज्जइ काइं वढ तणु उप्परि अणराउ" ॥२२॥

आत्मातिरिक्त अन्य का ध्यान व्यर्थ है :

"अप्पा मिल्लिवि जग तिलउ मूढ म झायहि अण्णु।
जिं मरगउ परियाणियउ तहु किं कच्चहु गण्णु" ॥७२॥

जिसने आत्मज्ञान रूपी माणिक्य को पा लिया वह संसार के जंजाल से पृथक् हो आत्मानुभूति में रमण करता है :

"जइ लद्धउ माणिक्कडउ जोइय पुहवि भमंत।
बंधिज्जइ णिय कप्पडइं जोइज्जइ एक्कंत" ॥२१६॥

विषयों का त्याग किये बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकती अतः विषय त्याग आवश्यक है। विषय त्यागी ही परम सुख पाता है।

"जं सुहु विसय परंमुहउ णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु" ॥३॥

---

१. वही भूमिका पृ० २७

"विसया चिंति म जीव तुहुं विसय ण भल्ला होंति ।
सेवंताहं वि महुर वढ पच्छइं दुक्खइं दिंति" ॥२००॥
"मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुडु तुहुं तुस कंडि ।
सिव पइ णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि" ॥१३॥[1]

विषय सब क्षणिक हैं—

"विसय सुहा दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म वाहि तुहुं अप्पा खंधि कुहाडि" ॥१७॥[2]
"देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु ।
वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु" ॥१६१॥[3]

विषयोपभोग—इन्द्रिय सुख और मोक्ष दोनों भिन्न-भिन्न मार्ग हैं । दोनों पर चलना असम्भव है, एक ही को चुनना पड़ेगा ।

"वे पंथेहिं ण गम्मइ वे मुह सूई ण सिज्जए कंथा ।
विण्णि ण हुंति आयाणा इंदिय सोक्खं च मोक्खं च" ॥२१३॥

अर्थात् दो मार्गों पर नहीं जाया जा सकता, दो मुख वाली सूई से कंथा नहीं सीयी जा सकती । अरे अज्ञानी ! इंद्रिय सुख और मोक्ष दोनों साथ-साथ नहीं प्राप्त हो सकते।

बाह्य कर्म-कलाप से यदि आन्तरिक शुद्धि न हो तो उसे भी व्यर्थ ही समझो। यदि कर्म-कलाप से आत्मानुभूति न हो तो वह किस काम का ?

"सप्पि मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ" ॥१५॥

अर्थात् सांप केंचुली को छोड़ देता है विष को नहीं छोड़ता । इसी प्रकार विषय भोगों के परित्याग से यदि विषय वासना और भोग भाव नहीं छूटता तो अनेक वेष और चिह्नों को धारण करने से क्या लाभ ?

"मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ" ॥१३५॥

कबीर के निम्नलिखित दोहे से तुलना कीजिये—

"दाढ़ी मूंछ मुँड़ाय के, हूआ घोटम घोट ।
मन को क्यों नहीं मूंडिये, जामे भरिया खोट ॥"

कवि सब कर्म साधनों को व्यर्थ समझता है यदि वे आत्मदर्शन न करा सकें—

"हलि सहि काइं करइ सो दप्पणु ।
जहिं पडिबिंबु ण दीसइ अप्पणु" ॥

---

१. तुलना कीजिये परमप्पयासु २.१२८ पृ० २७०
२. " " वही २.१३८ पृ० २७०
३. " " वही २.१३० पृ० २७०

धंधवालु मो जगु पडिहासइ।
घरि अच्छंतु ण घरवइ दीसइ ॥१२२॥

वह ज्ञान भी व्यर्थ है जिससे आत्मज्ञान नहीं होता—

"अक्खर चडिया मसि मिलिया पाढंता गय खीण।
एक्क ण जाणी परमकला कहिं उग्गउ कहिं लीण" ॥१७३॥
"बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिव पुरि गम्मइ जेण" ॥९७॥

कबीर के निम्नलिखित दोहे से तुलना कीजिये—

पढ़ पढ़ के सब जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकौ आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥

वही ज्ञान स्फुलिंग प्राप्त करना चाहिए जिसके संधुक्षित होने से पाप पुण्य जल जांय—

"णाण तिडिक्की सिक्खि वढ किं पढियइं बहुएण।
जा संधुक्की णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण" ॥८७॥

कवि तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, मन्त्र तन्त्र आदि सब का निषेध करता है—

"तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण" ॥१६३॥
"जो पइं जोइउं जोइया तित्थइं तित्थ भमेइ।
सिउ पइं सिहुं हिंडियउ लहिवि ण सक्किउ तोइ" ॥१७९॥

अर्थात् हे जोगी! जिसे देखने के लिए तू तीर्थ से तीर्थ घूमता फिरता है वह शिव तो तेरे साथ-साथ घूमता फिरा तो भी तू उसे न पा सका।

"पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वाहि।
जसु कारणि तोडेहि तुहुं सो सिउ एत्थु चडाहि" ॥१६०॥

कवि ने पत्ती-फल तोड़ कर शिव पर चढ़ाने वालों पर व्यंग्य किया है। यदि शिव को पत्ती प्रिय है तो उस शिव को ही क्यों न वृक्ष पर चढ़ा दिया जाय!

कवि मन के आत्मलीन हो जाने में सबसे बड़ी पूजा समझता है—

"मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसर जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय, पुंज चडावउं कस्स" ॥४९॥
"मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं" ॥१८॥

मूर्ख! मनुष्यों से निर्मित मन्दिरों को देखता है। अपने शरीर को नहीं देखता जहां शांत शिव स्थित है।

अपने को स्त्री और आत्मा को प्रिय मानकर एकाकार हो जाने की हलकी सी भावना निम्नलिखित दोहे में मिलती है—

"हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ, णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिहु ण अंगहिं अंगु" ॥१००॥

कवि इन्द्रिय निग्रह को आवश्यक समझता है—

"पंच बलद्द ण रक्खियइं णंदण वणु ण गओ सि।
अप्पु ण जाणिउ ण वि परु वि एमइ पव्वइओ सि" ॥४४॥

न तो पांच बैलों से–पांच इन्द्रियों–से रक्षा की, न नन्दन वन–आत्मा–में गया। न आत्मा को न पर को जाना ऐसे ही परिव्राजक हो गया।

कवि अहिंसा और दया को ही सब से बड़ा धर्म समझता है। दशविध धर्म का सार ही अहिंसा है—

"दहविहु जिणवर भासियउ धम्मु अहिंसा सारु ॥२०९॥
जीव वहंति णरयगइ अभय पदाणें सग्गु।
वे पह जव ला दरिसियइं जहिं भावइ तहिं लग्गु" ॥१०५॥

जीववध से नरक और अभय प्रदान से स्वर्ग प्राप्त होता है। दोनों मार्ग जाने के लिये बतला दिये। जहां भावे वहीं लग।

"दया विहीणउ धम्मडा णाणिय कह वि ण जोइ।
बहुएं सलिल विरोलियइं करु चोप्पडु ण होइ" ॥१४७॥

कवि सत्संग का उपदेश देता है—

"भल्लाण वि णासंति गुण जहिं सहु संगु खलेहिं।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं" ॥१४८॥[1]

ग्रन्थ में संस्कृत का भी एक पद्य मिलता है—

"आपदा मूर्च्छितो वारि चुलुकेनापि जीवति।
अंभः कुंभ सहस्राणां गतजीवः करोति किम्" ॥२२२॥

अर्थात् आपत्तियों से मूर्च्छित नर चुल्लू भर पानी से होश में आ जाता है। प्राण-नाश हो जाने पर हजारों घड़े पानी से भी क्या ?

ऊपर दिए उदाहरणों से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट हो जाता है—

रामसिंह के "पाहुड दोहा" और योगीन्द्र के 'परमात्म प्रकाश' एवं 'योगसार' में अनेक दोहे अंश रूप से या पूर्ण रूप से मिलते जुलते हैं।[2] रामसिंह ने गुरु भाव को महत्व दिया है (पद्य १, ८०, ८१, १६६)। कर्मकाण्ड का कट्टरता से खंडन किया है। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, मन्त्र, तन्त्र आदि सबको व्यर्थ बताते हुए आत्म शुद्धि पर बल दिया है। कवि ने अनेक सांकेतिक शब्दों द्वारा भाव को अभिव्यक्त किया है। जैसे पांच इन्द्रियों को पांच बैल, आत्मा को नन्दन कानन, मन को करहा–करभ (उष्ट्र), देह को देवालय या कुटी, आत्मा को शिव, इन्द्रिय वृत्तियों को शक्ति इत्यादि। अपने को स्त्री

---

१. तुलना कीजिये परमप्पयासु २.११०, पृ० २७१

२. दे० एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट जिल्द १२, सन् १९३१ ई०, पृ० १५२. डा० उपाध्ये ने ऐसे २४ दोहों का निर्देश किया है जो रामसिंह के और योगीन्दु के ग्रंथ में समान हैं।

और आत्मा को प्रिय मान उसको प्राप्त करने और उसमें एकाकार हो जाने की हल्की सी भावना भी एक दोहे में मिलती है।

कवि ने अनेक उपमाओं, रूपकों और हृदयस्पर्शी दृष्टान्तों द्वारा भाव को अभिव्यक्त किया है। इसकी भाषा सरल और सरस है। वाग्धाराओं का प्रयोग भी अनेक दोहों में मिलता है। इस ग्रन्थ में कुल २२२ पद्य हैं जिनमें से कुछ पद्य प्राकृत के और संस्कृत के भी हैं किन्तु बाहुल्य अपभ्रंश पद्यों का ही है। प्राकृत और संस्कृत के पद्यों में भी कुछ पद्यों को छोड़ कर शेष सब दोहा छंद में ही हैं।

वैराग्य सार[1]

वैराग्यसार सुप्रभाचार्य-कृत ७७ पद्यों की एक छोटी सी रचना है। केवल कुछ पद्यों से ही ऐसा प्रतीत होता है कि कवि जैन धर्मावलम्बी था, अन्यथा कवि ने सामान्य धर्म तत्त्वों का ही इस कृति में व्याख्यान किया है।। सुप्रभ दिगम्बर जैन थे (पद्य ४६)। कवि के काल और स्थान के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कृति में वही भावधारा मिलती है जो इससे पूर्वकालीन लेखकों की थी। विचारधारा, शैली और भाषा की दृष्टि से लेखक के ११ वीं और १३ वीं शताब्दी के बीच में होने की कल्पना की जा सकती है।

विषय—वैराग्य सार नाम से ही ग्रन्थ के विषय का आभास मिल जाता है। आरम्भ के पद्य में ही कवि वैराग्य भाव का आदेश करता है—

> **"इक्कहिं घरे वधामणा अर्णाहं घरि धाहहि रोविज्जई।**
> **परमत्थइ सुप्पउ भणइ, किम वइरायभाउ ण किज्जइ॥ (पद्य. सं. १)**

एक घर में बधाई मंगलाचार है, दूसरे घर में धाड़ मार-मार कर रोया जा रहा है। सुप्रभ परमार्थ रूप से कहते हैं कि क्यों वैराग्य भाव नहीं धारण करते?

सांसारिक विषयों की अस्थिरता और संसार की दुःख-बहुलता का प्रतिपादन करता हुआ कवि कहता है—

> **"सुप्पउ भणइ रे धम्मियहु, खसहु म धम्म णियाणि।**
> **जे सूरग्गमि धवलहरि, ते अंथवण मसाण" ॥२॥**

अर्थात् सुप्रभ कहते हैं हे धार्मिको! निदान धर्म से स्खलित न होवो। जो सूर्योदय पर शुभ्र गृह थे वे सूर्यास्त पर श्मशान हो गए।

> **"सुप्पउ भणइं मा परिहरहु पर उवचार (यार) चरत्थु।**
> **ससि सूर दुहु अंथवणि अणहं कवण थिरत्थु" ॥३॥**

सुप्रभ कहते हैं कि परोपकार आचरण मत छोड़ो। संसार क्षणिक है जब चन्द्र

---

[1] प्रो० हरिपाद दामोदर वेलणकर ने एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, जिल्द ९, (पृ० २७२-२८०) में इसे संपादित किया है।

और सूर्य भी अस्त हो जाते हैं तो अन्य कौन स्थिर है ?

यह संसार सचमुच विडंबना है जिसमें जरा यौवन, जीवन मरण, धन दारिद्र्य जैसे विरोधी तत्त्व हैं (पद्य २५) । कवि कहता है बंधु बांधव नश्वर हैं फिर उनके लिए पाप कर कर के धन संचय कैसा ?

"जसु कारणि धणु संचइं, पाव करेवि गहीरु ।
तं पिछहु सुप्पउ भणइं, दिणि दिणि गलइ सरीरु" ॥३३॥

कवि घर गृहस्थी की शोभा निर्मल धर्म से ही समझता है (पद्य ७५) और धन यौवन से विरक्त हो, घर छोड़, धर्म में दीक्षा लेने का आदेश देता है । वह घर परिजनादि के लिए भी धर्मत्याग सहन नहीं करता और धर्माचरण को ही सबसे प्रमुख वस्तु समझता है—

"रे जीय सुणि सुप्पउ भणइं, घणु जोवणहं म मज्जि ।
परिहरि घरु, लइ दिखडी, मणु णिव्वाणहं सज्जि" ॥५०॥
"जीव म धम्मह हाणि करि, घर-परियण - कज्जेण ।
कि न पिखहि सुप्पउ भणइं, जणु खज्जंतु मरेण" ॥५१॥

जिसके पीछे प्रिय गृह-गृहिणी रूपी पिशाच लग गया है अर्थात् जो संसार में आसक्त है वह निरंजन का कैसे ध्यान कर सकता है ?

"जसु लगइ सुप्पउ भणइं, पिय-घर-घरणि-पिसाउ ।
सो किं कहिउ समायरइ, मित्त णिरंजण भाउ" ॥६१॥

सुप्रभाचार्य दान की महत्ता स्वीकार करते हैं और दान का उपदेश देते हैं (पद्य १९, २२) । जो दीनों को धन देता है और जिसका मन धर्म में लीन है विधि भी उसकी दासता स्वीकार करता है—

"घणु दीणहं गुण सज्जणहं, मणु धम्महं जो देइ ।
तहं पुरिसें सुप्पउ भणइं, विह दासतु करेइं" ॥३८॥

दाता समृद्ध होता और संचय करने वाला क्षीण होता है—

"रे मूढा सुप्पउ भणई, धणु दिंतह थिरु होय ।
जइ कल सचें ससि गयणि, पुणु खिज्जंतो जोइ" ॥५३॥

कवि ने अदाता की निन्दा के साथ साथ याचक की भी निन्दा की है (पद्य ३६) । पुण्य-संचय, परोपकार, इन्द्रिय-निग्रह और मन को वश में करने का उपदेश दिया है । जिस मनुष्य का मन विषयों के वश में है वह जीता हुआ भी मृतक के समान है । जिसने मन को मार लिया वही मनुष्य जीवित समझो ।

"जसु मणु जीवइं विसयवसु, सो णरु मुवो भणिज्ज ।
जसु पुण सुप्पय मणु मरइं, सो णरु जीउ भणिज्ज" ॥६०॥

कवि मानव देह की दुर्लभता की ओर संकेत करता हुआ धर्माचरण की ओर निर्देश करता है (पद्य ३९) । वह धार्मिक संकीर्णता से रहित है । देव-पूजा में देव की अपेक्षा भाव को प्रधान समझता है—

"अह हरु पुज्जहु अहव हरि, अह जिण अह बंभाण।
सुप्पउ भणें रे जोइयहु, सव्वहं भाउ पवाणु" ॥५७॥

कवि ने सरल भाषा में सुन्दर रूपकों द्वारा भाव को अभिव्यक्त किया है। इंद्रिय-चोरों से धर्म-धन की रक्षा का आदेश दिया है (पद्य ५४)। माया-निशा में मन-चोर से जिसने आत्म-रक्षा की वह निर्मल ज्ञान-प्रभात प्राप्त करता है—

"मण चोरह माया-निसिहि, जिय रक्खहि अप्पाणु।
जिम होही सुप्पउ भणइं, णिम्मलु णाणु-विहाणु" ॥४२॥

कवि ने घर, गृहिणी, सखि, बंधु बांधव को रंगस्थली बताया है जिसमें मोह-नट मनुष्यों को नाना रूप में नाच नचाता है—

"एहु घरि घरिणि एहु सहि, एहु बंधउ गिहरंग।
मोह नडावउ माणुसहं, नच्चावइ बहुभंगि" ॥७६॥

कवि का हृदय दुःखातुर मानव के लिए विक्षुब्ध था। उसने बंधु बांधवों के मोह को छोड़कर परमात्मा के ध्यान में लीन हो जाने की अति मार्मिकता से व्यंजना की है। कवि के निम्नलिखित दोहे अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं—

"हिवडा संवरि धाहडी, मुवउ वि आवै कोई।
अपउ अजरामरु करिवि, पच्छइ अणहुं रोइ" ॥१४॥

हृदय से दुःख शोक को दूर करो। मरने पर क्या फिर कोई लौट कर आ सकता है? अपने आप को अजर अमर करो जिससे तुम्हारे पीछे अन्य रोयें।

"जिम झाझ (इ) ज्जइ वल्लहउ, तिम जइ जिय अरिहंतु।
सुप्पउ भणइं ते माणसहं, सुगु घरिंगणि हुंतु" ॥९॥

जैसे निज वल्लभ का ध्यान किया जाता है वैसे ही यदि अर्हत का ध्यान किया जाय तो सुप्रभ कहते हैं कि मनुष्यों के लिए घर के आंगन में ही स्वर्ग हो जाय।

संसार अस्थिर है, परिवर्तनशील है, इसमें कोई किसी का साथी नहीं, इस भाव की अतीव मार्मिकता से निम्नलिखित दोहों में व्यंजना की गई है—

"रे हियडा सुप्पउ भणइं, कि न फुट्टहि रोवंतु।
पिउ पछेंहि मसाण डइं, एकल्लउ डज्झंतु" ॥७१॥
"जेंहि जि णयणिंहि वल्लहउ, दीसइं रज्जु करंतु।
पुण तेणजि सुप्पउ भणइं, सइ दीसइ डज्झंतु" ॥६२॥

अर्थात् जिन आँखों से वल्लभ को राज्य करते देखा फिर उन्हीं आँखों से स्वयं उसे जलते देखा।

"मुवउ मसाडि ठवेवि लहु, बंधव णियघर जंति।
वर लक्कड सुप्पउ भणई, जे सरिसा डज्झंति" ॥१०॥

मरे हुए को शीघ्र ही बंधु बांधव श्मशान में रख कर घर लौट जाते हैं। सुप्रभ कहते हैं कि वे लक्कड़ ही भले जो साथ ही जल जाते हैं।

निम्नलिखित दोहे में संस्कृत के एक पद्य की छाया दिखाई देती है, जिस से कवि के संस्कृत-ज्ञाता होने का आभास मिलता है :

"सुप्पउ वल्लहं मरण दिणि। जेम विरच्चै (विरज्जइ) चित्तु।
सव्वायत्थहं तेम जइ। जिम (य) णिव्वाण पहुत्तु" ॥२४॥

निम्नलिखित संस्कृत पद्य से तुलना कीजिये—

"आपत्प्रतिपन्नस्य बुद्धिर्भवति यादृशी।
तादृशी यदि पूर्वं स्यात् कस्य न स्यात्फलोदयः॥"

ग्रंथ की भाषा में कहीं कहीं सुन्दर सुभाषितों का भी प्रयोग मिलता है—

"जज्झरि भंडइ नीरु जिमु, आउ गलंति पि (पे) च्छि। २०

टटे वर्तन में से पानी के बहने के समान आयु क्षीण होती जाती है।

योगवासिष्ठ में भी इसी प्रकार का एक पद्य मिलता है—

'शनैर्गलिततारुण्ये भिन्न कुम्भादिवाम्भसि।' संभव है कवि योगवासिष्ठ की वैराग्य-भावना से प्रभावित होकर इसकी रचना में प्रवृत्त हुआ हो।

"जीव वहंतह नरय गई, मणु मारंतह मोक्खु" ॥७४॥

अर्थात् जीववध करने वाले को नरक और मन मारने वाले को मोक्ष प्राप्त होता है।

कवि की वर्णन शैली में एक विशेषता है कि प्रायः प्रत्येक दोहे में कवि ने अपना नाम दिया है। हिन्दी में पाई जाने वाली, कहै कबीर, कह गिरिधर कविराय की उत्तर कालीन परिपाटी इस कवि में दिखाई देती है। इस काल के अन्य साधकों में यह शैली उपलब्ध नहीं होती। इस आधार पर और भाषा में प्राप्त कुछ शब्द-रूपों को दृष्टि में रखते हुए कवि का काल १३ वीं शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है।

सुप्रभ की भाषा में अनेक शब्द-रूप ऐसे हैं जो हिन्दी शब्दों के पर्याप्त निकट से प्रतीत होते हैं।[1] विभक्तियों में कर्ता और कर्म के बहुवचन में शब्द के बाद ह या हं प्रत्यय का प्रयोग मिलता है (जैसे—माणसहं = मनुष्यों को, भमंतह = घूमते हुए)। संबोधन के बहुवचन में हु प्रत्यय का प्रयोग भी सुप्रभ के दोहों की भाषा में पाया जाता है। (जैसे—जोइयहु-हे जोगियो!)। वैराग्य सार में पद्य प्रायः दोहा छन्द में हैं।

---

१. उदाहरण के लिए—

खसहु—स्खलित हो पद्य सं (१), मसाण—श्मशान (२, १०), कलि—कल (४, ८, २३), माणस—मनुष्य (९), लक्कड—लकड़ियाँ (१०), मुवउ कि आवै कोई—क्या मर कर कोई (वापस) आ जाता है (१४), दूर—दूर (१७), किंतु—किंतु (२०), अवसि—अवश्य (३७), दासतु—दासता (३८), परायउ—पराया (४७), लक्खु—लाख (५५), फुट्टहिं रोवंतु—फूट फूट कर रोना (मुहावरा) (७१), जायतु जाय—जाये तो जाये (७५) इत्यादि।

आनंदा-आनंद स्तोत्र

डा० रामसिंह तोमर ने महाणंदि या आनंद द्वारा रचित ४३ पद्यों की छोटी सी कृति का उल्लेख किया है। कृति में प्राप्त निर्देशों से लेखक जैन धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। रचनाकाल, देशादि अनिश्चित है।

कृतिकार ने सांप्रदायिक भेद भावना से रहित सामान्य धार्मिक साधना की ओर निर्देश किया है। योगीन्द्र आदि अध्यात्मवादी उपदेशकों से मिलती जुलती विचार-धारा ही ग्रंथ में अभिव्यक्त की गई है—बाह्य कर्मकाण्ड का निषेध, गुरु महत्ता, आत्मा की देह स्थिति आदि। एक उदाहरण देखिये—

"जिण वइसाणर कठ्ठमहि, कुसुमइ परिमलु होइ।
तिहं देह मह वसइ जिव आणंदा, विरला बूझइ कोइ" ॥१३॥

दोहा पाहुड

दोहा पाहुड मुनि महचंद द्वारा रचित ३३३ दोहों का एक ग्रंथ है। आमेर शास्त्र भडार में इसकी हस्तलिखित प्रति वर्त्तमान है। हस्तलिखित प्रति विक्रम सं० १६०२ की है अतः कवि इस काल से पूर्व हुआ होगा। कवि के विषय में अन्य कोई सूचना नहीं मिलती।

इस ग्रंथ में दोहों के आदि अक्षर वर्णमाला के अक्षरों के क्रमानुसार हैं। इस ग्रंथ का विषय पूर्ववर्त्ती आध्यात्मिक विचारधारा के कवियों के समान ही, गुरु महत्त्व, विषयों का तिरस्कार, आत्म ज्ञान इत्यादि है।

(ख) आधिभौतिक रचनायें

आधिभौतिक रचनाओं से हमारा अभिप्राय उन धार्मिक रचनाओं से है जिनमें सर्वसाधारण के लिये नीति, सदाचार सम्बन्धी धर्मोपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार की आधिभौतिक उपदेशात्मक रचनाओं का विवरण नीचे दिया जाता है।

सावयधम्म दोहा[1]

यह देवसेन की रचना है। लेखक संस्कृत और प्राकृत का भी पण्डित था। इस ग्रंथ के अतिरिक्त देवसेन ने संस्कृत में आलाप पद्धति और प्राकृत में दर्शनसार,

---

१. प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, अम्बादास चवरे दिगंबर जैन ग्रंथमाला २, वि० सं० १९८९

आराधना सार, तत्वसार और भावसंग्रह नामक ग्रंथ भी लिखे ।[1] भाव संग्रह में और सावयधम्म दोहे में विषय का साम्य है। लेखक ने इस ग्रंथ की रचना वि० सं० ९९० के लगभग मालवान्तर्गत धारा नगरी में की थी।[2] लेखक दिगम्बर जैन था।

इस ग्रंथ में लेखक ने अध्यात्म विवेचन का प्रयत्न न कर श्रावकों-गृहस्थों के योग्य कर्त्तव्यों का उपदेश दिया है। यद्यपि योगीन्द्र के परमप्पयासु और योगसार में भी इस प्रकार की उपदेश भावना दृष्टिगोचर होती है तथापि उनमें प्रधानता अध्यात्मचिन्तन की ही है। किन्तु इस ग्रंथ में प्रधानता उपदेश भावना की है।

ग्रंथ के आरम्भ में मंगलाचरण और दुर्जन स्मरण है। तदनन्तर श्रावक धर्म के भेद, सम्यक्त्व प्राप्ति के साधन, अनेक दोषों का परित्याग, रात्रि-भोजन निषेध, अहिंसा व्रत पालन आदि का विधान किया गया है। गृहस्थों को दान की महत्ता समझाते हुए धर्म पालन, इंद्रिय निग्रह, मन वचन और शरीर की शुद्धि, तथा उपवास व्रतादि पालन करते हुए पाप पुण्य के बंधन से छुटकारा पा कर कर्म नाश द्वारा सुख प्राप्त करने का आदेश दिया गया है। लेखक जैन धर्मावलम्बी था अतः उसने गृहस्थों को जिन भगवान की पूजा और जिन मन्दिरों के निर्माण का भी आदेश दिया है।

ग्रंथ के आरम्भ में लेखक दुर्जनों का स्मरण करता हुआ कहता है—

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण।
अमिउ विसें वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ॥२॥

अर्थात् दुर्जन सुखी हो जिससे जगत् में सज्जन प्रकाश में आता है। जैसे विष से अमृत, अन्धकार से दिन और कांच से मरकत मणि।

लेखक धर्माचरण का उपदेश देता हुआ कहता है कि यह मत सोचो कि धन होगा तो धर्म करूँगा। न जाने यम का दूत आज आ जाय या कल।

"धम्मु करउं जइ होइ धणु इहु दुव्वयणु म बोल्लि।
हक्कारउ जमभडतणउ आवइ अज्जु कि कल्लि" ॥८८॥

धर्म से ही धन प्राप्त होता है—

"धम्मु करंतहं होइ धणु इत्थु ण कायउ भंति।
जलु कड्ढंतहं कूवयहं अवसइं सिरउ घडंति" ॥९९॥

अर्थात् धर्माचरण करने वाले को निस्संदेह धन प्राप्त होता है। कुएँ से जल निकालने वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।

लेखक ने धर्म का लक्षण और उसका मूल कितना सुन्दर बताया है—

"काइं बहुत्तइं जंपियइं जं अप्पहु पडिकूलु।
काइं मि परहु ण तं करहि एहु जु धम्महु मूलु" ॥१०४॥

---

१. दर्शनसार के अतिरिक्त सभी ग्रंथ माणिक्यचन्द्र दिगंबर जैन ग्रंथमाला से प्रकाशित हो चुके हैं।

२. सावयधम्म दोहा भूमिका पृ० १९.

अर्थात् बहुत कहने से क्या ? जो अपने को प्रतिकूल लगे उसे दूसरों के लिये भी न करो। संस्कृत के पद "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" का ही भाव लेखक ने अभिव्यक्त किया है ।

लेखक ने विषयों के त्याग का आदेश दिया है—

"रूवहु उप्परि रइ म करि णयण णिवारहि जंत ।
रूवासत्त पयंगडा पेक्खहि दीवि पडंत" ॥१२६॥

रूप पर रति मत कर। उधर जाते हुए नयनों को रोक। रूप में आसक्त पतंग को दीपक पर पड़ते हुए देख।

किन्तु साथ ही भोगों को मर्यादा में रखने का भी संकेत करता है—

"भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म करि सदप्प ।
हुंति ण भल्ला पोसिया दुद्धें काला सप्प" ॥६५॥

हे जीव ! भोगों का भी प्रमाण रख। इन्द्रियों को अभिमानी न कर। दूध से काले साँप को पोसना अच्छा नहीं होता।

माया का परित्याग करना चाहिये—

"माया मिल्लही थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु ।
कंजिय बिंदुइं वित्तुडइ सुद्धु वि गुलियउ दुद्धु" ॥१३३॥

थोड़ा सा भी दोष महान् पुण्य का नाश कर देता है—

"महु आसायउ थोडउ वि णासइ पुण्णु बहुत्तु ।
वइसाणरहं तिडिक्कडउ काणणु डहइ महंतु" ॥२३॥

पाप से सुख प्राप्ति असंभव है—

"सुहियउ हुवउ ण को वि इह रे जिय णर पावेण ।
कद्दमि ताडिउ उट्ठियउ गिंदउ दिठ्ठउ केण" ॥१५३॥

लेखक पाप पुण्य में समता का उपदेश देता है—

"पुण्णु पाउ जसु मणि ण समु तसु दुत्तरु भवसिंधु ।
कणय लोह णियलइं जियहु किं ण कुणहिं पयबंधु" ॥२११॥

जिसके मन में पुण्य और पाप समान नहीं है उसके लिये भवसिंधु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की निगड़ (श्रृंखला) प्राणी का पादबंधन नहीं करती ?

सैंकड़ों शास्त्रों के ज्ञान से युक्त ज्ञानी अवश्यम्भावी रूप से धार्मिक नहीं हो सकता। सैंकड़ों सूर्यों के उदय हो जाने पर भी उल्लू अंधा ही रहता है—

"सत्थ सएण वियाणियहं धम्मु न चढइ मणे वि ।
दिणयर सउ जइ उग्गमइ घूयडु अंधउ तो वि" ॥१०५॥

लेखक दान की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ सत्पात्र में दान का आदेश करता है—

"जं जिय दिज्जइ इत्थुभवि तं लब्भइ परलोइ ।
मूलें सिंचइ तरुवरहं फलु डालहं पुणु होइ" ॥९५॥

कुपात्र को दिया दान व्यर्थ होता है। खारे घड़े में डाला जल खारा ही हो जाता है—

"दंसण रहिय कुपत्ति जइ दिण्णइ ताह कुभोउ।
खारघडइं अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होइ" ॥८१॥

लेखक ने दया को धर्म का प्रधान रूप माना है।

"दय जि मूलु धम्मंघिवहु सो उप्पाडिउ जेण।
दलफल कुसुमहं कवण कह आमिसु भक्खिउ तेण" ॥४०॥

अर्थात् दया ही धर्म वृक्ष का मूल है। उसे जिसने उखाड़ फेंका, पत्र फल, कुसुम की कौन कथा मानो उसने मांस भक्षण कर लिया।

गृहस्थों के लिए द्यूतहानि की ओर निर्देश करता हुआ लेखक कहता है।

"जूएं धणहु ण हाणि पर वयहं मि होइ विणासु।
लग्गउ कट्ठु ण डहइ पर इयरहं डहइ हुयासु" ॥३८॥

अर्थात् जूए से धन ही की हानि नहीं होती व्रतों का विनाश भी होता है। काठ में लगी आग उसी काठ को नहीं अपितु अन्यों को भी जला देती है।

मानव जन्म की दुर्लभता का वर्णन करता हुआ लेखक उसके सदुपयोग का आदेश देता है—

"मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण।
इंधण कज्जे कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेण" ॥२१९॥

अर्थात् दुर्लभ मनुजत्व को भी प्राप्त कर जिसने उसे भोगों में लिप्त किया उसने मानो इंधन के लिए कल्पवृक्ष को समूल उखाड़ डाला।

कवि जिन-भक्त है अतएव जिन-भक्ति भावना का सुन्दरता से वर्णन किया है—

"जो वयभायणु सो जि तणु किं किज्जइ इयरेण।
तं सिरु जं जिण मुणि णवइ रेहइ भत्तिभरेण ॥११६॥
दाणच्चण विहि जे करहिं ते जि सलक्खण हत्थ।
जे जिण तित्थहं अणुसरहिं पाय वि ते जि पसत्थ ॥११७॥
जे सुणंति धम्मक्खरइं ते हउं मण्णमि कण्ण।
जे जोयहिं जिणवरहु मुहु ते पर लोयणि धण्ण ॥११८॥

अर्थात् शरीर वही समझो जो व्रतों का भाजन हो अन्य शरीर से क्या लाभ? वही सिर सिर है जो भक्तिभार से सुशोभित हो जिनमुनि के आगे नमे। हाथ वही प्रशस्त हैं जो दानार्चन विधि विधान करते हैं। वही पैर प्रशस्त हैं जो जिन तीर्थों का अनुसरण करते हैं। जो धर्म के अक्षरों का श्रवण करते हैं मैं उन्हें ही कान समझता हूँ और जो जिनवर के मुख का दर्शन करती हैं वही आँखें उत्कृष्ट और धन्य हैं।

लेखक के इन वचनों की रसखान के निम्नलिखित सवैये से तुलना कीजिये—

"बैन वही उन को गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै, अरु पाइ वही जु वही अनुजानी॥

देवसेन के दोहों में जाति भेद की भावना नहीं दिखाई देती। ब्राह्मण हो या शूद्र जो धर्माचरण करता है वही श्रावक है।

"एहु धम्मु जो आयरइ बंभणु सुद्द वि कोइ।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ" ॥७६॥

कवि रचित इन दोहों में अभिमान और अक्खड़पन नहीं दिखाई देता।

भाषा—ऊपर दिये गये उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि ने सरल और चलती हुई भाषा में हृदयस्पर्शी दृष्टान्तों के द्वारा भाव को अभिव्यक्त किया है।

भाषा वाग्धारा और सुभाषितों से अलंकृत है।

"जहिं साहस तहिं सिद्धि" (७१)
किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥७६॥

आधुनिक प्रचलित मुहावरा है सिर पर सींग होना। उसी भाव में यहां सिर पर मणि होना इसका प्रयोग किया गया है।

प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने दैनिक जीवन से नित्य-संबद्ध अप्रस्तुतों का, अलंकारों और दृष्टान्तों में अप्रस्तुत विधान के लिए प्रयोग किया है। जैसे हल, बैल, खारी जल, कूआँ, धतूरा, नौका, वृक्ष, साँप, दीपक, पतंग, उल्लू, गेंद, आरती, इत्यादि।[1]

लेखक की भाषा के शब्दों में परसर्गों का प्रयोग भी दिखाई देता है। घरतणउ = घर का (६२), जमभडतणउ = यम भट का (८८) इत्यादि।

कवि की इस रचना में अनेक शब्दों का रूप हिन्दी भाषा के शब्दों के समान सा प्रतीत होता है। कहीं कहीं मराठी और पंजाबी के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं।[2]

---

१. देखिये सावय धम्म दोहा संख्या ३, ४६, ६५, ७६, ८१, ८७, ९९, १०५, १२६, १३५, १५३, १९६।

२. उदाहरण के लिये निम्नलिखित शब्द देख सकते हैं। शब्दों के आगे की संख्या दोहों की संख्या है—

कच्चासण	कच्चा भोजन	१४
थोडउ	थोड़ा	२३
बहुत्तु	बहुत	२३
लोणि (मराठी)	मक्खन, नवनीत	२८
दोदिण वसियउ	दो दिन का वासी	३५
खेत्ती	खेती	५५
कप्पडि	कपड़े पर	५६
ढुक्कइ	ढौक्यते-आवे	६०,११२,१८७
डालह	डाल का	६१
घरतणउ	घर का	६२
दुद्धें (पंजाबी)	दूध से	६५

उपदेश रसायन रास[1]

उपदेश रसायन रास जिनदत्त सूरि की रचना है। यह जिन वल्लभ सूरी के शिष्य थे। यह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के विद्वान् थे। अपभ्रंश के अतिरिक्त संस्कृत और प्राकृत में भी इन्होंने ग्रंथ लिखे। इनका जन्म वि० सं० ११३२ में हुआ था। इन का जन्म का नाम सोमचन्द्र था। बाल्यावस्था से ही इनकी प्रतिभा दिखाई देने लगी थी। जिन वल्लभ के मरणोपरान्त इन्होंने सूरि पद और जिनदत्त नाम प्राप्त किया। मरु देश,

---

सप्प (पंजाबी)	सांप	६५
घड	घट-घड़ा	८१
वडह	वट का, बड़ का	९०
पडिउ	पतित, पड़ा	
जगि (जग में)	घरु (घर)	८७
हक्कारउ–हरकारा	अज्जु–आज, कल्लि–कल	८८
बबूलइं	बबूल	९४
लहंति	लभंते	९६
कूव	कूप	९९
दीवि	दीये	१२६
पोट्ट	पेट	१०६
बोरिहिं	बेरों से	११०
वलंत	ज्वलंत (पंजाबी) जलना	१२१
छित्त	स्पृष्ट (छूत)	१३१
कंजिय	कांजी	१३३
हलुव	हलका, लघुक	१३४, १३५
धत्तूरिय	धत्तूरिक, धतूरा पीने वाला	१३६
तलाउ	तलाब, तडाग से	१७०
गेहु	गेह, गृह	१८४
जाइ	याति	१८८
रुक्खडा	वृक्ष	१९०
आरत्तिअ	आरती, आरात्रिक	१९६
चंदोव	चन्द्रोपक, चंदोआ	१९८

१. ला० भ० गान्धी द्वारा संपादित, अपभ्रंश काव्यत्रयी ओरियंटल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, सन् १९२७, में इनकी तीनों रचनाओं का संग्रह है।

नागपुर, अजमेर आदि स्थानों में विहार किया। यह देश देश में अपना धर्मोपदेश करते रहते थे। सं० १२१० में अनशन समाधि द्वारा इन्होंने देहत्याग किया।[1] उपदेश रसायन रास के अतिरिक्त, काल स्वरूप कुलक और चर्चरी की इन्होंने रचना की।

उपदेश रसायन रास ८० पद्यों की एक रचना है। आरम्भ में मंगलाचरण है। आगे लेखक कहता है कि आत्मोद्धार से मनुष्य जन्म सफल होता है। तदर्थ सुगुरु की आवश्यकता होती है। गुरु नौका के बिना संसार-सरिता को पार करना संभव नहीं। तदनन्तर धार्मिकों के कृत्यों का निर्देश है। अनेक प्रकार के चैत्य धर्मों और कर्मों का प्रतिपादन है। ३६वें पद्य में कृतिकार ने ताल रास और लगुड रास का निर्देश किया है। आगे युग प्रधान गुरु का और संघ का लक्षण दिया है। गृहस्थों को कुछ सदुपदेश दिये हैं। कृति के जल को जो कर्णाञ्जलि से पान करते हैं वे अजरामर होते हैं, इन वाक्यों से कृति समाप्त होती है।

कवि के निम्नलिखित पद्य में अहिंसा का रूप देखिए—

"धम्मिउ धम्मुकज्जु साहंतउ।
परु मारइ कीवइ जज्झंतउ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परमपइ निवसइ सो सासइ" ॥२६॥

अर्थात् जो धार्मिक धर्म कार्य को सिद्ध करता हुआ कदाचित् किसी धर्म में विघात करने वाले को युद्ध करता हुआ मार देता है तो भी उसका धर्म बना रहता है वह नष्ट नहीं होता। वह व्यक्ति शाश्वत परम पद में वास करता है।

निम्नलिखित पद्य में कृतिकार ने देवगृह में ताल रास और लगुड रास का निषेध किया है :

"उचिय थुत्ति थुयपाढ पढिज्जहिं।
जे सिद्धंतिहिं सहु संधिज्जहिं।
तालारासु वि दिंति न रयणिहिं
दिवसि वि लउडारसु सहुं पुरिसिहिं" ॥३६॥

कृति के प्रारम्भ में संस्कृत टीकाकार ने उल्लेख किया है कि यह उपदेश रसायन रास प्राकृत भाषा में लिखा गया है।[2] यहां प्राकृत भाषा शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिये। ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश ही है।

कृति में पद्धटिका—पज्झटिका-छन्द का प्रयोग हुआ है।

---

१. वही, पृ० ६०

२. श्रीमद्भिर्जिनदत्तसूरिभिः.......प्राकृत भाषया धर्म रसायनाख्यो रासक श्चक्रे"
अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० २९

काल स्वरूप कुलक

यह जिनदत्त सूरि रचित ३२ पद्यों की कृति है। इसका दूसरा नाम उपदेश कुलक भी है।

मंगलाचरण के अनन्तर लेखक ने विक्रम की १२वीं शताब्दी में किसी सुखनाश—आपत्ति—का निर्देश किया है। इस आपत्ति में लोगों में धर्म के प्रति अनादर, मोह-निद्रा की प्रबलता और गुरु वचनों में अरुचि हो गई थी। आगे कृतिकार ने सुगुरु का महत्व बताया है। सुगुरु-वचन-लग्न-मानव सोते हुए भी जागरूक रहते हैं। सुगुरु और कुगुरु का भेद बताते हुए कृतिकार दोनों को क्रमशः गोदुग्ध और अर्क दुग्ध के समान बताता है। कुगुरु धतूरे के फूल के समान होता है। सुगुरु-वाणी और जिन-वाणी में श्रद्धा का उपदेश दिया है। बंधुवर्ग में एकता का प्रतिपादन करते हुए, माता पिता के प्रति आदर-भावना का उपदेश देते हुए और सुगुरु प्राप्ति से यमभय के भी नष्ट हो जाने का निर्देश करते हुए कृति समाप्त होती है।

इस कृति का विषय धर्मोपदेश है और इसका नाम कुलक है। कुलक ऐसे पद्य समूह को कहते हैं जिसमें पांच या पांच से अधिक ऐसे पद्य हों जिनका परस्पर अन्वय और सम्बन्ध हो।[1] इस कृति में यद्यपि ३२ पद्यों का परस्पर अन्वय नहीं, विषय भी भिन्न है किन्तु सारी कृति एक ही धर्मतन्तु से अनुस्यूत होने के कारण सम्भवतः कुलक कही गई है। श्री अगरचन्द नाहटा का विचार है कि जिस रचना में किसी शास्त्रीय विषय की आवश्यक बातें संक्षेप में संकलित की गई हों या किसी व्यक्ति का संक्षिप्त परिचय दिया गया हो उसकी संज्ञा 'कुलक' या 'कुलउ' होती है। उन्होंने इस प्रकार के अनेक प्राकृत में लिखित कुलकों का भी निर्देश किया है।[2]

'काल स्वरूप कुलक' के अतिरिक्त निम्नलिखित अपभ्रंश में लिखित कुलक कृतियों का निर्देश पत्तन भण्डार की ग्रंथ सूची में मिलता है—

जिनेश्वर सूरि रचित भावना कुलक	(वही, पृ० २४)
नवकार फल कुलक	(वही, पृ० ४४)
मृगापुत्र कुलक	(वही, पृ० १२०)
पश्चात्ताप कुलक	(वही, पृ० २६३)
जिन प्रभ रचित सुभाषित कुलक	(वही, पृ० २६४)
गोतम चरित्र कुलक	(वही, पृ० २६६)

कृतिकार ने अपने दृष्टान्तों के लिये ऐसे सर्व-साधारण-गोचर विषयों को लिया है जो सर्व साधारण के लिए बोधगम्य हों। जैसे सद्गुरु की तुलना गो के दूध से, कुगुरु की आक

---

१. द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्॥

२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५८, अंक ४, पृ० ४३५

के दूध से और धतूरे के फूल से की है। इसी प्रकार घर की एकता का दृष्टान्त मार्जनी, झाड़ू से दिया है। वस्तुतः कृतिकार का लक्ष्य किन्हीं आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों का विवेचन न था। श्रावक श्राविकाओं और गृहस्थों को धर्मोपदेश द्वारा सदाचार मार्ग की ओर प्रवत्त करना और देवगृहों—चैत्य गृहों—के जीवन को आदर्श बनाना ही इसका उद्देश्य था।

कालस्वरूप कुलक के उदाहरण स्वरूप कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं—

"दुद्धु होइ गो-यविकिहि धवलउ
पर पेज्जंतइ अंतरु बहलउ।
एक्कु सरीरि सुक्ख संपाडइ
अवरु पियउ पुणु मंसु वि साडइ" ॥१०॥
"कुगुरु सुगुरु सम दीसहिं बाहिरि
परि जो कुगुरु सु अंतरु बाहिरि!
जो तसु अंतरु करइ वियक्खणु
सो परमप्पउ लहइ सुलक्खणु" ॥११॥

अर्थात् गौ का दूध और आक का दूध दोनों श्वेत वर्ण होते हैं किन्तु उनके पान करने में परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं, एक शरीर में सुख उत्पन्न करता है और दूसरा शरीर को जला देता है। इसी प्रकार सुगुरु और कुगुरु बाहर से एक समान दीखते हैं किन्तु कुगुरु आभ्यन्तर व्याधि रूप है। जो बुद्धिमान् उन दोनों में भेद करता है वह परम पद को प्राप्त करता है।

घर में ऐक्य का सुन्दर उदाहरण निम्नलिखित पद्य में मिलता है—

"कज्जउ करइ बुहारी बद्धी
सोहइ गेहु करेइ समिद्धी।
जइ पुण सा वि जुयं जुय किज्जइ
ता किं कज्ज तीए साहिज्जइ?" ॥२७॥

भावना संधि प्रकरण[1]

यह जयदेव मुनि कृत्त छह कडवकों की एक छोटी सी रचना है। प्रत्येक कडवक में १० पद्य हैं। आरम्भिक और अन्तिम कडवक में मंगलाचरण और स्तुति सम्बन्धी एक-एक पद्य अधिक है। कृति के अन्तिम पद्य में रचयिता का और उसके गुरु शिवदेव सूरि का नाम मिलता है।[2] रचयिता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। इसका काल और स्थान

---

१. एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना, भाग ११, सन् १९३० पृ० १-३१ पर एम० सी० मोदी द्वारा संपादित

२. णिम्मल गुण भूरिहिं सिव दिव सूरिहिं, पढमसीसु जयदेव मुणि।
किय भावण संधी सिभावु सुगंधी, निसुणवि अन्न वि धरउ मणि ॥६२

अनिश्चित है। कृति में मालव नरेन्द्र मुंज (१०५४ वि० सं० मृत्युकाल) के निर्देश से कल्पना की जा सकती है कि जयदेव विक्रम की ११वीं शताब्दी के बाद ही हुए होंगे। भाषा की दृष्टि से संपादक का विचार है कि कृति १३वीं–१४वीं शताब्दी की रचना है।[1]

कृति का विषय नैतिक और धार्मिक जीवन का उपदेश है। संसार की दुःख बहुलता वैराग्य भावना, विषय त्याग, मानव जन्म की दुर्लभता, पाप त्याग कर पुण्य संचय करना इत्यादि विषयों का ही कवि ने उपदेश दिया है।

रचयिता ने संसार को इन्द्रजाल (पद्य २) वता कर प्रिय मित्र, गृह, गृहिणी इत्यादि सबको मिथ्या वताया है—

"पिय पुण मित्त घर घरणि जाय
इह लोइ य सव्वि व सुहु सहाय।
नवि अत्थि कोइ तुह सरणि मुक्ख
इक्कुलउ सहसि तउं नरय दुक्ख" ॥३॥

अर्थात् प्रिय मित्र, गृह, गृहिणी सब इस लोक में सुख के साथी हैं। हे मूर्ख! दुःख में तेरा कोई शरण-दाता नहीं; अकेले ही तू नरक दुःख सहन करेगा।

संसार से विरक्ति का उपदेश देता हुआ कवि कहता है—

"मन (त) रच्चि रमणि रमणीय देहि
वस मंस रुहिर मल मुत्त गेह।
दढ देवि रत्तु मालवु नरिंद
गय रज्ज पाण हुय पुहवि चंदु" ॥५॥

अर्थात् वसा मांस रुधिर मल-मूत्र-निधान रमणी के सुन्दर देह में अनुरक्त न हो। देवी में अत्यन्त आसक्त मालवराज पृथ्वी चन्द्र अपने राज्य और प्राणों से हाथ धो बैठा।

आगे कवि निर्देश करता है कि काम क्रोधादि एवं आश्रवादि का त्याग कर श्रद्धा युक्त हो जिन वचनों के श्रवण से सुख प्राप्ति होती है (६, ९)। हिंसा से अकाल मरण या परवंचना एवं द्रव्यापहरण से दारिद्र्य प्राप्त होता है (२७, २८)। सरल और सुन्दर भाषा में जयदेव विषय त्याग कर धर्म संचय का उपदेश देते हैं—

"दहइ गोसीसु सिरिखंड छारक्कए, छगलगहणट्ठमेरावणं विक्कए।
कप्पतरु तोडि एरंडु सो वव्वए, जुज्जि विसएहि मणुयत्तणं हारए" ॥१६॥
"सुमिण पत्तंमि रज्जंमि सो मुच्छए, सलिल संकं ससि गिन्हिउं वंछए
अविियखित्तेसु धन्नाइ सो कंखए, जुज्जि धम्मेण विण मुक्ख आविक्ख ए" ॥१७॥

अर्थात् जो विषयों के लिए मनुष्यत्व खो बैठता है वह मानो क्षार के लिए गोशीर्ष और श्री खंड को जला डालता है, छाग को पाने के लिए ऐरावत को बेच डालता है और

१. वही पृ० २

कल्पतरु को काट कर ऐरंड को बोता है। जो धर्म के बिना मोक्ष प्राप्ति चाहता है वह स्वप्न प्राप्त राज्य में मूर्च्छित रहता है, जल में प्रतिबिम्वित चन्द्र को ग्रहण करना चाहता है और विना बोये खेत से ही धान्य पाना चाहता है।

कर्मफल भोग का सुन्दर शब्दों में प्रतिपादन निम्नलिखित पद्य में मिलता है—

"धंमु न करेसि वंछेसि सुह मुत्तिए
चणय विक्केसि वंछेसि वर मुत्तिए।
जं जि वाविज्जए तं जि (ति) खलु लुज्जए
भुज्जए जं जि उग्गार तस्स किज्जए" ॥५२॥

अरे तुम धर्म नहीं करते और मुक्ति सुख चाहते हो ? चने बेचते हो और (वदले में) सुन्दर मोती चाहते हो ? जो जैसा बोता है वैसा ही काटता है। जो मनुष्य जो भी कुछ खाता है उसी का उद्गार करता है।

सुकृतोपार्जन, दुष्कृत त्याग और सकल जीवों के प्रति मैत्री के उपदेश से कृति समाप्त होती है।

कृति में कई व्यक्तियों, दृष्टान्तों और कथाओं के निर्देश मिलते ह—मालव नरेन्द्र पृथ्वी चन्द्र (५), अंगारदाह दृष्टान्त (२०), शालिभद्र, भरत, सगर (२२), सनत्कुमार चक्री (५३), सुभट चरित (५४), गय सुकुमालक (५५), पुंडरीक मरुदेवी, भरतेश्वर, प्रसन्न चन्द्र दृष्टान्त (५६) और नन्द दृष्टान्त (५७)।

भाषा—कृति की भाषा सरल और चलती हुई है। बीच-बीच में पाण्डित्य-मय भाषा के भी दर्शन हो जाते हैं (जैसे पद्य ३३, ३६, इत्यादि)। अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग भी कहीं-कहीं मिलता है—

"अन्नुढक्कहिं भुत्तउ तडफडंत, जंतेहि निपीडिय कडयडंत।
रहि जुत्तउ तुट्टउ तडयडंतु, वज्जावलि पक्कउ कढकढंतु" ॥४६॥

इस कृति की भाषा व्याकरण की दृष्टि से कहीं कहीं अव्यवस्थित है (पद्य संख्या ४६, ६२)।

पादपूर्ति के लिए 'ए' के प्रयोग का हलका सा आभास, जैसा कि उत्तरकालीन हिन्दी कविता में मिलता है, कहीं कहीं इस कृति के पदों में भी मिलता है। जैसे—

"घरि पलित्तंमि खणि सकइ को कूव ए ॥५७॥
बुड्ढ भावंमि पुण मलिसि नियहत्थ ए ॥५८॥

सुभाषित और वाग्धारायें—इस ग्रन्थ की भाषा में सुभाषितों और वाग्धाराओं का प्रयोग भी दिखाई देता है—

"किं लोहइं घडिउं हियं तुज्झ" ॥ २५॥

क्या तुम्हारा हृदय लोहे का बना है ?

"छगल गहणट्ठ मेरावणं विक्कए
कप्पतरु तोडि एरंडु सो वव्वए" ॥१६॥

वकरी को लेने के लिए ऐरावत को बेचता है। कल्पवृक्ष को तोड़ कर ऐरंड को

बोता है।

"घरि पलित्तंमि खणि सकइ को कूवए" ॥५७॥

घर के प्रदीप्त हो जाने पर कौन कुआ खोद सकता है ?

"बुड्ढ भावंमि पुण मलिसि नियहत्थए" ॥५८॥

बुढ़ापे में फिर अपने हाथ मलोगे।

"चणय विक्केसि वंछेसि वर मुत्तिए
जं जि वाविज्जए तं जि (ति) खलु लुज्जए" ॥५२॥

चने बेचते हो और बदले में सुन्दर मोती चाहते हो ? जो, जो कुछ वोयेगा वह वही काटेगा।

द्वादश भावना

सोमप्रभाचार्य[1] कृत कुमारपाल प्रतिबोध (पृ. ३११) में द्वादश भावनाओं का उल्लेख है। कवि ने संसार की अनित्यता और क्षण भंगुरता का चित्रण किया है। जयदेव मुनि-कृत 'भावना संधि प्रकरण' और इस 'द्वादश भावना' में कई वाक्य समान हैं।

"चलु जीविउ जुव्वणु धणु सरीरु, जिम्व कमल दलग्ग विलग्गु नीरु।
अहवा इहत्थि जं किं पि वत्थु, तं सव्वु अणिच्चु ह हा धिरत्थु॥
पिय माय भाय सुकलत्तु पुत्तु, पहु परियणु मित्तु सिणेह-जुत्तु।
पहवंतु न रक्खइ को वि मरणु, विणु धमह अन्नु न अत्थि सरणु॥
....
एक्कलउ पावइ जीवु जम्म, एक्कलउ मरइ विढत्त-कम्मु।
एक्कलउ परभवि सहइ दुक्खु, एक्कलउ धम्मिण लहइ मुक्खु॥
(पृ० ३११)

अर्थात् जीवन यौवन, धन, शरीर सब कमलपत्र स्थित जल के समान अस्थिर हैं। जो भी वस्तु इस संसार में है सव अनित्य है। प्रियतम माता, भाई, पत्नी, पुत्र, स्वामी, परिजन, स्नेहीमित्र कोई मरण से रक्षा नहीं कर सकता। धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं।.... जीव अकेला ही धर्म को प्राप्त करता है और कर्मों से लिप्त अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है। जन्मान्तर में अकेला ही दुःख सहता है और धर्म के द्वारा अकेला ही मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस प्रकार कवि ने चौदह पद्धडिया छन्दों में द्वादश भावनाओं के पालन का महत्व प्रतिपादित किया है।

---

१. सोम प्रभाचार्य के परिचय के लिये देखिये १२वें अध्याय में 'जीवमनः करण संलाप कथा', पृ० ३३५।

संयम मंजरी[1]

यह महेश्वर सूरि द्वारा रचित ३५ दोहों की एक छोटी-सी कृति है।

महेश्वर सूरि के जन्म, काल और स्थान के विषय में कुछ निर्देश नहीं मिलता। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति वि० सं० १५६१ की है अतः इनका उस काल से पूर्व होना निश्चित है। कालकाचार्य कथानक भी महेश्वरसूरि की कृति है, जिसकी हस्तलिखित प्रति का काल वि० सं० १३६५ है। यदि दोनों महेश्वर सूरि एक ही हों तो संयम मंजरी की रचना इस काल (वि० सं० १३६५) से पूर्व हो गई होगी ऐसी कल्पना की जा सकती है।[2] दोहों के विषय और सूरि उपाधि से इनके जैन होने की कल्पना की जा सकती है।

जैसा कि कृति के नाम से ही प्रकट होता है इसमें कवि ने संयम से रहने का उपदेश दिया है। संयम के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है ऐसी कवि की बद्धमूल धारणा थी। कवि ने संयम के १७ प्रकारों का उल्लेख (दोहा ४) कर कुकर्म त्याग और इन्द्रिय-निग्रह का विधान किया है। जीवहिंसा, असत्य, अदत्तादान-चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच पाप बताये ह। मनोदण्ड, वाग्दण्ड या जिह्वादण्ड और कायदण्ड इन तीन दण्डों से बचने का आदेश दिया है।

ग्रंथ के आरम्भ में पार्श्वनाथ जी की वन्दना की गई है। आगे कवि कहता है—

"संजमु सुरसत्थिहिं थुअउ संजमु मोक्ख दुवारु।
जेहिं न संजमु मणि धरिउं तह दुत्तर संसारु" ॥दोहा २॥

कवि जिन भक्त था। उसके विचार में जिन आँखों ने जिननाथ के दर्शन नहीं किये वे व्यर्थ हैं।

"ये जिणनाहह मुहकमल अवलोअण कयतोस।
धन्न तिलोअहं लोअणइं मुह मंडण पर सेस" ॥१४॥

स्त्री रूप की आसक्ति के विषय में कवि कहता है—

पर रमणी जे रूव भरि पिक्खिवि जे वि हि (ह) संति।
राग निबंधण ते नयण जिण जम्मवि नहु होन्ति ॥१५॥

इन्द्रिय-निग्रह का आदेश देते हुए महेश्वर सूरि कहते हैं—

"गय मय महुअर झस सलह नियनिय, विसय पसत्त।
इक्किक्केण इ इन्दियण दुक्ख निरंतर पत्त ॥१७॥
इक्किणि इंदिय मुक्कलिण लब्भइ दुक्ख सहस्स।
जसु पुण पंचइ मुक्कला कह कुसलत्तण तस्स ॥१८॥

---

१. गुणे द्वारा एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना, भाग १, १९१८-२० पृ० १५७-१६६ पर तया दलाल—गुणे द्वारा संपादित 'भविसयत्त कहा' की भूमिका पृ० ३७-४१ पर प्रकाशित हुई है।

२. वही, पृ० १५७।

अर्थात् गज, मृग, मधुकर, मत्स्य और शलभ अपने-अपने विषय में प्रसक्त ह। एक-एक इन्द्रिय-विषय में आसक्ति के कारण ये निरन्तर दुःख पाते रहते हैं। एक ही इन्द्रिय की विषय प्रसक्ति से सहस्रों दुःख प्राप्त होते हैं। जिसकी पाँचों इन्द्रियां विषयों की ओर उन्मुक्त हों उसकी कुशलता कहां ?

उपरिलिखित दोहों की भागवत पुराण के निम्नलिखित पद्य से तुलना कीजिये।

कुरंग मातंग पतंग मीना
भृंगा हताः पंचभि रेव पंच।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पंचभिरेव पंच॥

मनोनिग्रह के विषय में कवि कहता है—

"जेणि न रुद्धउ विसय मुहि धावंतउ मणुमीणु।
तेणि भमेवउ भव गहणि जपंतइ जण दीणु" ॥२८॥
"संजम बंधणि बंधि धरि धावन्तउ मण हत्थि।
जइ का दिसि अहु मुक्कुलु ता पाडिहइ अणत्थि" ॥२९॥

अन्तिम पद्य में संयम मंजरी का महत्व बतलाया गया है और महेश्वर सूरि के गुरु का निर्देश किया गया है।

समणह भूसण गय वसण संजम मंजरि एह।
(सिरि) महेसर सूरि गुरु कन्नि कुणंत सुणेह ॥३५॥

चूनड़ी[1]

यह कृति भट्टारक विनयचन्द्र मुनि रचित है। विनयचन्द्र माथुर संघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य थे। चूनड़ी ग्रंथ ३१ पद्यों की एक छोटी सी रचना है। इसकी रचना कवि ने गिरिपुर में रहते हुए अजय नरेश के राज-विहार में बैठकर की थी।[2] कवि के कालादि के विषय में कुछ निश्चित नहीं। पं० दीपचन्द्र पाण्ड्या ने जिस गुटके में से इसे संपादित किया था, उसका लिपि काल वि० सं० १५७६ है। अतः इस काल से पूर्व तो इस कृति की रचना निश्चित ही है। चूनड़ी के अतिरिक्त, कल्याणकरासु और णिझंर पंचमी विहाण कथा भी विनयचन्द्र ने लिखीं।

चूनड़ी स्त्रियों के ओढ़ने का दुपट्टा होता है जिन्हें रंगरेज, रंग बिरंगी बेल बूटे छाप

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५०, संख्या १-२, पृ० १११;
जैन हि० सा० का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ७०;
अनेकान्त वर्ष, ५, किरण ६-७, पृ० २५७-२६१ पर दीपचन्द पाण्ड्या का लेख —चूनड़ी ग्रंथ।

२. अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७ पृ० २६१।

कर रंगता है। चूनड़ी का दूसरा नाम चुण्णी-चुर्णी-भी है, जिसका अभिप्राय है इधर उधर बिखरे हुए प्रकीर्णक विषयों का लेखन अथवा चित्रण। एक मुग्धा पति से ऐसी चूनड़ी की प्रार्थना करती है जिसे ओढ़ कर जिन शासन में विचक्षणता प्राप्त हो। इसी को ध्यान में रखकर कृतिकार ने इसकी रचना की है। इस प्रकार कवि ने इस कृति के द्वारा धार्मिक भावनाओं और सदाचारों की रंगी चूनड़ी ओढ़ने का संकेत दिया है।

कृति का आरम्भ कृतिकार ने पंचगुरु वन्दना और सरस्वती वन्दना से किया है। आत्म-विनय का प्रदर्शन करने के अनन्तर कवि ने जैन धर्म के तत्वों का निर्देश किया है।

विणएँ वंदिवि पंचगुरु, मोह महा तम तोडण दिणयर।
णाह लिहावहि चूनडिय, मुद्धउ पभणइ पिउ जोडिवि कर॥
ध्रुवकं।

पणवउँ कोमल कुवलय णयणी, ...
पसरिविं सारद जोण्ह जिम, जा अंधारउ सयलु वि णासइ।
सा महु णिवसउ माणसहिं, हंस-वधू जिम देवि सरासइ॥१॥

× × ×

हीरावंत पंति पयडंती, गोरउ पिउ बोलइं विहसंती।
सुन्दर जाइ सु चेइ हरि, महु दय किज्जउ सुहय सुलक्खण।
लइ छिंपावहि चूनडिय, हउँ जिण सासणि सुट्ठु वियक्खण[1]॥१॥

ग्रंथ में पद्धडिया छन्द की ही प्रधानता है।

चूनड़ी के विषय की कबीर के निम्नलिखित पद से तुलना कीजिए।

झीनी झीनी बीनी चदरिया।
काहे के ताना काहे कै भरनी, कौन तार से बीनी चदरिया।
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया॥१॥
आठ कंवल दल चरखा डोले, पांच तत्व गन तीनि चदरिया।
साइं को सियत मास दस लागे, ठोंक ठोंक के बीनी चदरिया॥२॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ी के मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतन सों ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया॥३॥

कबीर ने उपदेश दिया कि मनुष्य शरीर देवता का मन्दिर है, इसे अपवित्र न होने दो। इस प्रकार कबीर की चदरिया अध्यात्म भाव-प्रतिपादक है, विनयचन्द्र की लौकिक भाव प्रतिपादक। इसी चूनड़ी की भावना से कबीर की भावना का विकास प्रतीत होता है। अतः यह कवि कबीर से पूर्व ही किसी काल में हुआ होगा ऐसी कल्पना की जा सकती है।

ऊपर जिन जैन धर्म सम्बन्धी रचनाओं का निर्देश किया गया है उनके अतिरिक्त भी अनेक छोटी छोटी रचनाएँ जैन भण्डारों में विद्यमान हैं। जैसा कि पाटन भण्डार

१. अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७ से उद्धृत।

की ग्रन्थ सूची से स्पष्ट होता है। जिन कृतियों का ऊपर विवरण दिया गया है हमारे विचार को तथा इस धार्मिक भावना की विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए ये कृतियाँ पर्याप्त हैं।

आध्यात्मिक और आधिभौतिक उपदेश प्रधान रचनाओं में हमें निम्नलिखित समानतायें दृष्टिगत होती हैं—

१. इनमें सरल भाषा का प्रयोग किया गया है। भाषा के सौन्दर्य की ओर ध्यान न देकर भाव की ओर दृष्टि रखी गई है।

२. जिन दृष्टान्तों द्वारा भाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है वे इस प्रकार के हैं कि जिनका सर्व साधारण के जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार के दृष्टान्तों के प्रयोग के द्वारा कृतिकारों ने अपने भावों को सुबोध और हृदयंगम बनाने का प्रयत्न किया है।

३. दोनों प्रकार के कृतिकारों के हृदय उदार थे। इनकी कृतियों में धर्म सम्बन्धी सहिष्णुता और उदार भावों के दर्शन होते हैं।

आध्यात्मिक रचनाओं के रचयिताओं—साधकों—की कृतियों में निम्नलिखित विशेषतायें मिलती हैं :

१. इनकी कृतियों में गुरु का महत्व बतलाया गया है। सुगुरु और कुगुरु में भेद बतलाते हुए सुगुरु को प्राप्त करने का आदेश दिया गया है।

२. इन्होंने वाह्य कर्मकाण्ड का विरोध किया है। मन्त्र, तन्त्र, पूजा ध्यान, शास्त्राभ्यास आदि सबको व्यर्थ बता कर आन्तरिक शुद्धि पर बल दिया है। यद्यपि वाह्य कर्म काण्ड का खंडन इनकी रचनाओं में मिलता है किन्तु कहीं पर भी पर-निन्दा या कटुता का आभास नहीं मिलता।

३. संसार को क्षणिक बताते हुए विषयों के परित्याग का उपदेश इन्होंने दिया है। विषय त्याग के लिए इन्द्रिय–निग्रह और मन को वश में करने का उपदेश भी दिया गया है।

४. संसार को क्षणिक, विषयों को अग्राह्य बन्धु बांधवों के सम्बन्ध को मिथ्या बताते हुए वैराग्य भावना को उद्बुद्ध करने का प्रयत्न, इनकी कृतियों में मिलता है। इस प्रकार प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा निवृत्तिमार्ग का उपदेश यद्यपि इनकी रचनाओं में प्रमुख है तथापि ये साधक गृहस्थाश्रम और स्त्री की अवहेलना नहीं करते। इनको वहीं तक त्याज्य बताते हैं जहां तक ये साधना मार्ग में बाधक हों।

५. सब कुछ क्षणिक, नश्वर और हेय बताते हुए आत्मानुभूति और आत्म स्वरूप ज्ञान का उपदेश इनकी रचनाओं में मिलता है। आत्मा देह स्थित है। तीर्थयात्रा, देवालय आदि में भटकने की अपेक्षा स्वदेहस्थित आत्मा को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। "यत्पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे" की भावना को सदा जागरूक रखने का प्रयत्न इन साधकों ने किया।

६. इन साधकों का विचार है कि समरस होने पर जीव परमानन्द को प्राप्त होता है।

आधिभौतिक उपदेश प्रधान रचनाओं की निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

१. इस प्रकार की रचना करने वालों का मुख्य लक्ष्य था समाज के स्तर को ऊँचा करना और समाज में सदाचारमय जीवन की प्रतिष्ठा करना। एतदर्थ इन उपदेशकों ने अधिकतर धर्म, नीति, उपदेश, स्तुति आदि को ही अपनी रचना का विषय वनाया है।

२. इनके उपदेश अधिकतर गृहस्थों के लिए थे अतः उनके योग्य कर्तव्यों का उपदेश इनकी रचनाओं में मिलता है। इनका विचार है कि माता पिता की सेवा करना अन्य धर्मावलम्बी होने पर भी उनका आदर करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, वन्धु-बान्धवों का परस्पर एकता से रहना इत्यादि उपदेशों का पालन करने से एक गृहस्थ सद्गृहस्थ बन सकता है।

३. गृहस्थियों के लिये पूजा पाठ आवश्यक है एतदर्थ मन्दिरों तथा पूजास्थानों के विधि-विधानों का निर्देश भी इन्होंने किया है।

४. इन उपदेशकों ने गृहस्थियों को धर्म का पालन करते हुए सुख प्राप्त करने का आदेश दिया है। इसी कारण गृहस्थाश्रम और स्त्री की अनुचित निन्दा इनके उपदेशों में नहीं मिलती।

५. इन उपदेशकों ने यद्यपि गृहस्थों को प्रवृत्तिमार्ग का उपदेश दिया किन्तु गृहस्थ में रहते हुए भी कर्मों से अलिप्त रहने की ओर भी निर्देश किया है। भोगमय जीवन विताते हुए भी दानादि की प्रशंसा करते हुए उन्हें त्यागमय जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया है।

इस प्रकार इन माधकों और उपदेशकों की भावना निरन्तर आगे बढ़ती गई। जिसका प्रभाव आगे चल कर हिन्दी साहित्य के संतों, भक्त कवियों और नीतिकारों में दिखाई देता है।

दसवाँ अध्याय

अपभ्रंश मुक्तक काव्य-(२) धार्मिक-बौद्ध धर्म सम्बन्धी

बौद्ध सिद्धों द्वारा रचित अनेक दोहे और गीत मिलते ह जिनके संग्रह और अध्ययन का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। सर्वप्रथम महामहोपाध्याय पं० हर प्रसाद शास्त्री ने 'हाजार बछरेर पुराण बागंला भाषाय बौद्ध गान ओ दोहा' नाम से इनकी रचनाओं का संग्रह बंगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता से सन् १९१६ में प्रकाशित करवाया था। इसी के साथ सरह और कान्ह के दोहा कोष भी प्रकाशित हुए थे। इनके अनन्तर डा० शहीदुल्ला ने इनकी रचनाओं का अध्ययन फ्रेंच भाषा में प्रस्तुत किया। तदनन्तर डा० प्रबोध चन्द्र बागची ने 'दोहा कोष' और 'मैटीरियल्स फौर ए क्रिटिकल एडिशन आफ दि ओल्ड बेंगाली चर्या पदस्' नाम से जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट्स आफ लैटर्स भाग २८ और ३० में पूर्व प्रकाशित सिद्धों के दोहों और गानों को तिब्बती अनुवाद के आधार पर संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी तिब्बती ग्रन्थों के आधार पर इन सिद्धों की रचनाओं पर प्रकाश डाला। पहले उनका एक लेख गंगा पुरातत्त्वांक में प्रकाशित हुआ था तदनन्तर उन्होंने 'पुरातत्त्व निवन्धावली' में सन् १९३७ में हिन्दी के प्राचीनतम कवि नामक लेख द्वारा इनकी रचनाओं को हिन्दी में प्रकाशित करवाया। इसी निबन्धावली में 'वज्रयान और चौरासी सिद्ध' नामक लेख द्वारा उनकी विचारधारा पर भी प्रकाश डाला।

सिद्धों के अनेक दोहों और गीतों का संग्रह राहुल जी ने 'हिन्दी काव्य धारा' में दिया है। इसी में उन्होंने सिद्धों द्वारा रचित अनेक कृतियों का निर्देश भी किया है। ये कृतियाँ अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकीं और ना ही प्राप्य हैं। इसलिये इनकी भाषा के विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। इस अध्याय से पूर्व महाकाव्य और खंड काव्य के अध्यायों में प्रवन्ध काव्यों का अध्ययन ग्रन्थ क्रम से प्रस्तुत किया गया था। सिद्धों के ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् प्रकाशन न होने के कारण इस प्रकार का अध्ययन संभव नहीं। ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि अनेक सिद्धों के दोहों और गानों के कुछ संग्रह प्रकाशित हुए हैं उन्हीं के आधार पर इस धार्मिक साहित्य को समझने का प्रयत्न किया जायगा।

सिद्धों की रचनाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ में धर्म के सिद्धांत, मत, तत्व, आदि का प्रतिपादन है और कुछ में तन्त्र, मंत्र आदि कर्मकाण्ड का खंडन मिलता है। इन्होंने वज्रयान और सहजयान विषयक विचारों को ही अधिकतर अपनी रचनाओं में प्रकट किया है।

बौद्ध धर्म क्रमशः हीनयान और महायान इन दो धाराओं में विभक्त हो गया। नागार्जुन, महायान का प्रबल पोषक था। नागार्जुन के बाद मैत्रेयनाथ, आर्यदेव, असंग

इत्यादि विद्वानों ने इसकी प्रतिष्ठा को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। इन्होंने अपने अपने मत और सिद्धांतों का प्रचार किया। असंग ने ईसा की पांचवी शताब्दी के लगभग महायान में तन्त्र का आविर्भाव किया।[1] धीरे धीरे महायान में तन्त्र, मन्त्र, बीजमन्त्र, धारणी, मंडल आदि का प्रवेश होता गया। तन्त्र के साथ साथ शक्ति-पूजा का भी आविर्भाव हो गया।

हीनयान और महायान में मुख्य भेद है— बुद्ध और निर्वाण के स्वरूप के विषय में। हीनयान, बुद्ध, धर्म और संघ के त्रित्व में विश्वास करते हुए बुद्ध को धर्म का उत्पादक एक महापुरुष मानता है। महायान उसे अलौकिक पुरुष से ऊपर देव-रूप में मानता है तथा बुद्ध, धर्म और संघ के स्थान पर धर्म, बुद्ध और संघ इस क्रम को उपयुक्त मानकर धर्म को या प्रज्ञा को प्रधानता देता है। उसके अनुसार धर्म-प्रज्ञा-नित्य है, यही सर्वोच्च लक्ष्य है। उस धर्म-प्रज्ञा को प्राप्त करने का उपाय बुद्ध है। धर्म प्राप्ति का यह उपाय इसी बुद्ध के द्वारा प्रसारित होता है। इसी प्रकार महायान में संघ का अर्थ बोधि सत्व—बोधि चित्त की प्राप्ति का प्रयत्न करने वाला—जीव हो गया।

इसके अतिरिक्त हीनयान संसार के दुःखों से, जन्म मरण के बन्धन से छुटकारा पा जाने में ही सन्तुष्ट है। यही उसका निर्वाण है। उसका यह निर्वाण उस के लिए ही है। महायान लोक मंगल के लिए उस चित्त वृत्ति को पाना चाहता है जिसे बोधि चित्त कहा गया है और जिसे प्राप्त कर जीव उत्तरोत्तर उन्नति करता जाता है।

क्रमशः निर्वाण के स्वरूप का प्रश्न उठा। निर्वाण क्या है? नागार्जुन ने उसे शून्य बताया। शून्य से महायानी सन्तुष्ट न हो सके। मैत्रेय नाथ ने उसमें विज्ञान को भी मिला दिया। उनका विचार था कि शून्य में भी विज्ञान या चेतना बनी रहती है। इसी को विज्ञानवाद कहा गया और आगे चलकर इसी का नाम योगाचार पड़ा। विज्ञानवाद भी जनता को संतुष्ट न कर सका। माध्यमिकों का विचार था कि शून्य, न सत्, न असत्, न सदसत् और न सदसत् का अभाव है।

बौद्ध धर्म की साधारण जनता निर्वाण के इस सूक्ष्म विचार को कैसे समझ सकती थी? धर्म गुरुओं ने शून्य के लिए एक नए शब्द 'निरात्मा' का आविष्कार किया। निरात्मा का अर्थ है जिस में आत्मा लीन हो जाए। बोधिसत्व इसी निरात्मा में लीन हो जाता है और वहीं अनन्त सुख (महासुख) में डूबा रहता है। इस प्रकार ८ वीं शताब्दी के लगभग शून्य में महासुखवाद का तत्व भी मिला दिया गया। निरात्मा शब्द स्त्रीलिंग में है अतः निरात्मा देवी मानी गई। उसी के आलिंगन में बोधिचित्त लीन रहता है। इस प्रकार महासुखवाद के परिणाम स्वरूप वज्रयान की उत्पत्ति हुई।[2]

---

१. बी. भट्टाचार्य—ग्लिम्प्सस आफ वज्रयान, प्रोसीडिंग एंड ट्रांजेक्शन्स आफ दि थर्ड ओरियंटल कान्फ्रेन्स, मद्रास, दिसम्बर १९२४ ई०, पृ० १३०।

२. बी. भट्टाचार्य—इंडियन बुद्धिस्ट इकोनोग्राफी, सन् १९२४, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, भूमिका पृ० १७।

वज्रयान का अभिप्राय है वज्र अर्थात् शून्य के द्वारा निर्वाण प्राप्त करना। शून्य का वज्र नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वह नित्य है, अच्छेद्य है, अदाह्य है। धर्म गुरुओं के निर्वाण प्राप्ति के इस नए साधन से जनता वज्रयान की और आकृष्ट हुई किन्तु उसे स्वरूप ज्ञान के लिए किसी गुरु या वज्राचार्य की आवश्यकता हुई। परिणामस्वरूप वज्रयान में गुरु-महत्ता प्रतिष्ठित हुई।

इस प्रकार इन्द्रभूति के महासुख वाद संबन्धी सिद्धान्त की स्थापना हो जाने पर ऊँचे विचार वाले शिक्षित बौद्धों को निर्वाण का सिद्धान्त भले ही न्याय्य और सर्वोच्च प्रतीत हुआ हो किन्तु साधारण जनता को वज्रयान की यह विचारधारा अधिक आकर्षक हुई। वज्रयान में एक ओर बौद्ध-धर्म के उच्च से उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन था और दूसरी ओर नीच से नीच अनैतिक कार्यों का समर्थन भी। इन्द्रभूति के अनुयायियों ने वज्रयान के प्रचार के लिए और जनता को वज्रयान से प्रभावित करने के लिए प्रचलित लोक भाषा में कविता की। जन साधारण की भाषा में कविता करके इन्होंने अपने विचारों को जनता के समझने योग्य तो बना दिया किन्तु इन्हें सदा इस बात का भय रहता था कि कहीं हमारे विरोधी इस आचार बाह्य कर्म-कलाप का विरोध कर जनता में हमारे प्रति घृणा का भाव न पैदा कर दें। अतएव ये अपनी कविता सब को सुनने का अवसर न देते थे। अधिकारी और सत्पात्र को ही ये लोग कवितायें सुनाते थे और इसीलिए इन्होंने ऐसी द्व्यर्थक भाषा का प्रयोग प्रारम्भ किया जो योगाचार और वज्रयान उभय पक्ष वालों के लिए उपयुक्त होती थी। इसी कारण इस भाषा को सन्ध्या भाषा कहा गया। भाषा की अस्पष्टता के कारण विना टीका की सहायता के कहीं कहीं सिद्धों के पदों का समझना कठिन हो जाता है। अतएव रहस्य भावना का समावेश होने लगा। क्रमशः गुह्य समाज की परम्परा चल निकली।

वज्रयान का इतना प्रभाव बढ़ गया कि वज्रयान के प्रचारकों और उनकी पुस्तकों के नाम के आदि या अन्त में वज्र शब्द का प्रयोग बहुलता से होने लगा। वज्र गुरुओं ने अशिक्षित जनता के निर्वाण या परमसुख के लिये अनेक मुद्रा, मन्त्र, मंडल, पूजा, धारणी, स्तोत्र, स्तव आदि का साधन आवश्यक बतलाया। सिद्धों और वज्राचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के पालन से ही अशिक्षित शिष्य या तो दिव्य शक्ति या सिद्धि या निर्वाण प्राप्त कर सकता है, ऐसा उनका दावा था। वज्रयान के जनता में फैलने का प्रमुख कारण यह था कि इसमें भिन्न-भिन्न स्तर और विचारधारा वाले लोगों के लिये अभीष्ट सब साधन वर्त्तमान थे—योग, देव पूजा, मन्त्र, सिद्धि, विषय भोग इत्यादि।

बौद्धों के अनुसार संसार में २६ लोक हैं जो तीन विभागों में विभक्त ह—काम, रूप और अरूप। बोधिचित्त निर्वाण की प्राप्ति के लिए इन लोकों में प्रवेश करता है। काम और रूप लोकों को पार कर वह अरूप लोक में पहुँचता है। रूप लोक में सर्वोच्च शिखर पर अकनिष्ठ है वहां अमिताभ बुद्ध वास करते हैं। उससे भी ऊपर सर्वोच्चस्थान है सुमेरु शिखर। उस स्थान पर पहुँच कर बोधि चित्त अपने आप को शून्य में डुबा देता है और उसी में विलीन हो जाता है। बोधि चित्त में विज्ञान के अतिरिक्त कुछ अव-

शेष नहीं रहता। वह अनन्तसुख या महासुख वाद की अनुभुति से युक्त हो जाता है।

बोधिचित्त की कल्पना एक शून्यरूप पुरुषाकार देव के रूप में की गई है और शून्य की कल्पना एक नैरात्मा देवी के रूप में। जिस प्रकार पुरुष स्त्री के आलिंगन में सुख प्राप्त करता है उसी प्रकार बोधिचित्त, शून्य या नैरात्मा देवी के आलिंगन से अनन्त सुख प्राप्त करता है इसका ऊपर निर्देश किया जा चुका है। नैरात्मा को ही शक्ति, प्रज्ञा, स्वाभाप्रज्ञा, प्रज्ञा पारमिता, मुद्रा घंटा आदि नामों से पुकारा जाता है। बोधिचित्त को ही वज्र और उपाय कहा गया है।

वज्रयानियों द्वारा प्रतिपादित मार्ग का ब्राह्मणों ने विरोध किया ही होगा। इसी कारण वज्रयानियों ने भी हिन्दुओं के कर्मकाण्ड का घोर कट्टरता से खंडन किया।]

वज्रयान मार्ग में योगी के लिये किसी कर्म का निषेध नहीं, किसी प्रकार का भोजन अभक्ष्य नहीं। मांस, मदिरा, मैथुन आदि पंच मकारों का भी निषेध नहीं किया गया है—

"कर्मणा येन वै सत्वाः कल्पकोटि शतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥

वज्रयानी अन्य साकार देवों की पूजा न कर स्वयं अपनी पूजा को सर्वश्रेष्ठ समझता है। वही सबसे बड़ा देव है। उसके समक्ष शुचि-अशुचि, भक्ष्य-अभक्ष्य, गम्य-अगम्य सब भेद नष्ट हो जाते हैं।

वज्रयान मार्ग में गुरु के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। गुरु से ही सच्चे मार्ग और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति बताई गयी है।

क्रमशः यह वज्रयान मार्ग इस सीमा तक पहुँच गया कि—

"संभोगार्थ मिदं सर्वं त्रैधातुकमशेषतः।
निर्मितं वज्रनाथेन साधकानां हिताय च॥"

इस प्रकार की घोषणा में भी इन्हें कोई संकोच न रहा।

बुद्ध, दुःख-बहुल संसार के दुःखों को दूर करने के लिये घर छोड़ बाहर निकल पड़े थे। अवलोकितेश्वर, दुःखी प्राणियों के दुःख दूर किये बिना स्वयं भी निर्वाण को न पाना चाहते थे। वज्रयानियों ने महायान की शून्यता एवं करुणा को क्रमशः प्रज्ञा एवं उपाय के नाम दे दिये और दोनों के मिलन को युगनद्ध की दशा बतलाकर प्रत्येक साधक के लिए इसी अवस्था को प्राप्त करना, अन्तिम लक्ष्य बताया। प्रज्ञा और उपाय के भौतिक प्रतीक स्त्री और पुरुष के पारस्परिक मिलन की अन्तिम दशा समरस या महासुख के नाम से कहलाई।[1] इस दशा की प्राप्ति के लिये महामुद्रा (वज्रयानीय योग की सहचरी योगिनी) की साधना का विधान होने से उस में अनाचर बढ़ने लगा।

---

१. परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परंपरा, भारती भंडार प्रयाग, वि० सं० २००८।

वज्रयान की ही एक शाखा सहजयान के नाम से प्रसिद्ध हुई। सभी साधक इस प्रकार पतित नहीं समझे जा सकते। वज्रयानियों में सफलता को प्राप्त करने वाले अनेक साधक हुए जो सिद्ध नाम से पुकारे गये। इस साधना के सच्चे स्वरूप को वे सहज के नाम से पुकारते थे। वे सहज के द्वारा सहज सिद्धि या सभी प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति संभव समझते थे। इन सिद्धों का विश्वास था कि साधना में चित्त विक्षुब्ध नहीं होना चाहिए। चित्त विक्षुब्ध होने पर साधना संभव नहीं। सहज सिद्धि के लिए इन साधकों ने वज्रयान मंत्रयान सम्बन्धी मन्त्र, मण्डल आदि बाह्य साधनाओं की उपेक्षा कर यौगिक एवं मानसिक शक्तियों के विकास पर बल दिया। वज्रयान मार्ग के अनेक प्रतीकों की व्याख्या इन्होंने अपने ढंग से की। वज्र शब्द का अभिप्राय उस प्रज्ञा से माना जाने लगा जो बोधि चित्त का सार है और जो शक्ति का सूचक है। इन साधकों का सम रस का अभिप्राय वज्रयानियों से भिन्न था। वज्रयानियों के भिन्न-भिन्न प्रतीकों की इन्होंने अपनी भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न व्याख्या की और भिन्न-भिन्न रूपकों के द्वारा अपने भावों को स्पष्ट किया। यद्यपि वज्रयान और सहजयान दोनों का लक्ष्य एक ही था—महासुख या पूर्ण आनन्द की प्राप्ति और समरस की दशा का ही दूसरा नाम सहज था,[1] तथापि दोनों यानों में से सहजयान में जीवन के परिष्कार एवं सुधार की कुछ भावना थी।

वज्रयान की तरह सहजयान के आचार्यों ने भी गुरु की आवश्यकता बताई। बाह्य कर्मकाण्ड की अपेक्षा आन्तरिक चित्त शुद्धि पर बल दिया। उस समय प्रचलित ब्राह्मण शैव, जैन व बौद्ध साधना पद्धतियों की कटुता से आलोचना की और सहज साधना का प्रचार किया। चित्त की शुद्धि और चित्त की मुक्ति ही सहज सिद्धि है—निर्वाण है, साधक का अन्तिम लक्ष्य है। सहजयान के अनुसार चित्त शुद्धि से सहजावस्था की प्राप्ति होती है और यही 'सहज' हमारा परम लक्ष्य है। इस सहज को ही बोहि (बोधि), जिणरअण (जिनरत्न), महासुह (महासुख), अणुत्तर (अनुत्तर), जिनपुर, धाम आदि नामों से पुकारा गया है।[2]

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सिद्धों ने वज्रयान के प्रतीकों की भिन्न रूप से व्याख्या की। इन के अनुसार "प्रज्ञा", चन्द्र नाड़ी इडा है और "उपाय", सूर्य नाड़ी पिंगला। दोनों के संयोग के निकट ही महासुख का उत्पत्ति स्थान है जिसे पवन के नियमन से प्राप्त किया जा सकता है। इस स्थान की कल्पना सिद्धों ने मेरु दण्ड या सुषुम्ना के सिरे के रूप में की। इसी को पर्वत का सर्वोच्च शिखर, महामुद्रा या मूल शक्ति नैरात्मा का निवासस्थान माना। इस साधना की कारण भूता काया को पवित्र तीर्थस्थान माना गया। जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी वर्तमान है फिर इधर उधर भटकना क्यों?

सिद्धों की कविता के मुख्य विषय थे—रहस्यमयी भाषा में सिद्धान्त-प्रतिपादन, सहज

१. डा० रमेशचन्द मजुमदार, हिस्ट्री आफ बेंगाल, भाग १, पृ० ४२०-४२१।
२. उत्तरी भारत की संत परंपरा, पृ० ४१।

मार्ग, गुरु की महत्ता काय रूपी पुण्य तीर्थ, तन्त्र-मन्त्र आदि का खंडन, धर्म के वाह्य रूप बोधक कर्मकलाप का कट्टरता से विरोध इत्यादि।

सिद्धों की कविता काव्यदृष्टि से चाहे उत्कृष्ट कोटि की कविता न कही जा सके तथापि इनकी कविता की अपनी विशेषता है। हृदय के भावों की सरिता चाहे रूढ़िबद्ध प्रणालियों में बहती हुई प्रतीत न होती हो तथापि उस सरिता में वेग है, एक अनुपम सौंदर्य है और अद्भुत प्रभावोत्पादकता है जिस के कारण इन कविताओं को पढ़ कर पाठक की आत्मा तृप्ति का अनुभव करती है।

सिद्धों के काल के विषय में पर्याप्त मतभेद है। श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने सरहपा सिद्ध का समय वि० सं० ६९० माना है। श्री राहुल सांकृत्यायन इनका काल सन् ७६० ई० मानते हैं। इस प्रकार श्री राहुल सांकृत्यायन सिद्धों का काल ८०० ई० से १२०० ई० तक मानते हैं। डा० सुनीति कुमार चैटर्जी सिद्धों की भाषा को इस काल के बाद की समझते हैं और इसी भाषा के आधार पर सिद्धों का काल १००० ई० से १२०० ई० के लगभग मानते हैं।[१]

सिद्धों की संख्या चौरासी मानी गई है। राहुल जी ने चौरासी सिद्धों की नामावली भी दी है। सिद्ध चौरासी ही थे या इस संख्या का कोई विशेष महत्त्व था कहना कठिन है। इन चौरासी सिद्धों की परम्परा में अनेक सिद्ध समसामयिक हैं। अनेक सहजयानी सिद्धों के नाम नाथ सिद्धों की सूची में भी समान मिलते हैं।[२] सिद्धों के नाम के पीछे पाद शब्द सम्मान का द्योतक है। इसी का विकृत रूप पा है।

सिद्धों की रचनाओं की भाषा पूर्वी अपभ्रंश है। पूर्व की प्रादेशिक भाषाओं के प्रभाव के कारण कुछ विद्वानों ने इस भाषा को भिन्न भिन्न पूर्वी देशों की भाषा समझ लिया। श्री विनय तोष भट्टाचार्य इन की भाषा को उड़िया,[३] श्री हरप्रसाद शास्त्री बंगला,[४] राहुल जी मगही कहते हैं।[५] किन्तु डा० प्रबोधचन्द्र बागची इन की भाषा को अपभ्रंश मानते हैं।[६] डा० सुनीति कुमार चटर्जी का भी यही विचार है कि सिद्धों की भाषा अपभ्रंश ही है।[७]

---

१. डा० सुनीति कुमार चैटर्जी, दी ओरिजन एंड डैवलपमेंट आफ बंगाली लेंग्वेज, पृ० १२३।

२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ संप्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, सन् १९५०, पृ० २७-३२।

३. साधनमाला—गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज संख्या ४१, पृ० ५३।

४. बौद्ध गान ओ दोहा, पृ० २४।

५. गंगा पुरातत्वांक, पृ० २५४।

६. डा० प्रबोधचन्द्र बागची, कलकत्ता, ओरियंटल जर्नल, भाग १, अक्तूबर १९३३–सितम्बर १९३४, पृ० २५२।

७. डा० सुनीति कुमार चैटर्जी, दि ओरिजन एंड डैवलपमेंट आफ दी बंगाली लेंग्वेज पृ० ११२।

चौरासी सिद्धों में से सरह, शवर, लूई, दारिका, कण्हपा और शान्ति मुख्य सिद्ध हुए। इनकी विचारधारा को समझने के लिए इन का संक्षेप में नीचे विवरण दिया जाता है।

सरह पा—सरह सिद्धों में सब से प्रथम हैं। इनका काल डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने वि० सं० ६९० निश्चित किया है। राहुल जी ने इनका काल ७६० ई० माना है। इनके दूसरे नाम राहुल भद्र और सरोज वज्र भी हैं। यह जन्म से ब्राह्मण थे। भिक्षु होकर एक अच्छे पंडित हुए। नालन्दा में कई वर्षों तक रहे। यह संस्कृत के भी ज्ञाता थे। पीछे इनका ध्यान मन्त्र तन्त्र की ओर आकर्षित हुआ और यह एक बाण (शर-सर) बनाने वाले की कन्या को महामुद्रा बनाकर किसी अरण्य में रहने लगे। वहां यह भी शर (बाण) बनाया करते थे, इसीलिये इनका नाम सरह पड़ा। शबर पाद इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन् जूर में इनके ३२ ग्रन्थों का अनुवाद मिलता है। इनकी मुख्य कृतियाँ हैं—काया कोष, अमृत वज्र गीति, चित्तकोष-अज-वज्र गीति, डाकिनी-गुह्य-वज्रगीति, दोहा कोष उपदेश गीति, दोहाकोष, तत्वोपदेश-शिखर- दोहाकोष, भावनाफल-दृष्टिचर्या-दोहाकोष, वसन्त-तिलक-दोहाकोष, चर्यागीति-दोहाकोष, महामुद्रोपदेश-दोहाकोष, सरह पाद गीतिका।[1] ये सब ग्रन्थ वज्रयान पर लिखे गये हैं।

सरह की कविता के विषय हैं—रहस्यवाद, पाखंडों का खंडन, मन्त्र देवतादि की व्यर्थता, सहजमार्ग, योग से निर्वाण प्राप्ति, गुरुमहिमागान आदि।

इनकी कविता की भाषा सीधी और सरल है—बीच-बीच में मुहावरों के प्रयोग से प्रभावोत्पादकता बढ़ गई है। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।[2]

कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए सरह कहते हैं :

बह्मणहि म जाणन्त हि भेउ। एवंइ पढिअउ ए चउवेउ॥
मट्टि पाणि कुस लई पढन्त। घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त॥
कज्जे विरहइ हुअवह होयें। अक्खि डहाविअ कड़ुएं धूयें॥

× × ×

किन्तह दीवें किं तह णेवज्जें। किन्तह किज्जइ मन्तह सेव्वे॥
किन्तह तित्थ तपोवण जाई। मोक्ख कि लब्भइ पाणीन्हाई॥

सरह मन्त्र तन्त्र को व्यर्थ समझते हैं .—

"मन्त ण तन्त ण धेअ ण धारण। सव्व वि रे बढ़ विब्भम कारण॥

यह भोग में ही निर्वाण प्राप्ति समझते हैं :

"खाअन्त पिअन्ते सुर्हहि रमन्ते। णित्त पुण्णु चक्का वि भरन्ते।
अइस धम्म सिज्झइ पर लोअह। णाह पाए दलीउ भअलोअह॥

---

१. राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबन्धावली, १९३७, पृ० १६९
२. उदाहरण दोहाकोष, चर्यापद और हिन्दी काव्यधारा से लिये गये हैं।

जहिं मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहिं वढ़ ! चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस।।
आइ ण अन्त ण मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण।।

सरह ने काया को ही सर्वोत्तम तीर्थ मानकर उसी से परम सुख प्राप्ति की ओर निर्देश किया है :—

"एत्थु से सुरसरि जमुणा, एत्थु से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु सें चन्द दिवाअरु।।
खेत्तु पीठ उपपीठ, एत्थु मइँ भमइ परिठ्ठओ।
देहा सरिसउ तित्थ, मइँ सुह अण्ण ण दिट्ठओ।।

गुरु की महत्ता की ओर सरह निम्न लिखित पद्यों में निर्देश करते हैं :—

"गुरु उवएसे अमिअ रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
वहु - सत्थत्थ - मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ तेहि।।
चित्ताचित्ति वि परिहरहु, तिम अच्छहु जिम बालु।
गुरु-वअणें दिढ भत्ति करु, होइ जइ सहज उलालु।।
जीवन्तह जो णउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु-उवएसें विमल - मइ, सो पर धण्णा कोइ।।
विसअ विसुद्धें णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी वोहिअ-काउ जिमु, पलुटिअ तह वि पड़ेइ।।

"उड्डी वोहिअ-काउ जिमु" इस उपमा का प्रयोग सूरदास ने अपने अनेक पदों में किया है —

"थकित सिन्धु नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत।"
(भ्रमर गीत ६०)

'भटकि फिर्‌यौ बोहित के खग ज्यों पुनि फिरि हरि पै आयो।'
(वही ११९)

'थकित सिन्धु नौका के खग ज्यों फिरि फिरि वोइ गण गावति।"
(वही २१३)

सरह ने इस वाक्य का अर्थ विषय-भोग-परक किया है अर्थात् मन बार-बार विषयों की ओर आता है। किन्तु सूर ने इसका अर्थ भक्ति-परक किया है—"गोपियों का मन बार-बार कृष्ण की ओर ही लौटता है जैसे सिन्धु में नौका स्थित पक्षी इधर-उधर भटक भटक कर फिर उसी की शरण में आता है।" इस प्रकार इन सिद्धों की कविता का प्रभाव हिन्दी के संत कवियों पर ही नहीं पड़ा अपितु अन्य कवि भी उनकी कविता से प्रभावित हुए। अनेक उपमाओं, वाक्यांशों, विचारों और वाग्धाराओं को जिनका प्रयोग सिद्धों ने सहजमार्ग के लिये किया सूर आदि भक्त कवियों ने भक्ति-परक अर्थ में किया।

चित्त शुद्धि पर सरह ने बहुत ध्यान दिया है।

"चितेके सअल वीअं भवणिव्वाणो वि जस्स विफुरंति।
तं चिंतामणि रूअं पणमह इच्छा फलं देंति॥
चित्ते वज्झे बज्झइ मुक्के मुक्कइ णत्थि संदेहा।
बज्झंति जेण वि जड़ा लहु परिमुच्चंति तेण बि बुहा॥

अर्थात् चित्त ही सबका बीजरूप है। भव या निर्वाण भी उसी से प्राप्त होता है। उसी चिंतामणि-रूप चित्त को प्रणाम करो। वही अभीष्ट फल देता है। चित्त के बद्ध होने पर मानव बद्ध कहा जाता है। उसके मुक्त होने पर निस्सन्देह मुक्त होता है। जिस चित्त से जड़ मूर्ख बद्ध होते हैं उसी से विद्वान् शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

यह चित्त ही सब कुछ है। इस सर्वरूप चित्त को ख-सम, आकाश के समान शून्य अथवा निर्लेप, बना देना चाहिये। मन को भी शून्य स्वभाव का बना देना चाहिये। इस प्रकार वह मन अमन हो जाय अर्थात् अपने चंचल स्वभाव के विपरीत निश्चल हो जाय, तभी सहज स्वभाव की प्राप्ति होती है।

"सव्व रूअ तहि खसम करिज्जइ, खसम सहावे मणवि धरिज्जइ।
सो वि मणु तहि अमणु करिज्जइ, सहज सहावै सो परु रज्जइ॥

सरह ने राग रागनियों में बद्ध गानों में भी यही विचार प्रकट किये हैं। निम्नलिखित गान में सरह ने सहज मार्ग का निर्देश किया है—

राग——देशाख

"नाद न बिन्दु न रवि शशि मण्डल
चिअ राअ सहावे मुकल॥
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहुरे वंक
निअडि बोहि मा जाहुरे लांक॥
हाथरे कांकण मा लेउ दापण
अपणे अपा बुझतु निअ मण॥
पार उआरें सोइ गजिअ
दुज्जन संगे अवसरि जाइ॥
वाम दाहिण जो खाल दिखला
सरह भणइ बापा उजु वाट भइला॥

(चर्यापद ३२)

अर्थात् नाद और विन्दु, सूर्य और शशि मंडल कुछ नहीं, चित्तराज स्वभाव से युक्त है। अरे! ऋजु मार्ग को छोड़कर कुटिल मार्ग का आश्रय न लो। "बोधि निकट है कहीं दूर (लंका) मत जाओ। हस्तस्थित कंकण के होते हुए दर्पण क्यों लेते हो? अपने आप आत्म तत्व को निश्चय से (या निजमन से) जानो। इसी मार्ग का अनुगामी पार पहुँच आनन्द में मग्न हो जाता है। दुर्जन संग से मानव भटक जाता है, मरण को प्राप्त

होता है। सरह कहते हैं कि सहज मार्ग के अनुगमन से बायें दायें जो खाई और गड्ढे ह सरल हो जाते हैं।

निम्न लिखित पद में सरह उपदेश देते हैं :—

"काया रूपी सुन्दर नौका में मन रूपी नौकादण्ड लगाकर, सद्गुरु वचन रूपी पतवार को धारण कर स्थिरचित्त से नौका को चलाओ। पार जाने का अन्य उपाय नहीं। नाविक नौका को रस्सी से खींचता है। मानव सहजमार्ग से ही पार जा सकता है अन्य उपाय नहीं। मार्ग में अत्यधिक भय है। प्रचंड लहरों से सब प्रकंपित है। कूल पर प्रचंड स्रोत में भली भाँति नौका चलाने से ही, सरह कहते हैं, गगन समाधि प्राप्त होगी।

राग भैरवी

"काअ णावडि खांटि मण केडुआल।
सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥
चीअ थिर करि धरहु रे नाइ
आण उपाय पार ण जाइ॥
नौवाही नौका टाणअ गुणे।
मेलि मेलि सहजें जाउ ण आणें॥
वाटत भअ खांट वि बलआ
भव उलोलें सब वि बोलिआ॥
कुल लइ खरे सोत्तें उजाअ
सरह भणइ गअणे समाअ[1]॥

(चर्यापद, ३८)

शबर पा : यह सरह पाद के शिष्य थे। लुई पा इन के शिष्य थे। संभवतः शबरों या कोल-भीलों के समान रहन सहन के कारण इन्हें शबर पाद कहा जाने लगा। राहुल जी ने तन् जूर में इन के अनूदित ग्रन्थों की संख्या २६ बताई है और उन में निम्नलिखित ग्रन्थों का निर्देश किया है—चित्त गुह्य गम्भीरार्थ गीति, महामुद्रा वज्र गीति, शून्यता दृष्टि इत्यादि।

ऊपर निर्देश किया जा चुका है कि सिद्ध, मेरुदण्ड या सुषुम्णा के सिरे पर पवन एवं मन को एक साथ निश्चल करते हैं। इस मेरुदण्ड को पर्वत के समान माना गया है

१. खांटि—सुन्दर। केडुआल—पतवार। नाइ—नाविक। नौवाही—नाविक। टाणअ—खींच। वाटत—मार्ग में। भअ—भय। खांट—अत्यधिक। बलआ—बलवान्, प्रचंड। बोलिआ— कम्पित हो गया। कुल—कूल, किनारा। खरे सोत्तें—प्रचंड धारा में। उजाअ—बहाओ, चलाओ।

जिस के सर्वोच्च शिखर पर महामुद्रा—मूलशक्ति—नैरात्मा का वास स्थान है। शबर पा इसी का वर्णन निम्न लिखित पद में करते हैं—

राग वलाड्डि

"ऊँचा ऊँचा पावत तहिं वसइ सवरी बाली।
मोरंगि पीच्छ परहिण सवरी गिवत गुञ्जरी माली॥
उमत सवरो पागल सवरो मा कर गुली गुहाडा तोहोरि।
णिअ घरिणी नामे सहज सुन्दरी॥
नाना तरुवर मोउलिल रे गअणत लागे ली डाली।
एक ली सवरी ए वण हिण्डइ कर्ण कुण्डल वज्र धारी॥
तिअ धाउ खाट पडिला सवरो महासुखे सेजे छाइली।
सवरो भुजंग नैरामणि दारी पेम्ह राति पोहाइली॥
हिअ ताँबोला महासुहे कापुर खाइ।
सुन नैरामणि कंठे लइआ महासुहे राति पोहाइ॥
गुरुवाक् पुंछिआ बिन्ध निअमण बाणे।
एके शरसन्धानें बिन्धह बिन्धह परमणिवाणे॥
उमत सवरो गरुआ रोषे।
गिरिवर सिहर सन्धि पइसन्ते सवरो लोडिब कइसे[1]॥

(चर्यापद, २८)

अर्थात् ऊँचे पर्वत पर शबरी बालिका (नैरात्मा) रहती है। उस का अंग मोर पंखों से शोभित है, गले में गुंजा माला है। शबर इसे पाने के लिये पागल है। वही तुम्हारी गृहिणी है- सहज सुन्दरी है। उस उच्च शिखर पर अनेक वृक्ष मुकुलित हैं उनकी शाखायें गगन स्पर्शी हैं। अकेली शबरी (नैरात्मा) वन में विचरती है। वहीं त्रिधातु-निर्मित खट्वा रखी है, महासुख रूपी शय्या बिछी हुई है। साधक वहां पहुँच कर उसी नैरात्मा रूपी दारिका के साथ आनन्द से विहार करता है—प्रेम से रमण करता है। वही महासुख है। उस का साधन, गुरु वाक्य रूपी पंखों से बने धनुष को लेकर उस पर निज मन रूपी बाण का सन्धान कर परम निर्वाण का भेद करना है। उन्मत्त साधक जब उस पर्वत शिखर पर पहुँच जाता है तब वहां से उसका लौटाया जाना कैसे संभव है?

उत्तर काल में भगवान को स्त्री रूप में आराध्य मानकर उससे प्रेम करना और उसकी प्राप्ति का प्रयत्न सिद्धों की इसी विचारधारा का परिणाम प्रतीत होता है।

---

१. पावत—पर्वत। गुंजरी माली—गुंजा माला। उमत—उन्मत्त। मोउलिल—मुकुलित। गअणत—गगन से। तिअ धाउ—त्रिधातु की। नैरामणि—नैरात्मा। पेम्ह—प्रेम से या देखते हुए। पोहाइली—बिताई। लोडिब—लौटाया जाय।

लुई पा—यह राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) के कायस्थ—लेखक—थे। पीछे से शबरपाद से प्रभावित हो उन के शिष्य बन गए। सिद्धों में इनका ऊँचा स्थान है। राहुल जी ने इन के तन्जूर में सात अनूदित ग्रन्थों का निर्देश किया है और इन की निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख किया है—अभिसमय विभंग, तत्व स्वभाव दोहा कोष, बुद्धोदय, भगवदभिसमय, लुई पाद गीतिका।

लुईपा इन्द्रिय और चित्त के निग्रह का उपदेश रहस्यमयी भाषा में देते हुए कहते हैं कि चित्त वृत्तियों के शमन तथा इन्द्रियों के दमन का उपाय गुरु से पूछो।

राग——पट मंजरी

काआ तरुवर पंचवि डाल। चंचल चीए पइट्ठा काल॥
दिढ करिअ महासुह परिमाण। लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।
सअल समाहिअ काहि करिअइ। सुख दुखे त निचित मरिअइ।
ए डिएउ छान्दक बान्ध करण कपटेर आस। सुनु पाख भिडि लेहुरे पास[1]॥
भणइ लुई आम्हे झाणे दिट्ठा। धमण चमण वेणि पाण्डि बइट्ठा[2]॥
(चर्या० १)

निम्नलिखित पद में लुइपा विज्ञान—शून्य—का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—

राग——पट मंजरी

भाव न होइ अभाव ण जाइ
अइस सँबोहें को पतिआइ॥
लुइ भणइ वढ दुलक्ख विणाणा
तिअ धाए विलसइ उह लागे णा॥
जाहेर बाण-चिह्न रुव ण जाणी।
सो कइसे आगम वेएँ वखाणी॥
काहेरे किस भणि मइ दिवि पिरिच्छा
लइ भणइ मइ भावइ किस
जा लइ अच्छम ताहेर उह ण दिस॥[3]
(चर्यापद, २९)

---

१. राहुल जी ने इस पंक्ति को निम्नलिखित रूप में दिया है—
"छडिअउ छंद बांध करण कपटेर आस। सुण्ण पक्ख भिड़ि लेहु रे आस॥"
२. काल—काला अंधकार। धमण ... बइट्ठा—चन्द्र सूर्य दोनों के ऊपर बैठ कर।
३. विणाणा—विज्ञान, चमत्कार। उह लागे णा—ऊहा, चिह्न अर्थात् इसकी आकृति का ग्रहण नहीं किया जा सकता; वह किसी स्थूल आकार में प्राप्त नहीं हो सकता। बाण—वर्ण। वेएं—वेदों से। दिवि—दी जाय। पिच्छा—मिथ्या।

जल प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान वह तत्व न सत्य है न मिथ्या। उस का ज्ञान कठिन है, क्योंकि उसके वास्तविक स्वरूप का कोई चिह्न नहीं। उसका व्याख्यान भी नहीं किया जा सकता है।

दारिक पा—यह लुई पा के शिष्य थे। प्रसिद्धि है कि पहिले यह ओड़ीसा के राजा थे बाद में लुईपा से प्रभावित होकर उन के शिष्य बन गए। इन के साथ इन के मंत्री डेंगी पा भी उन के शिष्य बन गये। गुरु के आदेश से सिद्धि प्राप्ति के लिए यह अनेक वर्षों तक कांचीपुरी में एक गणिका की सेवा में लगे रहे। सिद्धि प्राप्ति के अनन्तर इन का नाम दारिक पा पड़ा। इन के शिष्य वज्र घंटा पाद थे।

इन की महासुखवाद परक एक रहस्यमयी कविता का उदाहरण देखिये—

राग वराही

सुन करुण रे अभिनचारें काअ वाक् चिएँ।
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें॥
....
किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे झाण वखाणे
अपइठान महासुहलीलें दुलक्ख परम निवाणें॥
....
राआ राआ राआरे अवर राअ मोहे रे बाधा
लुइ पाअ पए दारिक द्वादश भुअणे लाधा॥

(चर्यापद, ३४)

शून्य करुणा की अभिन्नता से दारिक पा गगन के परम पार तट पर विलास करता है। तन्त्र मन्त्र ध्यान व्याख्यान सब को व्यर्थ समझता है। इस अवस्था में पहुँच कर ही वह वास्तव में राजा हुआ, अन्य राज्य तो मोह के बन्धन हैं। लुई पा के चरणों का आश्रय लेने से दारिक पा ने बारह भुवन प्राप्त कर लिए।

कण्ह पा (कृष्ण पाद)—कर्णाटक देश में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण इन को कर्ण पा और शरीर का रंग काला होने से कृष्ण पा या कण्ह पा कहते थे। राहुल जी ने यद्यपि इन्हें ब्राह्मण कुलोत्पन्न माना है किन्तु श्री भट्टाचार्य ने इन्हें जुलाहा जाति में उत्पन्न उड़िया भाषी कहा है।[१] महाराज देवपाल (८०९–८४९ ई०) के समय में यह एक पण्डित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी विहार (पहाड़ पुर, जि० राज शाही) में रहे। पीछे से यह सिद्ध जालन्धर पाद के शिष्य हो गए। चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या की दृष्टि से यह सब से बड़े सिद्ध माने जाते थे। चौरासी सिद्धों में से सात से अधिक इन के शिष्य गिने गए हैं। उस समय सिद्धों का गढ़ विहार प्रदेश था। इन के दर्शन पर लिखे छह और तन्त्र पर लिखे चौहत्तर ग्रन्थों के तन्जूर में मिलने का राहुल जी

---

१. साधनमाला, भाग २, प्रस्तावना, पृ० ५३।

ने निर्देश किया है। उन्होंने इन के निम्नलिखित कविता ग्रन्थों को, जिन के भोटिया अनुवाद तन्जूर में मिलते हैं, मगही में लिखित बताया है—

१. कान्ह पाद गीतिका, २. महाढुण्डन मूल, ३. वसन्त तिलक, ४. असम्बन्ध दृष्टि, ५. वज्र गीति, ६. दोहा कोष। 'बौद्ध गान ओ दोहा' में इनका दोहा कोष जिस में बत्तीस दोहे हैं, संस्कृत टीका सहित छपा है।

जालन्धर पाद और कृष्ण पाद दोनों सिद्धों की गणना शैव सिद्धों में भी की गई है। इससे इनके महत्व की सूचना मिलती है।

कृष्णपा, आगम, वेद, पुराण और पंडितों की निन्दा करते हुए कहते हैं—

लोअह गव्व समुब्वहइ, हउँ परमत्थ पवीण।
कोडिअ मज्झे एक्कु जइ, होइ णिरंजण लीण॥
आगम वेअ पुराणे (ही), पण्डिअ माण वहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिअ जिम बाहेरीअ भमन्ति॥

(दोहा कोष)

अर्थात् व्यर्थ ही मनुष्य गर्व में डूबा रहता है और समझता है कि मैं परमार्थ में प्रवीण हूँ। करोड़ों में से कोई एक निरंजन में लीन होता है। आगम, वेद, पुराणों से पण्डित अभिमानी बनते हैं, किन्तु वे पक्व श्रीफल के बाहर ही बाहर चक्कर काटते हुए भौरें के समान आगमादि के बाह्यार्थ में ही उलझे रहते हैं।

कण्हपा निम्नलिखित दोहों में मन को निश्चल कर सहज मार्गप्राप्ति का उपदेश देते हैं—

जइ पवण गमण दुआरे, दिढ तालाबि दिज्जइ।
जइ तसु घोरान्धारें, मण दिवहो किज्जइ॥
जिण रअण उअरें जइ, सो वरु अम्वरु छुप्पइ।
भणइ काण्ह भव भज्जन्ते, णिव्वाणो वि सिज्झइ॥

दोहों के अतिरिक्त अनेक राग रागनियों में भी कण्ह पा ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। देखिये निम्नलिखित पद में वह अपनी भावना को एक गान के रूप में अभिव्यक्त करता है—

राग——देशाख़

नगर बाहिरे रे डोम्बि तोहोरि कुडिआ।
छोइ छोइ जाइसो बाह्मण नाडिआ॥
आलो डोम्बि तोए सम करिब म सांग।
निघिण काह्न कापालि जोइ लांग॥
एक सो पदुमा चौषठी पाखुड़ी।
तहिं चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी॥

इत्यादि (चर्यापद, १०)

ऊपर बताया जा चुका है कि शरीर का प्रधान आधार रीढ़ या मेरुदण्ड है। इसके भीतर तीन नाड़ियों से होता हुआ प्राण वायु संचरित होता है। बाईं नासिका से ललना और दाईं नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियाँ चलती हैं। इनमें पहली प्रज्ञा–चन्द्र–है और दूसरी उपाय–सूर्य। इन्हीं को इडा और पिंगला कहा गया है। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है। यह सुषुम्णा भी कही जाती है। इसी अवधूती नाड़ी से जव प्राणवायु ऊर्ध्व गति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता। अत एव अवधूती नाड़ी ग्राह्य ग्राहक वर्जिता कही गई है। मेरु गिरि के शिखर पर महासुख का आवास है वहां एक चौसठ दलों का कमल है। यह कमल चार मृणालों पर स्थित है। इसी चौसठ दलों वाले कमल (पद्म) पर स्थित वज्रधर (योगी) इस पद्म का आनन्द वैसे ही लेता है जैसे भ्रमर प्रफुल्ल कुसुम का। इन चार मृणालों के दलों को शून्य, अतिशून्य, महाशून्य, और सर्व शून्य नाम दिया गया है। सर्व शून्य के आवास का नाम ही उष्णीष कमल है। यहीं डाकिनी जालात्मक जालन्धर गिरि नामक महामेरु गिरि का शिखर है। यही महासुख का आवास है। इसी गिरि शिखर पर पहुँचने पर योगी वज्रधर कहलाता है। यहीं वह सहजानन्द रूप महासुख का अनुभव करता है।[1]

ऊपर कण्हपा के पद में अवधूती नाड़ी ही डोम्बिनी या डोमिनी है और चंचल चित्त ही ब्राह्मण है। डोमिन से छू जाने के भय से वह अभागा ब्राह्मण भागा भागा फिरता है। विषयों का जंजाल एक नगर के रूप में है और अवधूती रूपी डोमिन इस नगर से बाहर रहती है। कण्ह पा कहते हैं कि हे डोमिन तुम चाहे नगर के बाहर कहीं रहो यह निर्घृण और नग्न (लांग) कापालिक कण्हपा तुम्हारा ही संग करेगा। उसी ऊपरि निर्दिष्ट चौसठ पँखुड़ियों के दल पर डोमिन नाच रही है।

इसी अवधूती के संग से उत्पन्न महासुख का कण्हपा ने निम्नलिखित विवाह के रूपक द्वारा वर्णन किया है—

राग——भैरवी

भव निर्वाणे पड़ह मादला।
मण पवण वेणि करण्ड कशाला॥
जअ जअ दुन्दुहि साद उछलिला।
काह्न डोम्बी विवाहे चलिला॥
डोम्बी विवाहिआ अहारिउ जाम।
जउतुके किउ आणुतु धाम॥
अह निसि सुरअ पसंगे जाअ।
जोइणि जाले रअणि पोहाअ॥

---

१. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी——नाथ संप्रदाय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, सन् १९५०, पृ० ९३।

डोम्बी एर संगे जो जोइ रत्तो।
खणह न छाड़अ सहज उन्मत्तो॥[१]
(चर्यापद, १९.)

कण्हपा और डोमिन के विवाह में पटह, ढोल आदि का शब्द उठ रहा है। मन पवन दोनों वाद्य यन्त्र हो गये। जय जय शब्द होने लगा। कण्हपा ने डोमिन को वधू रूप में स्वीकार कर लिया। दहेज में उसे अनुत्तर धाम मिला। उसने जन्म मरण के बंधन को नष्ट कर दिया। दिन रात उसी के संग से महासुख में लीन रहता है। इस प्रकार उसने पूर्ण निर्वाण अवस्था को प्राप्त कर लिया।

मन रूपी वृक्ष की पांच इन्द्रिय रूपी शाखायें हैं। वे अनन्त आशा रूपी पत्र फलों से लदी हुई हैं। यह वृक्ष शुभाशुभ रूपी जल से बढ़ता है। कण्हपा ने गुरु वचन रूपी कुठार से इसे काटने का, निम्नलिखित पद में उपदेश दिया है—

राग—मल्लारी

मण तरु पांच इन्दि तसु साहा।
आसा बहल पात फल बाहा॥
वर गुरु वअणे कुठारें च्छिजअ।
काह्न भणइ तरु पुण न उइजअ।
बाढइ सो तरु सुभासुभ पाणी।
च्छेवइ विदु जन गरु परिमाणी॥
इत्यादि (चर्यापद, ४५.)

सहज यान में गुरु की महत्ता का निर्देश तो है किन्तु वह महासुख क्योंकि वाणी द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता, अतएव गुरु भी उसका स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं कर सकता, उसका आभास मात्र दे सकता है। कण्हपा कहते हैं—

राग—मालसी गवुड़ा

जो मणगोअर आला जाला।
आगम पोथी इष्टामाला॥
भण कइसें सहज बोल वा जाअ।
काअ वाक् चिअ जसु ण समाअ॥
आले गुरु उएसइ सीस।
वाक् पथातीत कहिब कीस॥
(चर्यापद, ४०.)

---

१. जअ जअ—जय जय। साद—शब्द। जाम—जन्म। आणुतु—अनत्तर।

सहज सुख प्राप्त हो जाने पर साधक योग निद्रा में लीन हो जाता है। चेतना वेदना सब नष्ट हो जाती है। अपने पराये का भेद नष्ट हो जाता है। इस स्वसंवेद्यावस्था में सारा संसार स्वप्नवत् प्रतीत होने लगता है। इस ज्ञान निद्रा में त्रिभुवन शून्यमय हो जाता है। आवागमन के बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी का वर्णन कृष्णपा ने निम्नलिखित पद में किया है—

राग——पट मंजरी

सुण बाह तथता पहारी।
मोह भण्डार लइ सअला अहारी॥
घुमइ ण चेवइ स पर विभागा।
सहज निदालु काहि्नला लांगा॥
चेअन न वेअन भर निद गेला।
सअल मकल करि सुहे सुतेला॥
स्वपणे मइ देखिल तिहुवण सुण।
घोलिआ अवणागमण-विहुण॥

इत्यादि (चर्यापद, ३६.)

शान्ति पा——यह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। सिद्धों में यही सबसे अधिक प्रकाण्ड विद्वान् माने गये हैं। यह उडन्तपुरी, विक्रमशिला, सोमपुरी, मालवा और सिंहल में ज्ञानार्जन करते-करते धर्म-प्रचार भी करते फिरते थे। अपनी गम्भीर विद्वत्ता के कारण ही यह "कलि काल सर्वज्ञ" कहे जाते थे। यह गौड़ राज के राजगुरु और विक्रमशिला के प्रधान थे। इनका समय १००० ई० के लगभग माना जाता है।[1]

निम्नलिखित पद में शान्तिपा सहजमार्ग की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यह मार्ग स्वसंवेदन और स्वानुभूति का मार्ग है। इसका यथार्थ वर्णन संभव नहीं। माया-मोह-समुद्र में यही नौका है जिससे पार पहुँच सकते हैं। इस मार्ग में वाम व दक्षिण नामक दोनों पार्श्वों का परित्याग कर आँखों देखी राह से और आँखें मूंद कर सीधे चलना पड़ता है। इस प्रकार आगे बढ़ने से तृण कंटक इत्यादि या ऊबड़ खाबड़ स्थानों की अड़चनें किसी प्रकार भी बाधा नहीं पहुँचा सकतीं।

राग——रामक्री

सअ संवेअण सरुअ विआरें अलक्ख लक्ख ण जाइ।
जे जे उजवाटे गेला अनावाटा भइला सोइ॥
माआ मोह समुदारे अन्त न बुझसि थाहा।
आगे नाव न भेला दीसइ भन्ति न पुच्छसि नाहा॥

१. हिन्दी काव्य धारा, अवतरणिका, पृ० ५३।

सुना-पान्तर उह न दीसइ भान्ति न बाससि जान्ते।
एषा अटमहासिद्धि सिझइ उजूवाट जाअन्ते॥
वाम दाहिण दो वाटा छाड़ी शान्ति बुलथेउ संकेलिउ।
घाट ण गुमा खड़तड़ि ण होइ आखि बुजिअ वाट जाइउ॥[1]

(चर्यापद, १५.)

निम्नलिखित पद में शान्तिपा रूई को धुनने के रूपक द्वारा शून्यता को प्राप्त करने का आदेश देते हैं—

राग——शबरी

तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु।
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु॥
तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ।
पुण लइआ अपणा चटारिउ॥
बहल बढ़ दुइ मार न दिशअ।
शान्ति भणइ बालाग न पइसअ॥
काज न कारण ज एहु जुगति।
सअ संवेअण बोलथि सान्ति॥

(चर्यापद, २६.)

अर्थात् रूई को धुनते धुनते उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अँश-रेशे-निकालते चलो फिर भी उसका कारण दृष्टिगत नहीं होता। उसको अंश अंश रूप से विभाजन और विश्लेषण कर देने पर अन्त में कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता अपितु अनुभव होने लगता है कि रूई शून्यता को प्राप्त हो गई। इसी प्रकार चित्त को भली भाँति 'धुनने' पर भी उसके कारण का परिज्ञान नहीं होता। उसे समग्र वृत्तियों से रहित और निःस्वभाव कर शून्य तत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रकार सिद्धों के विवरण और उनकी कविता के उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने प्रायः अपने ही सिद्धान्तों को दोहों और गानों में अभिव्यक्त किया है। कहीं कहीं अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिये इन सिद्धों ने रूपकों का भी प्रयोग किया है किन्तु इन रूपकों में ऐसे ही पदार्थ चुने गये है जिनका मानव जीवन के

---

१. अनावाटा——टीकाकार ने इस शब्द का अर्थ 'सः सः मार्गे अन्यत्र गतः' ऐसा दिया है। हम समझते हैं कि इसका अर्थ अनावृत्त या अनावर्त्त है। अर्थात् जो ऋजु मार्ग पर चलता है वह फिर इस संसार बन्धन में लौट कर नहीं आता—अनावृत्त हो जाता है। अथवा इस संसार सागर के आवर्त्त—भंवर—से छूट जाता है। भेला——बेड़ा। सूना पान्तर—शून्य प्रान्तर। उह——चिह्न, लक्षण। भान्ति—बाससे——भ्रान्ति वासना में।

साथ संबन्ध है। ऊपर शान्तिपा के रूई धुनने के रूपक का और कण्हपा के विवाह के रूपक का उल्लेख किया जा चुका है। इसी प्रकार नौका का रूपक[१], हरिण का रूपक[२], चूहे का रूपक[३], हाथी[४], सूर्य, वीणा आदि के रूपक भी सिद्धों के गानों में मिलते हैं। रूपकों के अतिरिक्त अप्रस्तुत विधान के लिए भी कच्छप, कमल, भ्रमर, नक्र, करह आदि मानव जीवन संबद्ध पदार्थों को ही अधिकतर प्रयुक्त किया।

इन सिद्धों की रचनायें कुछ तो दोहों में मिलती हैं और कुछ भिन्न-भिन्न गेय पदों के रूप में। चर्यापद में संगृहीत सिद्धों के प्रत्येक पद के प्रारम्भ में किसी न किसी राग का निर्देश मिलता है। इन गेय पदों में कहीं कहीं पादाकुलक, अडिल्ला, पज्झटिका, रोला आदि छन्द भी मिल जाते हैं।

उपरिनिर्दिष्ट सिद्धों की कविता के उदाहरणों से स्पष्ट है कि सिद्धों की यही विचार धारा नाथ पंथियों द्वारा कुछ परिवर्तित एवं परिष्कृत होकर हिन्दी-साहित्य के संत कवियों तक पहुँची। रहस्य की भावना, बाह्य कर्म कलाप का खण्डन, गुरु की महत्ता, अक्खड़पन आदि की प्रवृत्तियाँ दोनों में समान रूप से मिलती हैं। कबीर के दोहे भी इसी प्रकार प्रसिद्ध हैं जिस प्रकार सिद्धों के। अपने भावों को संक्षेप से अभिव्यक्त करने का साधन दोहा छन्द से अच्छा और क्या हो सकता है? इस प्रकार भावधारा और शैली दोनों दृष्टियों से परवर्ती हिन्दी साहित्य इन सिद्धों का ऋणी है।

---

१. का अ णावडि खांटि मण केडुआल। सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥
इत्यादि, सरह, चर्यापद, ३८
गंगा जउँना मांझे बहइ नाई, इत्यादि
डोम्बी, चर्या० १४
सोन भरिती करुणा नावी इत्यादि। कमरिपा, चर्या० ८

२. अप्पण मांसे हरिणा बइरी। खणह ण छाडअ, भूसुक अहेरी॥
इत्यादि भूसुक, चर्या० ६

३. णिशि अंधारी मूसा करअ अचारा। अमिअ-भखअ मूसा करअ अहारा॥
इत्यादि, भूसुक, चर्या० २१

४. तीनिए पाटे लागेलि अणहअ सन घण गाजइ।
ता सुनि मार भयंकर विसअ-मंडल सअल भाजइ॥
मातेल चीअ-गएन्दा धावइ। इत्यादि महीपा, चर्या० १६।

ग्यारहवाँ अध्याय

अपभ्रंश मुक्तक काव्य (३)

विविध-साहित्यिक

(प्रेम, शृङ्गार, वीर भावादि संबंधी फुटकर पद्य)

इस से पूर्व अपभ्रंश साहित्य की मुक्तक परंपरा में धार्मिक साहित्य का विवेचन किया गया। अब इसी मुक्तक परंपरा में ऐसे मुक्तक पद्यों का उल्लेख किया जायगा जो संस्कृत प्राकृत के ग्रन्थों में इतस्ततः विकीर्ण मिलते हैं। ये मुक्तक पद्य, अलंकार, व्याकरण और छन्दों के ग्रन्थों में नियमों और उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। इन पद्यों का प्रयोग प्रायः जन साधारण के जीवन से संबद्ध घटनाओं और दृश्यों में हुआ है। ये पद्य प्रबन्ध ग्रन्थों में प्रबन्धों के अन्तर्गत चारण, गोप आदि पात्रों द्वारा व्यवहृत हुए दिखाई देते हैं और सुन्दर साहित्यिक सुभाषितों और सूक्तियों के उदाहरण प्रस्तुत करते ह।

ये साहित्यिक सुभाषित रूप में प्राप्त मुक्तक पद्य हमें मुख्य रूप से निम्नलिखित ग्रन्थों में मिलते हैं :—

१. कालिदास के विक्रमोर्वशीय नामक नाटक का चतुर्थ अंक।

२. हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण का ८ वां अध्याय, छन्दोऽनुशासन और प्राकृत द्व्याश्रय काव्य।

३. सोमप्रभाचार्य कृत कुमारपाल प्रतिबोध।

४. मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबंधचिन्तामणि।

५. राजशेखर सूरि कृत प्रबन्ध कोश।

६. प्राकृत पैंगल।

७. पुरातन प्रबन्ध संग्रह।

इनके अतिरिक्त आनन्द वर्धन के ध्वन्यालोक, रुद्रट के काव्यालंकार, भोज के सरस्वती कण्ठाभरण, धनंजय के दशरूपक आदि अलंकार ग्रन्थों में भी कतिपय अपभ्रंश पद्य मिलते हैं।

इन पद्यों के विषय में यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि विविध ग्रन्थों में प्राप्त इन अपभ्रंश पद्यों के काल के विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। जिन ग्रन्थों में ये पद्य उद्धृत किये गये मिलते हैं वे पद्य ग्रन्थकार के अपने भी हो सकते हैं

और यह भी संभव है कि उनको ग्रन्थकार ने अपने से पूर्वकालीन किसी कवि के ग्रन्थ से उदाहरण रूप में उद्धृत किया हो। कौन सा पद्य स्वयं ग्रन्थकार का बनाया हुआ है और कौन सा उसने किसी दूसरे कवि का उदाहरण रूप से उद्धृत किया है, इसका ज्ञान सरल नहीं। ऐसी परिस्थिति में इन पद्यों के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ये पद्य जिस भी ग्रन्थकार ने उद्धृत किये हैं उन पद्यों की उस काल में या उस काल से पूर्व रचना हो गई थी।

इन पद्यों में श्रृंगार, वीर, वैराग्य, नीति, सुभाषित, प्रकृति चित्रण, अन्योक्ति, राजा या किसी ऐतिहासिक पात्र का उल्लेख, आदि विषय अंकित हुए हैं। इन पद्यों में कवित्व है, रस है, चमत्कार है और हृदय को स्पर्श करने की शक्ति है। ये पद्य साहित्यिक सुभाषित और सूक्ति रूप मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ये पद्य गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, सुभाषित रत्नावली आदि रूपों की तरह यद्यपि संगृहीत रूप में नहीं मिले तथापि संभवतः इनका कोई संग्रह ग्रन्थ होगा जिनमें से अनेक कवियों ने उदाहरण के लिये अपनी रुचि के अनुकूल अनेक पद्य चुने, ऐसी कल्पना उचित जान पड़ती है। एक ही पद्य का अनेक ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में उल्लेख इसी दिशा की ओर संकेत करता है। उदाहरण के लिये निम्न लिखित पद्य हमें सोमप्रभ के कुमारपाल प्रतिवोध में और प्रबन्ध चिन्तामणि में मिलता है :—

"रावणु जायउ जहिं दियहि दह-मुहु एक्क-सरीरु।
चिंताविय तइयहिं जणणि कवणु पियावहुं खीरु॥"
(कु० पा० प्र० पृष्ठ ३९०)

"जईयह रावणु जाईयउ दह मुहु इक्कु सरीरु।
जणणी वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउं खीरु॥"
(प्र० चि० पृष्ठ २८)

इसी प्रकार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण और प्रबन्ध चिन्तामणि के अनेक पद्य समान रूप हैं। हेमचन्द्र के और सोमप्रभ के अनेक पद्यों में एकरूपता है। इससे हम कल्पना कर सकते हैं कि इन ग्रन्थकारों ने इस प्रकार के पद्यों को किसी संग्रह ग्रन्थ से लिया होगा।

नीचे इसी विविध साहित्यिक सुभाषित और सूक्ति रूप में प्राप्त मुक्तक परंपरा का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है :—

कालिदास—कालिदास के विक्रमोर्वशीय नामक नाटक के चतुर्थ अंक में सोन्माद राजा पुरूरवा के मुख से अनेक अपभ्रंश पद्य सुनाई देते हैं। इस नाटक के अतिरिक्त अन्य किसी नाटक में अपभ्रंश पद्य नहीं मिलते। संस्कृत के अन्य नाटकों में कुछ शब्द, वाक्यांश या वाक्य, अपभ्रंश या अपभ्रंशाभास रूप में दिखाई देते हैं किन्तु अपभ्रंश के इस साहित्यिक सौष्ठव का अन्य नाटकों में प्रायः अभाव है। इन पद्यों की प्रामाणिकता के विषय में विद्वान् एक मत नहीं। पद्यों के प्रारम्भ में द्विपदिका, चर्चरी, खण्डक, खुरक, कुटिलिका आदि कुछ गीतों का निर्देश है। कालिदास का समय निश्चित न होने से इन पद्यों के

समय के विषय में भी निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता । पद्यों के कुछ उदाहरण देखिये :—

"मइ जाणिअ मिअलोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव णु णव तडिसामलि धाराहरु बरिसेइ ।।"

विक्षिप्त राजा नव तड़ित् से युक्त श्यामल मेघ को बरसते देख कहता है—मैंने समझा कि कोई राक्षस मृगनयनी उर्वशी को हरण कर लिये जा रहा है।

उन्मत्त राजा बादल से प्रार्थना करता है कि :—

"जलहर संहर एहु कोप मिआढ़त्तओ
अविरल धारासार दिशा मुह कन्तओ।
ए मइं पुहवि भमन्ते जइ पिअं पेक्खिहिमि,
तच्छे जं जु करीहसि तं तु सहीहिमि ।।"

हे जलधर ! अपना क्रोध रोको । यदि मुझे पृथ्वी पर घूमते घूमते प्रियतमा मिल गई तो जो-जो करोगे सब सहन करूँगा । वह वन में कभी मोर से, कभी कोयल से, कभी चक्रवाक से, कभी हाथी से, कभी पर्वत से, कभी मृग से और कभी वन लता से उर्वशी का समाचार पूछता फिरता है—

"परहुअ महुर पलाविणि कन्ती,
णन्दण वण सच्छन्द भमन्ती।
जइं पइं पिअअम सा महु दिट्ठी
ता आअक्खहि महु परपुट्ठी ।।"
"हुंइं पैं पुच्छिमि आअक्खहि गअवरु
ललिअ पहारे णासिअ तरुवरु।
दूर विणिज्जिअ ससहरकन्ती,
दिट्ठी पिअ पैं संमुह जन्ती ।।"
"फलिह सिलाअल णिम्मल णिब्भरु
बहुविह कुसुम विरइअ सेहरु।
किंणर महुरुगीअ मणोहरु
देक्खावहि महु पिअअम महिहरु[1] ।।

हेमचन्द्र—यह श्वेतांवर जैन थे। इनका संबंध गुजरात के जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल नामक दो बड़े बड़े राजाओं के साथ था । इनका जन्म गुजरात के एक जैन वैश्य परिवार में वि० सं० ११४५ में हुआ ।[2] यह जैन मठ के आचार्य बने और अन्हिलवाड़

---

१. परहुअ—परभृता, कोकिल। कन्ती—कान्ते, प्रिये । पइं—तूने। पिअअम—प्रियतमा। परपुट्ठी—पर पुष्टा, कोकिल। हुइं पैं—में तुमसे। गअवरु—गजवर। फलिह⋯णिब्भरु—स्फटिक शिला के समान अत्यन्त निर्मल ।

२. हिस्ट्री आफ मिडीवल हिन्दू इण्डिया, भाग ३, पृष्ठ ४११

में रहे। इनकी मृत्यु ८४ वर्षों में वि० सं० १२२९ में हुई। इनका जन्म का नाम चंगदेव था, दीक्षा पर सोमचन्द्र और सूरि पद प्राप्त करने पर हेमचन्द्र नाम हुआ। यह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने द्व्याश्रय काव्य, प्राकृत व्याकरण, छन्दोऽनुशासन, देशी नाम माला नामक ग्रन्थ लिखे। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि एक बार किसी ब्राह्मण ने इन्हें व्यंग्य से कहा कि व्याकरण के लिये अन्त में तुम्हें ब्राह्मण पण्डित का ही सहारा लेना पड़ा। यह सुनकर इन्होंने अपने संस्कृत प्राकृत व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण किया। इस व्याकरण ग्रन्थ का एक हाथी पर रख कर जलूस निकाला गया। स्वयं हेमचन्द्र भी उस हाथी पर बिठाये गये और अन्त में इसे राजकीय कोश में रख दिया गया। यह ग्रन्थ जयसिंह सिद्धराज को समर्पित किया गया था। अतएव इसका नाम सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन या सिद्ध हैम रखा गया। इन्होंने भारत के अन्य देशों में यद्यपि भ्रमण न किया था तथापि इनका प्रभाव दूर दूर तक था। कुमारपाल भी इनसे अत्यधिक प्रभावित था और इन्होंने उस राजा से जैनों के लिये अनेक अधिकार प्राप्त किये थे। जैनों के अनेक पवित्र दिनों पर पशु हिंसा भी बन्द करवा दीं थी। यह कलि काल सर्वज्ञ माने गये हैं।

हेमचन्द्र ने शब्दानुशासान के प्रथम सात अध्यायों में संस्कृत, आठवें अध्याय के प्रथम तीन पादों में प्राकृत और चतुर्थ पाद में ३२९ सूत्र से अपभ्रंश के नियमों का उल्लेख किया हैं। इन नियमों के उल्लेख के साथ साथ उदाहरण स्वरूप अनेक अपभ्रंश पद्य भी दिये हैं। इसी प्रकार कुछ अपभ्रंश पद्य छन्दोऽनुशासन में भी मिलते हैं। इन पद्यों के विषय संयोग, वियोग, वीर, उत्साह, हास्य, अन्योक्ति, नीति, प्राचीन कथानक निर्देश, सुभाषित आदि हैं। इन में सुन्दर साहित्यिक सरसता के साथ साथ लौकिक जीवन और ग्राम्य जीवन के भी दर्शन होते हैं।

इसी प्रकार हेमचन्द्र के कुमारपाल चरित या द्व्याश्रय काव्य के २८ सर्गों में से अन्तिम आठ सर्ग प्राकृत और अपभ्रंश में हैं। अन्तिम सर्ग में १४ से ८२ तक के पद्य अपभ्रंश में मिलते हैं। इन पद्यों में धार्मिक उपदेश भावना प्रधान है। हेमचन्द्र के अन्य मुक्तक पद्यों के समान स्वच्छन्द वातावरण इन में नहीं मिलता। हेमचन्द्र के भिन्न भिन्न ग्रन्थों में प्राप्त मुक्तक पद्यों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं[1]:

संयोग शृंगार—"बिट्टीए मइ भणिय तुहुं मा करु वंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि॥"
(हेम० प्राकृत व्याकरण, ८.४.३३०)

"जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ॥"
(हे० प्रा० व्या० ८.४.३४४)

---

१. सूत्रों का निर्देश डा० परशु राम वैद्य द्वारा संपादित हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण, सन् १९२८ के अनुसार है।

अर्थात् ज्यों ज्यों वह श्यामा लोचनों की वक्रता--कटाक्ष पात सीखती है त्यों त्यों कामदेव अपने बाणों को कठोर पत्थर पर तेज करता है।

"पिय संगमि कउ निद्दडी पिअहो परोक्खहो केम्व।
मइ विन्नि वि विन्नासिआ निद्द न एम्व न तेम्व॥
(हे० प्रा० व्या० ८.४.४१८)

अर्थात् नायिका कहती है – न तो प्रिय संगम में निद्रा है और न प्रिय के परोक्ष होने पर। मेरी दोनों प्रकार की निद्रा विनष्ट हो गई, न इस प्रकार से नींद है न उस प्रकार से।

निम्नलिखित पद्य में नारी के मुख सौन्दर्य की सुन्दर व्यंजना मिलती है—

"गयणुप्परि कि न चर्डाहि, कि नरि विक्खरहिं दिसिहि वसु,
भुवणत्तय-संतावु हरहिं, कि न किरवि सुहारसु।
अंधयारु कि न दलहिं, पयडि उज्जोउ गहिउल्लओ,
कि न धरिज्जहिं देवि सिरहँ, सइँ हरि सोहिल्लओ।
कि न तणउ होहि रमणायरहु, होहि किं न सिरि-भायरु।
तुवि चंद निअवि मुह गोरिअहि, कुवि न करइ तुह आयरु॥
(छंदोऽनशासन पृ० ३४)

वियोग—

"जे महु दिण्णा दिअहडा दइएं पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥
(हे० प्रा० व्या० ८.४.३३३)

अर्थात् प्रिय ने प्रवासार्थ जाते हुए जितने दिन वताये थे उन्हें गिनते गिनते नख से मेरी अंगुलियाँ जीर्ण हो गईं।

कौए के शब्द को सुनकर निराश हो कौए को उड़ाती हुई विरहिणी के नैराश्य भाव और प्रिय दर्शन से उत्पन्न आनन्दोल्लास का सुन्दर चित्रण निम्नलिखित पद्य में मिलता है—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥
(हे० प्रा० व्या० ८.४.३५२)

प्रवासी नायक गरजते मेघ को संबोधन करके कहता है—

"जइ ससणेही तो मुअइ अह जीवइ निन्नेह।
विहिं वि पयारेहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह॥
(वही ८.४.३६७)

अर्थात् यदि वह मुझ से प्यार करती है तो मर गई होगी, यदि जीवित है तो निःस्नेह होगी। अरे खल मेघ! दोनों ही तरह से वह सुन्दरी मैंने खो दी, व्यर्थ क्यों गरजते हो?

विरहिणी की आँखों से बरसते आँसुओं और गरम आहों की सुन्दरता से व्यंजना

निम्नलिखित पद्य में मिलती है—

"चूडुल्लउ चुण्णी होइसहि मुद्धि कवोलि निहित्तउ।
सासानल-जाल-झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ॥
(वही ८.४.३९५)

विरहिणी के लिये वह प्रिय सन्देश व्यर्थ है जिससे प्रिय मिलन नहीं होता :

"संदेसें काइं तुहारेण जं संगहो न मिलिज्जइ।
सुअणन्तरि पिएं पाणिएण पिअ पिआस किं छिज्जइ॥
(वही ८.४.४३४)

वीरता—

"भल्ला हुआ ज मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एन्तु॥"
(वही ८.४.३५१)

अर्थात् बहिन अच्छा हुआ जो मेरा पति रणभूमि में मारा गया। यदि पराजित हो वह घर लौटता तो मैं अपनी सखियों के सामने लज्जित होती।

"अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्व भणन्ति।
मुद्धि निहालहि गयणयलु कइ जण जोण्ह करन्ति॥"
(वही ८.४.३७६)

निम्नलिखित पद्य में प्रियतम की युद्ध-वीरता के साथ दान-वीरता की प्रशंसा करती हुई कोई नायिका कहती है—

"महु कन्तहो वे दोसड़ा हेल्लि म झंखहि आल।
देन्तहो हउं पर उव्वरिअ जुज्झन्तहो करवालु॥"
(वही ८.४.३७९)

अर्थात् हे सखि ! मेरे प्रियतम में केवल दो दोष हैं, झूठ मत कहो। उस के दान देते हुए केवल मैं बच रहती हूँ और युद्ध करते हुए केवल तलवार।

एक क्षत्रिय बाला क्या वर मांगती है—

"आयहिं जम्महिं अन्नहिं वि गोरि सु दिज्जहि कन्तु।
गय मत्तहं चत्तंकुसहं जो अब्भिडइ हसन्तु॥"
(वही ८.४.३८३)

हे गौरी ! मुझे इस जन्म में और अन्य जन्मों में ऐसा ही पति देना जो हँसता हँसता निरंकुश मत्त गजों के साथ भिड़ने वाला हो।

"जसु भुअबलु हेलुद्धरिअ-धरणि,
णिसुणिवि वणयर-गण-उबगीउ सुविक्कमु।
अज्जवि हरिसिअ नव-दब्भंकुर-दभिण,
पयडहिं कुल-महिहर पुलउग्गमु॥"
(छन्दोऽनुशासन पृ० ४५)

सुभाषित—सद्भृत्य की अवहेलना करने वाले स्वामी पर कितना सुन्दर व्यंग्य निम्नलिखित पद्य में मिलता है—

"सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ सम्माणेइ खलाइं॥"

(हे० प्रा० व्या० ८.४.३३४)

"जो गुण गोवइ अप्पणा पयडा करइ परस्स।
तसु हउं कलि जुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु॥"

(वही ८.४.३३८)

खलों के दुष्ट वचनों के कान में पड़ने की अपेक्षा वन में वृक्षों के फल खाकर संतुष्ट रहना अच्छा है।

"दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि कण्णहिं खल-वयणाइं॥"

(वही ८.४.३४०)

"जीविउ कासु न वल्लहउं धणु पुणु कासु न इट्ठु।
दोण्णि वि अवसर-निवडिआइं तिण-सम गणइ विसिट्ठु॥"

(वही ८.४.३५८)

प्रेम के लिए दूरी का व्यवधान तुच्छ होता है। दूर स्थित सज्जनों का भी प्रेम असाधारण होता है—

"कहिं ससहरु कहिं मयरहरु कहिं बरिहिणु कहिं मेहु।
दूर -ठिआहं वि सज्जणहं होइ असड्ढलु नेहु॥"

(वही ८.४.४२२)

"जे निअहिं न पर-दोस। गुणिहिं जि पयडिअ तोस।
ते जगि महाणुभावा। विरला सरल-सहावा॥
पर-गुण-गहणु स-दोस-पयासणु। महु महुरक्खरहिं अमिअ भासणु।
उवयारिण पडिकिओ वेरिअणहं, इअ पद्धडी मणोहर सुअहँ॥"

(छन्दोऽनुशासन, पृ० ४३)

अन्योक्ति—

"वच्छहे गृण्हइ फलइं जणु कडु-पल्लव वज्जेइ।
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ ते उच्छंगि धरेइं॥"

(हे० प्रा० व्या० ८.४.३३६)

मनुष्य वृक्ष के कड़वे पत्तों को छोड़कर फलों को ग्रहण कर लेता है, तथापि महाद्रुम सज्जन के समान उन्हें अपनी गोदी में धारण करता है।

"एत्तहे मेह पिअन्ति जलु एत्तहे बडवानल आवट्टइ।
पेक्खु गहीरिम सायरहो एक्कवि कणिअ नाहिं ओहट्टइ॥"

(वही ८.४.४१९)

इसके अतिरिक्त कृपणों के प्रति व्यंग्य (८.४.४१९) दान की प्रशंसा (८.४.४२२), इन्द्रिय निग्रह (८.४.४२७) सज्जन प्रशंसा (८.४.४२२) आदि विषयों पर भी पद्य मिलते हैं।

कुमारपाल चरित के ८वें सर्ग में प्राप्त अपभ्रंश पद्यों का ऊपर निर्देश किया जा चुका है, इनमें धार्मिक उपदेश भावना ही प्रधान है। जैसे—

"गिरिहेंवि आणिउ पाणिउ पिज्जइ
तरुहेंवि निवडिउ फलु भक्खिज्जइ।
गिरिहुंव तरुहुंव पडिअउ अच्छइ,
विसयहिं तहवि विराउ न गच्छइ॥" (८.१९)
"जेम्वंइ तेम्वंइ करुण करि, जिम्वँ तिम्वँ आचरि धम्मु।
जिहविहु तिहविहु पसमु धरि, जिध तिध तोडहिं कम्मु॥

दृष्टान्त और अप्रस्तुत विधान के लिए मानव जीवन से संबद्ध उपमानों का प्रयोग अनेक पद्यों में मिलता है। जैसे—

"जइ केवंइ पावीसु पिउ अकिआ कुड्ड करीसु।
पाणीउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगें पइसीसु॥
(हे० प्रा० व्या० ८.४.३९६)

अर्थात् यदि प्रियतम मिल जाय तो मैं अकृतपूर्व कौतुक करूँ। जिस प्रकार पानी मट्टी के सकोरे में समा जाता है उसी प्रकार मैं भी सर्वांग रूप से उस में समा जाऊँ।

चन्द्र के बादल में छिप जाने के कारण की सुन्दर कल्पना निम्नलिखित पद्य में मिलती है—

"नव-वहु-दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सोइ।
ओ गोरी-मुह-निज्जिअउ बद्दलि लुक्कु मियंकु॥
(वही ८.४.४०१)

इसी प्रकार कवि ने एक स्थान पर राम और रावण में उतना ही अन्तर बताया है जितना ग्राम और नगर में (८.४.४०८)।

हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत पद्यों में से प्राकृत व्याकरण और छन्दोऽनुशासन के पद्यों की भाषा में समानता नहीं है। इस भाषा-विषमता के कारण कल्पना की गई है कि कुछ पद्य उनके अपने हैं और कुछ अन्य कवियों के, जो यथास्थान उदाहरण रूप से प्रस्तुत किये गये हैं।

सोमप्रभाचार्य—सोमप्रभाचार्य (११९५ ई०) कृत कुमारपाल प्रतिबोध में कवि ने वसन्त का (पृष्ठ ३८), शिशिर का (पृष्ठ १५९), मधु समय (पृष्ठ ३५१)। और ग्रीष्म समय का (पृष्ठ ३९८) वर्णन किया है।

वसन्त में कोकिल का आलाप, वन-श्री का सौन्दर्य और सहकार मंजरियों पर भ्रमर की गुंजार वर्णित है। वर्णन में प्राचीन परिपाटी होते हुए भी नवीनता है। शीत-काल में शीतनिवारण के लिये स्त्रियों ने शरीर पर घना कस्तूरी का अंगराग लगाया है।

कवि कल्पना करता है मानो उनके हृदय में स्थित अपरिमित प्रियतम का अनुराग बाहर फूट पड़ा हो। इसी प्रकार ग्रीष्म में सूर्य की तप्त किरणें हैं, पथिक तृष्णा से व्याकुल हैं, शरीर पर चंदन और स्नानार्थ धारा-यन्त्रों का प्रयोग किया जा रहा है, लोग मधुर द्राक्षा-जल पान कर रहे हैं इत्यादि।

"जहिं तरुणिहिं घण-घुसिणंगराओ निम्मविओ सीयसंगम विघाओ।
मण मज्झि अमंतु पियाणुराओ नं निग्गओ बाहिरि निव्विवाओ॥

इसके अतिरिक्त स्थल स्थल पर स्फुट पद्य भी मिलते हैं जिनमें सुभाषित, प्रेम प्रसंग, कथा प्रसंग, उपदेश आदि मिलते हैं। कुछ पद्यों में समस्या पूर्ति का ढंग भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिये "कवणु पियावउं खीरु" की समस्यापूर्ति निम्नलिखित पद्य में देखिये—

"रावणु जायउ जहिं दियहि दहमुहु एक्क-सरीरु।
चिंताविय तइयहिं जणणि कवणु पियावउं खीरु॥
(पृ० ३९०)

कुमारपाल प्रतिबोधान्तर्गत कुछ मुक्तक पद्यों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

"पडिवज्जिवि दय देव गुरु देवि सुपत्तिहि दाणु।
विरइवि दीण जणुद्धरणु करि सफलउं अप्पाणु॥"
(कु० पा० प्र० १०७)

"पुत्तु जु रंजइ जणय-मणु थी आराहइ कंतु।
भिच्चु पसन्नु करइ पहु इहु भल्लिम पज्जंतु॥"
(वही, पृ० १०८)

"चूडउ चुन्नी होइसइ मुद्धि कवोलि निहित्तु।
सासानलिण झलक्किययउ वाह सलिल संसित्तु॥" (वही पृ० १०८)

हेमचन्द्र ने भी यह दोहा अपने प्राकृत व्याकरण (८.४.३९५) में उद्धृत किया है।

इउ अच्चब्भुउ दिट्ठ मइं कंठि व लुल्लइं काउ।
कीइवि विरह-करालियहे उड्डाविय उवराउ॥" (वही पृ० ३९१)

"नयणिहि रोयइ मणि हसइ जणु जाणइ सउ तत्तु।
वेस विसिट्ठह तं करइ जं कट्ठह करवत्तु॥"
(वही पृ० ८६)

"जे परदार-परम्मुहा ते वच्चहि नरसीह।
जे परिरंभहि पर-रमणि ताहं फुसिज्जइ लीह॥
(वही पृ० १२५)

"अम्हे थोड़ा रिउ बहुय इउ कायर चिंतन्ति।
मुद्धि णिहालहि गयणयलु कइ उज्जोउ करंति॥"
(वही पृ० १५७)

"रिद्धि विहूणह माणुसह न कुणइ कुवि सम्माणु।
सउणिहि मुच्चइ फल रहिउ तरुवरु इत्थ पमाणु ।।"
(वही० पृ० ३३१)

"जइ वि हु सूरु सुरूवु व्रिअक्खणु
तहवि न सेवइ लच्छि पइक्खण।
पुरिस-गुणागुण-मुणण-परम्मुह
महिलह बुद्धि पयंपहिं जं बुह ।।" (वही० पृ० ३३१)

मेरुतुंगाचार्य कृत प्रबन्ध चिंतामणि[1]

प्रबन्ध चिंतामणि (वि० सं० १३६१) नामक ग्रन्थ में भी अनेक मुक्तक पद्य मिलते हैं। इसमें कुछ पद्य राजादि किसी ऐतिहासिक पात्र से संबद्ध हैं, कुछ वीर, शृङ्गार, वैराग्यादि भावों के द्योतक हैं और कुछ सुन्दर सुभाषित हैं। तैलंगाधिपति द्वारा मुंज के बंदी किये जाने पर उसके मुख से अनेक सुन्दर कारुणिक पद्य सुनाई देते हैं :

"झोली तुट्टवि किं न मूउ किं हूअ न छारह पुञ्जु ।
हिण्डइ दोरी दोरियउ जिम मंकडु तिम मुञ्जु ।।" (पृ० २३)
"चित्ति विसाउ न चिंतीयइ रयणायर गुण पंज ।
जिम जिम वायइ विहि पडहु तिम नच्चिज्जइ मुंज ।।" (पृ० २३)
"भोली मुन्धि म गव्वु करि पिक्खिवि पड्डरूयाइं।
चउदह सइं छहुत्तरइं मुंजह गयह गयाइं ।।" (पृ० २४)

मुञ्ज के मृणालवती को कहे हुए पद्य भी सरस हैं :—

"मुञ्जु भणइ मृणालवइ जुव्वणु गयउं न झूरि।
जइ सक्कर सयखण्ड थिय तोइ स मीठी चूरि।। (पृ० २३)
"जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुञ्ज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ।।' (पृ० २४)
"कसु करु रे पुत्त कलत्त धी कसु करु रे करसण वाडी।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथ पग बेहु झाड़ी।। (पृ० ५१)
"एहु जम्मु नग्गहं गियउ भडसिरि खग्ग न भग्गु ।
तिक्खा तुरिय न वाहिया गोरी गलि न लग्ग ।।" (पृ० ३२)

दिगंबर व्रत पालन करते करते जन्म बीत गया। किसी योद्धा के सिर पर न खड्ग प्रहार किया न तेज घोड़ा चलाया और न किसी सुन्दरी का कण्ठालिंगन किया ।

निम्नलिखित पद्य में "कवणु पियावउं खीरु" पर समस्या पूर्ति मिलती है :

"जई यह रावणु जाईयउ दहमुहु इक्कु सरीरु।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउं खीरु।।" (पृ० २८)

---

१. मुनि जिन विजय जी द्वारा संपादित सिंघी जैन ग्रंथमाला में शान्ति निकेतन बंगाल से वि० सं० १९८९ में प्रकाशित ।

निम्नलिखित पद्य, भोजदेव के गले में पड़े आभरण को देख कर, एक गोप कहता है :—

"भोयएव गलि कण्ठलउ मूं भल्लउ पडिहाइ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसतिहि सीम विहंची कांइ ॥" (पृ० ४५)

अर्थात् मानो वह कंठाभरण हृदय में लक्ष्मी और मुख में सरस्वती की सीमा का सूचक हो।

कहीं कहीं पद्यों में प्राचीन गुजराती और राजस्थानी का पुट भी मिलता है जैसा कि ऊपर उद्धृत पद्यों से स्पष्ट है। दोहा छन्द के अतिरिक्त सोरठा छन्द का भी प्रयोग मिलता है। यथा :

"को जाणइ तुह नाह चीतु तुहालउं चक्कवइ।
लहु लंकह लेवाह मग्ग निहालइ करण उत्तु ॥" (पृ० ५८)

राजशेखर सूरिकृत प्रबंध कोष[1]—

प्रबन्ध कोश में भी पूर्व वर्णित विषयों पर कुछ मुक्तक पद्य मिलते हैं। ग्रन्थ का समय वि० सं० १४०५ माना गया है इसमें प्राप्त पद्य इस काल के और इस काल से पूर्वकाल के भी हो सकते हैं। ग्रन्थान्तर्गत कुछ मुक्तक पद्य देखिए—

चिंतित कुमारपाल को संबोधन करके कहा गया एक पद्य—

"कुमारपाल! मन चिंत करि चिंतिइं किंपि न होइ।
जिणि तुहु रज्जु समप्पिउ चिंत करेसइ सोइ ॥" (पृ० ५१)

निम्नलिखित पद्य में पूजा का विरोध मिलता है—

"अणफुल्लिय फुल्ल म तोडहिं मा रोवा मोडहिं।
मण कुसुमेहिं अच्चि णिरंजणु हिंडहि कांइ वणेण वणु ॥"
(प० १८)

इसी प्रकार निम्नलिखित पद्यों में भी सुन्दर सुभाषित और अन्योक्ति शैली के दर्शन होते हैं :

"उवयारह उवयारडउ सव्व लोउ करेइ।
अवगणि कियइ जु गुणु करइ विरलउ जणणी जणेइ ॥"
(पृ० ८)

अर्थात् उपकारी के प्रति उपकार तो सब लोग करते हैं। अवगुणी और अपकारी के प्रति भी उपकार करने वाला कोई विरला ही उत्पन्न होता है।

"वरि वियरा जहिं जणु पियइ घुट्ट घुट्टु चुलुएहिं।
सायरि अत्थि बहुत्तु जलु छि खारा किं तेण ॥" (प० १११)

एक छोटी सी बाउली अच्छी जहां चुल्लू से घूंट घूंट पानी पिया जा सकता है।

---

१. मुनि जिन विजयजी द्वारा संपादित, सिंघी जैन ग्रंथमाला ग्रंथांक ६, शान्ति निकेतन, बंगाल से प्रकाशित, वि० सं० १९९१,

समुद्र में अगाध जलराशि है किन्तु उस खारे जल से क्या लाभ ?

प्राकृत पैंगल[1]—

प्राकृत पैंगल में भी कुछ साहित्यिक सुभाषित स्फुट पद्य मिलते ह। इसमें संगृहीत और उद्धृत पद्य भिन्न भिन्न काल के हैं। ग्रन्थ के रचयिता और रचना के विषय में कुछ निश्चित नहीं। किसी हरि बंभ (हरि ब्रह्म) नामक कवि ने मिथिला-नेपाल के राजा हरिसिंह (१३१४–१३२५ सं०) के मन्त्री चण्डेश्वर की प्रशंसा में कुछ पद्य लिखे थे जो प्राकृत पैंगल में उद्धृत हैं।[2] अतः ग्रन्थ की रचना १३ वीं शताब्दी से पूर्व नहीं हो सकती। ग्रन्थ में कहीं कहीं हम्मीर का उल्लेख भी मिलता है।[3] हम्मीर का समय सन् १३०२ से १३६६ ई० तक माना गया है। अतः ग्रन्थ रचना का काल १४ वीं १५ वीं शताब्दी ही अनुमित किया जा सकता है।

ग्रन्थ में शृंगार, वीर, नीति, राजा देवादि स्तुति संबन्धी भिन्न-भिन्न विषयों के पद्य मिलते ह, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट होगा—

नारी रूप वर्णन—नारी के रूप का वर्णन निम्नलिखित पद्यों में मिलता है—

"महामत्त माअंग पाए ठवीआ, महातिक्ख वाणा कडक्खे धरीआ।
भुआ पास भौंहा धणूहा समाणा, अहो णाअरी कामराअस्स सेणा॥
(पृ० ४४३)

"तरल कमल दल सरि जअ णअणा, सरअ समअ ससि सुअरिस वअणा।
मअगल करिवर सअलस गमणी, कवण सुकिअ फल विहि गढ़ रमणी॥
(पृ० ४९६)

वीरता—

"सुरअरु सुरही परसमणि, णहि वीरेस समाण।
ओ वक्कल अरु कठिण तणु, ओ पसु ओ पासाण॥" (पृ० १३९)

अर्थात् कल्पवृक्ष, सुरभि और पारसमणि तीनों पदार्थ वीर की समानता नहीं कर सकते। एक वल्कल युक्त और कठोर शरीर वाला है, दूसरा पशु और तीसरा पाषाण है।

युद्धोद्यत वीर हम्मीर अपनी पत्नी से विदाई लेता हुआ कहता है—हे सुन्दरि! चरण छोड़, हँस कर मुझे खड्ग दो। म्लेच्छों के शरीर को काट कर निश्चय ही हम्मीर

---

१. प्राकृत पैंगल, चन्द्र मोहन घोष द्वारा संपादित, बिब्लियोथिका इंडिका, १९००-१९०२ ईस्वी।

२. हिन्दी काव्य धारा, पृ० ४६४

३. पउभरु दरमरु धरणि तरणि रह धुल्लिय झंपिय।
कमठ पीठ टरपरिअ मेरु मंदर सिर कंपिअ॥
कोह चलिय हम्मीर वीर गअ जूह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छह के पुत्ते॥
प्रा० पैं० पृष्ठ १५७

तुम्हारे मुख के दर्शन करेगा।

"मंचहि संदरि पाव अप्पहि हसिऊण सुम्मुहि खग्गं मे।
कप्पिअ मेच्छ सरीर पेच्छइ वअणाइ तुम्ह धुअ हम्मीरो ॥"

(पृ० १२७)

युद्धोद्यत सेना का दृश्य निम्नलिखित पद्य में अनुरणनात्मक-शब्द-योग द्वारा कितना प्रभावोत्पादक हो गया है।

"खुर खुर खुदि खुदि महि घघर रव कलइ,
ण ण ण णगिदि करि तुरअ चले।
ट ट ट गिदि पलइ टपु धसइ धरणि वपु
चकमक करि बहु दिसि चमले।
चलु दमकि दमकि वल चलइ पइक वल
धुलकि धुलकि करि करि चलिआ।
वर मणु सअल कमल विपख हिअअ सल,
हमिर वीर जत्र रण चलिआ[1] ॥" (पृ. ३२७)

निम्नलिखित युद्ध वर्णन भी अत्यन्त सजीव है—

"गअ गअहि ढुक्किअ तरणि लुक्किअ, तुरअ तुरअहि जुज्झिआ।
रह रहहि मीलिअ धरणि पीलिअ, अप्प पर णहि बुज्झिआ ॥
वल मिलिअ आइअ पत्ति जाइउ, कंप गिरिवर सीहरा।
उच्छलइ साअर दीण काअर, वइर वड्ढिअ दीहरा ॥" (पृ० ३०९)

ऋतु वर्णन—

"णच्चइ चंचल विज्जुलिआ सहि! जाणए,
मम्मह खग्ग किणीसइ जलहर-साणए।
फुल्ल कअंबअ अंबर डंबर दीसए,
पाउस पाउ घणाघण सुमुहि! वरीसए ॥" (पृ० ३००)

पावस में बिजली चमकती है वियोगिनी के लिए मानो कामदेव मेघ रूपी सान पर तलवार को तेज कर रहा है।

कवि वसन्त का वर्णन करता है—

"वहइ मलअ-वाआ हंत! कंपंत काआ,
हणइ सवण-रंधा कोइला-लाव-बंधा।
सुणिअ दह दिहासु भिंग-झंकार-भारा,
हणिअ हणइ हंजे! चंड-चंडाल-मारा ॥" (पृ० ४९३)

---

१. कलइ--करती है। तुरअ--तुरग, घोड़े। पलइ टपु--टाप पड़ती है। चमले--चमर। पइक वल--पदाति सेना। विपख--विपक्ष, शत्रु।

शिव की स्तुतिः—

"जसु सीसहि गंगा गोरि अधंगा, गिव पहिरिअ फणि हारा।
कंठ-ट्ठिअ वीसा पिंधण दीसा, संतारिअ संसारा।
किरणावलि कंदा वंदिअ चंदा, णअणहि अणल फुरंता।
सो संपअ दिज्जउ बहु सुह किज्जउ, तुम्ह भवाणी कंता[1]॥
(पृ० १६९)

कुछ सद्गृहस्थ, संतोष, परोपकारादि विषयक पद्य भी मिलते हैं—

"सुधम्म-चित्ता गुणवन्त-पुत्ता, सुकम्म-रत्ता विणआ कलत्ता।
विसुद्ध-देहा धणवंत गेहा, कुणंति के बव्वर सग्ग-णेहा॥"
(पृ० ४३०)

"सेर एक्क जइ पावइ घित्ता। मंडा वीस पकावउ णित्ता।
टंकु एक्क जइ सेंधव पाआ। जो हउ रंको सो हउ राआ॥"
(पृ० २२४)

"सो जण जणमउ सो गुण-मंतउ, जो कर पर-उवआर हसंतउ।
जे पुण पर-उपआर विरुज्झउ, ताक जणणि किण थक्कउ बंझउ॥
(पृ० ४७०)

पुरातन प्रबन्ध संग्रह[2]:—

पुरातन प्रबन्ध संग्रह में प्राप्त कुछ अपभ्रंश पद्यों का पीछे अपभ्रंश महाकाव्य के प्रकरण में निर्देश किया जा चुका है। इसमें पृथ्वीराज विषयक पद्यों के अतिरिक्त अन्य अपभ्रंश पद्य भी मिलते हैं।

उपरिनिर्दिष्ट ग्रन्थों के अतिरिक्त जिनेश्वर सूरि रचित कथा कोष प्रकरण[3], गुणचन्द्र मुनि कृत महावीर चरित[4], उपदेश तरंगिणी[5], लक्ष्मण गणि कृत सुपासनाह चरिय[6], आदि ग्रन्थों में भी इतस्ततः विकीर्ण कुछ अपभ्रंश पद्य मिल जाते हैं।

ऊपर जो भी विविध—साहित्यिक सुभाषित रूप में मुक्तक पद्य दिये गये हैं वे उसके रूप को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं। भिन्न भिन्न स्थलों पर प्राप्त अपभ्रंश पद्य

---

१. गोरि अधंगा—पार्वती अर्द्धांगिनी है। कंठट्ठिअ......-दीसा—जिसके कण्ठ में विष स्थित है और दिशायें ही जिसका परिधान हैं।
२. मुनि जिन विजय जी द्वारा, सिंघी जैन विद्यापीठ, कलकत्ता, वि० सं० १९९२
३. संपादक मुनि जिन विजय जी, सिंघी जन ग्रंथमाला, ग्रंथांक ११, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४९ ई०।
४. देवचन्द्र लालाभाई जैन पुस्तकोद्धार, ग्रंथांक ७५, बम्बई, वि० सं० १९८५।
५. एम. बी. शाह, काशी।
६. पं० गोविन्द दास सेठ द्वारा, जैन विविध साहित्य शास्त्र माला, काशी १९१८ ई० में प्रकाशित।

विवाह, गोष्ठी, लौकिकाख्यान-प्रसंगादि लौकिक-जीवन से संवद्ध अवसरों पर प्रयुक्त हुए हैं। अनेक अवसरों पर ये पद्य गोपों और चारणों के मुख से सुने जाते हैं। इस प्रकार इस मुक्तक परंपरा का जन-साधारण के साथ संपर्क वना हुआ था ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

इस साहित्यिक सुभाषित रूप में प्राप्त मुक्तक पद्य का जो रूप हमें अपभ्रंश साहित्य में दिखाई देता है इसका अधिकांश प्रभाव आगे चल कर हिन्दी साहित्य के रीतिकाल पर पड़ा। उस काल में भी दोहा शैली में रचनाएँ हुईं और इसी भाव धारा को अभिव्यक्त करने वाले पद्य कवियों के मुख से निकले। जिस प्रकार अपभ्रंश मुक्तक काव्य की धार्मिक धारा ने हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल को प्रभावित किया उसी प्रकार विविध-साहित्यिक (सुभाषित) धारा ने हिन्दी-साहित्य के रीति काल को।

बारहवां अध्याय

अपभ्रंश रूपक-काव्य

भारतीय साहित्य में रूपकात्मक साहित्य एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें अमूर्त भावों को मूर्त रूप में उपस्थित किया जाता है। हृदय के सूक्ष्म अमूर्त भाव इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकते। जब वही भाव उपमा या रूपक द्वारा स्थूल—मूर्त रूप—ग्रहण कर लेते हैं तो वे इन्द्रियगोचर हो जाने से अधिक स्पष्ट और बोधगम्य बन जाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् रूप में प्रत्यक्ष होने पर ये सूक्ष्म भाव सजीव रूप धारण कर लेते हैं और हृदय को अत्यधिक प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। इसी कारण काव्य में अमूर्त का मूर्त रूप में—अरूप का रूपाकार में—विधान प्रचलित हुआ।

इस रूपक शैली के वीज हमें उपनिषदों में दिखाई देते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्‌गीथ ब्राह्मण (१.३) में और छान्दोग्य उपनिषद् (१.२) में एक रूपकात्मक आख्यायिका का संकेत है। बौद्ध साहित्य में जातक निदान कथा के "अविदूरे निदान" की मार विजय सम्बन्धी आख्यायिका में इसी शैली के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार जैन कथा साहित्य में भी अनेक रूपकात्मक आख्यान मिलते हैं।[1] रूपक-काव्य-शैली सर्व प्रथम सिद्धर्षि कृत उपमिति भव प्रपंच कथा (वि० सं० ९६२) में मिलती है। इस ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है। इस में जीव के संसार परिभ्रमण की कष्ट कथा और उसके कारणों का उपमा के द्वारा सुन्दर ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

कृष्ण मिश्र ने अपना प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक इसी शैली में लिखा। इसमें मोह, विवेक, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त भावों को स्त्री और पुरुष पात्रों का रूप दिया गया है।

तेरहवीं शताब्दी में यशःपाल ने "मोह पराजय"[2] नामक नाटक लिखा। इसमें ऐतिहासिक पात्रों के साथ लाक्षणिक चरित्रों का संमिश्रण और मोह पराजय का चित्रण दिखाई देता है। मोहराज द्वारा समाचार जानने के लिए भेजा हुआ गुप्तचर-ज्ञानदर्पण आकर बतलाता है कि मोहराज ने मनुष्य के मानस नामक नगर को घेर लिया है और उसका राजा विवेकचन्द्र अपनी शान्ति नामक पत्नी और कृपा सुन्दरी नामक कन्या के साथ वहां से निकल भागा है। कुमारपाल की स्त्री—शिष्टाचार और सुनीति की कीर्ति मंजरी नाम की कन्या—पति परित्यक्ता हो मोहराज से सहायता की प्रार्थना करती है और मोहराज कुमारपाल पर शीघ्र ही चढ़ाई करना चाहता है।

---

१. कवि नागदेव कृत मदन पराजय, संपादक प्रो० राजकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००४, प्रस्तावना, पृष्ठ ४३।

२. गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज बड़ौदा से प्रकाशित।

हेमचन्द्राचार्य के तपोवन में कुमारपाल की विवेकचन्द्र के साथ भट होती है और कुमारपाल उसकी कन्या कृपासुन्दरी पर आसक्त हो जाते हैं। अन्त में विवेकचन्द्र इस शर्त पर कन्यादान करते हैं कि सात व्यसनों को आश्रय नहीं दिया जायगा। द्यूत, मद्य, मांस आखेट आदि सभी व्यसन देश से निर्वासित कर दिये जाते हैं। मोहराज की पराजय होती है और अन्त में विवेकचन्द्र पुनः सिंहासनारूढ़ होते हैं।[1]

मोह पराजय के समान ही एक रूपकात्मक प्रबन्ध मेरुतुंगाचार्य की प्रबन्ध चिन्तामणि (वि० सं० १३६१) के परिशिष्ट में मिलता है।[2] इसमें भी राजा कुमारपाल का अर्हद्धर्म और अनुकम्पा देवी की कन्या अहिंसा को आचार्य हेमचन्द्र के आश्रम में देख कर उस पर मुग्ध होना और अन्त में उनका परिणय वर्णित किया गया है। रूपक शैली में लिखा गया नागदेव कृत मदन पराजय लगभग १४वीं शताब्दी की रचना है।[3]

इसी प्रकार वेंकटनाथ कृत संकल्प सूर्योदय[4] नामक नाटक, जय शेखर सूरि कृत प्रबोध चिन्तामणि नामक प्रबन्ध, भूदेवशुक्ल कृत धर्मविजय नामक नाटक,[5] कवि कर्णपूरविरचित चैतन्यचन्द्रोदय नामक नाटक, वादिचन्द्र सूरि कृत ज्ञान सूर्योदय नाटक, इसी रूपकात्मक शैली में रचे गये। इनके अतिरिक्त विद्यापरिणयन (१७वीं शताब्दी का अन्त), जीवानन्दन (१८वीं शताब्दी का आरम्भ) और अनन्त नारायण कृत माया विजय आदि रूपक-प्रधान कृतियों की रचना अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही।[6]

अपभ्रंश में रूपकात्मक शैली का सर्वप्रथम दर्शन हमें "जीवमनः करणसंलाप कथा" नामक खंड-काव्य में होता है।

जीवमनः करण संलाप कथा

सोमप्रभाचार्य कृत 'कुमारपाल प्रतिबोध'[7] प्राकृत-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें कुछ अंश अपभ्रंश के भी हैं। उसी का एक अंश (पृ० ४२२-४३७) जीवमनः करण संलाप कथा है।

---

१. वही, पृ० ४७।
२. प्रबन्ध चिन्तामणि, पृ० १२६।
३. मदन पराजय, प्रस्तावना, पृ० ९४।
४. आर. कृष्णमाचारि द्वारा संपादित, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से प्रकाशित।
५. नारायण शास्त्री खिस्ते द्वारा संपादित, प्रिंस आफ वेल्स सरस्वती भवन सिरीज, बनारस से प्रकाशित, सन् १९३०।
६. मदन पराजय, प्रस्तावना, पृ० ५३।
७. लुडविग आल्सडर्फ, देर कुमारपाल प्रति बोध, हेम्बर्ग, जर्मनी, सन् १९२८। कुमारपाल प्रति बोध, मुनिराज जिन विजयजी द्वारा संपादित, सेन्ट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा, सन् १९२०।

सोमप्रभ संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। कुमारपाल प्रतिबोध के अतिरिक्त इन्होंने सुमति नाथ चरित, सूक्तिमुक्तावलि, शतार्थ काव्य इत्यादि ग्रन्थ भी लिखे। शतार्थ काव्य में निम्नलिखित एक वसन्त-तिलका वृत्त की सौ प्रकार से व्याख्या की गई है :—

कल्याण सार सविता न हरेक्ष मोह कान्तार वारण समान जयाद्यदेव।
धर्मार्थं कामद महोदय वीर धीर सोम प्रभाव परमागम सिद्ध सूरे[1] ॥

इस काव्य से कवि के अगाध पाण्डित्य का आभास मिलता है। इसी ग्रन्थ के कारण सोमप्रभ का नाम शतार्थिक भी पड़ गया।

कवि ने कुमारपाल प्रतिबोध की रचना श्रेष्ठि-मुख्य श्रावक अभयकुमार के पुत्रों की प्रीति के लिये की थी। अभयकुमार दीनों और अनाथों के पालन-पोषण के लिये कुमारपाल द्वारा खोले गये सत्रागार, दान भण्डार आदि का अधिष्ठाता था। सोमप्रभ का जन्म प्राग्वाट कुल के वैश्य परिवार म हुआ था। इनके पिता का नाम सर्वदेव था। सोमप्रभ ने कुमारावस्था में ही जिन दीक्षा ले ली थी। यह तर्क शास्त्र, काव्य शास्त्रादि के पंडित और धार्मिक-उपदेश-प्रदान में चतुर थे।[2] कवि ने कुमारपाल प्रतिबोध की रचना वि० सं० १२४१ में की थी।[3]

जीवमनः करण संलाप कथा कुमारपाल प्रतिबोधान्तर्गत (पृ० ४२२-४३७) एक धार्मिक कथा बद्ध रूपक काव्य है। इसमें इन्द्रियों को पात्र का रूप देकर उपस्थित किया गया है। देह नामक नगरी है। वह लावण्य लक्ष्मी का वासस्थान है। नगरी के चारों ओर आयु कर्म का प्राकार है। नगरी में सुख, दुःख,क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोकादि अनेक प्रकार की नाड़ियाँ अनेक मार्ग हैं। उस नगरी में आत्मा नामक नरेन्द्र, बुद्धि नाम की महादेवी के साथ राज्य करता है। उनका प्रधान मन्त्री मन है। पंचेंद्रिय पांच प्रधान राजपुरुष हैं। एक बार राज्य-सभा में विवाद उठ खड़ा हुआ—मन ने जीवों के दुःखों का मूल कारण अज्ञान बताया। राजा ने उसी (मन) को दुःखों का मूल कारण बताते हुए उसे धिक्कारा। विवाद बढ़ता गया। पांचों प्रधान राज पुरुषों की निरंकुशता और अहम्मन्यता की भी चर्चा हुई।

मन ने इन्द्रियों को दोषी ठहराया। एक इन्द्रिय की निरंकुशता से ही व्यक्ति का विनाश हो जाता है, जिसकी पांचों इन्द्रियाँ निरंकुश हों उसका फिर कल्याण कैसे हो सकता है?

"इय विसय पलक्कओ, इहु एक्केक्कु,
इंदिउ जगडइ जग सयलु।

---

१. कुछ व्याख्यायें वहीं परिशिष्ट पृ० १०-१४ में दी गई हैं।
२. वही, भूमिका पृ० १४-१५।
३. शशि जलधि सूर्य वर्षे शुचिमासे रवि दिने सिताष्टम्याम्।
जिनधर्मः प्रतिबोधः क्लृप्तोऽयं गूर्ज्जरेन्द्रपुरे॥
वही पृ० ४७८

जेसु पंच वि एयइं, कयबहु खेयइं,
खिल्लहिं पहु ! तसु कउ कुसलु ॥२६॥

जिन् भृत्यों के जन्म कुलादि का विचार किये बिना उन्हें रखा जाय वे दुःख देते हैं। उनके कुल का विचार होने पर इन्द्रियाँ कहने लगीं :—हे प्रभु ! चित्तवृत्ति नामक महाटवी में महामोह नामक नरपति है। उसकी महामूढ़ा महादेवी है। उसके दो पुत्र हैं—एक राग-केसरी जो राजसचित्त-पुर का स्वामी है। और दूसरा द्वेष-गयंद जो तामसचित्त-पुर का स्वामी है। उसका मिथ्या दर्शन नामक महामन्त्री है। मद, क्रोध, लोभ, मत्सर, काम प्रभृति उसके भट हैं। एक वार मिथ्यादर्शन नामक मंत्री ने आकर दुहाई दी कि हे राजन् ! आश्चर्य है, चारित्र्य धर्म नामक राजा का चर संतोष आपके प्रजाजनों को विवेक गिरि पर स्थित जैनपुर में ले जाता है। तब मोहराज ने सहायता के लिये इन्द्रियों को नियुक्त किया इस प्रकार रूपकान्तर्गत दूसरा रूपक मिलता है।

मन द्वारा दोष दिये जाने पर इन्द्रियों ने मन को दोषी ठहराया और कहा कि मन के निरोध करने पर हमारा व्यापार स्वयं रुक जाता है।

"जं तेसु फुरइ रागो दोसो वा तं मणस्स माहप्पं।
विरमइ मणम्मि रुद्धे जम्हा अम्हाण वावारो" ॥४९॥

इस प्रकार क्रमशः कभी इन्द्रियों को, कभी कर्मों को और कभी काम वासना को दुःख का कारण वताया गया। वाद-विवाद वढ़ जाने पर आत्मा, स्वानुभूति से उन्हें प्रशम का उपदेश देता है :—

"इय परोप्परु मणह इंदियह,
पंचन्ह वि कलह भरि,
वट्टमाणि अह अप्पराइण,
संलत्तु भो ! निठ्ठुर ! हु,
करहु पसमु नणु किं विवाइण ?
भवि भवि एत्तिउ कालु किउ मइ तुम्हह संसग्गु।
जइ पुणु लग्गइ पसम गुणु सो थेवो वि न लग्ग् ॥६५॥

अन्त में मनुष्य-जीवन की दुर्लभता का प्रतिपादन करते हुए तथा जीव-दया और व्रतों के पालन का उपदेश देते हुए कथा समाप्त होती है।

इस प्रकार कथा में उपदेशवृत्ति ही प्रधान है। काव्यत्व का अभाव है। कथा में भी मनोरंजकता का अभाव है।

वीच वीच में सुभाषितों का प्रयोग अवश्य मिलता है :—

जं पुणु तुहु जंपेसि जड ! तं असरिसु पडिहाइ।
मण न्निल्लक्खण किं सहइ नेऊरु उड्ढह पाइ ॥७॥

हे मूर्ख ! तुम जो कहते हो वह तुम्हारे योग्य नहीं प्रतीत होता। हे निर्लक्षण मन ! क्या ऊंट के पैर में नूपुर शोभा देते हैं ?

पहु ! अप्पह नरिंदाणं दुम्मंती दूसए गुण-कलावं।
एक्कं पि तुंबिणीए बीयं नासेइ गुलभारं ॥५३॥

हे प्रभो ! कुमन्त्री, राजा के समग्र गुणों को दूषित कर देता है जिस प्रकार तुम्बिनी का एक ही बीज सारे लता गुल्म को ढांक लेता है।

कृति के अपभ्रंश पद्यों में रड्डा, पद्धडिया और घत्ता छन्दों का ही प्रधानता से प्रयोग हुआ है।

मयण पराजय चरिउ

यह हरिदेव कृत दो सन्धियों की एक रूपक कृति है। इस अप्रकाशित कृति की हस्त-लिखित प्रति आमेर शास्त्र भंडार में उपलब्ध है (प्र० सं० पृष्ठ १५३-१५४)। कृति में रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं मिलता। हस्तलिखित प्रति का समय वि० सं० १५७६ है। अतः इतना ही निश्चय से कहा जा सकता है कि कृति की रचना इस समय से पूर्व हो चुकी होगी। भाषा की दृष्टि से भी कृति १५ वीं–१६ वीं शताब्दी की ही प्रतीत होती है।

कृति में घत्ता शैली है किन्तु बीच-बीच में दुवई और वस्तु छन्दों का भी प्रयोग मिलता है।

कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

राजा कामदेव, मोह नामक मंत्री और अहंकार, अज्ञान आदि सेनापतियों के साथ भव नगर में राज्य करते हैं। चरित्रपुर के राजा जिनराज उनके शत्रु हैं क्योंकि वह मुक्ति अंगना से विवाह करना चाहते हैं। कामराज, राग-द्वेष नामक दूत के द्वारा उनके पास यह सन्देश भेजते हैं कि या तो आप अपना यह विचार छोड़ दें और अपने तीन रत्न–दर्शन, ज्ञान और चरित्र–मुझे सौंप दें या युद्ध के लिये तैयार हो जांय। जिनराज ने कामदेव से लोहा लेना स्वीकार किया। अन्त में काम परास्त होता है[1]।

कृति की शैली के परिज्ञान के लिये निम्नलिखित उदाहरण देखिये। कामदेव से लोहा लेने के लिये युद्धोद्यत जिन भटों के वचन अधोलिखित उद्धरण में अंकित हैं—

वज्ज घाउ को सिरि ण पडिच्छइ, असि धारा पहेण को गच्छइ।
को जम करणु जंतु आसंघइ, को भवदंडइं सायरु लंघइ।
को जम महिस सिंग उप्पाडइ, विप्फुरंतु को दिणमणि तोडइ।
को पंचायणु सुत्तउ खवलइ, काल कुट्ठु को कवलहिं कवलइ।
आसीविस मुहि को करु च्छोहइ, धगधगंत को हुववहि सोवइ।
लोह पिंडु को तत्तु घवक्कइ, को जिण संमुहु संगरि घक्कइ।
निय घर मज्झि करहि वहु घिट्ठिव, महिलहं अग्गइ तेरी वट्टिम। २.७

युद्धार्थ जाते हुए कामदेव के अपशकुनों का चित्रण निम्नलिखित उद्धरण में दिखाई देता है—

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५०, अंक ३-४ में प्रो० हीरालाल का लेख।

कलसु विहडइ पवणु पडिकूडु। पच्छिलइं च्छिक हुव।
लवइ नयणु वाम्वउं सुनिब्भरु। एकट्ठिउ साणु खरु।
वेवि मिलिवि विरसइं निरंतरु। तं अवसवणु निएवि तहिं।
उब्भउ धक्कइ ताम। इत्तहि जिण सामिय बलहो चिंधइं दिट्ठहिं त म।

सुर विंद नवियस्स, सिरि जिण वरिंदस्स।
तहु सिन्नु संचलइ, तइलोउ खलभलइ।
गिरि राउ टलटलइ, जलरासि झल झलइ।
फणि राउ लवलवइ, सुरराउ चलवलइ।
धरणियलु खलभलइ, जयजीव जण लवइ।
दर भड सहायस्स, तह मयण रायस्स।
निय वल सउन्नाइं, चलियाइं सिन्नाइं।
धावंत भर भडइं, फरहरिय धयवडइं।
चल वलिय हय धडइं, गुलुगुलिय गय धडइं।
भवणयल पूराइं, पडु पडह तूराइं।
वर वीर धीराइं, पुलइय सरीराइं। २.८

नागदेव ने अपनी मदन पराजय नामक कृति की रचना इसी ग्रंथ के आधार पर की।

मयण जुज्झ

कवि वुच्चराय कृत मयण जुज्झ नामक एक रूपकात्मक कृति का निर्देश प्रो० राजकुमार जैन ने मदन पराजय की प्रस्तावना (वही पृ० ५०) में किया है। इसकी रचना कवि ने वि० सं० १५८९ में की।

कृति में भगवान् पुरुदेव द्वारा किये गये मदन पराजय का सुन्दरता से वर्णन किया गया है।

कवि आरम्भ में ही उपदेश देता है—

रिसह जिणवर पढम तित्थयर,
जिण धम्मउ धरण, जुगल धम्म सव्वइ निवारण,
नाभिराय कुलि कवल, सव्वाणिं संसार तारण।
जो सुर इंदह वंदीयउ, सदाचलण सिर धारि।
कहि किउ रतिपति जित्तियउ, ते गुण कहउं विचारि॥

इस प्रकार रूपक-काव्य शैली की परम्परा संस्कृत और अपभ्रंश के अनन्तर हिन्दी में भी प्रवाहित होती रही। सूफियों के प्रबन्ध काव्य इसी परम्परा के अन्तर्गत हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने भारतदुर्दशा और भारतजननी नामक नाटकों में इसी शैली का अनुसरण किया। आधुनिक युग में जयशंकर प्रसाद के कामायनी नामक काव्य में इसी परम्परागत शैली की छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

तेरहवाँ अध्याय

अपभ्रंश कथा-साहित्य

ऊपर से अध्ययन से अपभ्रंश साहित्य के अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, अब कथा साहित्य के विषय में विचार किया जाता है।

वाङ्मय के विकास में जैनाचार्यों का प्रशंसनीय योग रहा है। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी इत्यादि अनेक भाषाओं में लिखा। साहित्य के अंगों में दार्शनिक और धार्मिक विषयों के अतिरिक्त व्याकरण, कोष, अलंकार शास्त्र, अंक गणित, फलित ज्योतिष, गणित ज्योतिष, राजनीति शास्त्र आदि वाङ्मय की शाखाओं को संपन्न किया।[1]

जैनियों के साहित्य का मुख्य उद्देश्य जन-साधारण के हृदय तक पहुँचना था। एतदर्थ उन्होंने अपने सभी ग्रन्थों को अनेक प्रकार की कथाओं से सरस और मनोरंजक बनाने का प्रयत्न किया। अपभ्रंश कवियों के महापुराणों में वर्णित अनेक महापुरुषों के जीवन वृत्तान्तों के साथ साथ अनेक कथाओं और अवान्तर कथाओं का सहयोग हम ऊपर देख चुके हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय के पुराण साहित्य के समान श्वेताम्बर संप्रदाय में अनेक चरित-ग्रन्थ लिखे गये। इनमें अनेक महापुरुषों या धार्मिकपुरुषों का वर्णन न होकर किसी एक ही महापुरुष या तीर्थंकर का वर्णन किया गया है। ये चरित-ग्रन्थ भी अनेक पूर्व जन्म की कथाओं और अन्य सरस एवं उपदेश-प्रद कथाओं से ओतप्रोत हैं।

उपरिनिर्दिष्ट पुराण और चरित ग्रन्थों की शैली के कतिपय कथा-ग्रन्थों से भिन्न इस प्रकार के भी कथा-ग्रन्थों का एक वर्ग मिलता है जो संस्कृत साहित्य के वासवदत्ता, दशकुमार चरितादि लौकिक कथा-ग्रन्थों के ढंग पर रचा गया। इस प्रकार के कथा-ग्रन्थों में किसी लोकप्रसिद्ध पुरुष या स्त्री की किसी जीवन घटना को केन्द्र बनाकर उसका काव्यमय भाषा में श्रृंगारादि रसों से युक्त, वर्णन किया गया है। कथा-प्रवाह में वीर श्रृंगारादि रसों से पाठकों का आस्वादन होता है। अन्त में पात्र वैराग्यप्रधान हो जाते हैं। कथा-प्रवाह के विस्तार के लिये नायक नायिका के अतिरिक्त उपनायक उपनायिका की कथा भी किसी किसी ग्रन्थ में जोड़ दी गई है। कथा प्रवाह में पात्रों के पूर्वजन्म के कर्मों का निर्देश कर उनके कर्म फल के अनुसार अन्त में सद्गति या दुर्गति का चित्रण कर कथा समाप्त होती है।

कथा साहित्य के कुछ ग्रन्थों में तो एक ही कथा का विस्तार दिखाई देता है, कुछ

१. मौरिस विंटरनित्स, ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ५९५

में मुख्य कथा के साथ पात्रों के पूर्वजन्म की कथायें और अवान्तर कथायें भी मिलती जाती हैं। सब कथायें मिलकर पूर्णता को प्राप्त होती हैं। कुछ कथा-ग्रन्थ ऐसे भी मिलते हैं जिनमें भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र कथाओं द्वारा धार्मिक उपदेश भावना या श्रावक एवं गृहस्थ के किसी सद्धर्म का व्याख्यान किया गया हैं।

कथा-साहित्य जैन साहित्य का विशेष अंग रहा है। जैन कथाकारों का एक मात्र लक्ष्य सद्भाव, सद्धर्म और सन्मार्ग प्रेरक सत्कर्म का जनसमुदाय में प्रचार कर उसके नैतिक और सदाचारमय जीवन के स्तर को ऊँचा करना था। इस उच्चता द्वारा व्यक्ति लौकिक और पारमार्थिक सुख का भोक्ता बनता है। इन कथाकारों ने व्यक्ति के जीवन-विकास के लिये सद्धर्म और सन्मार्ग के जिन प्रकारों का उल्लेख किया है वे सर्व साधारण के लिये हैं। कोई व्यक्ति, किसी धर्म का मानने वाला, किसी विचारधारा का, किसी देश और किसी जाति का हो, आस्तिक हो या नास्तिक, धनी हो या दरिद्र, सबके लिये यह मार्ग लाभप्रद और कल्याण कारी सिद्ध होता है। मानव के नैतिक-स्तर को ऊँचा उठाने की दृष्टि से इन कथाग्रन्थों का अधिक महत्व है।

इन कथाग्रन्थों में अनेक प्रकार के पात्रों का, उनके आचार व्यवहार का, उनकी विचार परंपरा का और उनके बहुमुखी जीवन का चित्र होने से तत्कालीन समाज एवं तत्कालीन संस्कृति का आभास मिल सकता है और तत्कालीन समाज के इतिहास की रूपरेखा पर यत्किंचित् प्रकाश भी पड़ सकता है। इस दृष्टि से इस कथा-साहित्य का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्व भी है।

कथा–कहानी का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व है। कथा साहित्य चिरकाल से चला आ रहा है। वाङ्मय के प्रारम्भ से ही किसी न किसी रूप में साहित्य का यह अंग भी दिखाई देता है।

भारतीय कथा-साहित्य में जैन कथा-ग्रन्थों का स्थान बड़ा ही महत्वशाली है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, कन्नड़, तामिल आदि प्रधान भारतीय भाषाओं में जैन कथा साहित्य बिखरा पड़ा है। कई कई कथायें तो इतनी अधिक लोकप्रिय हुईं कि उनमें से प्रत्येक कथा पर एक ही भाषा में पचास-पचास जैन विद्वानों ने रचना कर डाली। परिमाण की दृष्टि से कई कथायें अति विस्तृत हैं कई लघुकाय। विषय की दृष्टि से यद्यपि जैन लेखकों का प्रधान लक्ष्य धार्मिक उपदेश रहा तथापि बुद्धिवर्धक, हास्य विनोद युक्त, कौतूहल मिश्रित, ऐतिहासिक आदि विविध प्रकार की कथाएँ भी उपलब्ध होती हैं। कथा साहित्य के कई संग्रह ग्रन्थों में १०० से २०० और ३६० तक कथाएँ संगृहीत हैं। लोक भाषा में रचित रास, चौपाई संज्ञक कई कथा ग्रन्थ जैन भण्डारों में सचित्र मिलते हैं जिनका कलात्मक मूल्य भी है। कई कथा ग्रन्थ अतीव सरस और महाकाव्य सदृश हैं।

जैनागमों में वाङ्मय के चार भाग किये गये हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। प्रथम में सदाचारी स्त्री पुरुषों का जीवन अंकित है। किस धार्मिक विधान को किस व्यक्ति ने किस प्रकार आचरित किया; अनेक विघ्न

बाधायें उपस्थित होने पर भी किस प्रकार उसने सदाचार की प्रतिज्ञा को निबाहा और परिणामतः उसे कौनसा फल मिला, इसका चित्रण प्रथमानुयोग में किया गया है।

जनसाधारण, जो अधिकांश उच्च शिक्षा से रहित होता है, प्रथम अनुयोग को ही महत्वशाली मानता है। जैन साहित्य में धर्म चर्चा को ही धर्म कथा और इतर कथाओं को विकथा कहा गया है। जैन विद्वानों ने लोकरुचि की ओर अधिक ध्यान दिया और समय-समय पर जन-साधारण में प्रचलित प्रसिद्ध कथानकों पर भी पर्याप्त ग्रन्थ लिखे।

व्रतकथाओं एवं धार्मिक अनुष्ठानों--दान, पूजा, शील इत्यादि के माहात्म्य प्रदर्शन में भी सैकड़ों कथायें लिखी गईं।[1]

अपभ्रंश में कथा-ग्रन्थों की परंपरा संस्कृत और प्राकृत से चली आ रही है। जैन साहित्य में सिद्धर्षि कृत उपमिति भव प्रपंच कथा (ई० ९०६), धन पाल कृत तिलक मंजरी आदि ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये। पादलिप्त सूरि की तरंग वती-तरंग लोला-, संघदास गणी की वसुदेव हिण्डी (छठी शताब्दी से पूर्व), हरिभद्र (८वीं शताब्दी सेपू र्व) की समराइच्च कहा, उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कथा (वि० सं० ८३६), विजय सूरि की भुवन सुन्दरी कथा, महेश्वर सूरि की ज्ञान पंचमी कथा, जिनेश्वर सूरी का कथा कोश प्रकरणआदि अनेक ग्रन्थ प्राकृत में लिखे गये।[2]

इससे पूर्व के अध्यायों में अपभ्रंश के भविसयत्त कहा, पज्जुण्ह कहा, पउम सिरि चरिउ आदि अनेक कथाओं का वर्णन अपभ्रंश महाकाव्यों और खंड काव्यों के अन्तर्गत किया जा चुका है। उनमें कथांश के साथ काव्यत्व की मात्रा भी पर्याप्त परिमाण में थी। इस अध्याय में कुछ ऐसे प्रमुख कथाग्रन्थों का निर्देश किया जायगा जिन में लेखक का उद्देश्य भिन्न-भिन्न कथाओं द्वारा किसी धार्मिक या उपदेशात्मक भावना का प्रचार करना रहा है। इनमें अनेक छोटी छोटी कथाओं का संग्रह है और उनमें काव्यत्व की अपेक्षा कथात्मक उपदेश वृत्ति अधिक स्पष्ट है। कथा द्वारा रोचकता उत्पन्न कर लेखक अपने मत की स्थापना करना चाहता है।

जैन कवियों की एक विशेषता रही है कि उन्होंने लौकिक पात्रों को भी जैन धर्म का बाना पहिना दिया है। उनका रूप अपनी भावना के सांचे में ढाल लिया है। अनेक श्रृंगारिक आख्यानों को भी उपदेशप्रद बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकरण में अपभ्रंश के प्रमुख कथा ग्रन्थों का विवरण दिया जाता है।

धम्म परिक्खा (धर्म परीक्षा)

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। आमेर शास्त्र भण्डार में इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ

---

१. अगरचन्द नाहटा, जैन कथा साहित्य, जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १२, किरण १।

२. जैन कथा साहित्य के संस्कृत प्राकृत-ग्रंथों के लिए देखिए विन्टर नित्स—ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ५०९ और आगे।

वर्तमान हैं। (प्र० सं० पृष्ठ १०८–११०)

हरिषेण ने ग्यारह सन्धियों में इस ग्रन्थ की रचना की है। सन्धियों में कडवकों की कोई निश्चित संख्या नहीं। कम से कम १७ कडवकों की १० वीं और अधिक से अधिक २७ कडवकों की ११ वीं सन्धि है। प्रत्येक सन्धि के अन्तिम घत्ता में किसी न किसी रूप में ग्रन्थकार ने अपने नामका प्रयोगकिया है। सन्धि की पुष्पिकाओं में भी लेखक का नाम मिलता है।[1]

लेखक के पिता का नाम गोवर्धन था। गोवर्धन मेवाड़ के सिरि उजपुर में धक्कड़ वंश में उत्पन्न हुआ था। हरिषेण चित्तौड़ में रहता था। कभी निज कार्य वश वहां से अचलपुर गया और वहीं उसने इस ग्रन्थ की रचना की।[2] लेखक के गुरु का नाम सिद्धसेन था। कृति की रचना लेखक ने वि० सं० १०४४ में की थी।[3]

ग्रन्थ का आरम्भ कवि ने जिन स्तुति और गुरु वन्दना से किया है। आत्म नम्रता के साथ कवि अनेक प्राचीन कवियों का स्मरण करता है। कवि अल्पज्ञ होते हुए भी काव्य रचना में प्रवृत्त होता है और उसे विश्वास है कि श्री जिनेन्द्र धर्मानुराग के कारण एवं अपने गुरु श्री सिद्धसेन के प्रसाद द्वारा नलिनी दल के शोभन सहवास से मौक्तिक कान्ति को प्राप्त करने वाले जल बिन्दु के सदृश, यह काव्य भी उन के संपर्क से छविमान होगा। इसी प्रसंग में कवि ने अपने से पूर्व जयराम की गाथा छन्दों में विरचित प्राकृत भाषा की धर्म-परीक्षा का निर्देश किया है। जिस से यह प्रतीत होता है कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना जयराम कृत धम्म परिक्खा के आधार पर की थी। जयराम की यह कृति अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी।[4]

---

१. इय धम्म (परि) परिक्खाए चउवग्गाहि ट्ठियाए चित्ताए,
वुह हरिसेण कयाए एयारसमो संधी परिच्छेउ समत्तो।

२. इय मेवाड़ देसे जण संकुले, सिरि उजपुर णिग्गय धक्कड कुले।
गोवद्धणु नामें उप्पत्तउं जो सम्मत्त रयण संपुत्तउं।
तहो गोवद्धणासु पिय धणवइ, जा जिणवर मुणिवर पिय गुणवइ।
ताइं जणिउं हरिसेणु णामें सुउ, जो संजाउ विवुह कइ विस्सुउ।
सिरि चित्तउडु चएवि अचलउरहो, गुउ णिय कज्जें जिणहर पउरहो
तहि छंदालंकार पसाहिय, धम्मपरिक्ख एह तें साहिय। ११.२६

३. दो भिन्न भिन्न प्रतियों में ये उद्धरण मिलते हैं—
"विक्कम णिव परि वत्तिय कालए, गयए वरसि सहसेहि भवालए।"
"विक्कम णिव परिय कालइ, अव गय वरिस सइस चउतालए।"
ध० प० ११.२७

४. ॐ नमः सिद्धेम्यः॥

प्राकृत और संस्कृत में भी अनेक लेखकों ने 'धर्म परीक्षा' लिखी हैं ।[१]

हरिषेण ने अपनी धम्मपरिक्खा अमित गति की धर्म परीक्षा (संस्कृत) से २६ वर्ष पूर्व लिखी । दोनों में पर्याप्त समानता है । अनेक कथायें, पद्य और वाक्य दोनों में समान रूप से मिलते ह । किन्तु फिर भी जब तक हरिषेण द्वारा निर्दिष्ट जयराम की धर्म-परीक्षा की जाँच न हो, इस परिणाम पर नहीं पहुँच सकते कि किसने किसको प्रभावित किया। संभवतः दोनों का स्रोत जयराम की धर्म-परीक्षा हो ।[२]

धम्म परिक्खा में कवि ने ब्राह्मण धर्म पर व्यंग्य किया है । उस धर्म के अनेक पौराणिक आख्यानों और घटनाओं को असंगत बताते हुए, जैन धर्म के प्रति आस्था और श्रद्धा उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है ।

प्राकृत में हरिभद्र सूरि (८ वीं शताब्दी) रचित धूर्त्ताख्यान,[३] विषय की दृष्टि

सिद्धि पुरंधिहि कंतु, सुद्धें तणुमय वयणें ।
भत्तिए जिणु पणवेवि, चिंतिउ बुह हरिसेणें ।।
मणुय जम्मि बुद्धिए किं किज्जइ, मणहर जाइ कव्वु ण रइज्जइ ।
तं करंत अवियाणिय आरिस, हासु लहहि भड रणि गय पोरिस ।
चउमुह कव्वु विरयणि सयंभुवि, पुप्फयंतु अण्णाणु णिसंभिवि ।
तिण्णि वि जोग्ग जेण तं सीसइ, चउमुह मुह थिय ताव सरासइ ।
जो सयंभ सो देउ पहाणउं, अह कह लोयालोय वियाणउं ।
पुप्फयंतु णउ माणुसु वुच्चइ, जो सरसइए कया वि ण मुच्चइ ।
ते एवंविह हउ जड माणउ, तह छंदालंकार विहीणउ ।
कव्वु करंतु के मण बि लज्जमि, तह वि सेस पिय जण कि हरंजमि ।
तो वि जिणिंद धम्म अणुरायइ, वुह सिरि सिद्धसेण सुपसाइं ।
करमि सयं जिह णलिणि दलथिउ जलु, अणुहरेइ णित्तुलु मुत्ताहलु ।

घत्ता--

जा जयरामें आसि विरइय गाह पबंधि ।
सा हम्मि धम्म परिक्ख सा पद्धडिय बंधि ।। ध० प० १-१

१. जिन रत्न कोश, भाग १, संपादक प्रो० हरि दामोदर वेलणकर, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना, १९४४ ई०, पृ० १८९।

२. डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, हरिषेण की धम्म परिक्खा, एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, भाग २३, पृ० ५९२-६०८।

३. धूर्त्ताख्यान, संपादक प्रो० आ० ने० उपाध्याय, बंबई, १९४५ ई० ।
धूर्ताख्यान की कथा संक्षेप में इस प्रकार है--चार धूर्त्त पुरुष और एक धूर्त स्त्री अपने-अपने जीवन के असंगत, असंभव तथा असंबद्ध अनुभवों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। अपने जीवन की अविश्वसनीय घटनाओं की रामायण, महाभारतादि में वर्णित अनेक कपोल-कल्पित मिथ्या घटनाओं से पुष्टि करते हैं।

से हरिषेण की तथा अन्य कवियों की 'धर्म परीक्षा' का आदि रूप कहा जा सकता है। दोनों में भेद इतना ही है कि धम्मपरिक्खा के रचयिता ने तीव्रता से पुराणों की निन्दा कर के जैन धर्म को थोपने का प्रयत्न किया है किन्तु धूर्ताख्यान में पुराणों पर केवल हलका सा व्यंग्य किया है, उसमें प्रचंडता और कटुता नहीं।

ग्रन्थ का कथानक इस प्रकार है:—

कवि मंगलाचरण के पश्चात् अनेक प्राचीन कवियों का उल्लेख करते हुए आत्म विनय प्रदर्शित करता है। तदनन्तर जंबू द्वीपान्तर्गत भरतक्षेत्र का काव्यमय भाषा में वर्णन किया गया है। उसी क्षेत्र के अन्तर्गत मध्य प्रदेश में वैताढ्य पर्वत का वर्णन करता हुआ कवि वैजयन्ती नगरी का सौन्दर्य प्रस्तुत करता है। वैजयन्ती नगरी के राजा की रानी का नाम वाउवेय (वायुवेगा) था। उनके मनवेग नामक एक अत्यन्त धार्मिक पुत्र था। उसका मित्र पवनवेग भी धर्मात्मा और ब्राह्मणानुमोदित पौराणिक धर्म में आस्था रखने वाला था। इसी सन्धि में कवि ने अवन्ती देश और ब्राह्मणों के देश पाटलिपुत्र का वर्णन किया है। मनवेग विद्वान् ब्राह्मणों की सभा में कुसुमपुर गया। पवनवेग भी उसके साथ था। तीसरी सन्धि में अंग देश के राजा शेखर का कथानक देकर कवि अनेक पौराणिक उपाख्यानों का वर्णन करता है। चौथी सन्धि में अवतारवाद पर व्यंग्य किया गया है। विष्णु दस जन्म लेते हैं और फिर भी कहा जाता है कि वह अजन्मा हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी बातें कैसे संभव हो सकती हैं? स्थान-स्थान पर कवि ने 'तथा चोक्तं तैरेव' 'तद्यथा' इत्यादि शब्दों द्वारा संस्कृत के अनेक पद्य भी उद्धृत किये हैं। इसी प्रसंग में शिव के जाह्नवी और पार्वती प्रेम एवं गोपी कृष्ण-लीला पर भी व्यंग्य किया है।

तद्यथा—

का त्वं सुन्दरि जाह्नवी किमिह ते भर्त्ता हरो नन्वयं
अंभस्त्वं किल वेत्सि मन्मथ रसं जानात्ययं ते पतिः।
स्वामिन् सत्य मिदं न हि प्रियतमे सत्यं कुतः कामिनां
इत्येवं हर जाह्नवी गिरि सुता संजल्पनं पातु वः॥
४.१०

तद्यथा—

अंगुल्या कः कपाटं प्रहरति कुटिले माधवः किं वसंतो
नो चक्री किं कुलालो न हि धरणिधरः किं द्विजिह्वः फणीन्द्रः।
नाहं घोराहि मर्द्दी किमसि खगपति र्नो हरिः किं कपीशः
इत्येवं गोपवध्वा प्रहसितवदनः पातु वश्चक्रपाणिः॥ ४. १२

पाँचवीं सन्धि में ब्राह्मण धर्म की अनेक अविश्वसनीय और असत्य बातों की ओर निर्देश कर मनवेग ब्राह्मणों को निरुत्तर करता है। इसी प्रसंग में वह कहता ह कि राम

इस प्रकार व्यंग्य रूप से हरिभद्र ने ब्राह्मणों के पुराणादि को असत्य प्रतिपादित किया है।

जो सृष्टि, प्रलय आदि के भी ज्ञाता हैं, अपनी नारी के हरण को कैसे न जान पाये ? और उसके विषय में वन वन पूछते फिरे। इसके पश्चात् सातवीं सन्धि में गान्धारी के सौ पुत्रों की उत्पत्ति और पाराशर का धीवर कन्या से विवाह वर्णित किया गया है। आठवीं सन्धि में कुंती से कर्ण की उत्पत्ति और रामायण की कथा पर व्यंग्य किया गया है। नवीं सन्धि में मनवेग अपने मित्र पवन के सामने ब्राह्मणों से कहता है कि एक बार मेरे सिर ने धड़ से अलग होकर वृक्ष पर चढ़कर फल खाये। अपनी बात की पुष्टि के लिए वह रावण और जरासंध का उदाहरण देता है। इसी प्रसंग में मनवेग श्राद्ध की असत्यता का प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि यह कैसे संभव है कि इस लोक में ब्राह्मण भोजन करें तो परलोक में नाना योनियों में जाकर शरीर धारण करने वाले मृत और दूरंगत पितर, उसे प्राप्त कर लें ? इस प्रकार नाना कपोल कल्पनाओं को मिथ्या वतला कर केवल धार्मिक भावनाओं की निम्नलिखित संस्कृत पद्य से पुष्टि की गई है—

प्राणापातान्निवृत्तिः परधन हरणे संयमः सत्य वाक्यं
लोके शक्त्या प्रदानं युवति जन कथा मूक भावः परेषां।
तृष्णा स्रोतो विभंगो गुरुषु च विनतिः सर्व सत्वानकंपा
सामान्यं सर्व मपेष्वनुपहत मति श्रेयसामेष पन्थाः॥

९.२४

दसवीं सन्धि में भी गोमेध, अश्वमेधादि यज्ञों और नियोगादि पर व्यंग्य किया है। इस प्रकार मनवेग अनेक पौराणिक कथाओं का निर्देश कर और उन्हें मिथ्या प्रतिपादित कर ब्राह्मणों को परास्त करता है। पवनवेग भी मनवेग की युक्तियों से प्रभावित होता है। उसका विश्वास ब्राह्मण धर्म से उठ जाता है और वह जैनधर्म में दीक्षित हो जाता है। जैनधर्मानुकूल उपदेशों और आचरणों के निर्देश के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

यह काव्य ब्राह्मण धर्म पर व्यंग्य करने के हेतु ही रचा गया जान पड़ता है। स्थान स्थान पर इस धर्म के आख्यानों पर गहरे व्यंग्य किये गये हैं और परिणामस्वरूप जैनधर्म के प्रति रुचि जागृत की गई है। कृति में धार्मिक तत्व की प्रधानता होने के कारण कवित्व अधिक प्रस्फुटित नहीं हो सका। कवित्व की दृष्टि से पहली और ग्यारहवीं सन्धियाँ उल्लेखनीय हैं।

कवि की कविता का उदाहरण निम्नलिखित उद्धरणों में देखा जा सकता है। कवि वैजयन्ती नगरी का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में करता है—

तहिं पंचासह मज्झि सुरिद्धी, णयरी वइजयंति सुपसिद्धी।
कामिणि व्व जा णयण पियारी, जहिं दीसइ तहिं सुहय जणेरी।
जा सुरतरु व वणेण विसालें, अइरेहइ णेत्तेण व णीलें।
परिहइ सारस हंस रवालए, मेहलाइ णं किंकिणि मुहलए।
सिय पायार भित्ति कंचुलियए, पंच वण्ण धयमाल घुलियए।
उप्परियण सोहइ सोहंती, कणय कलस उरोज दरिसंती।
गोउरेण(हि) णं रुंदें वयणें, हसइ व तोरण मोत्तिय रयणें।

भवण रयण णयणेहिं णिहालइ, अहिणव तरु पल्लव कर चालइ।
मंदिर सिहर थक्क सिहि जूहें, सोहइ देइ णं केस समूहें।
संचरंत माणिणि पब्भारें, चल्लइ णं णेउर झंकारें।
अइ सोहा हुय(व) किह वणिज्जइ, जाहि सुराहिव णयरि ण पुज्जइ।
घत्ता--महि हर पीय उच्छंगे पउर भोय गुणवंती।
वसइ तरट्ठिव कंत्ति रयण दित्ति दीवंती॥ १.४

इस उद्धरण में कवि ने वैजयन्ती नगरी को एक सुन्दर नारी के समान मनोहारिणी बतलाया है। यद्यपि कवि ने इस नगरी को सुराधिप की नगरी से भी बढ़कर बताया है किन्तु नगरी की वह सुन्दरता और समृद्धि शब्दों में अभिव्यक्त नहीं हो सकी है।

कवि वाउवेय रानी का वर्णन करता हुआ कहता है--

तहो वाउवेय णामेण घरिणि, पइवय णावइ परलोय कुहिणि।
णारी मुह लक्खण लक्खियंगि, मुहणयणहिं जियच्छण ससि कुरंगि।
तहिं अहिणव जोव्वणु सवणु णाइ, अरुणच्छवि णह अंकुरिउ लाइ।
(तहिं जोव्वणु जणि णं वहु विहाइ, अरुण छवि णं अंकुरिउ भाइ)
अइ रत्त पाणि पल्लव चलंतु, विल्लहल वाहु वल्ली ललंतु।
कोमल जंघा रंभा सहंतु, सिय असिय णयण कुसुमइ वहंतु।
पिहु पीण पउहर फलणवंतु, अलयावलि अलिउल सोह देंतु।
रत्ताहर विंवीहल फुरंतु, असच्छाउ (सज्जाउ) सविज्झमु सिलयवंतु।
चंदण कप्पूरहिं महमहंतु, खयर वर विसय वर (सुहु) दिहिं जणंतु।
१.६

नारी के सौन्दर्य वर्णन में कवि ने परंपरागत उपमानों का प्रयोग किया है। कवि की दृष्टि केवल बाह्य सौन्दर्य तक ही पहुँच पाई है।

कवि का मेवाड़ देश-वर्णन देखिये--

जो सिहरि सिहिण केक्कारइल्लु, सरि तडि रहट्ट जव सेयगिल्लु।
तरु कुसुमगंध वासिय दियंत, णीसेस सास संपुंण्ण च्छित्त।
चूय वण कोइलाराव रम्मु, वर सर सारस वय जणिय पेम्मु।
भिस किसलय पासायण तुट्ठ हंस, मयरंद मत्त अलिउल णिघोस।
करवंद जाल किडि विहियतोसु, वण तरु हल सउणिगण पोसु।
कय सास चरणु गो महिसि महिसु, उच्छ वण पद रिसियरस विसेसु।
तप्पाणाणंदिय दीण वेंदु, थल णलिणि सयण गय पहिय तंदु।
वर सालि सुगंधिय गंधवाहु, तक्खणि सकण ट्ठविय सुय समूहु।
णियडत्थ गाम मंडिय पएसु, जणवय परिपूरिय जाम कोसु।
रिउ जोग्ग सोक्ख रंजिय जणोहु, गय चोर मारि भय लद्ध सोहु।
घत्ता--जो उज्जाणहिं सोहइ खेयर मोहइ वल्ली हरहिं विसालहिं।
मणि कंचण कय पुण्णहिं वण्ण रवण्णहिं पुरहिं स गोउर सालहिं॥ ११.१

लेखक ने सरल और सरस भाषा में अपने भावों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भाषा में अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग भी कवि ने किया है। जैसे—

.... घव घव घवंत बहु घग्घराइं।
गाइय सरिगमपधणी सराइं, मणिमय कणंत किंकिणि सराइं।
फुल्ल हर भमिर महुयर उलाइं, टण टण टणंत घंटाउलाइं॥

११.२५.

कवि ने भाषा को अलंकृत करने के लिये यथास्थान अलंकारों का भी प्रयोग किया है। ऊपर दिये गये उद्धरणों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक के उदाहरण मिलते हैं। विरोधाभास का उदाहरण निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है। कवि वैजयन्ती नगरी के राजा के विषय में कहता है—

.... असिरीहरो वि लच्छी सणाहु।
अपुरंदरो वि विवुहयणह इट्ठु, ...।
अकुमारु वि जो सत्ती पयासु, वंधव परियण परिपूरियासु।
अदिसागउ वि अणवरय दाणु, अदिणेसु वि उग्गपयावथाणु॥

१.५

इसी प्रकार निम्नलिखित मुनि-वर्णन में भी विरोधाभास अलंकार दिखाई देता है—

समलु वि णिम्मलयउ, ...
आसावसणु वि आसा रहिउ, मुक्काहरणु वि तिरयण सहियउ।
णिग्गंथ वि वहुगंथ परिग्गहु, ...
.... बहु सीसु वि ण वुत्तु लंकाहिउ॥

३.१२

इस ग्रन्थ में नाना छन्दों का प्रयोग किया गया है। "साहम्मि धम्म परिक्ख सा पद्धडिय वंधि" द्वारा कवि ने स्पष्ट निर्देश किया है कि ग्रन्थ में पद्धडिया छंद की बहुलता है। इस छन्द के अतिरिक्त मदनावतार (१.१४), विलासिनी (१.१५), स्रग्विणी (१.१७), पादाकुलक (१.१९), भुजंग प्रयात (२.६, ३.८), प्रमाणिका (३.२), रणक या रजक (३.११), मत्ता (३.२१), विद्युन्माला (९.९), दोधक (१०.३) आदि छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। छन्दों में वर्णवृत्त और मात्रिक वृत्त दोनों मिलते हैं, यद्यपि अधिकता मात्रिक वृत्तों की ही है।

कथा कोष

श्रीचन्द्र कवि कृत ५३ सन्धियों का अप्रकाशित ग्रन्थ है। प्रत्येक सन्धि के अन्तिम पद्य में कवि का नाम निर्दिष्ट है।[1] कवि, कुन्द कुन्दाचार्य की परंपरा में वीरचन्द्र

---

१. मुणि सिर चन्द पउत्ते कहकोसे एत्थ जम्मणाणंद इत्यादि।

का शिष्य था ।[1] जिस समय कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की उस समय अणहिल्ल पुर में मूलराज नामक राजा राज्य करता था। चालुक्य वंश में इस नाम के दो राजा हुए हैं। एक ने ९४१ ई० से ९९६ ई० तक और दूसरे ने ११७६ ई० से ११७८ ई०तक राज्य किया ।[2] स्वरचित रत्न करण्ड शास्त्र की हस्तलिखित प्रति (प्रशस्ति संग्रह पृ० १६४) में प्राचीन कवियों का स्मरण करते हुए कवि ने चतुर्मुख, स्वयंभू, पुष्पदन्त, श्रुतदेव, श्रीहर्ष का नाम भी लिया है और बताया है कि यह ग्रन्थ कवि ने श्रीपालपुर में राजा कर्ण के राज्यकाल में वि० सं० ११२३ (१०६६ ई०)में रचा।[3] अतः कथा कोष की रचना भी इसी समय के आसपास हुई होगी।

कथा कोष में ५३ सन्धियों में कवि ने ५३ कथायें दी हैं। ये सब कथायें धार्मिक और उपदेशप्रद हैं। राजा श्रेणिक, मगध देश, पाटलिपुत्र और राजगृह से संबद्ध अनेक कथायें हैं। कथाओं में पशु पक्षी भी पात्र रूप से प्रयुक्त हुए हैं। उदाहरण के लिये एक कथांश नीचे दिया जाता है—

मगहा मंडल पय-सुहयरम्मि, पयपालु राउ पायलि पुरम्मि।
तत्थेव एक्कु कोसिउ उयारि, निवसइ मायावि गोउर-दुवारि ॥१
स कयाइ रायहंसह समीवु, गउ विहरमाणु सुर सरिहे दीवु।
एक्केण तत्थ कय-सागएण, पुच्छिउ हंसे वयसागएण ॥२
भो मित्त, तं सि को कहसु एत्थु, आऊमि पएसहो कहो किमत्थु।
धयरट्ठहो वयणु सुणेवि घूउ, भासइ हउँ उत्तम कुल पसूउ ॥३
कय - सावाणुग्गह-विहि-पयासु, आयहो पहु पुहइ मंडलासु।
वसवत्ति सव्व सामंत-राय, महुं वयणु करंति कयाणु राय ॥४
कीलाइ भमंतउ महिपसत्थ, तुम्हइं निएवि आऊमि एत्थ।
इय वयणहिं परिऊसिउ मरालु, विणएण पयंपि उमह विसालु[4] ॥५

अर्थात् मगध देश के सुखकर एवं सुन्दर पाटलिपुत्र नगर में प्रतिपाल नामक एक राजा था। वहीं एक उजड़े गोपुर द्वार में एक मायावी उल्लू रहता था। वह एक बार विहार करता हुआ सुरसरि द्वीप में राजहंसों के पास गया। वहां एक वयोवृद्ध हंस ने उसका स्वागत किया और पूछा—हे मित्र, तुम कौन हो? कहां से आये हो?

---

१. इलाहाबाद यूनिवर्सिटी जर्नल, भाग १, पृष्ठ १७१।
२. कैटेलोग आफ संस्कृत एंड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि सी. पी. एंड बरार, भूमिका पृ० ५०।
३. "एयारह तेवीसा वरसण (वासमया) विक्कमस्स णरवइणो।
जइय गयाहु तइया समणियं संदरं एयं॥
कण्ण णरिंदहो रज्जिसुहि सिरि सिरिवाल पुरम्मि।
वुह सिरिचंदे एउ किउ णंदउ कव्वु जयम्मि॥
४. कामता प्रसाद जैन, हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ५३।

किस लिये आये हो ? हंस के वचन सुन उल्लू बोला—मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। मुझ पर सब का अनुग्रह है। मैं राजा के पास से आया हूँ। सब सामंत मेरे वशवर्ती हैं और वे मेरे प्रति प्रेम से मेरा ही कहा करते हैं। क्रीड़ा से भ्रमण करता हुआ, राजाओं के साथ, मैं भी यहां तुम्हारे पास आ गया। इन वचनों को सुन हंस प्रसन्न हुआ और वह उसके पैरों में गिर पड़ा। अनन्तर उल्लू ने अपना मायावी रूप प्रकट किया।

इन सब कथाओं का उद्देश्य मनुष्य हृदय में निर्वेद भाव जागृत कराना है। इस का आभास ग्रन्थारम्भ में ही मिल जाता है—

"पणवेप्पिणु जिणु सुविसुद्ध मई। चिंतइ मणि मुणि सिरिचंदु कई।
संसारु असारु सव्वु अथिरु। पिय पुत्त मित्तु माया तिमिरु।
संपय पुणु संपहे अणुहरइ। खणि दीसइ खणि पुणु ऊसरइ।
सु विणय समु पेम्मु विलासविही। देहुवि खणि भंगरु दुक्ख तिही।
जोव्वणु गिरि वाहिणि वेय गउ। लायण्णु वण्णु कर सलिल सउ।
जीविउ जल बब्बुय फेण णिहु। हरि जालु वरज्जु अवज्ज गिहु[1]।"

ग्रन्थ की भाषा में पदयोजना संस्कृत प्राकृत के ढंग की है जैसे—"एक्केण कय सागएण हंसे पुच्छिउ" (एकेन कृत स्वागतेन हंसेन पृष्टम्)। ग्रन्थ में वंशस्थ, समानिका, दुहडउ, मालिनी, पद्धडिया, अलिल्लह आदि छन्दों का प्रयोग किया गया।[2] इन छन्दों में संस्कृत के वर्णवृत्तों का भी कवि ने प्रयोग किया है किन्तु इनके प्रयोग में भी कवि ने नवीनता उत्पन्न कर दी है। उदाहरण के लिये—

"विविह रस विसाले। णेय कोऊ हलाले।
ललिय वयण माले। अत्थ संदोह साले।
भुवण-विदिद-णामे। सव्व-दोसो वसामे।
इह खलु कह कोसे। सुन्दरे दिण्ण तोसे।।"

यह संस्कृत का मालिनी छन्द है। इसमें प्रत्येक पंक्ति में ८ और ७ अक्षरों के बाद यति के क्रम से १५ अक्षर होते हैं। कवि ने प्रत्येक पंक्ति को दो भागों में विभक्त कर यति के स्थान पर और पंक्ति की समाप्ति पर अन्त्यानुप्रास (तुक) का प्रयोग कर के छन्द को एक नवीन रूप दे डाला।

रत्न करण्ड शास्त्र

यह ग्रन्थ भी अप्रकाशित है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार में विद्यमान हैं (प्र० सं० पृ० १६४–१६७)। यह भी श्रीचन्द्र कवि का २१ सन्धियों में लिखा हुआ ग्रन्थ है और कथा कोष के समान अनेक उपदेश प्रद धार्मिक और नैतिक

---

१. कैटेलाग आफ संस्कृत एंड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि सी. पी. एंड बरार, पृ० ७२५।

२. वही, भूमिका पृ० ५०।

कथाओं से युक्त है। यह स्वामी सामन्तभद्र की सुप्रसिद्ध कृति 'रत्न करण्ड' का विस्तृत व्याख्यान है। यह एक आचार ग्रन्थ है। ग्रन्थ में उदाहरण स्वरूप प्रसंग प्राप्त व्रतोपासक व्यक्तियों के कथानक दिये गये हैं।

मंगलाचरण से ग्रन्थ का आरम्भ कर कृतिकार २४ तीर्थंकरों का स्तवन करता है। अपने से पूर्व के अनेक प्रसिद्ध कवियों का स्मरण कर स्वयं ग्रंथ लेखन का कारण निम्नलिखित शब्दों में प्रकट करता है—

चउमुहु चउमुहु व पसिद्धु भाइ, कइराउ सयंभु सयंभु नाइं।
तह पुप्फयंतु निम्मुक्क दोसु, वणिज्जइ किं सुअए वि कोसु।
सिरि हरस कालियास इ सार, अवरवि को गणइं कइत्तकार।

१.२

इन प्रसिद्ध कवियों के होते हुए भी कवि स्वयं काव्य में प्रवृत्त क्यों हुआ—

तहवि जिणंद पय भत्तियाए, लइ करमि किंपि निय सत्तियाए।
जइ करइ समुग्गमु तमविवक्खु, तो किण्ण उयउ गयणम्मि रिक्खु।
जइ वियसइ सुर पिउ पारियाउ, ता इयरु म फुल्लउ भूमिजाउ।

१.२

कवि परम्परा के अनुसार कृतिकार ने सज्जन दुर्जन-स्मरण (१.३) भी किया है। प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में कृतिकार ने अपने नाम का निर्देश किया है। इन पुष्पिकाओं से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक ने इस ग्रन्थ का निर्माण धार्मिक भावना से प्रवृत्त होकर ही किया था।[1]

ग्रन्थ में एक स्थल पर लेखक ने अनेक अपभ्रंश छन्दों का उल्लेक किया है—

छंद णियारणाल आवलियहिं, चच्चरि रासय रासहिं ललियहिं।
वच्छु अवच्छू जाइ विसेसहिं, अडिल मडिल पद्धडिया अंसहिं।
दोहय उवदोहय अवभंसहिं, दुवई हेला गाहु वगाहहिं।
ध्रुवय खंडउवखंडय घत्तहिं, सम विसमद्ध समेहिं विचित्तहिं।

१२.३

कृतिकार ने स्वयं भी आरणाल, दुवई, जंभिट्टिया. उवखंडयं, गाथा, मदनावतार आदि छन्दों का प्रयोग किया है। प्रधानता पद्धडिया छन्द की ही है।

स्थान स्थान पर विषय स्पष्ट करने के लिए 'उक्तं च' 'तद्यथा' इत्यादि शब्दों द्वारा

१—**इय पंडिय सिरि चंद कए, पयडिय कोऊहल सए, सोहण भावपवत्तए, परिऊसिय वुह चित्तए, दंसण कहरयण करंडए, मिछत्त पऊहि तरंडए, कोहाइ कसाइ विहंडए, सत्थम्मि महागण संडए, देउ गुरु धम्मायरणो गुण दोस पयासणो, जीवाइ वर तव्व णिण्णय करणो णाम पठमो संधी परिछेऊ समत्तो ॥संधि१॥**

कुछ संस्कृत के प्राचीन पद्य भी लेखक ने उद्धृत किये हैं।[1]

स्थूलिभद्र कथा

यह सोमप्रभाचार्य कृत कुमार पाल प्रतिबोधान्तर्गत (पृ० ४४३-४६१) एक छोटी-सी कथा है। इस में कवि ने ब्रह्मचर्य व्रत का माहात्म्य प्रदर्शित किया है।

पाटलिपुत्र नगर में नवम नन्द राजा राज्य करता था। उसका शकटार नामक मन्त्री था। मन्त्री के ज्येष्ठ पुत्र का नाम स्थूलिभद्र था। स्थूलिभद्र अतीव सुन्दर रूपवान् युवक था। एक बार वसन्त समय में, जब सर्वत्र उल्लास छाया हुआ था, स्थूलिभद्र कोशा नामक वारवनिता के प्रासाद में गया। गवाक्ष स्थित परम सुन्दरी कोशा को देख कर स्थूलिभद्र मुग्ध हो गया और उसे ऐसा प्रतीत हुआ—

"रयणालंकिय-सयल-तणु उज्जल-वेस-विसिठ्ठ।
नं सुर-रमणि विमाण-गय लोयण विसइ पविठ्ठ॥७॥

मानो विमान-स्थित कोई सुर-रमणी उस की आँखों के आगे आई हो। उसके अंग प्रत्यंग की सुषुमा से स्थूलिभद्र का हृदय विचलित हो उठा—

निम्मल-मुत्तिय-हार मिसि रइय चउक्कि पहिट्ठु।
पढमु पविट्ठउ हियि तसु पच्छा भवणि पविठ्ठु॥१३॥

उसके भवन में प्रवेश करने से पूर्व ही वह उसके हृदय में प्रवेश कर गया। इस प्रकार वारह वर्ष तक स्थूलिभद्र कोशा के साथ भोग-विलास में लीन रहा।

शकटार की मृत्यु के बाद राजा को चिन्ता हुई कि मन्त्री किसे बनाया जाय। स्थूलिभद्र का आचरण ठीक न था। अतः उन्होंने इसके छोटे भाई श्रीपक को मन्त्री का पद स्वीकार करने के लिए आमन्त्रित किया। किन्तु बड़े भाई के रहते, बिना उसकी अनुमति के उसने मन्त्रि-पद स्वीकार करने में आपत्ति की। स्थूलिभद्र के पास राजा का संदेश पहुँचा तो उसने इस पर विचार करने का समय मांगा। वह सहसा कोशा के रंगभवन से बाहर निकल दूर एक उद्यान में जाकर ध्यान मग्न हो गया। सांसारिक भोग-विलास

---

१. उक्तं च।

अपुत्रस्य गति र्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्र मुखं दृष्ट्वा पश्चाद् भवति भिक्षुकः॥ २.१७
कृते प्रतिकृतिं कुर्यात् हिंसिते प्रति हिंसितं
तत्र दोषं न पश्यामि दुष्टे दुष्टं समाचरेत्॥ ८.१५

तद्यथा—

एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिक्षे (ष्ये) निवेदयेत्।
पृथिव्यां नास्ति तद् द्रव्यं यद् दत्वा चानृणी भवेत्॥
एकाक्षर प्रदातारो (रं) यो गुरुं नैव मन्यते।
श्वान योनि शतं गत्वा चांडालेष्वपि जायते॥ इत्यादि १५.१५

से सहसा विरक्त हो गया। मन्त्रि पद का विचार छोड़कर संन्यास-ग्रहण का संकल्प किया। आचार्य संभूति विजय से जैन-धर्म में दीक्षा लेकर कठोर तपस्या में लीन हो गया।

कालान्तर में स्थूलिभद्र फिर चातुर्मास्य में कोशा के घर आया। कोशा का सुन्दर मुख, उसके तीक्ष्ण कटाक्ष उस पर कोई प्रभाव न डाल सके। इस प्रकार स्थूलिभद्र के अखंड ब्रह्मचर्य के माहात्म्य वर्णन के साथ कथा समाप्त होती है।

कृति में सरस और सुन्दर वर्णन उपलब्ध होते हैं। प्रकृति और मानव दोनों का सुन्दरता से वर्णन किया गया है। वसन्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"अह पत्तु कयाइ वसंत समओ,
संजणिय -सयल- जण- चित्त- पमओ,
उल्लासिय-रुक्ख पवाल- जालु,
पसरंत-चारु-चच्चरि व्व मालु ॥१॥
जहिं वण-लय-पयडिय-कुसुम-वरिस,
महु-कंत समागय जणिय हरिस।
पवमाण-चलिर-नव-पल्लवेहिं ,
नच्चंति नाइ कोमल करेहिं ॥२॥
नव- पल्लव- रत्त -असोअ -विडवि,
महु-लच्छिहि सउं परिणयणु घडवि।
जहिं रेहहिं नाइ कुसुंभरत्त,
वत्थेहिं नियंसिय सयल गत्त ॥३॥
हसइ व्व फुल्ल-मल्लिय-गणेहिं,
नच्चइ व्व पवण-वेविर-वणेहिं।
गायइ भमरावलि रविण नाइ,
जो सयमवि मयणुम्मत्तु भाइ ॥४॥ (पृष्ठ ४४३)

वर्णन में स्वाभाविकता है। प्रकृति में चेतना अनुप्राणित करते हुए कवि ने चराचर में वसन्त के प्रभाव की व्यंजना की है।

कवि कोशा का सौन्दर्य वर्णन करता हुआ कहता है—

"जसु वयण विणिज्जउ णं ससंकु,
अप्पाणु निसिहिं दंसइ ससंकु।
जसु णयण-कंति-जिय-लज्ज-भरिण,
वण-वासु पवन्नय नाइ हरिण ॥८॥
जसु सहहिं केस-घण कसण-वन्न,
नं छप्पय सुह पंकय पवन्न।
भवणिक्क-वीर-कंदप्प-धणह,
सुंदरिस विडंबहि जासु भमुह ॥९॥

जसु अहर हरिय-सोहग्ग-सारु,
नं विद्दुम सेवइ जलहि खारु।
जसु दंतपंति सुंदेरु रुंदु,
नहु सीओसहं तु वि लहइ कुंदु ॥१०॥
असणंगुलि पल्लव नहपसूण,
जसु सरल भुयाउ लयाउ नूण।
घण-पीण-तुंग -थण- भार- सत्तु,
जसु मज्झु तणुत्तणु नं पवत्तु ॥११॥

(पृष्ठ ४४५)

अर्थात् जिस (कोशा) के मुख से पराजित चन्द्रमा अपने आप को रात्रि में सशंकित हुआ दिखाता है। जिसकी आँखों की कान्ति से पराजित अतएव अत्यधिक लज्जित हरिणी ने मानो वनवास प्राप्त कर लिया। जिस के घने घने काले केश ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मुख कमल पर भौंरे मंडरा रहे हों। जिसकी भृकुटी संसार में एकमात्र वीर काम के धनुष के सौन्दर्य की भी विडम्बना करती है। जिसके अधरों से अपहृत-सौन्दर्य वाले विद्रुम मानो क्षार समुद्र में चले गये।..... जिस के सघन, पीन, और उत्तुंग स्तन भार को वहन करते-करते मध्यभाग मानो क्षीण हो गया।

इस प्रकार नारी अंग प्रत्यंग वर्णन या नख शिख वर्णन का रूप हमें यहां भी दिखाई देता है। वर्णन में प्राचीन परम्परा का अनुकरण दिखाई देता है। भाषा समस्त और साहित्यिक रूप धारण किये हुए है। छन्दों में रड्डा, पद्धडिया और घत्ता की ही प्रधानता है।

छक्कम्मोवएस (षट्कर्मोपदेश रत्नमाला)

अमरकीर्ति रचित १४ सन्धियों की अप्रकाशित कृति है। इसकी चार हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार में उपलब्ध हैं (प्र० सं० पृष्ठ १७१–१७४)।

अमरकीर्ति द्वारा ग्रन्थ के आरम्भ में और अन्त में दिये आत्म परिचय से प्रतीत होता है कि कवि माथुर-संघीय आचार्यों की परंपरा में हुआ था।[१] कवि का आश्रयदाता नागर कुलोत्पन्न अम्बाप्रसाद था। कवि ने प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में अम्बाप्रसाद के नाम का उल्लेख किया है और उसी को कृति समर्पित की है।[२]

कृति की अन्तिम प्रशस्ति में कवि ने मंगल कामना करते हुए अम्बाप्रसाद को

---

१. प्रो० हीरालाल जैन, सम रिसेंट फाइंड्स आफ अपभ्रंश लिट्रेचर नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल, दिसं० १९४२, पृ० ८७।

२. क. इय छक्कम्मोवएसे महाकइ सिरि अमरकित्ति विरइए, महाकव्वे गुण पाल चच्चिणि णंदण अंव पसायणु मण्णिए छकम्म णिण्णय वण्णणो णाम पढमो संधी परिच्छेउ समत्तो ॥१॥

अपना छोटा भाई कहा है।[1] कवि की यह उक्ति अम्बाप्रसाद के प्रति अपनी प्रेम भावना के कारण हो सकती है या ऐसी भी संभावना हो सकती है कवि पहिले अम्बाप्रसाद के ही वंश में था और पीछे से विरक्त हो गया।

गुज्जर विषय के महियड देशान्तर्गत गोदहय नगर में चालुक्य वंशी राजा कृष्ण के शासन में वि० सं० १२४७ में कवि ने इस काव्य की रचना की थी। इस रचना में कवि को पूरा एक मास लगा था।[2] कवि ने इस ग्रन्थ के अतिरिक्त णेमिणाह चरिउ, महावीर चरिउ, जसहर चरिउ, धम्म चरिउ टिप्पण, सुहासिअ रयण निहि, धम्मोवएस चूड़ामणि और झाणा पईउ आदि सात और ग्रन्थों की रचना की और कवि ने अपने आप को इनके अतिरिक्त अन्य संस्कत प्राकृत के काव्यों का रचयिता भी कहा है। उपरि-लिखित ग्रन्थों में से णेमिणाह चरिउ ओर जसहर चरिउ के पद्धडिया वंध में रचे जाने का कवि ने स्वयं निर्देश किया है जिससे प्रतीत होता है कि ये ग्रन्थ अपभ्रंश में रचे गये थे।[3]

इस कृति में १४ सन्धियाँ और २१५ कड़वक हैं। इसमें कवि ने गृहस्थ धर्म का उल्लेख करते हुए गृहस्थों के लिए छह प्रकार के कर्तव्यों का निर्देश किया है--देव-पूजा, गुरु-सेवा, शास्त्राभ्यास, संयम, तप और दान। इन धर्मों के पालन का उपदेश अनेक सुन्दर कथाओं के द्वारा रुचिकर रूप से किया गया है।

---

१. णंदउ पर सासण णिणासणु, सयल काल जिण णाहहो सासणु।
णंदउ अंव पसाउ वियक्खणु, अमरसूरि लहु वंधु वियक्खणु।
णंदउ अवरु वि जिणपय भत्तउ, विवुह वाग भाविय रयणत्तउ ॥१४.१८॥

२. अह गुज्जर विसयहो मज्झि देसु, णामेण महीयडु वहुपयेसु।
णयरायर वर गामहिं णिरुद्धु, णाणा पयार संपइ समिद्धु।
तहिं णयरु अत्थि गोदहयणामु, णं सग्गु विचित्तु सुरेसधामु ॥१.४॥
तं चालुक्क वंसि णय जाणउ, पालइ कन्हु णरेंद पहाणउ ॥१.५॥
बारह सयहिं ससत्त चयालिहिं, विक्कम संवच्छरहे विसालिहिं।
गयहिम्मि भद्दवयहो पक्खंतरि, गुरु वारम्मि चउद्दसि वासरि।
एक्कें मासें एहु समत्थिउ, सइं लिहियउ आलसु अवरुत्थिउ ॥१४-१८॥

३. परमेसर पइं णवरस भरिउ, विरयउ णेमिणाहहो चरिउ।
अण्णइ चरित्तु तच्चत्थ सहिउ, पयडत्थु महावीरहो विहिउ।
तीयउ चरित्तु जसहर णिवासु, पद्धडिया वंधें किउ पयासु।
टिप्पणउ धम्म चरियहो पयड, तिह विरइउ जिह बुज्झेहिजड्डु।
सक्कय सिलोय विहि जणिय दिही, गंफियउ सुहासिउ रयणनिही।
धम्मोवएस चूडामणिक्खु, तह ज्झाण पईऊ सुज्झाण सिक्खु।
छक्कवएसें सुह पबंध, किय अट्ठ संख सइ सचच संधु।
सक्कइ पाइय कव्वइ घणाइ, अवराइं कियइं रंजिय जणाइं ॥१.७॥

धार्मिक तत्व और उपदेशों की प्रधानता के कारण काव्य सौन्दर्य का प्राय: अभाव है। षट् कर्म का माहात्म्य वतलाता हुआ कृतिकार कहता है —

"छक्कम्मिहिं सावउ जाणिज्जइ, छक्कम्मिहिं दिणदुरिउ विलिज्जइ।
छक्कम्मिहिं सम्मत्तु वि सुज्झइ, छक्कम्मिहिं घरकम्मि ण मुज्झइ।
छक्कम्मिहिं जिणधम्मु मुणिज्जइ, छक्कम्मिहिं णरजम्मु गणिज्जइ।
....
छक्कम्मिहिं वसि जायहिं णरवर, छक्कम्मिहिं देववि आणायर।
छक्कम्मिहिं वंछिउ संप्पज्जइ, छक्कम्मिहिं सुरदुंदुहि वज्जइ।
छक्कम्मिहिं उप्पज्जइ केवलु, छक्कम्मिहिं लब्भइ सुहु अवियलु।
(प्र० सं० पृष्ठ० १७१-१७२)

कृति में पद्धडिया और घत्ता ही प्रधान रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त गाथा, रचिता, हेला, मंजरी, खंडय, दोहडा, आरणालादि छन्द भी वीच बीच में मिलते हैं। आठवीं सन्धि में प्रत्येक कडवक के आरम्भ में दोहा प्रयुक्त हुआ है। कडवक में चौपाई का प्रयोग मिलता है। जैसे—

दोहड़ा— कम्मारउ सत्थाहिवहो, एहु तुह णयरि वसेइ।
अण्णु ण याणउ किंपि जइ, सो वुह देव कहेइ॥
सत्थवाहु वृत्तउ वसु हेसें, हक्कारे वि विहिय सन्तोसें।
कवणु पुरिसु इउ सच्चु पयासहिं, अम्हहं मण संदेहु विणासहिं।
इत्यादि, ८.११

कृतिकार ने इस ग्रन्थ को महाकाव्य कहा है किन्तु यह महाकाव्य के लक्षणों से रहित है। कथानक और कवित्व की दृष्टि से भी महाकाव्य नहीं कहा जा सकता। सन्धियों का नामकरण भी जलपूया कहा, गंधपूया कहा, अक्खय पूया विहाण कहा इत्यादि नामों से किया गया है।

अणुवय रयण पईउ (अणुव्रत रत्न प्रदीप)

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। हस्त लिखित प्रति प्रो० हीरालाल जैन के पास है।[1] ग्रन्थ कवि लक्खण (लक्ष्मण) द्वारा रचा गया। ग्रन्थ में आठ परिच्छेद (सन्धियाँ) हैं। इसकी रचना में कवि को ९ मास लगे। ग्रन्थ वि० सं० १३१३ (ई० सन् १२५६) में रचा गया।[2]

---

१. प्रो० हीरालाल जैन, जैन-सिद्धान्त-भास्कर, भाग ६, किरण १ में पृ० १५५-१७७ और सम रिसेंट फाइन्ड्स आफ अपभ्रंश लिट्रेचर, नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल, दिसं० १९४२, पृ० ८९-९१।

२. तेरह सय तेरह उत्तराले परिगलिय विक्कमाइच्च काले।
....

कवि के पिता का नाम साहुल और माता का नाम जइता था। कवि जायस वंश में उत्पन्न हुआ था।[1] कवि यमुना तट पर स्थित "रायवड्डिय" नाम की नगरी में रहता था। प्रो० हीरालाल के विचार में यह नगर आजकल आगरा फोर्ट से बांदी कुई जाने वाली रेलवे पर रायभा नामक स्टेशन के नाम से प्रसिद्ध है। संभवतः इस का प्राचीन नाम रायभद्र या रायभद्री होगा जो रायवड्डिय में परिवर्तित हो गया।[2]

कवि ने आहवमल्ल के मन्त्री कण्ह (कृष्ण) के आश्रय में और उन्हीं की प्रेरणा से इस ग्रन्थ की रचना की। आहवमल्ल चौहान वंशी थे। इनके पूर्वजों की राजधानी यमुना तट पर चंदवाड नगरी थी। यह राजा म्लेच्छों के साथ वीरता से लड़े थे और इन्होंने हम्मीर देव की सहायता भी की थी तथा उसके मन के शल्य को नष्ट किया था।[3] इनके मन्त्री कृष्ण वणिक् वंश के थे। कवि ने प्रत्येक सन्धि की पुष्पिका में अपने आश्रयदाता के नाम का उल्लेख भी किया है।[4]

जिणदत्त चरिउ के रचयिता लक्खण और यह लक्खण संभवतः एक ही व्यक्ति हैं। उनके पिता माता का नाम भी साहुल और जयता था, वह भी जायस कुल में उत्पन्न हुए थे और इस ग्रन्थ के कर्ता लक्खण के माता, पिता तथा कुल का नाम भी वही है। उन्होंने जिणदत्त चरिउ की रचना वि० सं० १२७५ में की थी और इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना ३८ वर्ष बाद वि० सं० १३१३ में की। इतने वर्षों तक कोई काव्य रचना न करने से उन्हें भान हुआ कि मेरी कवित्व शक्ति क्षीण हो रही है।[5] राजनैतिक उथलपुथल के कारण संभवतः उन के वासस्थान और आश्रयदाता का परिवर्तन हो गया हो।

ग्रन्थ में कवि ने श्रावकों के पालन करने योग्य व्रतों (अणुव्रतों) और गृहस्थियों के धर्मों का उल्लेख किया है। विषय प्रतिपादन के लिये अनेक कथाओं का आश्रय लिया है।

नव मास रयतें पायडत्थु सम्मत्तउ कमे कमे एहु सत्थु।
जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ६, किरण १, पृ० १७५।

१. साहुलहो घरिणि जइता-सुएण सुकइत्तण गुण विज्जाजुएण।
जायस कुल गयण दिवायरेण अणसंजमींहि विहियायरेण।
इह अण-वय-रयण-पईउ कव्वु विरयउ ससत्ति परिहरिवि गव्वु।
वही, पृ० १७४।

२. वही, पृ० १५९।

३. दुप्पिच्छ मिच्छ रण रंग मल्लु, हम्मीर वीर मण नट्ठ सल्लु।
वही, पृ० १६३।

४. इय अणुवय रयण पईव सत्थे महा सावयाण सुपसण्ण
परस तेवण्ण किरिय पयडण समत्थे सगुण सिरि साहुल--
सुव लक्खण विरइए भव्व सिरि कण्हाइच्च णामंकिए--इत्यादि।

५. एमेव कइत्तणगुण विसेसु परिगलइ णिच्च महु णिरवसेसु।
वही, पृ० १६५।

कृति में धार्मिक प्रवचनों की प्रधानता है। उच्च कल्पना, अलंकार, चमत्कार आदि का अभाव है।

कवि की कविता का उदाहरण निम्नलिखित उद्धरण में देखा जा सकता है—

कवि आहवमल्ल की रानी का वर्णन करता है—

तहो पट्ट महाएवी पसिद्ध ईसरदे पणयणि पणय विद्ध।
णिहिलंतेउर मज्झए पहाण णिय पइ मण पेसण सावहाण।
सज्जण मण कप्प महीय साह कंकण केऊरंकिय सुवाह।
छण ससि परिसर संपुण्ण वयण मुक्क मल कमल दल सरल णयण।
आसा सिंधुर गइ गमण लील बंदियण मणासा दाण सील।
परिवार भार धर धरण सत्त मोयइं अंतरदल ललिय गत्त।
....
अहमल्ल राय पय भत्ति जुत्त अवगमिय णिहिल विण्णाण सुत्त।
....
गंगा तरंग कल्लोल माल समकित्ति भरिय ककुहंतराल।
कलयंठि कंठ कल महुर वाणि गुण गरुव रयण उप्पत्ति खाणि।
अरि राय विसह संकरहो सिट्ठ सोहग्ग लग्ग गोरि व्व दिट्ठ।[1]

वर्णन में कोई विशेषता नहीं। कवि ने रानी का शृंगारिक वर्णन न कर उसके सद्गुणों की ही प्रशंसा की है। अपनी धार्मिक भावना के अनुकूल उसकी पार्वती से उपमा दी है।

मन्त्रि-पत्नी का निम्नलिखित भुजंगप्रयात छन्दों में वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"पिया तस्स सल्लक्खणा लक्खणड्ढा। गुरूणं पए भक्ति काउं वियड्ढा।
स भत्तार-पायार विंदाणुगामी। घरारंभ-वावार-संपुण्ण-कामी ।
सुहायार चारित्त-चीरंक-जुत्ता। सुचेयाण गंधोदएणं पवित्ता।
स पासाय-कासार-सारा- मराली । किवा-दाण संतोसिया वंदिणाली।
दया वल्लरी मेह-मक्कंबुधारा। सइत्तत्तणे सुद्ध-सीयप्पयारा।
जहा चंद चूडानुगामी भवाणी। जहा सव्व वेईहिं सव्वंग वाणी॥

इत्यादि

इस वर्णन में भी धार्मिक भावना के अनुकूल शृंगार का अभाव है। स्त्री के पति-भक्ति, चारित्र्य, दया आदि गुणों का ही कवि ने निर्देश किया है।

---

१. वही, पृ० १६४।
णिहिलंतेउर मज्झ—सारे अन्तःपुर में। छण ससि—पूर्ण चन्द्र बिम्ब के समान मुख। मोइयं अंतर दल—केले के भीतरी दल के समान कोमल शरीर वाली।

प्रो० हीरालाल जैन ने निम्नलिखित दस कथा ग्रन्थों का निर्देश किया हैं :[1]

१. सुअन्ध दसमी कहा	२. रोहिणि विधान कथा
३. मुक्तावलि विधान कथा	४. अनन्त व्रत कथानक
५. निर्दोष सप्तमी कथानक	६. पाश पइ कहा
७. जिन पुरन्दर कथा	८. उद्धरण कथा
९. जिन रात्रि विधान कथानक	१०. सोलह कारण जयमाल

ये दस अपभ्रंश ग्रन्थ उत्तर प्रदेश के जसवन्तनगर में एक जैन मन्दिर में सुरक्षित ३७ संस्कृत प्राकृत हस्तलिखित ग्रन्थों के साथ मिले। इन में से प्रथम दो, दो दो सन्धियों के हैं शेष सब इन से भी छोटे हैं। रोहिणि विधान कथा के रचयिता देवनन्दि मुनि हैं। अन्यों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं।

सुअन्ध दसमी कहा का एक उद्धरण देखिये—

"जिण चउवीस णवेप्पिणु, हियइ धरेप्पिणु, देवत्तहं चउवीसहं।
पुणु फलु आहासमि, धम्मु पयासमि, वर सुअन्ध दसमिहिं जहं।
पुच्छिउ सेणिएण तित्थंकरु, कहहि सुअंध दसमि फलु मणहरु।
भणइं जिणिंदु णिसुणि अहो सेणिय, भव्वरयण गुणरयणि णिसेणिय॥

रोहिणि विधान कथा का एक उद्धरण देखिये—

"जिणवरु वंदेविणु, भाउ धरेविणु दिव्व वाणि गुरु भत्तिए।
रोहिणि उववासहो, दुरिय विणासहो, फलु अक्खमि णिय सत्तिए॥

श्री अगर चन्द नाहटा ने निम्नलिखित दिगंबर जैन व्रत कथाओं का निर्देश किया है[2]—

गुणभद्र लिखित पुष्पांजलि, आकाश पंचमी, चन्दन षष्ठि और दुधारसी।

पं. परमानंद जैन ने निम्नलिखित कथा ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है[3] —

१. पुरंदर विहाण कहाः रचयिता भट्टारक अमरकीर्ति, वि० सं० १८४७.
२. णिज्झर पंचमी विहाण कहाणक : रचयिता विनय चन्द्र। विनय चन्द्र ने चूनड़ी और कल्याणक रासु नामक दो अन्य ग्रन्थ भी लिखे।[4]
३. निद्दुह सत्तमी कहा : रचयिता विनय चन्द्र के गुरु मुनि बालचन्द्र
४. जिनरत्ति कहा : } दोनों के कर्ता यशःकीर्ति हैं। यह यशःकीर्ति वही हैं जिन्होंने
५. रविवउ कहा : } हरिवंश पुराण और पाण्डव पुराण की भी रचना की थी।[5]

---

१. इलाहाबाद यूनिवर्सिटी जर्नल, भाग, १, पृ० १८१।
२. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग ११, किरण १।
३. अपभ्रंश भाषा का जैन कथा साहित्य, अनेकान्त वर्ष ८, किरण ६-७।
४. चूनड़ी के लिए देखिये, नवां अध्याय, अपभ्रंश मुक्तक काव्य (१)
५. अनेकान्त वर्ष ८, किरण ६-७ पृष्ठ २७६-२७७।

६. अणथमी कहा : इस में रयधू ने रात्रि भोजन के दोषों और उनसे उत्पन्न होने वाली व्याधियों का उल्लेख किया है।

७. पुण्णासव कहा : रयधू ने पुण्य का आश्रव करने वाली व्रत कथाओं का तेरह सन्धियों में वर्णन किया है।

८. अणथमी कहा : हरिचन्द लिखित १६ कडवकों की कथा।

९. सोखवई विहाण कहा : रचयिता विमल कीर्ति

१०. सुअंध दसमी कहा : रचयिता देवदत्त।

११. रवि वउ कहा :
१२. अणंत वय कहा : } दोनों के रचयिता मुनि नेमि चन्द्र हैं।

श्री कामता प्रसाद जैन ने विनय चन्द्र कृत "उवएस माल कहाणय छप्पय" का भी उल्लेख किया है।[1] रचना छप्पय छन्द में है। एक उदाहरण देखिये—

**"इणि परि सिरि उवएसमाल सु रसाल कहाणय,
तव संजम संतोस विणय विज्जाइ पहाणय।
सावय सम्भरणत्थ अत्थपय छप्पय छन्दिहिं,
रयण सिंह सूरीस सीस पभणइ आणंदिहिं।
अरिहंत आण अणुदिण उदय, धम्मल मत्थइ हउं।
भो भविय भत्तिसत्तिहिं सहल सयल लच्छि लीला लहउ॥**

इस संक्षिप्त वर्णन से हमें अपभ्रंश कथा साहित्य की रूप रेखा तथा उस की मुख्य प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है। यह भली भाँति विदित होता है कि कथा साहित्य की परंपरा अपभ्रंश काल में भी विद्यमान थी। अनेक लोक कथाएँ जो उस समय मौखिक रूप में प्रचलित थीं अथवा लेख बद्ध हो चुकीं थीं, हिन्दी के नवयुग में प्रविष्ट हुईं। इन में से ही कुछ कथाओं को लेकर सूफी कवियों ने अपने आध्यात्मिक प्रेम मार्ग का अपने प्रबन्ध काव्यों में प्रचार किया।

---

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९४७, पृ० ३१।

चौदहवाँ अध्याय

अपभ्रंश स्फुट-साहित्य

इससे पूर्व के अध्यायों में अपभ्रंश के महाकाव्यों, खंडकाव्यों मुक्तककाव्यों, रूपककाव्यों और कथाग्रन्थों का निर्देश किया गया है। इस अध्याय में अपभ्रंश के कुछ ऐसे ग्रन्थों का विवेचन किया जायगा जिनका पूर्वलिखित अध्यायों में--विभागों में--समावेश नहीं हो सका। कुछ ग्रन्थ अप्रकाशित हैं और उनके स्वरूप का पूर्ण रूप से परिचय न होने के कारण उनका निर्देश इस अध्याय में कर दिया गया है। कुछ रासा ग्रन्थ प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में संगृहीत हैं। इन्हें प्राचीन गुजराती ही कहना और अपभ्रंश न मानना कहाँ तक संगत होगा, हम नहीं कह सकते। यद्यपि हमें गुजराती का ज्ञान नहीं और इसलिये हम नहीं कह सकते कि ये ग्रन्थ प्राचीन गुजराती के नहीं किन्तु इतना निस्सन्देह कह सकते हैं कि ये अपभंश ग्रन्थ हैं और इनकी गणना अपभ्रंश ग्रन्थों में होनी चाहिये। प्रो० हीरालाल जैन के विचार में ये ग्रन्थ अपभ्रंश में ही हैं।[1] प्रो० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का भी, यही विचार मालूम होता है।[2] उपरिनिर्दिष्ट रासा ग्रन्थों के अतिरिक्त चर्चरी, स्तोत्र, फाग, चतुष्पदिका आदि छोटी-छोटी कृतियों का भी इस अध्याय में अन्तर्भाव कर दिया गया है।

चर्चरी

चच्चरी, चाचरि, चर्चरी आदि सव पर्यायवाची शब्द हैं। प्रस्तुत चर्चरी में कृतिकार जिनदत्त सूरी ने ४७ पद्यों में अपने गुरु जिनवल्लभसूरि का गुणगान किया है और चैत्य विधियों का विधान किया है।

---

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५० अंक ३-४, पृ० ११०।

२. प्रो० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के लेखक को मिले ७ फरवरी १९५२ के पत्र का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है--

"You will soon find that what we call Old-Hindi, Old-Rajasthani, Old-Gujrati, etc.—all these have often a common ground in Apabhramsa or what is often called post-Apabhramsa."

चर्चरी शब्द ताल एवं नृत्य के साथ, विशेषतः उत्सवादि में, गाई जाने वाली रचना का वोधक है। इसका उल्लेख विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अंक के अनेक अपभ्रंश पद्यों में मिलता है। वहां अनेक पद्य चर्चरी पद्य कहे गये हैं। समरादित्य कथा, कुवलयमाला कथा आदि ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख मिलता है। श्रीहर्ष ने अपनी रत्नावली नाटिका के प्रारम्भ में भी इसका उल्लेख किया है।[१] संस्कृत-प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश-कवियों के काव्यों में भी इसका उल्लेख मिलता है। वीर कवि (वि० सं० १०७६) ने अपने जंबुसामिचरिउ में एक स्थान पर चच्चरि का निर्देश किया है।[२] नयनंदी (वि० सं० ११००) के सुदंसणचरिउ में भी वसन्तोत्सव-वर्णन के प्रसंग में चच्चरि का उल्लेख है।[३] श्रीचन्द्र (वि० सं० ११२३) के रत्नकरंड शास्त्र में भी एक स्थल पर इसका उल्लेख किया गया है।[४] जायसी की पद्मावत में भी फागुन और होली के प्रसंग में चाचरी या चांचर का उल्लेख है।[५] प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में सोलण कृत चर्चरी का व्याख्यान है।[६] एक वेलाउली राग में गीयमान ३६ पद्यों की "चाचरि स्तुति" और दूसरी गुर्जरी राग में गीयमान १५ पद्यों की "गुरु स्तुति चाचरि"

---

१. अये यथायमभि हन्यमान मृदु मृदंगानुगत गीत मधुरः पुरः पौराणां
समुच्चरित चर्चरी ध्वनि स्तथा तर्कयामि.....इत्यादि।
रत्नावली, काले का संस्करण, बम्बई, १९२५ ई०, पृ० ९।

२. चच्चरि वंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारु जसु।
नच्चिज्जइ जिण पय सेवयहिं, किउ रासउ अंवादेवयहिं।
जं० सा० च० १.४

३. जिण हरेसु आढविय सुचच्चरि, करहिं तरुणि सवियारी चच्चरि।
सुदं० च० ७.५

४. छंदणियारणाल आवलियहिं, चच्चरि रासय रासहिं ललियहिं।
वत्थु अवत्थू जाइ विसेसहिं, अडिल मडिल पद्धडिया अंसहिं।
रत्न करण्ड शास्त्र, १२.३

५ नवल वसंत, नवल सब वारी। सेंदुर बुक्का होइ धमारी।।
खिनहिं चलहिं, खिन चाँचरि होई। नाच कूद भूला सब कोई।।
जायसी ग्रन्थावली—पद्मावत, का० ना० प्र० सभा काशी, सन् १९२४ संस्करण, वसंत खंड पृ० ८८।
होइ फाग भलि चाँचरि जोरी। विरह जराइ दीन्ह जस होरी।।
वही, षड्ऋतु वर्णन, पृ० १६१
फागु करहिं सब चाँचरि जोरी। मोंहि तन लाइ दीन्हि जस होरी।।
वही, नागमती वियोग, खंड, पृ० १७०

६. प्राचीन गर्जर काव्य संग्रह, भाग १, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज, संख्या १३, बड़ौदा, १९२० ई०, पृष्ठ ७१।

का पाटण भण्डार की ग्रन्थ सूची में निर्देश मिलता है।[1]

प्रस्तुत चर्चरी की रचना जिनदत्त सूरि ने वागड (वाग्जड) देशान्तर्गत व्याघ्रपुर नगर में विक्रम की १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में की। इस कृति के अतिरिक्त कवि के 'उपदेश रसायन रास' और 'काल स्वरूप कुलक' का पीछे (अध्याय नौ में) उल्लेख किया जा चुका है।

कृतिकार ने सूचित किया है कि यह कृति पढ़ (ट) मंजरी भाषा-राग में गाते हुए और नाचते हुए पढ़ी जानी चाहिये। पट मंजरी-राग का निर्देश सिद्धों के अनेक पदों में भी मिलता है। पद्य व्याख्याता ने प्रथम पद्य के अन्त में निर्देश किया है कि इसका छन्द वास्तु छन्द का एक भेद, २१ मात्रा वाला कुन्द नामक छन्द है।

कृतिकार जिनवल्लभ को कालिदास और वाक्पतिराज से भी बढ़ कर मानता है :

"कालियासु कइ आसि जु लोईहिं वन्नियइ,
ताव जाव जिणवल्लहु कइ ना अन्नियइ।
अप्पु चित्तु परियाणहि तं पि विसुद्ध न य
ते वि चित्त कइराय भणिज्जहि मुद्धनय ॥५॥

भरत बाहु बलि रास[2]

यह शालिभद्र सूरि द्वारा रचित रास-ग्रन्थ है। कवि ने प्राचीन पौराणिक कथा को लेकर ही इसकी रचना की है। ग्रन्थ की रचना वि० सं० १२४१ में हुई।

यह कथा पुष्पदन्त के महापुराण में १६ से १८ सन्धियों तक विस्तार से वर्णित है। ऋषभ के पुत्र भरत, चक्रवर्ती बन जाने पर दिग्विजय के लिये निकलते हैं। सब राजा उनके आधिपत्य को स्वीकार करते हैं किन्तु ऋषभ के पुत्र और भरत के छोटे भाई बाहुबलि उनका आधिपत्य स्वीकार नहीं करते। दोनों में युद्ध होता है। युद्ध में भरत पराजित होते हैं। विजित बाहुबलि, भरत को ही राज्य लौटा कर संसार से विरक्त हो जाते हैं।

यह वीर रस प्रधान रास ग्रन्थ है। इसकी भाषा प्राचीन गुजराती से प्रभावित है। ग्रन्थ में वस्तु, चउपई, रास, दोहा आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है।

कवि की कविता का उदाहरण देखिए :—

चलीय गयवर चलीय गयवर गुहिर गज्जंत,
हुंफइं हसमस हणहणइं तरवरंत हय-घट्ट चल्लीय,
पायल पय-भरि टलटलीय मेरु सेस-सीस मणिमउड डुल्लीय।

---

१. पत्तन भांडार ग्रंथ सूची, बड़ौदा, १९३७ पृ० २६७-२६८
२. पं० लालचन्द्र भगवान् गांधी द्वारा श्री जैन धर्माभ्युदय ग्रंथमाला में अहमदाबाद से गुजराती में प्रकाशित, वि० सं० १९९७।

सिउं मरुदेविहिं संचरीय कुंजरि चडीय नरिंद,
समोसरणि सुर वरि सहिय वंदिय पढम जिणंद ॥ (पृ० ८)

सेना की यात्रा का सजीव वर्णन निम्नलिखित पद्यों में दिखाई देता है :--

वज्जीय समहरि संचरीय, सेनापति सामंत तु।
मिलीय महाधर मंडलीय, गाढिम गुण गाजंत तु ॥[1]
गडयडंत गयवर गुडीय, जंगम जिम गिरि-शृंग तु।
सुंडा-दंड चिर चालवइ ए, वेलइं अंगिहिं अंग तु ॥
गंजइ फिरि फिरि गिरि-सिहरि, भंजइ तरुअर-डालि तु।
अंकुस-वसि आवइ नहीं य, करइ अपार जि आलि तु ॥
हीसइं हसमिसि हणहणइं ए, तर वर तार तोषार तु।
खूंदइं खुरलइं खेडवीय, मन मानइं असुवार तु ॥
पाखर पंखि कि पंखरू य, ऊडा ऊडिहिं जाइ तु।
हुंफइं तलपइं ससइं, जडइं जकारीय धाइं तु ॥ (पृ० १०)

भेरी बज रही है। सेनापति सामंत सब चले जा रहे हैं। जंगम पर्वतों के समान हाथी बढ़े जा रहे हैं। पर्वतों के शिखर गुञ्जायमान हो गये। वृक्षों की शाखायें टूटने लगीं। हाथी अंकुश के वश में नहीं रहे। ऊँचे-ऊँचे घोड़े हिनहिनाते हैं और वे जीन रूपी पंखों से पक्षी के समान वेग से उड़े जा रहे हैं। जोर जोर से हाँफते हैं--साँस लेते हैं।

इसी प्रकार युद्ध का सुन्दर वर्णन पृ० ४६ पर भी मिलता है ।

ग्रन्थ की भाषा में शब्दों का रूप यद्यपि ओकारान्त है किन्तु अनेक पाद टिप्पणियों में पाठ भेद से उकारान्त रूप भी मिलता है, जो अपभ्रंश का चिह्न है । भाषा में मुहावरों का प्रयोग भी मिलता है । जैसे :—

'जिम विण लवण रसोई अलुणी' पृ० २८

पार्श्वनाथ स्तुति

कुमारपाल प्रतिबोधान्तर्गत दशार्ण भद्र कथा (पृ० ४७१-४७२) में आठ छप्पय छन्दों में पार्श्वनाथ की वन्दना की गई है । उसी की शरण में जाने का उपदेश दिया गया है । कवि ने यहाँ बताया है कि इन छन्दों का पाठ करते हुए मागध लोग राजा को जगाते थे। उदाहरणार्थ एक छप्पय देखिये —

गयण-मग्ग-संलग्ग-लोल-कल्लोल-परंपरु,
निक्करुणुक्कड-नक्क-चक्क-चंकमण-दुहंकरु,
उच्छलंत-गुरु-पुच्छ-मच्छ-रिंछोलि-निरंतरु,
विलसमाण-जाला-जडाल-वडवानल-दुत्तरु,

---

१. प्रत्येक पंक्ति के अन्त में तु का प्रयोग आलाप के लिये किया गया है।

आवत्त-सयायलु जलहि लहु गोपउ जिम्व ते नित्थरहि।
नीसेस-वसण-गण-निट्ठवणु पासनाहु जे संभरहि॥

अर्थात् जो लोग पार्श्वनाथ का स्मरण करते हैं वे इस भयानक संसार-सागर को गोपद के समान पार कर जाते हैं।

इन छप्पयों की भाषा, अनुप्रासमयी, समस्त और द्वित्व व्यंजन युक्त है। इसी प्रकार की भाषा उत्तरकाल में हिन्दी छप्पय पद्यों में मिलती है।

सिरि थूलि भद्द फाग[1]

यह जिन पद्म सूरि की २७ पद्यों की एक छोटी सी रचना है। जिनपद्म गुजरात वासी जैन साधु थे। उन्होंने इसकी रचना वि० सं० १२५७ के लगभग की। कृति अनेक विभागों में विभक्त है। प्रत्येक विभाग "भास" नाम से पुकारा गया है। इसी प्रकार समरा रासु में प्रत्येक विभाग का नाम "भाषा" दिया गया है। "भास" और "भाषा" पर्यायवाची शब्द हैं। "भास" या "भाषा" अनेक पद्यों के समूह से बनता है। यह भास विभाग या भाषा विभाग वैदिक काल की अनुवाक शैली का स्मरण कराता है।

इस ग्रंथ में प्राचीन स्थूलिभद्र कथा का उल्लेख है।[2] स्थूलिभद्र, चातुर्मास्य में कोशा के घर में जाता है। कवि ने वर्षा का और कोशा की वेशभूषा का अतीव मधुर शब्दों में वर्णन किया है। वर्षा का वर्णन अत्यन्त सजीव है और कोशा की अंग-सुषमा का वर्णन अतीव आकर्षक है। वर्षा का वर्णन देखिये :—

झिरि मिरि झिरि मिरि झिरि मिरि ए मेहा वरिसंति।
खलहल खलहल खलहल ए वाहला वहंति।
झबझब झबझब झबझब ए वीजुलिय झबकइ।
थरहर थरहर थरहर ए विरिहिणि मणु कंपइ॥ (पृ० ३८)
सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायन्ते।
माण मडप्फर माणणि य तिम तिम नाचंते।
जिम जिम जलभर भरिय मेह गयणंगणि मिलिया।
तिम तिम कामीतणा नयण नीरिहि झलहलिया॥ (पृ० ३९)

कोशा की वेशभूषा की छटा निम्नलिखित पद्य में झलकती है :—

लहलह लहलह लहलह ए उरि मोतियहारो।
रणरण रणरण रणरण ए पगि नेउर सारो।
झगमग झगमग झगमग ए कानिहि वर कुंडल।
झलहल झलहल झलहल ए आभरणइं मंडल॥ (पृ० ३९)

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, भाग १, पृ० ३८।
२. देखिये पीछे तेरहवाँ अध्याय, अपभ्रंश कथा-साहित्य, पृ० ३५२

कोशा पूरी सजधज के साथ स्थूलिभद्र के पास पहुँची। उसे विश्वास था कि उसकी रूप-राशि स्थूलिभद्र के चित्त को विचलित कर देगी किन्तु उसे स्थिर और शान्त देखकर कोशा को निराशा हुई। वह खिन्न होकर बोली--

'बारह बरिसहं तणउ नेहु किहि कारण छंडिउ'

अर्थात् बारह वर्ष तक किया हुआ प्रेम तुमने किस कारण छोड़ दिया ? स्थूलिभद्र ने उसी धीरता के साथ उत्तर दिया--

वेस अइ खेदु न कीजइ।

... ...

लोहहि घडियउ हियउ मज्झु तुह वयणि न भीजइ॥"

हे कोशा ! खेद न करो। मेरा लोह-घटित हृदय तुम्हारे वचनों से नहीं भीग सकता।

कामोन्मत्त और उद्विग्न कोशा को समझाता हुआ स्थूलिभद्र बोला—

चिंतामणि परिहरवि कवण पत्थरु गिणेइ ?
तिम संजम सिरि परिनएवि बहुधम्म समुज्वल
आलिंगइ तुह कोस कवनु पर संत महाबल ?

अर्थात् चिंतामणि को छोड़कर पत्थर कौन ग्रहण करेगा ? उसी प्रकार हे कोशा! धर्म समुज्ज्वल संयम-श्री से प्रेम संबंध करके कौन ऐसा है जो तुम्हारा आलिंगन करेगा ?

इस प्रकार कोशा का समग्र विभ्रम-विलास, हाव-भाव, रूप-वैभव, रंगभवन की अपरिमित साज-सज्जा और भोज्य पदार्थों का अनुपम आस्वाद स्थूलिभद्र को तनिक भी विचलित न कर सका। चार महीनों में उसका हृदय एक बार भी प्रकंपित न हुआ, एक पल के लिये भी काम उसे न छू सका। स्थूलिभद्र के इस हिमाचल सदृश अडिग चरित्र से कोशा का गर्व भंग हुआ और उसके ज्ञान-नेत्र खुल गये।

नेमिनाथ चतुष्पादिका[1]

यह रत्नसिंह सूरि के शिष्य विनयचन्द्र सूरि द्वारा रचित चालीस पद्यों की एक छोटी सी रचना है।

इसमें बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राचीन कथा का ही उल्लेख है। नेमिनाथ प्रसंग में ही राजमती और उसकी सखियों के प्रश्नोत्तर रूप से कवि ने शृंगार और वैराग्य का प्रतिपादन किया है। राजमती या राजुल का विवाह नेमिनाथ से निश्चित हुआ था किन्तु वह पशुओं पर दयार्द्र हो वधू-गृह के तोरण द्वार से ही लौट गये और गिरिनार पर्वत पर जाकर तपस्या करने लगे। राजुल के वियोग का ही वर्णन बारह-

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० ८-१०।

मासा रूप से कवि ने प्रस्तुत किया है।[1] कृति का आरम्भ कवि ने निम्नलिखित शब्दों से किया है :—

सोहग सुंदरु घण लायन्नु सुमरवि सामिउ सामलवन्नु।
सखि पति राजल चडि उत्तरिय बारमास सुणि जिम वज्जरिय ॥१॥

एवं कृति की समाप्ति भी निम्नलिखित शब्दों से की गई है :—

रयण सिंह सूरि पणमवि पाय बारह मास भणिया मइ भाय ॥ ४०॥

कवि ने श्रावण मास से प्रारम्भ कर आषाढ़ मास तक बारहों मासों का बारहमासा रूप से वर्णन किया है। देखिए—

नेमि कुमरु सुमरवि गिरनारि सिद्धी राजल कन्न कुमारि॥
आंकिणी॥
श्रावणि सरवणि कडुयं मेहु गज्जइ विरहिरि झिज्झइ देहु।
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव नेमिहि विणु सहि सहियइ केम ॥२॥
सखी भणइ सामिणि मन झूरि दुज्जण तणा म वंछित पूरि।
गयउ नेमि तउ विणठउ काइ अछइ अनेरा वरह सयाइ ॥३॥
बोलइ राजल तउ इहु वयण नत्थी नेमि समं वर रयण।
धरइ तेजु गह गण सवि ताव गयणि न उग्गइ दिणयरु ताव ॥४॥
भाद्रवि भरिया सर पिक्खेवि सकरुण रोअइ राजल देवि।
हा एकलडी मइ निरधार किम ऊवेखिसि करुणासार ॥५॥
भणइ सखी राजल मन रोइ नीठुरु नेमि न अप्पणु होइ।
सिंचिय तरुवर परि पलवंति गिरिवर पुण कउ डेरा हुंति ॥६॥
साचउं सखि वरि गिरि भिज्जंति किमइ न भिज्जइ सामल कंति।
घण वरिसंतइ सर फुट्टंति सायरु पुण घणु ओह डुलंति ॥७॥

इसी प्रकार राजुल प्रत्येक मास में अपनी अवस्था का वर्णन करती है और उसकी सखी उसे सान्त्वना देती है।

हिन्दी में इस रूप के बारहमासे की परम्परा की अनुकृति के लिए हिन्दी सूफी-काव्य में शाह बरकत उल्ला कृत 'पेम प्रकाश' के अन्तर्गत बारहमासा वर्णन[2] भी ध्यान देने के योग्य है।

पीछे अपभ्रंश मुक्तक-काव्य (१) प्रकरण (अध्याय नौ) में उपदेश रसायन रास का वर्णन किया जा चुका है। भरत बाहु बलि रास का पीछे इसी अध्याय में वर्णन किया गया है। इन रास ग्रन्थों के अतिरिक्त पत्तन भण्डार की ग्रन्थ सूची (भाग १) में जिनप्रभ रचित नेमि रास (वही पृ० २६९) और अन्तरंग रास (वही पृ० २७०) नामक दो और रासा ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। नेमिनाथ रास में रेवय गिरि मण्डन तीर्थं-

---

१. कामता प्रसाद जैन—हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५६।
२. पेम प्रकाश, डा० लक्ष्मीधर शास्त्री द्वारा संपादित, फ्रेंक ब्रदर्स, दिल्ली, १९४३ ई०।

कर नेमिनाथ की स्तुति है और अन्तरंग रास में प्रातःकाल पाठ करने योग्य स्तुति है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य रास-ग्रन्थों का विवरण प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में मिलता है।

जंबू स्वामि रासु[1]

कृति के प्रारम्भ में कृति का नाम "जंबू सामि चरिय" दिया है किन्तु समाप्ति "इति श्री जंबू स्वामि रासः" इन शब्दों से होती है। कृति की रचना महेन्द्र सूरि के शिष्य धर्म सूरि ने वि० सं० १२६६ में की थी। कृति में पद्यों की संख्या ४१ है।

कृति में कथानक वही है जो जंबू स्वामी के चरित में पहले वर्णन किया जा चुका है।[2] जंबू स्वामी के चरित्र और धर्म की दृढ़ता का प्रतिपादन ही कवि का लक्ष्य था। ग्रन्थ की समाप्ति संघ की मंगल कामना से होती है।

रेवंत गिरि रास[3]

यह विजय सेन सूरि कृत एक छोटी सी रचना है। कृति चार कडवकों में विभक्त है। कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वि० सं० १२८८ में की थी। कृति में सोरठ देश में रेवंत गिरि पर नेमिनाथ की प्रतिष्ठा के कारण रेवंत गिरि की प्रशंसा और नेमिनाथ की स्तुति की गई है।

कवि की कविता का उदाहरण देखिये। पर्वत का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"जाइ कुंदु विहसंतो जं कुसुमिहि संकुलु।
दीसइ दस दिसि दिवसो किरि तारामंडलु।
मिलिय नवल वलि दल कुसुम झलहालिया।
ललिय सुर महि वलय चलण तल तालिया।
गलिय थल कमल मयरंद जल कोमला।
विउल सिलवट्ट सोहंति तहिं संमला॥ (पृ० ३)

उवएस माल कहाणय छप्पय[4]

यह श्री विनय चन्द्र कृत ८१ छप्पय छन्दों की कृति है। इसमें प्राचीन तीर्थंकरों एवं धार्मिक पुरुषों का उदाहरण देते हुए धर्माचरण का उपदेश दिया गया है। कृति की समाप्ति निम्नलिखित छप्पय से होती है—

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० ४१-४६।
२. देखिये पीछे सातवाँ अध्याय, अपभ्रंश खंड-काव्य, पृ० १४७
३. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० १-७।
४. वही, पृ० ११-२७।

"इणि परि सिरि उवएस माल कहाणय।
तव संजम संतोस विणय विज्जाइ पहाणय।
सावय संभरणत्थ अत्थपय छप्पय छंदिहिं।
रयण सींह सूरीस सीस पभणइ आणंदिहिं॥
अरिहंतआण अणु दिण, उदय धम्म मूल मत्थइ हउं।
भो भविय भत्ति सत्तिहिं सहल सयल लच्छि लीला लहउ॥ ८१॥

श्री कामता प्रसाद जैन ने इस कृति की रचना का काल १३ वीं शताब्दी माना है।[1]

गय-सुकुमाल-रास[2]

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। हस्त लिखित प्रति जैसलमेर के बड़े ज्ञान भंडार में प्राप्त है। प्रति १४ वीं शताब्दी की लिखी हुई है।

ग्रन्थ के रचयिता संभवतः श्री देल्हण हैं। श्री देवेन्द्र सूरि के कथनानुसार इसकी रचना की गई। श्री अगरचंद नाहटा इनका समय वि० सं० १३०० के लगभग मानते हैं। अतएव ग्रन्थ रचना का काल भी इसी समय के आसपास मानना पड़ता है।

सिरि देविंद सूरिंदह वयणे।
खमि उवसमि सहियउ।
गय सुकुमाल चरित्तू,
सिरि देल्हणि रइयउ ॥३३॥[3]

प्रस्तुत रास में कृष्ण भगवान् के छोटे सहोदर भाई गज सुकुमाल मुनि का चरित्र वर्णित है।

भाषा परिज्ञान के लिए निम्नलिखित उद्धरण देखिये—

तहि सायर-उवकंठे वारवइ पसिद्धिय।
वर कंचण धण धन्नि वर रयण समिद्धिय॥
वारह जोयण जसु वित्थारू
निवसइ सुन्दरु गुणिहि विसालू।
बाहत्तरि कुल कोडि विसिट्ठो
अन्नवि सुहड रणंगणि दिट्ठो॥
नयरिहि रज्जु करेई नहिं कन्हु नरिंदू।
नरवइ मंति सणाहो जिव सुरगणि इंदू॥
संख चक्क गय पहरण धारा।

१. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३१।
२. गय-सुकुमाल रास, श्री अगर चन्द नाहटा,
राजस्थान भारती, वर्ष ३, अंक २, पृष्ठ ८७।
३. वही, पृ० ९१।

कंस नराहिव कय संहारा।
जिणि चाणउरि मल्लु वियारिउ
जरासिंधु बलवन्तउ धाडिउ॥
तासु जणउ वसुदेवो वर रूव निहाणू।
महियलि पयड पयावो रिउ भड तम भाणू॥[1]

समरा रासु[2]

इस कृति की रचना अंबदेव ने वि० सं० १३७१ में की। इस में संघपति देसल के पुत्र समरसिंह की दानवीरता का वर्णन किया गया है। उसी वर्ष इसने शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार किया था। तीर्थ का सुन्दर भाषा में वर्णन मिलता है। कृति ग्यारह "भाषाओं" में विभक्त है। यह रास-ग्रन्थ रास-साहित्य के विषय पर भी प्रकाश डालता है। इस रास ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि रास ग्रन्थ का नायक कोई तीर्थंकर या पौराणिक महापुरुष हो, यह आवश्यक न था। एक दानी और श्रेष्ठी भी इस का नायक हो सकता था। अर्थात् धार्मिक विषय के अतिरिक्त रास में किसी दान-वीर की प्रशंसा भी हो सकती थी।

कवि की कविता का एक उदाहरण देखिये—

तीर्थ यात्रा के जाने वाले यात्रियों का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

वाजिय संख असंख नादि काहल दुडुडुडिया।
घोड़े चडइ सल्लार सार राउत सींगडिया।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि घाघरि रवु झमकइ।
सम विसम नवि गणइ कोइ नवि वारिउ थक्कइ॥ (पृ० ३२)

श्री नेमिनाथ फागु[3]

यह राजशेखर सूरि कृत २७ पद्यों की एक छोटी सी कृति है। रचना काल के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। इस काल की अन्य रचनाओं के समान इसका काल भी संभवतः १३ वीं–१४ वीं शताब्दी है।

कृति में नेमिनाथ का चरित्र वर्णित है। कवि की कविता का उदाहरण देखिये।

नारी का रूप वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

"अह सामल कोमल केशपास किरि मोर कलाउ।
अद्धचंद सम भालु मयणु पोसइ भडवाउ।
वंकुडियालीय भुंहडियहं भरि भवणु भमाडइ।
लाडी लोयण लह कुडलइ सुर सगह पाडइ॥

---

१. वही, पृ० ८८।
२. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० २७-३८।
३. वही, पृ० ८३-८६।

किरि ससिबिंब कपोल कन्न हिंडोल फुरंता।
नासा वंसा गरुड चंचु दाडिम फल दंता।
अहर पवाल तिरेह कंठु राजल सर रूडउ।
जाणु वीण रणरणइं जाणु कोइल टहकडलउ॥
(नेमिनाथ फागु पृ० ८३-८४)

धर्म सूरि स्तुति

यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति का पाटण भण्डार की ग्रन्थ सूचि में उल्लेख है (वही पृ० ३७०)

यह ५० पद्यों की एक रचना है। इसमें कृतिकार ने धार्मिक बारह-मासे का रूप उपस्थित किया है। प्रत्येक मास के साथ गुरु नाम का स्मरण किया गया है। कृति की समाप्ति भी कृतिकार ने "बारह नावउं सम्मत्तं" से की है।

कृति का आरम्भ निम्नलिखित पद्यों से होता है—

तिहुयण मणि चूडामणिहिं बारह नावउं धमुसूरि नाहह।
निसुणेहु सुयणहु ! नाण सणाहह पहिलउं सावणु सिरि फुरिय॥१॥
कुवलय दल सामल घणु गज्जइ नं मद्दलु मंडलझुणि छज्जइ।
विज्जुलडी झबकिहिं लवइ मणहरु वित्थारे वि कलासु।
अन्नु करेविणु कलि केकारवु फिरि फिरि नाचहिं मोरला।
मेइणि हार हरिय छमि णवर त्रीजण-भय उहिय नीलंबर।
वियलिय नव मालइ कलिय॥२
हलि ! तुह कहियइं गुणहं निहाणु धमसुरि अनु जयसूरि समाणु।
अनु न अत्थि को वि जगि
इहु प्रिय ! वरिसंतउ न गणिज्जइ जायवि धमसुरि गुरु वंदिज्जउ।
किज्जउ माणस-जमु सफलु॥३

गुरुस्तुति श्रावण मास से प्रारम्भ हो कर आषाढ मास में समाप्त होती है। अन्त में अधिक मास का भी उल्लेख है।

सालिभद्दकक्क[1]

यह सम्भवतः पउम रचित ७१ पद्यों की एक छोटी सी कृति है। इस में प्रत्येक दोहे का आदि वर्ण क, का, ख, खा इत्यादि क्रम से हिन्दी वर्णमाला के वर्णों के अनुसार रखा गया है और इस प्रकार ७१ दोहों की रचना की गई है। कृति का आरम्भ निम्नलिखित पद्यों से हुआ है—

---

१. वही, पृ० ६२-६७ और पत्तन भंडार ग्रन्थ-सूची भाग १, पृ० १९०।

भलि भंजणु कम्मारि बल वीर नाहु पणमेवि।
पउमु भणइ कक्कक्खरिण सालिभद्द गुण केइ ॥१
कत्थ वच्छ कुवलय नयण सालिभद्द सुकमाल।
भद्दा पभणइ देव तु हु कह थिउ इत्तियवार ॥२
कारुन्नामय नीर निहि समवसरणि ठिउ सामि।
अज्जु माइ मइं वंदियउ वीर नाहु सिव गामि ॥३

कृति की समाप्ति क्ष, क्षा, से प्रारम्भ होने वाले पद्यों से की गई है—

क्षमा समणि भद्दातणइं दिक्खिउ जिणिहि कुमारु।
सालिभद्दु बहु तवु करइ आगमु पढइ अपारु ॥६८॥
क्षामे विणु जिण मुनि सहिउ अणसुणु गहिउ उवन्नु।
सव्वट्ठह सिद्धिहि गयउ सालिभद्द तहिं धन्नु ॥६९॥

हिन्दी में यह काव्य शैली जायसी के "अखरावट' में भी दिखाई देती है।

दूहा मातृका

सालिभद्द कवक के समान ही दूहा मातृका नाम की एक ५७ दोहों की कृति का वर्णन प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह (वही पृ० ६७-७१) में मिलता है। इस में भी दोहों का आदि वर्ण अकारादि क्रम से चल कर क्ष पर समाप्त होता है। कृति में धर्माचरण का उपदेश दिया गयाहै। कृति के कर्ता और काल के विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मंगलाचरण से कृति आरम्भ होतो है—

भले भलेविणु जगतगुरु पणमउं जगह पहाण।
जासु पसाइं मूढ जिय पावइ निम्मलु नाणु ॥ (पद्य सं. १)
मण गयवरु झाणुं कुसिण ताणिउ आणउ ठाउं।
जइ भंजेसइ सीलवणु करिसइ सिव फल हाणि ॥४॥
सिज्झइ तसु सवि कज्जडं (उ) जसु हियडइ अरिहंतु।
चिंतामणि सारिच्छ जिम एहु महाफलु मंतु ॥५॥
धंघइ पडियउ जीव तुहुं खणि खणि तुट्टइ आउ।
दुग्गइ कोइ न रक्खिसइ सयणु न बंधवु ताउ ॥६॥

इसके अनन्तर अकारादि क्रम से पद्य प्रारम्भ होते हैं और क्ष में समाप्त होते हैं—

क्षण भंगुरु देहतणउं अरि जिय कोइ विसासु।
भाव न मुच्चइ जिणु मणह जाव फुरक्कइ सासु ॥५६॥

जय तिहुयण स्तोत्र[1]

यह ३० पद्यों का अभयदेव सूरि का लिखा हुआ अप्रकाशित स्तोत्र है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में अधिक कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता। कवि की कविता

१. इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, भाग १, पृ० १७९।

का ज्ञान निम्नलिखित उद्धरण से हो सकता है—

जय तिहुयण वर कप्प रुक्ख जय जिण धन्नंतरि।
जय तिहुयण कल्लाण कोस दुरियक्खरि केसरि।
तिहुयण जण अविलंघि आण भुवणत्तय सामिय।
कुणसु सुहाइ जिणेस पास थंभणय पुरि ट्ठिय ॥

परमेष्ठि प्रकाश सार

श्रुतकीर्ति रचित यह ग्रन्थ अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार में वर्तमान है (प्र० सं० पृष्ट १२०–१२२)। कवि ने इस की रचना वि० सं० १५५३ में की थी।[1] इसमें धार्मिकता अधिक है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त कवि ने हरिवंश पुराण की भी रचना की थी जैसा कि पहिले महाकाव्य प्रकरण में निर्देश किया जा चुका है।

कृति का विषय धर्मोपदेश है। लेखक ने सातों सन्धियों में सृष्टि उत्पत्ति, नाना प्रकार के जीवादि धार्मिक विषयों का ही विवेचन किया है। कृति कडवक और घत्ता बद्ध शैली में लिखी गई है। कृतिकार ने इसे महाकाव्य कहा है[2] किन्तु ग्रन्थ महाकाव्य के लक्षणों से रहित है।

योग शास्त्र

श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने श्रुतकीर्त्ति द्वारा लिखित इस अप्रकाशित ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[3] इसका रचना काल भी वि० सं० १५५३ के आस पास ही अनुमित किया जा सकता है।

योग शास्त्र दो सन्धियों का ग्रन्थ है। प्रथम संधि में ६४ और दूसरी संधि में ७२ कडवक हैं। ग्रन्थकार ने इसमें योग धर्म का वर्णन किया है—

"सव्वह धम्म जोउ जगिसारउ
जो भव्वयण भवोवहिं तारउ"

प्राणायाम आदि योग की क्रियाओं का वर्णन करने के पश्चात् कवि ने योगावस्था में लोक का चिन्तन करने के लिए कहा है। दूसरी संधि में धर्म का वर्णन किया गया

---

१. दहपण (१५) सयते वण (५३) गयवासइं
पुण विक्कम णिव संवच्छर हे।
तह सावण मासहु गुर पंचमि सहुं,
गंथु पुण्णु तय सहसतहें ॥७.७४॥

२. इय परमिट्ठि पयाससारे अरुहादिगुर्णेहि वण्णणाणलंकारे
अप्पसुद सुद कित्ति जहासत्ति महाकव्वु विरयंतो
णाम पठम्मो परिछेऊ समोत्तो ॥ संधि १॥

३. वीर वाणी वर्ष ६, अंक ३-४ दिसं०-जन० १९५३।

है। इसमें षोडश कारण भावना, दशधर्म, १४ मार्गणाओं के अतिरिक्त १४ गुण स्थानों का वर्णन है। ६० वें कडवक से आगे भगवान् महावीर के पश्चात् होने वाले केवली, श्रुतकेवली आदि के नामों का उल्लेख किया है। इस के पश्चात् भद्रबाहु स्वामी का दक्षिण विहार, दिगम्बर श्वेताम्बर संप्रदायों की उत्पत्ति आदि पर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है।

कवि ने भूतपूर्व कुन्द कुन्द, भूतबलि, पुष्पदंत आदि आचार्यों और उनकी रचनाओं का भी उल्लेख किया हे—

कुंदकुंद गणि पुण धम्मुद्धरु जंहि पणविउ जिणु सिरि सीमंधरु।
पुणु धरसेणायरियउ महंतउ चंदगुहाणिवसइ धीमंतउ।
उज्जतिहिं ठिउ णियमणि झंकक्खइ सिस्सु ण कोवि गंथु जह अक्खइ।
भूवलि पुष्पदंत मुणिभव्वइं पढिय तत्थ सिद्धंत अउव्वइं।
धवल तह य जयधवलु पवित्तउ महबंद्धवि तदियउ गरउत्तउ॥

वही पृ० ७३.

कवि ने निम्नलिखित आचार्यों और उनकी रचनाओं का भी उल्लेख किया है—

णेमिचंदु सारत्तय कत्तइं उमासादि तच्चत्थ पवित्तइं।
मुणि सिवकोटि भगवतीराहण कय संबोहु मरण अविराणह।
मूलाचारु रयउ वसुणंदिहि महापुराणु जिणसेण अणंदहि।
पोमणंदि पच्चीसी गंथइं णाणणउ सुभचन्द पसत्थइं।
एम माइ वढु गंथ पवित्तइ सूरि परंपर जो सुद कत्तइं।

अन्त में श्रुतकीर्ति ने तत्कालीन साधु संस्था एवं श्रावक समाज में फैली अज्ञानता एवं चरित्रहीनता की ओर संकेत किया है और बताया है कि समाज तीन प्रकार की मूढ़ताओं का शिकार हो रहा है। लोक मूढ़ता का लक्षण करता हुआ कवि लिखता है—

सूरसरि सायर ण्हाणु जि वंछहि
वालू पाहण पूय समिछहिं
जलगिरि अग्गिपात कय मरणइं
लोय मढ इय धम्म चरणइ॥

उपरिनिर्दिष्ट कृतियों के अतिरिक्त सप्त क्षेत्रिरासु, मातृका चउपइ और सम्यक्त्व माई चउपइ नामक लघु कृतियों का वर्णन प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में किया गया है।[1] लक्ष्मी चन्द विरचित श्रावकाचार और पूर्णभद्र विरचित सुकुमाल चरिउ का उल्लेख प्रशस्ति संग्रह में मिलता है।[2] पत्तन भण्डार की ग्रन्थ सूची में भी कुछ लघुकाय स्तोत्र और सन्धि ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है[3]।

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० ४७-५८, ७४-७८ और ७८-८२।
२. प्रशस्ति संग्रह, पृ० १७५।
३. डिस्क्रिप्टिव कैटेलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन दि जनभंडारस् एट पत्तन, भाग

जिन अपभ्रंश ग्रन्थों का विवरण यहां प्रस्तुत किया गया है, वह प्राप्त या ज्ञात अपभ्रंश सामग्री के आधार पर आश्रित हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त पर्याप्त सामग्री अभी तक जैन भण्डारों में वर्तमान है किन्तु प्रकाश में नहीं आ सकी। भविष्य में इस के प्रकाश में आने पर अपभ्रंश साहित्य का यह अध्ययन और भी पूर्ण किया जा सकेगा ऐसा लेखक का विचार है।

१, बड़ौदा, १९३७; जिन जन्म स्तवन पृ० २७५, जिन स्तुति पृ० ४१२, धर्मघोष सूरि स्तवन पृ० ३०७-३०८, नर्मदा सुन्दरी सन्धि पृ० १८८, मदन रेखा सन्धि पृ० २६८, मुनि सुव्रत स्वामि स्तोत्र पृ० २७५, इत्यादि।

पन्द्रहवाँ अध्याय

अपभ्रंश गद्य

इस अध्याय से पूर्व के अध्यायों में अपभ्रंश-साहित्य के जिन अंगों का विवेचन किया गया है वे सब पद्य रूप में उपलब्ध हैं। संस्कृत-साहित्य में भी अधिकांश साहित्य पद्यात्मक ही है, किन्तु गद्यकाव्य का भी अभाव नहीं। कादम्बरी, वासवदत्ता, दशकुमार चरित आदि गद्यकाव्य के सुन्दर निदर्शन हैं। प्राकृत में भी अधिकांश साहित्य पद्य में ही लिखा गया। अपभ्रंश में भी अभी तक प्रायः अधिकांश साहित्य पद्य में ही प्राप्त हुआ है। अपभ्रंश गद्य के स्वरूप का प्राप्त सामग्री के आधार पर, यत्किंचित् निदर्शन इस अध्याय में किया गया है।

'उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला कथा' (वि० सं० ८३५) में अपभ्रंश गद्य के कुछ वाक्य उपलब्ध होते हैं —

'जनार्दन पुच्छह कत्थ तुज्झे कल्ल जिमि अल्लया ? तेन भणिउ--साहिउं जे तेतउ तस्स वलक्खइएल्लयह तणए जिमिअल्लया।'[1]

अर्थात् हे जनार्दन ! मैं पूछता हूँ तुमने कल कहा जीमां ? उसने उत्तर दिया-- वही जो बल क्षयिक, उसके यहां।

'(भणिअं च णेण)–यदि पांडित्येन ततो मइं परिणेतव्य कुवलयमाल।
(अण्णेण भणियं)–अरे ! कवणु तउ पाण्डित्यु ?
(तेण भणिअं)–षडंगु पढमि, त्रिगुण मन्त्र पढमि, किं न पाण्डित्यु ?'

अर्थात् उसने कहा—यदि पाण्डित्य का विचार है तो मुझे कुवलयमाला से विवाह करना चाहिये। दूसरे ने कहा—अरे ! तुम में कौन सा पाण्डित्य है। उसने कहा–षडंगों को पढ़ता हूँ, त्रिगुण मन्त्र पढ़ता हूँ। क्या मुझ में पाडित्य नहीं ?

इन वाक्यों में पाण्डित्य, परिणेतव्य, षडंग, त्रिगुण मन्त्र इत्यादि तत्सम शब्दों का बाहुल्य है। श्री आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के विचार में इसका कारण संस्कृत-पाठशाला का वातावरण है। इन्होंने 'हिन्दी-साहित्य का आदि काल' नामक अपनी पुस्तक (पृ० २०) में कुवलय माला कथा का एक निम्न लिखितउद्धरण दिया है। यह मथुरा स्थित अनाथालय के कोढ़ियों, पंगुओं, अन्धों, अपाहिजों आदि की भाषा का नमूना है।

---

१. अपभ्रंश काव्यत्रयी पृ० १०४ से उद्धृत

"सयलं पुहईमंडलं परिभमिऊण संपत्तो महुराउरीए । एत्थ एक्कम्मि अणाहमण्डवे पविट्ठो। अवि य तत्थ ताव मिलियालए कोड्ढीए। वलक्ख खइयए। दीण दुग्गय। अन्धलय। पंगुलय। .... किं च बहुणा जो माउ-पिउ-रुट्ठेल्लउ सो सो सव्वो वि तत्थ मिलिएल्लउ त्ति। ताहं च तेत्थु मिलिएलय सह समाणह एक्केक्क महा आलावा पयत्ता। भो भो ! कयरहिं तित्थे दे (वे) वा गयाहं कयरा वाहि पावं वा पिट्टइ त्ति। एक्केण भणिअं—अमुक्का वाणारसी कोढिएहिं। तेण वाणारसी गयाणं कोढु प्फिट्टइत्ति।

अण्णेण भणिअं—हुं हुं कहिउ वुत्तंतउ जंपिएल्लउ। कहिं कोढं। कहिं वाणारसी। मलत्थाणु भडारउ भो (को) ढइं जे देइ। उद्दालि लोअहुं।

....

अण्णेण भणिअं—काइं इमेण जत्थ चिर परूढ पाउ फिट्टइ, तुब्भे, उद्दिसह तित्य।

अण्णेण भणिअं—प्रयागव उपडिअहं चिर परूढ पाय विहत्य वि फिट्टति।

अण्णेण भणिअं—अरे ! पाव पुच्छिय पाय साहहि ?

अण्णेण भणिअं—खेडु मेल्लहं। जइ परमाइं। पिइवह कयइं पि महापावइं गंगा-संगमे ण्हायहं भइखभडारयपडिअहं णासइ त्ति।"

इस उद्धरण में पहिले उद्धरण की अपेक्षा संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता नहीं। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। फिर भी प्रयाग, गंगा-संगम, खेद आदि कुछ तत्सम शब्द प्रयुक्त हो ही गये हैं। इस प्रकार नवीं शताब्दी में शिक्षाभ्यासी या सुशिक्षित लोगों की भाषा में ही नहीं, अशिक्षित या अर्ध-शिक्षित लोगों की भाषा में भी तत्सम शब्द प्रयुक्त होने आरम्भ हो गये थे।

'जगत्सुन्दरी प्रयोग माला' नामक एक वैद्यक का ग्रन्थ है। इसका रचना काल १३वीं शताब्दी अनुमान किया गया है।[१] इसमें कहीं कहीं पर गद्य का भी प्रयोग मिलता है। एक उदाहरण देखिये :

"सुल घाटी काठे मंत्र (शाकिन्यधिकारे)

"कुकासु बाढहि उरामे देवकउ सुज्जाहासु खाड तु,
(सूर्यहास खड्ग) कुकासु बाढ़हि हाकउ कुरहाडा लोहा,
राणउ आरणु वम्मी राणी काठवत्तिम साण कोधिणी जे गेउरिहिं मंत,
ते रुप्पिणिहिं तोडउ सुलूके मोडलं सूलु घाटी के मोडउं, घाटी तोडउं काठे के मोडउं कांठे सूल घाटी। कांठे मंत्र—'उडमुड स्फुट स्वाहा'[२]

प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह में भी कुछ गद्य के उद्धरण संकलित किये गये हैं। अपभ्रंश गद्य के स्वरूप-ज्ञान के लिये उनका भी यहाँ उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।[३]

---

१. कामता प्रसाद जैन, हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३०

२. वही, पृ० ५९।

३. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रहान्तर्गत इन गद्य के उद्धरणों के उल्लेख का कारण पीछे चौदहवें अध्याय के पृष्ठ ३६१ पर स्पष्ट किया जा चुका है।

वि० संवत् १३३० में लिखित "आराधना" की एक हस्तलिखित प्रति के गद्य का नमूना देखिये :—

"सम्यक्त्व प्रतिपत्ति करहु, अरिहंतु देवता सुसाधु गुरु जिन प्रणीत धम्मु सम्यक्त्व दंडकु ऊचरहु; सागार प्रत्याख्यानु ऊचरहु चऊहु सरणि पइसरहु।"[1]

वि० संवत् १३४० में लिखित 'अतिचार' की हस्तलिखित प्रति का एक नमूना देखिये :—

"प्रतिषिद्ध जीवहिंसादिकतणइ करणि कृत्य देवपूजा धर्मानुष्ठान तणइ अकरणि जि जिनवचन तणइ अश्रद्दधानि विपरीत परुपणा एवं बहुप्रकारि जु कोइ अतीचारु हुयउ। पक्ष दिवसमांहि।[2]"

वि० संवत् १३५८ में लिखित एक हस्तलिखित प्रति का उदाहरण :—

"पहिलउं त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्वपाप क्षयंकर हउं नमस्कारउं।"[3]

वि० संवत् १३६९ में लिखित एक हस्त लिखित प्रति के गद्य का नमूना देखिये :—

"तउ तुम्हि ज्ञानाचार दरिसणाचार चारित्राचार तपाचार वीर्याचार पंचविध आचार विषइया अतीचार आलोउ॥"[4]

विद्यापति रचित "कीर्त्तिलता"[5] में भी अनेक गद्य के उद्धरण मिलते हैं। कीर्तिलता की रचना कवि ने १३८० ई० के लगभग की थी। उस समय गद्य का क्या स्वरूप था यह निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा :—

"तान्हि करो पुत्र युवराजन्हि मांझ पवित्र, अगणेय गुणग्राम, प्रतिज्ञा पद पूरणंक परशुराम, मर्यादा मंगलावास, कविता कालिदास, प्रवल रिपु वल सुभट संकीर्ण समर साहस दुर्निवार, धनुर्विद्या वैदग्ध्य धनंजयावतार, समाचरित चन्द्र चूड चरण सेव, समस्त प्रक्रिया विराजमान महाराजाविराज श्रीमद् वीरसिंह देव।"[6]

अर्थात् उनके पुत्र महाराजाधिराज श्रीमान् वीरसिंह देव हुए, जो युवराजों में पवित्र, अगणित गुणों के समूह, प्रतिज्ञा-वचन पूर्ण करने में परशुराम, मर्यादा के मंगलकारी आवासस्थान, कविता में कालिदास के समान, प्रवल शत्रु सेना के योद्धाओं से पूर्ण युद्ध-भूमि में अप्रतिहत साहस वाले, धनुर्विद्या की चतुरता में अर्जुन के अवतार स्वरूप, पूज्य महादेव चरणों के सेवक और सव कार्यों में शोभायमान थे।

गद्य में समस्त शब्दों का प्रयोग है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग की प्रचुरता है।

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृ० ८६।
२. वही, पृ० ८८।
३. वही, पृ० ८८।
४. वही, पृ० ९१।
५. डा० वाबूराम सक्सेना द्वारा संपादित, प्रयाग, वि० सं० १९८६।
६. वही, पृ० १२।

एक दूसरा उदाहरण देखिये :—

"लोअ छत्तिअ, अवरु परिवार रज्ज भोग परिहरिअ, वर तुरंग परिजन विमुक्किअ, जननि पाउे पन्नविअ, जन्मभूमि को मोह छोड्डिअ, धनि छोड्डिअ......।"[1]

लोगों को छोड़कर, अन्य परिवार राज्य भोग छोड़कर, अच्छे-अच्छे घोड़े परिजनादि त्याग कर, जननी के चरणों में प्रणाम कर, जन्मभूमि का मोह संवरण कर, स्त्री को छोड़ कर••• (गणेश राय का पुत्र चल पड़ा)।

इस गद्य खंड की भाषा समास रहित और अपेक्षाकृत सरल है।

श्री अगरचन्द नाहटा ने १४वीं शताब्दी की **'तत्व विचार'** (तत्त वियार) नामक एक अप्रकाशित कृति का राजस्थान भारती में निर्देश किया है।[2]

इसमें श्रावक के १२ व्रत, जीवादि नौ पदार्थ, देव गुरु धर्म, त्रिषष्टिशलाका पुरुष आदि का वर्णन है। एक उदाहरण देखिये—

एउ संसारु असारु। खण भंगरु, अणाइ चउ गईउ। अणोरु अपारु संसारु। अणाइ जीवु। अणेग अणादि कर्म संयोगि सुभासुभि कर्म अचेष्टित परि वे णिढिया जीव पुणु नरक गति। पुणु तिर्यंच गति। पुणु मनुष्य गति। पुण देव गति। ईम परि परि भमत्ता जीव जाति कुलादि गुण संपूर्ण दुर्लभु माणुखउ जनमु। सर्व्वही भव मद्धि महा प्रधानु। मन चिंतितार्थ संपादकु। कथमपि देव तणइ योगि पावियइ। ततः अति दुर्लभ परमेश्वर सर्व्वज्ञोक्तु धर्म्म। इत्यादि

श्री नाहटाजी ने इसी समय के आसपास की **"धनपाल कथा"** नामक एक अप्रकाशित कृति का भी निर्देश किया है।[3] इसमें **"तिलक-मंजरी"** के रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् धनपाल के जीवन की एक कथा का उल्लेख है। इनके जीवन में किस प्रकार एक छोटी सी घटना से परिवर्त्तन हुआ और किस प्रकार उनकी तिलक मंजरी के अग्निसात् हो जाने पर पुनः वह लिखी गई, इसका संक्षेप में तत्कालीन प्रचलित लोक-भाषा में वर्णन किया गया है। इसके गद्य का नमूना देखिये—

"उज्जयनी नाम नगरी। तहिंठे भोजदेवु राजा। तीयहितणइ पंचह सयह पंडितह मांहि मुख्यु धनपाल नामि पंडितु। तीयहिं तणइ घरि अन्यदा कदाचित साधु विहरण निमित्तु पइठा। पंडितह णी भार्या त्रीजा दिवसह णी दधि लेउ उठी। ....व्रतिया भणियउं। केता दिवसह णी दधि। तिणि ब्राह्मणी भणियउं, त्रीजा दिवसह णी दधि। महामुनिहि भणियउं त्रीजा दिवसह णी दधि न-उपगरी। व्रतिया ठाला नीसरता पंडिति धनपालि गवाक्षि उपविष्टि हूंतइ दीठा। विणवियउ, किसइ कारणि ठाला नीसरिया, पंडियाणी दधि दियइ छइ! तदनंतरु गवाक्ष हूंतउ ऊठिउ, महामुनि समीपि आवियउं। महामुनि व्रतिया! भगवंतहु! किसइ कारणि दधि न विहरू? महामुनिहि भणियउ।

---

१. वही, पृ० २२।

२. अगर चन्द नाहटा—राजस्थान भारती, वर्ष ३, अंक ३-४, पृ० ११८-१२०।

३. अगर चन्द नाहटा—राजस्थान भारती, वर्ष ३, अंक २, पृ. ९३-९६।

त्रीजा दिवसह णी दधि न-उपगरी।" इत्यादि।

१५ वीं शताब्दी की एक अप्रकाशित कृति **"पृथ्वीचन्द्र चरित्र"** उपलब्ध हुई है।[1] माणिक्य चन्द्र सूरि ने इसकी रचना वि० सं० १४७८ में की थी। ग्रन्थ का दूसरा नाम वाग्विलास है। इसमें वाग्विलास रूप चमत्कार प्रधान वर्णनों के कारण संभवतः इस का यह नाम भी रचयिता ने रखा हो। उदाहरण—

"विस्तरिउ वर्षाकाल, जो पंथी तणउ काल, नाठउ दुकाल। जिणिइ वर्षाकालि मधुर ध्वनि मेह गाजइ, दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ, जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जय ढक्का बाजइ। चिहुं दिशि वीज झलहलइ, पंथी घर भणी पुलइ। विपरीत आकाश, चन्द्रसूर्य परियास। राति अंधरी, लवइं तिमिरि। उत्तर नऊ उनयण, छायउ गयण। दिसि घोर, नाचई मोर। सधर वरसइ धाराधर। पाणी तणा प्रवाह खलहलइ, वाड़ी ऊपर वेला वलइ। चीखलि चालतां सकट स्खलइं, लोक तणा मन धर्म ऊपरि वलइं। नदी महा पूरि आवइं, पृथ्वी पीठ प्लावइं। नवा किसलय गहगहइं, वल्ली वितान लहलहइं।...." इत्यादि।

पत्तन भण्डार की ग्रन्थ सूची में भी **'उक्ति व्यक्ति विवृति'**[2] नामक ग्रन्थ में कुछ गद्य मिलता है। सम्भवतः यह ग्रन्थ दामोदर की "उक्ति व्यक्ति" की व्याख्या है। उक्ति व्यक्ति का लक्ष्य बताया गया है कि—

"उक्ति व्यक्ति बुद्ध्वा बालैरपि संस्कृतं क्रियते।" इससे प्रतीत होता है कि उक्ति व्यक्ति बच्चों को संस्कृत सिखाने के लिए लिखी गई थी। उक्ति व्यक्ति विवृति में लेखक ने संस्कृत पदों का अर्थ अपभ्रंश भाषा में भी दिया है। प्रारम्भिक मंगलाचरण में लेखक कहता है—

नमः सर्वविदे।
गणानां नायकं नत्वा हेरम्बममितद्युतिं।
उक्ति व्यक्तौ विधास्यामो विवृतिं बाल लालिकां ॥१॥

उक्तेर्भाषितस्य व्यक्तिं प्रकटीकरणं विधास्यामः। अपभ्रंश भाषाछन्नां संस्कृत-भाषां प्रकाशयिष्याम इत्यर्थः। अपभ्रंस (श) भाषया लोको वदति यथा। धर्म्मु आथि धर्म्मु कीज (इ)। दुह गावि दुधु गुआल। यजमान कापडिआ। गंगाए धर्म्मु हो पापु जा। पृथ्वी वरति। मेहं वरिस। आंखि देख। नेहाल। आंखि देखत आछ। जीभें चाख। काने सुण। बोलं बोल। वाचा वदति ॥१०॥ बोलं बोलती। पायं जा पादेन याति। मूतत आछ मूत्र-यन्नास्ते ॥११॥ भोजन कर। देवदत्त कट करिह देवदत्तः कटं करिष्यति। हउं पर्व्वतउ टालउं अहं पर्वतमपि टालयामि सवहि उपकारिआ होउ सवषामुपकारी भूयात् ॥१४॥ धर्म्मु करत आछ धर्मं कुर्वन्नास्ते ॥१५॥ देवता दर्शन कर देउ देख ॥१६॥ वेद पढव वेदः

१. अगरचन्द नाहटा—कतिपय वर्णनात्मक राजस्थानी गद्य-ग्रन्थ, राजस्थान भारती, भाग ३, अंक ३-४, पृ० ३९-४१।

२. पत्तन भंडार की ग्रंथ सूची भाग १, पृ० १२८।

पठितव्यः ॥१७॥ दुहाव गाइ दुधु गुआलं गोसांवि दोहयति गां दुग्वं गोपालेन स्वामी ॥१८॥ सिंहासण आछ राजा सिंहासने तिष्ठति राजा ॥१९॥ मेहलि सोअ मेहला स्वपिति ॥२०॥ छात्रें गाउं जाइआ छात्रेण ग्रामे गम्यते ॥२१॥ कारुप दुग् वस्तु के एते द्वे वस्तुनी ॥२५॥ कौ ताहा जेंवत आछ कस्तत्र भुंजान आसीत् ॥२७॥ काह इहा पढिय का किह केनात्र पठ्यते कस्मै ॥३३॥ छात्र इहां काइ पढ काहैका किहका पास काहां ककरें घर छात्रोत्र किं पठति केन कस्मै कुतः कुत्र कस्य गृहे ॥३६॥ हल्लअ वथु पाणि तरंत लघुकं वस्तु पानीये प्लवते ॥४१॥ इत्यादि।

ग्रन्थ के समय का कोई उल्लेख नहीं मिलता अतः किस काल का गद्य है कुछ निश्चय से नहीं कहा जा सकता। भाषा में शब्द रूप स्थिर नहीं। एक स्थान पर 'वस्तु' दूसरे स्थान पर 'वथु' का प्रयोग किया गया है।

अपभ्रंश-गद्य के उपरिलिखित उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपभ्रंश-गद्य में अपभ्रंश-पद्य की प्रथा के विपरीत संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग होता था। इस प्रकार के तत्सम शब्दों का प्रयोग नवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया था और यह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। तत्सम शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त १४वीं-१५वीं शताब्दी के अपभ्रंश-गद्य में आन्त्यानुप्रासमय (तुकान्त) शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होने लग गई थी। अन्त्यानुप्रास की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश-पद्य में प्रचुरता से उपलब्ध होती है और यह अपभ्रंश-पद्य की एक विशेषता मानी गई है। गद्य में इस प्रवृत्ति के दर्शन के कारण उस काल के गद्य को कुछ विद्वानों ने 'पद्यानुकारी गद्य' कहा है।

सोलहवाँ अध्याय

एक तुलनात्मक विवेचन

संस्कृत-प्रबन्ध-काव्य अधिकतर रामायण, महाभारत, किसी पौराणिक उपाख्यान या किसी राजा के चरित्र को आधार मान कर ही लिखे गये हैं। जैनाचार्यों ने संस्कृत में कुछ ऐसे भी प्रबन्धकाव्यों की रचना की जिनमें किसी जैन तीर्थंकर के चरित्र का वर्णन किया। प्राकृत में भी यही परम्परा चलती हुई दिखाई देती है। 'सेतुबन्ध' या 'रावण वध' रामकथा के ऊपर आश्रित है। 'गौडवहो' प्रधान रूप से कन्नौज के राजा यशोवर्मा के चरित्र का वर्णन है। संस्कृत और प्राकृत काव्यों में जो भी विषय चुना गया उसका काव्यमय भाषा में कवि ने वर्णन किया। उस वर्णन में धार्मिक उपदेश भावना का विचार नहीं दिखाई देता।

जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है अपभ्रंश के काव्यों का वर्णनीय विषय जैन-धर्मानुकूल रामकथा या कृष्णकथा के अतिरिक्त जैनधर्मानुगत अनेक तीर्थंकरों और महापुरुषों का चरित वर्णन है। इसके अतिरिक्त लौकिक जीवन से संबद्ध विषय या प्रेम-कथा भी अपभ्रंश काव्य का विषय हुआ। विषय चाहे कोई भी हुआ सब धार्मिक आवरण से आच्छन्न रहा। इन प्रबन्ध काव्यों में इस धार्मिक वातावरण के कारण कुछ नीरस एकरूपता आ गई।

विषय विस्तार की दृष्टि से संस्कृत महाकाव्यों में ही हमें दो प्रकार के महाकाव्य दिखाई देते हैं। कुछ महाकाव्य ऐसे हैं जिनमें कथाविस्तार है, घटना-बाहुल्य है और उसके साथ-साथ प्राकृतिक दृश्यों और वर्णनों में काव्य का प्राचुर्य भी है। किन्तु ऐसे भी महाकाव्य संस्कृत में लिखे गये जिनमें कथा बहुत संक्षिप्त है किन्तु प्राकृतिक वर्णनों के विस्तार में प्रचुर-काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है। प्राकृत में भी हमें इन दो काव्यशैलियों के दर्शन होते हैं। यदि सेतुबन्ध में रामकथा का विस्तार है और तदन्तर्गत काव्यमय वर्णनों का विधान है तो गौडवहो में गौड़ राजा के वध का केवल ३-४ पद्यों में निर्देश मात्र है और काव्यमय वर्णनों का पर्याप्तरूप से स्थल-स्थल पर समावेश है।

अपभ्रंश महाकाव्यों में भी हमें वर्ण्यविषय या कथा का पर्याप्त विस्तार मिलता है। कथा के पात्रों के अलौकिक चमत्कारों, पूर्वजन्म की कथाओं और पौराणिक उपाख्यानों के मिश्रण से कथानक का इतना अधिक विस्तार हो गया है कि उसमें कथा-सूत्र का पकड़ना भी कठिन हो जाता है। अनेक कथाओं और अवान्तर कथाओं में उलझे हुए अनेक स्थल यद्यपि सुन्दर कवित्व के भी निदर्शक हैं तथापि उनमें कवित्व प्रचुर परिमाण में प्रस्फुटित नहीं हो सका। विषय-विस्तार और कवित्व-विस्तार का संतुलन इन महाकाव्यों में नहीं

दिखाई देता। इसके विपरीत विषय का विस्तार अधिक है किन्तु कवित्व का परिमाण अपेक्षाकृत स्वल्प है।

संस्कृत महाकाव्यों में सर्गबद्ध रचना होती थी। महाकाव्य के लक्षणकारों ने "सर्ग बन्धो महाकाव्यं" कह कर महाकाव्य में कथा का अनेक सर्गों में विभाजन आवश्यक माना है।[1] इतना ही नहीं कि कथा सर्गबद्ध होनी चाहिये उन्होंने सर्गों की संख्या की ओर भी निर्देश किया है। प्राकृत महाकाव्यों में कथा अनेक आश्वासों में विभक्त होती है। सर्ग शब्द के स्थान पर प्राकृतकवियों ने आश्वास शब्द का प्रयोग किया और इस प्रकार कथा के अनेक विभाग किये। किन्तु प्राकृत में ऐसे भी महाकाव्य हैं जिनमें सारी की सारी कथा पद्यों में निरन्तर आगे बढ़ती जाती है और वह आश्वासों में विभक्त नहीं की गई। 'गौडवहो' म भिन्न-भिन्न विषयों और घटनाओं को कुलकों और महाकुलकों में बाँधा गया है। इस प्रकार सर्गों या आश्वासों की परंपरा की इतिश्री प्राकृत महाकाव्य में हो गई। प्राकृत की इस स्वच्छन्द प्रवृत्ति का प्रभाव संस्कृत महाकाव्यों पर भी पड़ा। देवप्रभ सूरि ने 'पाण्डव-चरित' १८ सर्गों में रचा। यद्यपि रचना सर्ग बद्ध है तथापि प्रत्येक सर्ग में अनुष्टुप् छन्द का ही प्रयोग किया गया है।

अपभ्रंश महाकाव्यों में कथावस्तु अनेक सन्धियों में विभक्त होती है और प्रत्येक सन्धि अनेक कड़वकों से मिलकर बनती है। सन्धियों की संख्या का कोई नियम नहीं। पुष्पदन्त के 'महापुराण' में १०२ सन्धियाँ हैं और धवल के 'हरिवंश पुराण' में १२२ सन्धियाँ हैं।

संस्कृत-महाकाव्य में नायक कोई देवता या मानव होता था और ऐसा मानव, धीरोदात्तयुक्त और सत्कुलीन क्षत्रिय होता था। इसमें किसी एक नायक के या एक ही वंश में उत्पन्न अनेक नायकों के चरित्र का वर्णन होता था। जैन कवियों ने संस्कृत में जो महाकाव्य लिखे उनमें कोई एक तीर्थंकर या अनेक जैन धर्मावलम्बी महापुरुष भी नायक हुए। वाग्भट का 'नेमि निर्वाण' और हेमचन्द्र का 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' इसके क्रमशः उदाहरण हैं। प्राकृत महाकाव्यों में भी नायक की यह परंपरा चलती रही।

अपभ्रंश में जैन-कवियों ने अपने संस्कृत-महाकाव्यों के ढंग पर ऐसे महाकाव्य लिखे जिनमें किसी तीर्थंकर को या अनेक जैन धर्मावलम्बी महापुरुषों को नायक बनाया। संस्कृत की परंपरा से भिन्न एक लौकिक पुरुष भी अपभ्रंश महाकाव्य में नायक बनने लगा, यद्यपि उसके चरित्र का उत्कर्ष कवि ने किसी व्रत के माहात्म्य या जिन भक्ति के कारण प्रदर्शित किया है। धनपाल रचित 'भविसयत्त कहा' का नायक एक श्रेष्ठी पुत्र था। नायक और नायिका के विषय में जो नियम-विधान और ढाँचा संस्कृत में बताया गया, उसकी अपभ्रंश काव्यों में प्रायः अवहेलना पाई जाती है।

कथा का आरम्भ संस्कृत में जिस शैली से किया गया वही शैली हमें प्राकृत काव्यों

---

१. साहित्य दर्पण, निर्णय सागर प्रेस प्रकाशन, तृतीय संस्करण, सन् १९२५ ई०, ६. ३१५।

में और तदनन्तर अपभ्रंश महाकाव्यों में भी दिखाई देती है। आदि में मंगलाचरण, सरस्वती वन्दन, खलनिन्दा, सज्जनप्रशंसा, कवि का आत्मविनय इत्यादि अपभ्रंश महाकाव्यों में भी हमें दिखाई देते हैं। मंगलाचरण जैन धर्म के अनुसार जिन पूजादि से किया गया है।

संस्कृत प्रबन्ध काव्य में नायक के चरित्र के अतिरिक्त उषा काल, सूर्योदय, चन्द्रोदय, सन्ध्या, रजनी, नदी, पर्वत, समुद्र, ऋतु, युद्ध यात्रा आदि दृश्यों के वर्णन का विधान भी अलंकार ग्रन्थों में किया गया है।[1] इन वर्णनों में कवियों ने अपना काव्य-चमत्कार भली प्रकार दिखाया। ये वर्णन थोड़े या वहुत रूप में प्रायः सभी प्रबन्ध काव्यों में मिलते हैं चाहे वह संस्कृत का प्रबन्ध काव्य हो चाहे प्राकृत का और चाहे अपभ्रंश का। संस्कृत प्रबन्ध काव्यों में सभी कवियों ने इन विषयों का वर्णन किया किन्तु उनकी वर्णन शैली में भेद है। किसी ने प्राचीन परंपरा का अन्धानुकरण करते हुए इन घटनाओं का वर्णन किया और किसी ने आँखें खोल कर, स्वयं इन विषयों का अनुभव करते हुए, हृदय की तल्लीनता के साथ इन का वर्णन किया। जहां भी प्राचीन परिपाटी और रूढ़ि से प्रेरित हो कवि का वर्णन हुआ वहां वह सजीव और सुन्दर न हो सका। जहां कवि का हृदय इन विषयों में रमा और उसने अपनी अनुभूति से इन विषयों का वर्णन किया वहां वर्णन स्वाभाविक, नवीन और सजीव हुआ। यही बात प्राकृत और अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों के विषय में भी चरितार्थ होती है।

इसके अतिरिक्त प्राकृत-प्रबन्ध काव्यों में उपर्युक्त दृश्यों के वर्णन में एक नई प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होने लग गई थी। उन काव्यों में कवि ने इन दृश्यों का वर्णन मानव-जीवन के संबन्ध से किया। कल कल ध्वनि वाली मन्द मन्द गति से बहती हुई नदी, कवि की दृष्टि में कितना भी मधुर संगीत और मादक सौन्दर्य उड़ेलती जाती हो किन्तु यदि उसका मानव जीवन के साथ कोई संवन्ध नहीं दिखाई देता तो वह हमारे किस काम की? प्राकृत प्रबन्ध काव्यों में इसी मानव जीवन की धारा हमें दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त प्राकृत-प्रबन्ध काव्यों में कवि ने अनेक स्थलों पर ग्राम्य जीवन के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं।[2]

अपभ्रंश-प्रबन्ध काव्यों में भी कवि इस मानव जीवन की भावना को नहीं भूलता।

---

१. सन्ध्या सूर्येन्दु रजनी प्रदोष ध्वान्त वासराः।
प्रात मंध्याह्न मृगया शैलर्त्तु वन सागराः॥
संभोग विप्रलम्भौ च मुनि स्वर्ग पुराध्वराः।
रण प्रयाणोपयम मन्त्र पुत्रोदयादयः॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
साहित्य दर्पण, ६०३२२-३२४

२. गौड़वहो, द्वितीय संस्करण, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना, १९२७ ई०, पद्य संख्या ३९२, ४०९, ५९८, ६०१, ६०७, ६०८॥

इन प्रवन्ध काव्यों में अनेक वर्णन ऐसे मिलते हैं जिनका मानव जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसे अनेक स्थलों की ओर भिन्न भिन्न प्रसंगों पर पिछले अध्यायों में संकेत किया जा चुका है।

संस्कृत-महाकाव्यों में शृङ्गार, वीर और शान्त रस में से कोई एक रस प्रधान रूप से पाया जाता है। अन्य रस गौण रूप से मिलते हैं। संस्कृत के अधिकतर महाकाव्यों में शृङ्गार या वीर रस ही प्रधान रूप से दिखाई देता है। किसी प्रेम कथा में या किसी राजा के शौर्य-पराक्रम के वर्णन में यद्यपि दोनों रसों का वर्णन होता है तथापि प्रधानता विषय के अनुसार एक ही रस की होती है। दूसरा रस प्रथम रस के पोषक रूप में ही प्रयुक्त होता है। प्राकृत-महाकाव्यों में भी इसी प्रकार की परंपरा दिखाई देती है।

अपभ्रंश-महाकाव्यों में, इसके विपरीत, शान्त रस की प्रधानता दिखाई देती है। चाहे कोई प्रेम कथा हो, चाहे किसी तीर्थंकर के जीवन का चित्रण, सर्वत्र शृङ्गार और वीर रस का प्रदर्शन तो हुआ है किन्तु सब पात्र जीवन के उपभोगों को भोग कर अन्त में संसार से विरक्त हो जैन धर्म में दीक्षित हो भिक्षुक का जीवन बिताते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रकार शृङ्गार और वीर रस का अन्ततोगत्वा शान्त रस में ही पर्यवसान दिखाई देता है।

संस्कृत-महाकाव्यों में सम्पूर्ण नाटक-सन्धियों की योजना का विधान भी आलंकारिकों ने किया है। ये सन्धियाँ उत्तरोत्तर क्षीण होती गईं और यही कारण है कि अपभ्रंश महाकाव्यों में इन सबका ठीक ठीक मिलना प्रायः असम्भव ही है।

प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन की परिपाटी संस्कृत और प्राकृत काव्यों के समान अपभ्रंश काव्यों में भी आई। प्रकृति मानव जीवन का अभिन्न अंग है। चिरकाल से प्रकृति का मानव जीवन के साथ सम्बन्ध बना चला आ रहा है। यदि कविता जीवन की व्याख्या है तो कवि प्रकृति की उपेक्षा कैसे कर सकता है?

प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन—ऋतु, प्रभात, सूर्योदय, सन्ध्या, चन्द्रोदय, समुद्र, नदी, पर्वत, सरोवर, वन आदि के वर्णन के रूप में—हमें प्राचीन साहित्य में मिलता है। इन्हीं रूपों में प्रकृति का वर्णन अपभ्रंश-काव्यों में भी पाया जाता है, जैसा कि प्रसंगानुसार काव्यों का परिचय देते हुए अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया जा चुका है।

संस्कृत-प्राकृत के समान अपभ्रंश में भी प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों का वर्णन कवि ने आलंबन रूप में भी किया है। यद्यपि उद्दीपन रूप में भी प्रकृति का अंकन हुआ है तथापि शुद्ध आलंबन रूप में प्रकृति के वर्णनों की भी प्रचुरता है।

भाषा के विषय में संस्कृत-प्रबन्ध काव्यों में किसी विशेष नियम का उल्लेख नहीं किया जा सकता। कवि की शैली के अनुसार प्रबन्धकाव्य की भाषा भी परिवर्तित होती रही।

अपभ्रंश कवियों की भाषा के विषय में कोई विशेषता प्रदर्शित करना संभव नहीं। भाषा कवि की अपनी शैली पर आश्रित होती है। वैयक्तिक शैली के भेद से कवियों की भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। अतः सामूहिक रूप से अपभ्रंश काव्यों की भाषा के विषय में कोई निर्णय देना संभव नहीं। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन काव्यों की भाषा में दो धारायें स्पष्ट रूप से बहती हुई दिखाई देती हैं। कुछ

कवियों ने तत्कालीन संस्कृत-प्राकृत कवियों की भाषा को अपनाया। इसमें समस्त शब्दों तथा अलंकारों की अधिकता है जिससे भाषा अपेक्षाकृत क्लिष्ट हो गई है। यह भाषा शिष्ट और शिक्षित वर्ग की भाषा का रूप है। दूसरी धारा में कवियों ने तत्कालीन संस्कृत-प्राकृत कवियों की भाषा-परम्परा को छोड़ स्वतन्त्र शैली का प्रयोग किया है। इसमें छोटे-छोटे प्रभावोत्पादक वाक्य, शब्दों की आवृत्ति, वाग्धाराओं और लोकोक्तियों का प्रयोग किया गया है। यह भाषा सरल, चलती हुई और अधिक प्रवाहमयी है और यह सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा प्रतीत होती है। अनेक कवियों ने विषय के अनुसार कहीं-कहीं इन दोनों धाराओं का प्रयोग किया है।

संस्कृत कवियों ने प्रायः वर्ण वृत्तों का अधिकता से प्रयोग किया है। प्राकृत कवियों ने मात्रिक छन्दों को अपनाकर वर्ण वृत्तों की जटिलता को कम करने का प्रयत्न किया। प्राकृत कवियों का प्रसिद्ध गाथा छंद मात्रिक छन्द ही है। प्राकृत कवियों ने वर्ण वृत्तों का भी प्रयोग किया किन्तु प्रधानता उन्होंने मात्रिक छन्दों को ही दी। अपभ्रंश में आ कर मात्रिक छन्दों की प्रचुरता और भी बढ़ गई। अनेक नये मात्रिक छन्दों की सृष्टि भी अपभ्रंश कवियों ने की। नाद सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये दो मात्रिक छन्दों को मिला कर अनेक मिश्रित मात्रिक छन्दों का प्रयोग अपभ्रंश कवियों के काव्यों में मिलता है।

भिन्न-भिन्न सर्गों में भिन्न-भिन्न छन्दों के प्रयोग की प्रथा यद्यपि प्राकृत कवियों में ही लुप्त होने लग गई थी तथापि उसका पूर्ण रूप से लोप अपभ्रंश काव्यों में नहीं हो सका। एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हो ऐसा नियम भी अपभ्रंश काव्यों में नहीं दिखाई देता। एक ही सन्धि में भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग भी दिखाई देता है।

छन्दों के चरणों में अन्त्यानुप्रास की प्रवृत्ति अपभ्रंश में दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत में पादान्त यमक के अतिरिक्त अन्यत्र इसका अभाव सा ही था। प्राकृत में भी यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। अपभ्रंश कवियों की यह अपनी निराली सूझ है। आगे चल कर हिन्दी काव्य भी अपभ्रंश कवियों की इस अनोखी सूझ का ऋणी है।

संस्कृत-साहित्य में गद्य के उदाहरण नाटकों में या चम्पू ग्रन्थों में मिलते हैं। बाण, दण्डी और सुबन्धु के ग्रन्थ तो गद्य-काव्य का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस गद्य में अलंकृत शैली के दर्शन होते हैं। यह गद्य, समस्त शब्दों और लम्बे-लम्बे वाक्यों से युक्त है। संस्कृत का विशाल कथा-साहित्य भी गद्य में लिखा हुआ मिलता है। ये कथायें सरस और सरल भाषा में अत्यन्त रोचक ढंग से लिखी गई हैं।

अपभ्रंश में गद्य के अधिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। जो भी गद्य मिलता है, उसकी भाषा पद्य से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। गद्य में संभवतः भाषा अधिक विकसित नहीं हो सकी। अपभ्रंश पद्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं हुआ—संस्कृत और प्राकृत के तद्भव शब्द ही प्रचुरता से प्रयुक्त हुए। किन्तु अपभ्रंश-गद्य में संस्कृत के तत्सम शब्द बहुलता से मिलते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के समान समस्त शब्दों का व्यवहार भी अपभ्रंश गद्य में दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त गद्य को अलंकृत करने के लिये अन्त्यानुप्रास का प्रयोग भी किया गया।

सतरहवां अध्याय

अपभ्रंश-साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

पिछले अध्यायों में अपभ्रंश-साहित्य का जो भी विवेचन किया गया है उससे उस साहित्य के रूप का परिज्ञान भली-भाँति हो गया होगा। इस अध्याय में अपभ्रंश-साहित्य ने हिन्दी-साहित्य को किस रूप में प्रभावित किया इस पर संक्षेप से विचार प्रस्तुत किया जायगा। अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव हिन्दी-साहित्य के काव्य रूपों पर, काव्य पद्धतियों पर, काव्य के वाह्य रूप पर तथा हिन्दी-साहित्य के भावपक्ष एवं कलापक्ष पर पड़ा दिखाई देता है।

जैसा कि पहिले निर्देश किया जा चुका है अपभ्रंश-साहित्य और आधुनिक काल की वर्तमान प्रान्तीय आर्यभाषायें चिरकाल तक समानान्तर रूप से चलती रहीं। अतएव उत्तरकालीन अपभ्रंश-साहित्य की रचनायें प्राचीनकालीन प्रान्तीय भाषाओं से और प्राचीनकालीन प्रान्तीय भाषाओं की रचनायें उत्तरकालीन अपभ्रंश की रचनाओं से प्रभावित हुई हों तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इनमें परस्पर भाव, भाषा, शैली आदि का आदान प्रदान या पारस्परिक प्रेरणा से प्रभावित होना संभव ही है। इस प्रभाव के दिखाने का अभिप्राय इतना ही है कि भारतीय साहित्य की अविच्छिन्न धारा भारत में चिरकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। इसी धारा का परंपरागत रूप आज हमें हिन्दी-साहित्य में दिखाई देता है। देश और काल के प्रभाव से इस धारा का वाह्य रूप परिवर्तित होता रहा किन्तु उसका आन्तरिक रूप ज्यों का त्यों, अबाध गति से, निरन्तर आगे आगे प्रवाहित होता रहा।

अपभ्रंश-साहित्य का हिन्दी के काव्य-रूपों पर प्रभाव

अपभ्रंश-साहित्य के प्रबन्धात्मक और मुक्तक काव्यों का पिछले अध्यायों में विवेचन किया जा चुका है। अपभ्रंश के प्रबन्धात्मक महापुराण, पुराण, चरित ग्रन्थ, प्रेमाख्यान, कथा-ग्रन्थ इत्यादि सब धर्म के आवरण से आवृत हैं इसका भी निर्देश किया जा चुका है।

जहां तक काव्य के लिए चरित शब्द के प्रयोग का प्रश्न है हिन्दी-साहित्य में राम चरित मानस, वीरसिंह देव चरित, सुदामा चरित, सुजान चरित, बुद्ध चरित आदि काव्य चरित नाम से प्रसिद्ध हैं। अपभ्रंश के चरिउ ग्रन्थों में किसी जैन धर्मावलम्बी महापुरुष के चरित का वर्णन, अनेक पूर्व जन्म-सम्बन्धी कथाओं और अलौकिक घटनाओं से मिश्रित मिलता है। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी कतिपय चरित ग्रन्थों में किसी महापुरुष को लेकर उसका चरित अंकित किया गया है और अपभ्रंश के चरित ग्रंथों

की भाँति इनमें भी धर्म भावना मिलती है। राम चरित मानस में वैष्णवधर्म के प्रभाव से प्रभावित होकर कवि तुलसी दास, अपने चरित नायक को ईश्वर कोटि तक पहुँचा देते हैं।

अपभ्रंश काव्यों के प्रेमाख्यानक काव्य हिन्दी-साहित्य में जायसी की पद्मावत के रूप में प्रकट हुए। अपभ्रंश में ये प्रेमाख्यान धार्मिक आवरण से आवृत थे। हिन्दी-साहित्य में इन प्रेमाख्यान के काव्यों में अध्यात्म तत्व का व्यंग्य रूप में समावेश हुआ। इसी तत्व को स्पष्ट करने के लिए जायसी को कहना पड़ा—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत, सोइ सैतानू। माया अलादीन सुलतानू॥[1]

हिन्दी-साहित्य इन प्रेमकथाओं के लिए अपभ्रंश साहित्य का ऋणी है। किन्तु इन कथाओं के व्यंग्य विधान अथवा आध्यात्मिक अभिव्यंजना के लिए वह सूफी साहित्य का आभारी और 'मसनवियों' से प्रभावित है।

हिन्दी साहित्य में प्रबन्धात्मक-वीर काव्य रासो के रूप में भी मिलते हैं। इन रासो ग्रंथों में प्रतिनिधि काव्य पृथ्वीराज रासो को माना जाता है। किन्तु रासो का आधुनिक रूप चाहे किसी भाषा में हो वह अपने प्रारम्भिक रूप में अपभ्रंश काव्य ही था। इसी के आधार पर आगे अन्य रासो ग्रन्थ लिखे गये। कुछ अन्य रासा ग्रन्थ भी अपभ्रंश में मिलते हैं, उनमें पृथ्वीराज रासो के समान किसी राजा का जीवन अंकित नहीं अपितु उनका विषय धार्मिक है। इस प्रकार के कुछ ग्रन्थों का निर्देश पीछे किया जा चुका है।

इस प्रकार प्रबन्ध-काव्यों की वह परम्परा जो संस्कृत प्राकृत से चलती आ रही थी अपभ्रंश में यद्यपि कुछ शिथिल पड़ गई थी तथापि वह इसके आगे हिन्दी साहित्य में भी प्रवाहित होती रही। इन प्रबन्ध-काव्यों के दो रूप संस्कृत साहित्य में ही हो गये थे—एक में कथानक के विस्तार के साथ-साथ काव्यमय वर्णन और दूसरे में संक्षिप्त कथानक किन्तु काव्यमय वर्णन की प्रचुरता। इस प्रकार का घटना-बाहुल्य और काव्य-प्राचुर्य हमें कालिदास के काव्यों में दिखाई देता है किन्तु पीछे से कथातत्व संक्षिप्त हो गया, वर्णन का विस्तार हो गया और ये वर्णन अलंकृत भाषा में प्रस्तुत किये जाने लगे। श्रीहर्ष-कृत नैषध चरित, भारविकृत किरातार्जुनीय आदि इसी श्रेणी के काव्य हैं।

अपभ्रंश काव्यों में घटना-बाहुल्य तो चलता रहा किन्तु काव्यत्व कुछ दब सा गया। धार्मिक वातावरण के सीमित क्षेत्र में चलने से कवि की स्वच्छन्दता भी जाती रही।

हिन्दी काव्यों में घटनावैचित्र्य का रूप तो मिलता है किन्तु धर्म का वह आग्रह कवि के आगे नहीं रहा। उसकी गति अबाध रूप से आगे बढ़ती जाती है। राम-

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित, वि० सं० १९८१, पृ० ३३२।

चरित मानस में कथा का पूर्ण विस्तार है और काव्यमय वर्णनों का भी पूर्णतया संचार है। पद्मावत में भी दोनों प्रकार के तत्व मिलते हैं। कामायनी में कथावस्तु का वह विस्तार नहीं किन्तु काव्यमय वर्णनों का प्राचुर्य है। कामायनी की कथा भी रूपक तत्व के संमिश्रण से संक्षिप्त नहीं रह जाती।

अपभ्रंश काव्यों में कवियों ने चरित नायक के चरित्र को उत्कृष्ट कोटि का अंकित करने का प्रयत्न किया है। चरित्र चित्रण के द्वारा कवि चाहता है कि श्रोता या पाठक उसका आचरण करे। चरित नायक के अतिरिक्त अन्य पात्रों के चरित्र चित्रण की ओर कवि का ध्यान उतना न था।

हिन्दी काव्यों में चरित्र चित्रण की परिपाटी पर अपभ्रंश काव्यों का प्रभाव पड़ा ऐसी कल्पना असंगत नहीं। संस्कृत काव्यों में रसात्मकता ही प्रधान थी चरित्र चित्रण प्रायः गौण था। हिन्दी काव्यों ने रसात्मकता के साथ-साथ चरित्र चित्रण के तत्व का मिश्रण कर इस दिशा में प्रगति की।

हिन्दी में अपभ्रंशकालीन गीतों की परम्परा में गीतिकाव्य भी रचे गये। गीति-काव्य में गेयता होनी चाहिये किन्तु इससे भी अधिक आवश्यक है हृदय के किसी भाव की तीव्र-व्यंजना। संस्कृत में जयदेव का गीत गोविन्द उपलब्ध है किन्तु उसे भी अनेक विद्वानों ने अपभ्रंश की छाया के रूप में माना है। अपभ्रंश में अनेक गीत मिलते भी हैं जिनका पहले निर्देश किया जा चुका है। सिद्धों के गीतों में गेयता और भाव-तीव्रता दोनों हैं। हृदय के भाव को, भाषा की परवाह न कर, तीव्रता से इन कवियों ने अभिव्यक्त किया है। अपभ्रंश में गीतों के महत्व को श्री गोवर्द्धनाचार्य ने भी अपनी 'आर्या सप्तशती' में मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है।

ग्रन्थिलतया किमिक्षोः किमपभ्रंशेन भवति गीतस्य।
किमनार्जवेन शशिनः किं दारिद्रयेण दयितस्य ॥२१५॥

'किमपभ्रंशेन भवति गीतस्य' में जहाँ अपभ्रंश की उपेक्षा है वहीं उसकी 'गीत' के कारण महिमा भी। इस प्रकार हिन्दी के गीति-काव्यों को हम इन अपभ्रंश के गीतों का परिमार्जित रूप कह सकते हैं। इसके विनय के पद संस्कृत के स्तोत्रों की आत्मा को लिये हुए राग-रागनियों में बंधे प्रचार में आये किन्तु उनका रूप अपभ्रंश के सांचे में ही ढला। विद्यापति ने अपनी कीर्तिलता में अपभ्रंश (अवहट्ठ) की लोकप्रियता का उल्लेख किया है—

सक्कय वाणी बहुअ न भावइ, पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा, तँ तैसन जम्पञो अवहट्ठा॥

अपभ्रंश के इस मोह के कारण उसकी पदावली पर सिद्धों के अपभ्रंश गीतों का कोई प्रभाव न पड़ा हो कैसे माना जा सकता है? यही गीत परम्परा आगे तुलसी की गीतावली और सूर के पदों में दिखाई देती है। यद्यपि गीतबद्ध कथात्मक काव्य अपभ्रंश में नहीं मिलता तथापि इसका बीज रूप में आभास सिद्धों के गानों में मिल सकता है।

अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों के प्रतिनिधि-कवियों पर प्रभाव

हिन्दी साहित्य प्रायः चार कालों में बांटा जाता है—वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल। इनमें प्रथम तीन कालों पर अपभ्रंश साहित्य का जितना प्रभाव परिलक्षित होता है उतना आधुनिक काल पर नहीं। आधुनिक काल की अनेक प्रवृत्तियाँ पाश्चात्य साहित्य के संसर्ग से हिन्दी साहित्य में आईं। हिन्दी के वीरगाथा काल का प्रतिनिधि कवि और काव्य, चन्द और पृथ्वीराज रासो माने जाते हैं। हिन्दी के वीरगाथा काल में अनेक रासो ग्रन्थों का परिगणन किया जाता है। अपभ्रंश साहित्य में भी कुछ रासा ग्रन्थ मिलते हैं जिनका पिछले अध्यायों में विवेचन किया जा चुका है। पृथ्वीराज रासो में प्राप्य अपभ्रंश प्रवृत्तियों का भी पीछे उल्लेख किया जा चुका है।[१] पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त अन्य रासो ग्रन्थों पर भी अपभ्रंश के रासा ग्रन्थों का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है।

नरपति नाल्ह कृत बीसल देव रासो के विषय में डा० रामकुमार वर्मा लिखते हैं। "बीसल देव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं, अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिये।[२] भाषा की दृष्टि से ही नहीं किन्तु भावधारा और शैली की दृष्टि से भी इस पर अपभ्रंश का पर्याप्त प्रभाव है। अपभ्रंश की उन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जो पृथ्वीराज रासो में पाई जाती हैं, और जिनका पीछे उल्लेख किया जा चुका है, बीसलदेव रासो में अपभ्रंश के रासा ग्रन्थों की अन्य प्रवृत्तियाँ भी दिखाई देती हैं।

बीसलदेव रासो अन्य रासो ग्रन्थों से भिन्न, आकार में लघुकाय रचना है। कथा-वस्तु संक्षिप्त है। यह गीतात्मक काव्य है और सारे काव्य में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है। इन विशेषताओं के कारण इस पर अपभ्रंश के "उपदेशरसायन रास" का प्रभाव अनुमित किया जा सकता है।

रासो काव्यों में भाग्यवाद का प्रभाव है। कवि ईश्वर और भाग्य को सबसे बड़ा मानता है। इन पर पूर्ण विश्वास करते हुए वह कर्म पथ पर बढ़ता जाता है। ध्यान देने की बात है कि भाग्य पर भरोसा रखते हुए भी कवि निष्कर्मण्यता का चित्र अंकित नहीं करता। जब भाग्य में जो कुछ लिखा है वह होगा ही फिर डर किस का? मृत्यु से भयभीत होना कायरता है। क्षत्रिय हँसते हँसते रण-भूमि में मृत्यु का आलिंगन करता है। "मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः" की यथार्थता इन क्षत्रिय वीरों

---

१. देखिये पीछे छठा अध्याय, अपभ्रंश महाकाव्य, पृ० १०९।

२. डा० रामकुमार वर्मा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रयाग, १९४८ ई०, पृ० २०८।

में मिलती हैं।

इन रासो ग्रन्थों की दूसरी विशेषता है कि इनमें वीर और शृङ्गार का मिश्रण मिलता है। राजाओं का जीवन भोगप्रिय था और युद्धप्रिय। भोग, कामुकता की कोटि तक पहुँचा हुआ न था। राज्य सुखोपभोग करते हुए आवश्यकता पड़ने पर वीरता से प्राणों का बलिदान, इनका चरम लक्ष्य था। अपभ्रंश काव्यों में शृङ्गार, वीर और शान्त इन तीन रसों का विशेष रूप से वर्णन मिलता है। रासो ग्रन्थों में, अन्ततोगत्वा भोगों का त्याग युद्ध भूमि में होता था, चरित ग्रन्थों में भोगों का त्याग विरक्ति में था। अतएव इन ग्रन्थों में शृङ्गार और वीर रसों का ही राज्य है। शान्त रस की चिन्ता इनके रचयिताओं को नहीं है।

रासो ग्रन्थों की एक अन्य विशेषता है, छन्दों की विविधता। यह छन्दों की विविधता हमें संदेश रासक में दृष्टिगत होती है। भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग रासा के लिये आवश्यक माना गया था।

इनके अतिरिक्त पीछे जिन भी प्रवृतियों का पृथ्वीराज रासो में दिग्दर्शन कराया गया है वे सब अन्य रासो ग्रन्थों में मिलती हैं। उनके यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं। उन प्रवृत्तियों से अपभ्रंश के प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। हाँ रासो की एक प्रवृत्ति का वहाँ निर्देश नहीं किया गया था। परमाल रासो के रचयिता ने ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग के अतिरिक्त ध्वनि सौन्दर्य को उत्पन्न करने का एक नया ढंग निकाला। वर्णमालानुक्रम से अनेक व्यंजनों की ध्वनि को रखते हुए एक विचित्र नाद सौन्दर्य उत्पन्न किया :—

> कह कह सुवीर कहंत। खह खह सु संभु हसंत॥
> गह गह सु गौरिय गंग। घह घह सु घमड़ि तरंग॥
> टह टह सु बुल्लिय मोर। ठह ठह सुखन मुख सोर॥
> डह डह सु डौरव बज्जि। ढह ढह सु सिव वृष सज्जि॥८१॥

अपभ्रंश में भी यह प्रवृत्ति 'सिरि सालिभद्द कक्का' आदि कृतियों में मिलती है, जिन में वर्णमालानुक्रम से अक्षरों का छन्दों में प्रयोग किया गया है। आगे चलकर 'अखरावट' में भी यही प्रवृत्ति जायसी ने प्रदर्शित की।

वीरगाथा काल के अनन्तर हिन्दी साहित्य में भक्ति काल आता है। भक्ति काल की विभिन्न धाराओं और शाखाओं के प्रतिनिधि कवि हैं :—

कबीर, जायसी, सूर और तुलसी।

कबीर आदि संतों की विचारधारा पर अपभ्रंश कवियों की आध्यात्मिक और उपदेशात्मक प्रवृत्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

कबीर और उसके अनुगामी सन्तों के काव्य की निम्नलिखित विशेषतायें हैं :—

१. निर्गुण राम की भक्ति,
२. रहस्यवाद की भावना,
३. रूपकों का प्रयोग,

४. बाह्य कर्म-कलाप का खंडन,

५. गुरु की महत्ता,

६. शान्त रस की अभिव्यक्ति,

७. भावों की अभिव्यक्ति के लिये दोहों और पदों का प्रयोग।

अपभ्रंश-साहित्य के जैनधर्माचार्यों और सिद्धों की आध्यात्मिक और उपदेशात्मक प्रवृत्ति दो रूपों में दिखाई देती है—रचनात्मक और ध्वंसात्मक रूप में। कुछ गुणों के ग्रहण का उन्होंने आदेश दिया और कुछ बाह्य कर्म-कलाप इत्यादि के परित्याग का। ये दोनों प्रवृत्तियाँ हिन्दी के सन्त-काव्य में भी दिखाई देती हैं। सिद्धों की रहस्यमयी उक्तियों ने कबीर आदि सन्तों की उलट बासियों को जन्म दिया। जिस प्रकार वज्रयानियों ने जान बूझ कर अपनी भाषा को गूढ़ रखा इसी प्रकार कबीर की भाषा भी गूढ़ है। यदि ढेण्ढणपाद कहते हैं—

"वलद विआअल गबिया बांझे", "निति सिआला सिंहे सम जूझअ"

अर्थात् बैल बियाया और गैया बांझ रही तथा नित्य श्रृगाल सिंह के साथ युद्ध करता है। इत्यादि—

तो कबीर कहते हैं—

"है कोइ गुरु ज्ञानी जगत मइँ लटि वेद बूझै।
पानी महँ पावक बर, अंधहिं आँखिन्ह सूझै॥
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता॥"

इसी प्रकार—

"नैया विच नदिया डूबति जाय" इत्यादि अनेक वाग्वैचित्र्य के उदाहरण मिलते हैं।

पहले बताया जा चुका है कि सिद्धों ने अपनी कविता में अनेक रूपकों का प्रयोग किया है[1]—रुई धुनने का, विवाह का, नौका का, हरिण का, चूहे का रूपक आदि।

कण्हपा ने महासुख का विवाह के रूपक द्वारा वर्णन किया—

भव निर्वाणे पटह मादला।
मण पवण वेणि करण्ड कशाला॥
जअ जअ दुन्दुहि साद उछलिला।
काण्ह डोम्बी विवाहे चलिला॥ चर्या० १९।

कबीर भी कहते हैं—

दुलहनीं गावहु मंगलाचार।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार[2]॥

बाह्य कर्म-कलाप का खंडन जिस प्रकार सिद्धों ने किया इसी प्रकार इन संत कवियों

---

१. देखिये पीछे दसवां अध्याय, पृ० ३१८।

२. कबीर ग्रंथावली, संपादक श्याम सुन्दर दास, इंडियन प्रेस, प्रयाग, १९२८ ई०, पृ० ८७।

ने। यद्यपि उतना अक्खड़पन सिद्धों की कविता में नहीं जितना कि कबीर की कविता में किन्तु कर्मकाण्ड का विरोध सिद्धों और सन्तों दोनों में मिलता है।

जैन धर्माचार्यों ने बाह्य कर्म-कलाप की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर अधिक बल दिया है। कबीर भी इसी भाव धारा के पोषक हैं। मुनिराम सिंह पाहुड़ दोहा में कहते हैं—

"मुंडिय मुंडिय मुंडियां सिर मुंडिउ चित्त ण मुंडिया।
चित्तहं मुंडणु जिं कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ॥"१३५

कबीर कहते हैं—

"दाढ़ी मूंछ मुड़ाय के, हुआ घोटम घोट।
मन को क्यों नहीं मूड़िये, जामे भरिया खोट॥"

इसी प्रकार मुनि रामसिंह और कबीर प्रभृति सन्त ऐसे ज्ञान को व्यर्थ समझते हैं जिस से आत्मज्ञान नहीं होता। मुनि रामसिंह कहते हैं—

"बहुयइं पढियइं मूढ़ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिव पुरि गम्मइ जेण॥"९७

कबीर कहते हैं—

"पढ़ पढ़ के सब जग मुआ, पंडित भया न कोय।
एकौ आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥"

इसी प्रकार गुरु की महत्ता का प्रतिपादन जैनाचार्यों और सिद्धों ने किया है। सुगुरु और कुगुरु को क्रमशः गौ के दूध और आक के दूध के समान बताया गया है।[1] वही गुरु की महत्ता इन सन्त कवियों में भी मिलती है।[2]

जाति का भेद भाव सिद्धों में नहीं था। वज्रचार्यों ने तो नीचजाति की स्त्री को महामुद्रा बनाने का आदेश दिया। यही जात पांत विरोधी भावना इन संत कवियों में भी मिलती है।

जिस प्रकार प्रेमी और प्रेमिका की भावना कबीर ने अभिव्यक्त की है वही भावना सिद्धों के पदों में और जैनों के दोहों में मिलती है।[3]

जिस प्रकार जैनों और सिद्धों ने अपनी धर्म भावना और उपदेशात्मक प्रवृत्ति के प्रसार के लिये मुख्यतया दोहों और गीतों को चुना इसी प्रकार इन सन्त कवियों ने भी अपने भाव को अभिव्यक्त करने के लिये दोहों और पदों को चुना।

---

१. देखिये पीछे नवां अध्याय, अपभ्रंश मुक्तक काव्य (१), पृ० २९०।

२. कबीर कहते हैं:—
"गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविन्द दियो बताय॥"

३. "हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ, णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिहु ण अंगहिं अंगु॥"
पाहुड़ दोहा, १००

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि हिन्दी का संत काव्य सिद्धों की विचार धारा का ही परवर्ती विकास है। हमें तो संत शब्द की उत्पत्ति का स्रोत भी अपभ्रंश साहित्य की मुक्तक काव्य धारा ही प्रतीत होती है जिस में अनेक पद्यों में "शान्त" शब्द के स्थान पर संत शब्द का प्रयोग मिलता है।

भक्ति काल की दूसरी धारा जायसी आदि प्रेमाश्रयी कवियों के काव्य में दिखाई देती है। इन कवियों ने निराकार ब्रह्म में प्रेम तत्व का संमिश्रण कर भक्ति को सरस और हृदयग्राह्य बनाया। इन के प्रेमाख्यान, लौकिक आख्यान होते हुए भी आन्तरिक प्रेम या आध्यात्मिक तत्व की ओर ही संकेत करते दिखाई देते हैं। जायसी के पद्मावत के ढंग पर कुतुबन की मृगावती, मंझन की मधुमालती आदि कथायें भी लिखी गईं। इन सब की विशेषता है, लौकिक प्रेम कथा के साथ आध्यात्मिक तत्व की ओर संकेत। ये प्रेम कथायें प्राचीन प्रेम कथाओं की परंपरा में से हैं किन्तु दोनों की परिणति में भेद है। अपभ्रंश में जैनियों की प्रेम कथाओं का पर्यवसान वैराग्य में होता है। हिन्दी में सूफियों की शैली की प्रेम कथाओं का आधार अध्यात्मवाद है। कथा रूपक मात्र है जो आध्यात्मिक अर्थ की छाया है। इस धारणा से लौकिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम का प्रतीक मात्र है जिस का पर्यवसान वैराग्य में न होकर आध्यात्मिक प्रेम में परिपक्व होता है।

इन कथाओं की कुछ अन्य बातें भी अपभ्रंश में मिलती हैं:—

नायक को नायिका की प्राप्ति के लिये समुद्र यात्रा करना, सिंहल यात्रा करना आदि का पहले अपभ्रंश-कथाओं के प्रकरण में उल्लेख किया जा चुका है।

समुद्र यात्रा कर सिंहल द्वीप की किसी सुन्दरी कन्या और धन संपत्ति को प्राप्त करना—यह कथांश प्राचीन साहित्य में भी उपलब्ध होता है। संस्कृत-भाषा में लिखित रत्नावली नाटिका में रत्नावली सिंहल की राजकुमारी थी।[१] प्राकृत भाषा में लिखित कौतूहल कृत लीलावती कथा[२] की नायिका लीलावती भी सिंहल की राजकुमारी थी। अपभ्रंश-भाषा में लिखित धनपाल कृत भविसयत्त कहा[३] में व्यापार के लिये समुद्र-यात्रा का वर्णन मिलता है। कनकामर कृत करकंडचरिउ[४] में भी करकंडु का सिंहल जाना और वहाँ रतिवेगा नामक सुन्दरी से विवाह करना वर्णित है। इसी प्रकार जिनदत्त चरिउ में[५] नायक सिंहल द्वीप की यात्रा करता है और वहां की राजकुमारी लक्ष्मीवती को प्राप्त करता है। इन विविध उल्लेखों के आधार पर ऐसा अनुमान किया गया है कि सिंहल यात्रा का सम्बन्ध संभवतः किसी परंपरागत लोक कथा से होगा जिसके

---

१. रत्नावली नाटिका, अंक ४।

२. डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा संपादित, भारतीय विद्या भवन, बम्बई से प्रकाशित, १९४९ ई०।

३. देखिये छठा अध्याय पृ० ९५

४. देखिये सातवां अध्याय पृ० १८१।

५. देखिये वही, पृ० २२६।

अनुकरण पर इन कवियों ने वहाँ जाकर अनुपम सुन्दरी और प्रभूत धन सम्पत्ति की प्राप्ति का उल्लेख किया है। जायसी भी उसी कथा से प्रभावित हुआ है।

जायसी के पद्मावत और अन्य अपभ्रंश काव्यों के सादृश्य के अतिरिक्त जायसी की रचना-शैली, वर्णन, शैली और संदेश रासक की शैलियों में बहुत साम्य है।[1] दोनों के मंगलाचरण भाव की दृष्टि से एक रूप हैं। एक में विस्तार है दूसरे में संक्षेप। इसी प्रकार दोनों के वियोग वर्णनों में भी पर्याप्त साम्य है। अतएव जायसी के सामने संदेश रासक था, ऐसी कल्पना असंगत नहीं प्रतीत होती।

जायसी की वस्तु-वर्णन-शैली और अब्दुल रहमान की वस्तु-वर्णन-शैली में एक और समानता मिलती है। दोनों ने वस्तु वर्णन में कहीं कहीं वस्तु गणना मात्र करदी है। जायसी ने बादशाह-भोज-खंड में[2] अनेक व्यंजनों, पकवानों, सब्जियों, मिठाइयों इत्यादि की लंबी सूची दी है। इसी प्रकार अब्दुल रहमान ने उद्यान वर्णन में अनेक प्रकार की वनस्पतियों के नामों की सूची दे दी है।[3] इस प्रकार की वस्तुगणना की प्रवृत्ति पुष्प दन्त के जसहर चरिउ में भी पाई जाती है।

उपरिनिर्दिष्ट संकेतों के आधार पर जायसी का अब्दुल रहमान के संदेश रासक से प्रभावित होना स्पष्ट प्रतीत होता है।

बाह्य रूप की दृष्टि से ये प्रेमाख्यानक काव्य चौपाई-दोहा शैली में लिखे गये हैं। कुछ चौपाइयों के अनन्तर एक दोहे का प्रयोग वैसा ही है जैसा कि अपभ्रंश काव्यों में कड़वकों के अन्त में घत्ता का प्रयोग। अपभ्रंश काव्यों में कड़वकों में पद्धरी--पज्झटिका-पद्धड़िया, पादाकुलक, अलिल्लह इत्यादि छन्दों का प्रयोग किया गया है। ये सब छन्द १६ मात्राओं के हैं और चौपाई से बहुत मिलते हैं। धवल ने अपने हरिवंश पुराण में कुछ कड़वकों में चौपाई का प्रयोग किया है किन्तु इनके अन्त में घत्ता दोहा नहीं। कहीं कहीं कड़वक में चौपाई का प्रयोग नहीं किन्तु अन्तिम घत्ता कहीं दोहे के समान और कहीं साक्षात् दोहा है।[4] अमर कीर्ति रचित छक्कम्मोवएस की आठवीं सन्धि के प्रत्येक कड़वक के आरम्भ में दोहा प्रयुक्त हुआ है और कड़वक में चौपाई का प्रयोग किया गया है।[5] कवि देव सेन गणि ने अपने सुलोचना चरिउ नामक काव्य की १८वीं सन्धि के कड़वकों के आरम्भ में दोहयं—दोहे का प्रयोग किया है।[6] कवि धनपाल के बाहुबलि चरिउ काव्य की ११ वीं सन्धि के कड़वकों के आरम्भ में दोहड़ा—

---

१. प्रो० एच० सी० भायाणी, अब्दुल रहमान्स संदेश रासक एंड जायसीज़ पद्मावती, भारतीय विद्या, भाग १०, १९४८ ई०, पृ० ८१।

२. जायसी ग्रंथावली, पृ० २६९।

३. संदेश रासक पृ० २४।

४. दे० छठा अध्याय, पृ० १०९।

५. दे० तेरहवां अध्याय, पृ० ३५६।

६. दे० सातवां अध्याय, पृ० २२०।

दोहा प्रयुक्त हुआ है।[1] कवि यशःकीर्ति ने अपने पांडव पुराण की २८वीं सन्धि के कड़वकों के आरम्भ में दोहउ दोधक—दोहा-प्रयुक्त किया है। कड़वक में कहीं कहीं चौपाई मिल जाती है।[2]

इस प्रकार अभी तक प्राप्त अपभ्रंश ग्रन्थों में यद्यपि कोई ऐसा काव्य उपलब्ध नहीं हो सका जिसमें चौपाई-दोहा पद्धति का स्पष्ट प्रयोग हुआ हो तथापि ऐसी आशा की जा सकती है कि संभवतः कोई ऐसा काव्य भविष्य में उपलब्ध हो जाय जिसमें इस पद्धति के दर्शन हों। अद्यावधि प्राप्त अपभ्रंश सामग्री से ऊपर दिये गये उदाहरणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जायसी के पद्मावत की चौपाई दोहा शैली का बीज अपभ्रंश-साहित्य में था उत्तर कालीन हिन्दी कवियों ने नवीनता की दृष्टि से कड़वकों के आरम्भ में प्रयुक्त दोहे को अन्त में रखना प्रारम्भ कर दिया।

भक्तिकाल की तीसरी धारा, सगुण रूप की राम भक्ति शाखा में दिखाई देती है। इसके मुख्य कवि तुलसीदास हैं और उनकी मुख्य कृति रामचरित मानस है। रामचरित मानस में धार्मिकता का ध्यान इतना अधिक है कि तुलसी के राम भगवान् के रूप में हमारे सामने आते हैं।

राम कथा का तुलसीदास ने एक सरोवर और एक सरिता के रूप में वर्णन किया है। रामचरितमानस यह नाम भी इसके सरोवर की ओर संकेत करता है। सरोवर का रूपक देखिये :—

दोहा—सुठि सुन्दर संवाद वर बिरचे बुद्धि विचारि।
तेहि एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना॥
रघपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ वर बारि अगाधा॥
राम सीय जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि विलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥
सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला॥
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती॥
अरथ धरम कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी॥
नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जल चर चारु तड़ागा॥[3]

१. वही, पृ० २३८।
२. दे० छठा अध्याय पृ० १२१।
३. कल्याण, मानसांक, बालकांड, ३७।

इसी प्रकार रामकथा का सरिता के रूप में वर्णन भी तुलसीदास ने किया है।[1] स्वयंभू के पउम चरिय में भी रामकथा का सरिता के रूप में उल्लेख मिलता है :–

वड्ढमाण मुह कुहर विणिग्गय राम कहाणइ एह कमागय।
अक्खर पास जलोह मणोहर सुअलंकार सद्द मछोहर।
दीहसमास पवाहा वंकिय सक्कय पायय पुलिणालंकिय।
देसी भासा उभय तडुज्जल कवि दुक्कर घण सद्द सिलायल।
अत्थ बहल कल्लोलाणिट्ठिय आसासय सम तूह परिट्ठिय।
एह रामकह-सरि सोहंती गणहर देविंहि दिट्ठ वहंती।

पउम चरिउ, १.२.

अर्थात् यह रामकथा रूपी सरिता क्रम से चली आ रही है। इसमें अक्षर समूह सुन्दर जल समूह है, सुन्दर अलंकार और शब्द मत्स्य गृह हैं, दीर्घ समास वक्रप्रवाह है, संस्कृत और प्राकृत अलंकृत पुलिन हैं, देशी भाषा दोनों उज्ज्वल तट हैं, कवि से प्रयुक्त कठिन और सघन शब्द शिलातल के समान हैं, अर्थ बहुलता उठती हुई तरंगें हैं...इस प्रकार यह रामकथा शोभित होती है।

रामचरितमानस की चौपाई दोहा की शैली भी स्वयंभू के पउम चरिउ की कड़वक शैली के समान है। चौपाई और इतर छंद के व्यवधान की शैली जिसको जायसी और तुलसी ने अपने प्रबन्ध काव्यों में स्वीकार किया, वह अपभ्रंश शैली का अनुकरण है। अंतर केवल यह है कि हिन्दी काव्य में व्यवधान दोहा अथवा सोरठा द्वारा होता है और अपभ्रंश काव्य में सोलह मात्राओं के छन्दों में व्यवधान "घत्ता" का है। इन कुछ समानताओं को देखकर कतिपय विद्वानों ने कल्पना की है कि तुलसीदास रामचरित की रचना में सम्भवतः स्वयंभू से प्रभावित थे। रामायण के आरम्भ में ही

"नाना पुराण निगमागम संमतं यद्।
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि"।

बालकांड १.

इत्यादि पद्य में "क्वचिदन्यतोऽपि" से तुलसी बाबा ने स्वयंभू की रामायण की ओर ही संकेत किया है, ऐसा राहुलजी का विचार है।[2]

संदेश रासक और रामचरित मानस के निम्नलिखित पद्यों की तुलना से प्रतीत होता है कि तुलसी दास संदेश रासक से परिचित थे।

मह हिययं रयण निही, महियं गुरु मंदरेण तं णिच्चं।
उम्मूलियं असेसं, सुहरयणं कड्ढियं च तुह पिम्मे॥

सं० रा० २.११९

अर्थात् मेरा हृदय समुद्र है, उसे तुम्हारे विशाल विरह-मंदर ने नित्य मथ-मथ कर

---

१. वही, बालकांड ३९-४१।
२. हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ५२।

उसमें से सम्पूर्ण सुखरूपी रत्न निकाल दिया।

पेम अमिअ मंदरु विरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर-साधु-हित कृपासिंधु रघुबीर॥
रामचरित मानस २.२३८

ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढहीं भगति मधुरता जाहिं॥ (वही ७.१२०)

भक्तिकाल की चौथी धारा, कृष्णभक्ति शाखा, के प्रतिनिधि कवि सूरदास हैं। इन्होंने अपने सूर सागर की रचना पदों में की है। इसमें पदबद्ध कृष्णकथा का रूप मिलता है। सूर से पूर्व भी सिद्धों के गानों में पदों का रूप दृष्टिगोचर होता है। उनके पद और गान यद्यपि मुक्तक रूप में उपलब्ध हैं किन्तु इस प्रकार की कोई प्रबन्धात्मक पदरचना अपभ्रंश में भी रही हो तो कोई आश्चर्य नहीं। स्थिति कुछ भी हो किन्तु इतना तो प्रकट ही है कि सूर की यह गीति धारा विद्यापति और जयदेव से आगे बढ़कर सिद्धों के मूल स्रोत तक पहुँचती है और किसी न किसी रूप में उनके स्रोत को स्वीकार करती है।

सूर के, प्राचीन अपभ्रंश कवियों से प्रभावित होने की सम्भावना सूर के अनेक पदों से की जा सकती है। पीछे संकेत किया जा चुका है कि सिद्धों की उपमाओं को और अपभ्रंश कवियों के पद्यों को सूर ने धार्मिक रूप देकर अपनी भक्ति का विषय बना लिया।[1]

हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में एक दोहा उद्धृत किया है :

"बाह विछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवँइ को दोसु।
हिअय-ट्ठिअ जइ नीसरहि जाणउं मुंज स रोसु॥[2]

अर्थात् हे मुंज! तुम बांह छुड़ाकर जा रहे हो तुम्हें क्या दोष दूं? यदि मेरे हृदय में से निकल जाओ तो मूंज में जानूंगी कि तुम सरोष हो।

इस दोहे की शृङ्गार-भावना को सूर ने भक्ति भावना में ढाल दिया। सूर अपने भगवान् से कहते हैं :—

बांह छोड़ाये जात हो निबल जानि को मोहि।
हिरदै ते जब जाहुगे सबल जानूंगो तोहि॥

सिद्धों ने बार-बार विषयों की ओर जाते मन की उपमा जहाज पर बैठे पक्षी से दी है किन्तु सूर ने उसी उपमा का प्रयोग, गोपियों के बार-बार कृष्ण की ओर जाते मन को लक्ष्य कर किया।[3]

सरह का एक दोहा है :—

विसअ विसुद्धे णउ रमइ, केवल सुण्ण चरेइ।
उड्डी वोहिअ काउ जिमु, पलुटिअ तह वि पड़ेइ॥

---

१. दे० तीसरा अध्याय, पृ० २४।
२. श्री परशुराम वैद्य द्वारा संपादित प्राकृत व्याकरण, पूना, १९२८ ई० पृ० १७३।
३. दे० दसवां अध्याय पृ० ३०७।

सूर ने इसी उपमा का निम्नलिखित रूप में प्रयोग किया :—

अब मन भया सिन्धु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन ॥

(भ्रमरगीत ४६)

थकित सिन्धु नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत ।

(वही ६०)

भटकि फिर्यौ बोहित के खग ज्यों पुनि फिरि हरि पै आयो ।

(वही, ११९)

इसी प्रकार अन्य पद भी सूर के पदों में खोजने से मिल सकते हैं।

सूर के सूरसागर में कुछ दृष्ट कूट भी मिलते हैं। सूर के इन दृष्ट कूटों का बीज सिद्धों की सन्ध्याभाषा के अनेक पदों से मिल सकता है।

इस प्रकार उपरिलिखित संकेतों से हिन्दी-साहित्य में भक्तिकाल के प्रतिनिधि कवियों पर अपभ्रंश-साहित्य के प्रभाव का कुछ आभास मिल सकता है।

हिन्दी-साहित्य में रीतिकाल की निम्नलिखित विशेषतायें मिलती हैं :—

१. अपने आश्रयदाता की प्रशंसा,
२. शृङ्गार-भावना की प्रमुखता,
३. नायिका भेद,
४. ऋतु वर्णन, बारह मासा वर्णन,
५. नखशिख वर्णन,
६. कवित्त, सवैया और दोहा छन्दों का प्रयोग।

अपभ्रंश साहित्य के चरितग्रन्थों में प्रायः कवियों ने अपने आश्रयदाता का पूर्ण वर्णन किया है। उनमें शृङ्गार-भावना की प्रमुखता नहीं दिखाई देती किन्तु शृङ्गार का अभाव नहीं। प्रायः सभी चरित नायक यौवन में भोगविलासमय जीवन व्यतीत करते हुए दिखाई देते हैं। जैनाचार्यों ने धार्मिक दृष्टि से ही इन चरित ग्रन्थों की रचना की थी अतः रस, नायिकाभेद, शृङ्गार आदि पर स्पष्ट रूप से विवेचन असम्भव था। फिर भी इन चरित ग्रन्थों में बीच-बीच में हमें रीतिकाल के काव्य स्वरूपों के संकेत मिल ही जाते हैं।

नयनंदी कृत 'सुदंसण चरिउ' में धार्मिकता के अतिरिक्त, बीच-बीच में ऋतु, विवाह, नखशिख, रति, शृङ्गार आदि का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसमें नायिका भेद के भी दर्शन हो जाते हैं।[1] अपभ्रंश में लिखित इस ग्रन्थ में तथा संदेशरासक, स्थूलिभद्र कथा आदि ग्रन्थों में भी नखशिख वर्णन मिलता है। संदेशरासक का षड् ऋतु वर्णन रीतिकालीन षड् ऋतु वर्णन के समान विरह की भावना से ओतप्रोत है। सब वस्तुएँ विरहिणी के हृदय में वियोग को पीड़ा को द्विगुणित करती हुई प्रतीत होती हैं। बारहमासे का वर्णन भी रीतिकालीन परंपरा में वियोग के प्रभाव को प्रकट करने के लिये ही किया

१. देखिय सातवां अध्याय, अपभ्रंश खंड काव्य, पृ० १६९।

जाता है। यह बारहमासे का वर्णन हमें अपभ्रंश साहित्य में भी मिलता है। "नेमिनाथ चतुष्पदिका"[१] में भी हमें बारहमासे का यही रूप मिलता है। "धर्मसूरि स्तुति"[२] में हमें बारहमासे का धार्मिक रूप मिलता है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन प्रवृत्तियों की परंपरा अपभ्रंश-साहित्य से होती हुई हिन्दी में आई। वर्तमान उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य से स्पष्ट है कि रीतिकालीन परंपरा की एक धारा अपभ्रंश काव्य में भी वर्तमान रही होगी।

रीतिकाल की नखशिख आदि परंपरा का रूप जो हिन्दी साहित्य में हमें दिखाई देता है उसकी मूल प्रेरणा संस्कृत साहित्य से ही चली। संस्कृत के काव्यों में अंग प्रत्यंग का वर्णन मिलता ही है। कालिदास ने अपने कुमार संभव में पार्वती के नखशिख का मनोरम वर्णन किया है। इसी वर्णन में यह नियम विधान करना पड़ा कि देवता वर्णन चरणों से और मानव वर्णन सिर से प्रारम्भ हो। इस प्रकार अंग प्रत्यंग का यह वर्णन या नखशिख वर्णन संस्कृत साहित्य से अपभ्रंश साहित्य में होता हुआ हिन्दी साहित्य में आया।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के भिन्न-भिन्न कालों पर अपभ्रंश-साहित्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रभाव से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी-साहित्य में अनेक प्रवृत्तियाँ एकदम नई थीं या ये प्रवृत्तियाँ सीधी अपभ्रंश-साहित्य में आविर्भूत हुईं और वे उसी रूप में हिन्दी-साहित्य में प्रविष्ट हो गईं। प्रभाव से हमारा यही अभिप्राय है कि भारतीय-साहित्य की एक अविच्छिन्न धारा चिरकाल से भरत खंड में प्रवाहित होती चली आ रही है। वही धारा अपभ्रंश-साहित्य से होती हुई हिन्दी-साहित्य में प्रस्फुटित हुई। समय-समय पर इस धारा का बाह्यरूप परिवर्तित होता रहा किन्तु मूलरूप में परिवर्तन की संभावना नहीं।

अपभ्रंश-साहित्य और हिन्दी-काव्य का बाह्य रूप

हिन्दी में प्रबन्ध-काव्यों की रचना शैली के उदाहरण स्वरूप रामचरितमानस और रामचन्द्रिका इन दो प्रवन्ध काव्यों का स्वरूप देखें तो उनकी रचना शैली पर कुछ प्रकाश पड़ेगा। मानस के आरम्भ में मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, आत्म-विनय आदि दिखाई देता है। इसके अनन्तर कथा प्रारम्भ होती है। अपभ्रंश-साहित्य में भी यही प्रणाली हमें प्रायः सब प्रबन्ध काव्यों में दिखाई देती है, इसका निर्देश पीछे महाकाव्य और खंडकाव्य के अध्यायों में किया जा चुका है। यह प्रणाली एकदम नई नहीं। बाण, कादम्बरी में मंगलाचरण के अनन्तर खल-निन्दा और सज्जनों का स्मरण करते हैं।[३]

---

१. देखिये चौदहवां अध्याय, अपभ्रंश स्फुट साहित्य, पृ० ३६६।
२. देखिये वही, पृ० ३७१।
३. कादम्बरी, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, १९२१ ई० पृ० ३।
अकारणाविष्कृत वर दारुणादसज्जनात्कस्य भयं न जायते।

हर्ष चरित में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देती है।[1] भवभूति भी मालतीमाधव में दुर्जनों को नहीं भूलते।[2]

इसी प्रकार आत्म-विनय की भावना भी नई नहीं। संस्कृत के कवियों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। कालिदास रघुवंश के प्रारम्भ में ही सूर्यवंशी-राजाओं के वर्णनप्रयास को ऐसा कठिन समझते हैं जैसे कोई छोटी सी नौका से महासागर को पार करने का प्रयत्न करे।[3]

अतएव स्पष्ट होता है कि रामचरितमानस तथा अन्य हिन्दी प्रबन्धकाव्यों की मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा, खल-निन्दा, आत्म-विनय आदि की प्रणाली संस्कृत-साहित्य से अपभ्रंश में होती हुई हिन्दी-साहित्य में आई। इस प्रकार अपभ्रंश-साहित्य ने हिन्दी-साहित्य को प्रभावित किया।

रामचरितमानस की चौपाई-दोहा पद्धति का बीज अपभ्रंश के चरिउ ग्रन्थों की कड़वक शैली में निहित है इसका ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है। इसी प्रकार रामचरितमानस की रामकथा का सरोवर या नदी रूप में वर्णन भी स्वयंभू के पउम चरिय में मिलता है इसका भी ऊपर निर्देश किया जा चुका है। सारांश यह कि अपभ्रंशकाव्य का हिन्दी काव्य के बाह्य रूप पर पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है।

महाकाव्य का लक्षण करते हुए आलंकारिकों ने बताया है कि प्रत्येक सर्ग में भिन्न-भिन्न छन्द का प्रयोग होना चाहिये और सर्गान्त में छन्द परिवर्तित हो जाना चाहिये। इस छन्द-विविधता की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में केशव की रामचन्द्रिका एक साहित्यिक महाकाव्य कहा जा सकता है। अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यों में यद्यपि कड़वक शैली में कुछ एक-रूपता ही है तथापि इस छन्द विविधता का भी अभाव नहीं। नयनन्दी के सुदंसण चरिउ,

---

विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुःसहं संनिहितं सदा मुखे ॥५
कटु क्वणन्तो मल दायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धन शृंखला इव।
मनस्तु साधु ध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणि नूपुरा इव ॥६

१. हर्ष चरित, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, १९१८ ई० पृ० २।
प्रायः कुकवयो लोके रागाधिष्ठित दृष्टयः।
कोकिला इव जायन्ते वाचाला कामकारिणः ॥

२. ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते ऽस्ति मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥
मालती माधव, प्रथम अंक

३. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषयामतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥
रघुवंश, प्रथम सर्ग

देवसेनगणि के सुलोचना चरिउ और पंडित लाखू के जिणदत्तचरिउ में छन्दों की विविधता के दर्शन होते हैं।[1] इस प्रकार ये अपभ्रंश काव्य केशव की रामचन्द्रिका के इस अंश में पूर्व रूप कहे जा सकते हैं।

अपभ्रंश-साहित्य और हिन्दी-काव्य का कलापक्ष

अलंकार योजना की दृष्टि से अपभ्रंश-साहित्य में एक विशेषता दिखाई देती है कि अपभ्रंश कवियों ने अप्रस्तुत विधान के लिए पुरानी रूढ़ि का ही अन्धानुकरण नहीं किया। उन्होंने लौकिक जीवन से संबद्ध उपमानों का प्रयोग कर अपनी उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को सरल और सुबोध बना दिया। इस प्रकार के उपमानों के प्रयोग से कविता का क्षेत्र प्राचीन परम्परा की संकीर्णता से निकल कर विस्तृत हुआ। कविता सर्व-साधारण की वस्तु बनी—वह सर्व-साधारण के हृदय तक पहुँची। अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति हिन्दी में भी दिखाई देती है। जयशंकर प्रसाद और सुमित्रानंदन पन्त के अनेक लाक्षणिक प्रयोगों में यह प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है।

अपभ्रंश कवियों की एक और विशेषता का पीछे निर्देश किया जा चुका है, वह है अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग। भिन्न-भिन्न क्रियाओं और भावों को सूचित करने के लिए तदनुकूल शब्द-योजना के अनेक उदाहरण प्रबन्ध-काव्यगत अध्यायों में दिये जा चुके हैं। कुछ उदाहरणों से हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा।

"तड़ि तड़यडइ पड़इ घण गज्जइ
जाणइ रामहो सरणु पवज्जइ" म० पु०
तोडइ तडत्ति तणु बंधणइं मोडइ कडत्ति हड्डइं घणइं।
फाडइ चडत्ति चम्मइं चलइं घट्टइ घडत्ति सोणिय जलइं॥
(जस० च० २. ३७. ३४)

"झिरिमिरि झिरिमिरि झिरिमिरि ए मेहा वरिसंति"
(सिरि थूलिभद्द फाग)

निम्नलिखित युद्धोद्यत सेना का दृश्य भी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है:

खुर खुर खुदि खुदि महि घघर रव कलइ,
ण ण ण ण गिदि करि तुरअ चले।" (प्राकृत पैंगल)

इस प्रवृत्ति की अधिकता यद्यपि हिन्दी साहित्य में नहीं दिखाई देती किन्तु न्यूनाधिक रूप में जहाँ कहीं भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है वह अपभ्रंश के प्रभाव की ही सूचक है।

शब्दों और वाक्यांशों की आवृत्ति से कथन को प्रभावोत्पादक बनाने की प्रवृत्ति भी अपभ्रंश में दिखाई देती है। पुष्पदन्त के महापुराण में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दी-साहित्य में भी जहाँ कहीं इस प्रकार के उदाहरण मिलते हैं, उन पर अपभ्रंश साहित्य के प्रभाव की कल्पना की जा सकती है।

---

१. देखिये पीछे सातवां अध्याय, पृ० १७४, २२० और २२६

अपभ्रंश कवियों ने नवीन छन्दों की सृष्टि के समान कुछ नवीन अलंकारों की भी सृष्टि की, इसका पीछे निर्देश किया जा चुका है।[1] इसमें कवि दो दृश्यों या घटनाओं की समता का प्रदर्शन करता है। इसके उदाहरण पुष्पदन्त के महापुराण में अनेक मिलते हैं। इस प्रकार के अलंकार का नाम ध्वनित-रूपक रखा जा सकता है। इसके उदाहरण रासो ग्रन्थों में भी मिलते हैं।

परमाल रासो का रचयिता वीर और शृङ्गार का साथ-साथ वर्णन करता हुआ "सूर" तथा "परी" की समानता का चित्र उपस्थित करता है—

इतै टोप टंकार सिरकस उतंगं। उतै अप्छरी कंचुकी कस्सि अंगं॥
इतै सूर मोजा बनावंत भाए। उतै अपसरा नुपुरं पहिर पाए॥
उतै सूरमा पाग पर झिलम डारै। उतै झुंड रंभं सु माँगै समारै॥
कही कवि चन्द निरष्षी सुसोऊ। बरन्नै समानं परी सूर दोऊ॥[2]

हिन्दी के वीर काव्यों में इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी मिल सकते हैं।

अपभ्रंश में लोकोक्तियों और वाग्धाराओं की प्रचुरता है। हिन्दी तथा उर्दू ने वाग्धाराओं तथा लाकोक्तियों का प्रयोग अपभ्रंश-साहित्य से प्राप्त किया है।

अपभ्रंश-साहित्य का हिन्दी-साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा उसमें छन्दों का विशेष महत्त्व है। संस्कृत में वर्णवृत्तों का अधिकतर प्रयोग होता था। प्राकृत में वर्णवृत्तों के बन्धन को हटा कर मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया। प्राकृत का "गाथा" छन्द मात्रिक छन्द ही है। अपभ्रंश कवियों ने भी उस प्रवृत्ति को वनाये रखा। इन्होंने भी मात्रिक छन्दों का बहुलता से प्रयोग किया। अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य में भी आई। हिन्दी-साहित्य में भी वर्णवृत्त उस सुन्दरता से न ढल सके जिस सुन्दरता से मात्रिक छन्द। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने प्रिय प्रवास में वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है। अन्यत्र काव्यों में इनका प्रयोग वहुत कम है।

अपभ्रंश छन्दों की दूसरी विशेषता है कि इन में अन्त्यानुप्रास का प्रयोग मिलता है। इस प्रवृत्ति का संस्कृत में भी प्रायः अभाव था और प्राकृत में भी। यह अपभ्रंश कवियों की अपनी सूझ थी। हिन्दी छन्दों में यह प्रवृत्ति अपभ्रंश छन्दों से ही आई।

अपभ्रंश कवियों ने जहां प्राचीन वर्णवृत्तों का प्रयोग किया वहां भी उनमें एक नवीनता उत्पन्न कर दी। उदाहरण के लिए निम्नलिखित मालिनी छन्द देखिये—

खलयण सिरसूलं, सज्जणाणंद मूलं।
पसरइ अविरोलं, मागहाणं सुरोलं।
सिरि णविय जिणिंदो, देइ वायं वणिदो।
वसु हय जुइ जुत्तो, मालिणी छंदु वुत्तो॥ सुदं०च०३.४.

संस्कृत के पिंगल शास्त्र के नियमों के अनुसार जहां यति होनी चाहिये वहां पर भी

---

१. देखिये पीछे छठा अध्याय, पृ० ९१ और ११५।
२. उद्धरण निर्देश के लिये लेखक डा० ओम्प्रकाश का कृतज्ञ है।

कवि ने अन्त्यानुप्रास का प्रयोग कर मालिनी के एक चरण के दो चरण बना डाले। इस प्रकार सम चतुष्पद मालिनी अर्धसम अष्टपद मालिनी बन गई। प्राचीन रूढ़ि को उसी रूप में स्वीकार न कर उसमें परिवर्तन ला कर नवीनता उत्पन्न करने की प्रकृति अपभ्रंश कवियों में स्वभाव से ही थी।

अपभ्रंश कवियों की इसी प्रवृत्ति के निम्नलिखित दोहे में भी दर्शन होते हैं—

सील रयणु वय किति धरु, सव्व गुणेहिं सउण्णु।
सो धणवंतउ होइ णरु, सो तिहुयण कय पुण्णु॥

सुलोचना च० १८.११

वर्णवृत्तों में भी इन कवियों ने नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया। एक दीर्घ अक्षर के स्थान पर दो लघु अक्षरों का प्रयोग कर के भी वर्णवृत्तों का निर्वाह कर लिया गया है। जैसे—

अस्सथामो मुऊ तेहि ला उत्तऊ।
मुच्छिऊ दोणु धणु बाणु हत्थह चुऊ।
चेयणा लहिवि करसा वि णउं पत्तिउ।
सच्च व.ई य तउ धम्म सुउ पुच्छिउ।
सच्चु कहि पुत्त किं मज्झ पुत्तो मुऊ।
कण्ह सिक्खाइ णरणाहु ता जंपिउ।
मुउ ण तुह णंदणो किं तु गउ दिट्ठऊ।
अस्सथामुत्ति णामेण रणि णिट्ठिउ॥

यशः कीर्त्ति कृत हरि० पु० ११.९.

इस चार रगण स्रग्विणी या कामिनी मोहन छन्द में रेखांकित अक्षर एक दीर्घ अक्षर के स्थान पर प्रयुक्त किये गये हैं।

अपभ्रंश कवियों ने अपनी उपरिनिर्दिष्ट प्रकृति के अनुसार अनेक नवीन छन्दों की सृष्टि की। इसके लिये उन्होंने नये नये छन्दों का निर्माण किया। दो छन्दों के मेल से बन अनेक संकीर्ण-वृत्तों का उल्लेख छन्दकोषों में मिलता है। अपभ्रंश में संकीर्ण-वृत्त उल्लाला, दोहा, गाथा, आभाणक, मात्रा, काव्य (रोला) और कामिनी मोहन के मिश्रण से बनाये गये हैं। कुण्डलिक (दोहा+काव्य), चन्द्रायन (दोहा+कामिनी मोहन), रासाकुल (आभाणक या प्लवंगम+उल्लाला), रड्डा या वस्तु (मात्रा+दोहा), छप्पय (काव्य+उल्लाला) इत्यादि इसी प्रकार के छन्द हैं।[1]

अपभ्रंश-साहित्य और हिन्दी की विविध काव्य-पद्धतियाँ

हिन्दी-साहित्य की भिन्न भिन्न काव्य पद्धतियाँ जो छन्दों पर आश्रित हैं और जिन

३४. प्रो० वेलणकर, अपभ्रंश मीटर्स, जर्नल आफ दि यूनिवर्सिटी आफ बम्बे, जिल्द २, भाग ३, नवं० १९३३ पृ० ३२-६२।

का उल्लेख स्वर्गीय शुक्ल जी ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में किया है[1], वे सब अपभ्रंश से प्रभावित हुई हुई प्रतीत होती हैं।

हिन्दी-साहित्य की काव्य पद्धतियों में एक दोहा पद्धति भी दिखाई देती है। अपभ्रंश मुक्तक साहित्य में जैनियों और बौद्ध सिद्धों, दोनों ने अपनी आध्यात्मिक और उपदेशात्मक रचनाओं के लिये दोहा छन्द का प्रयोग किया था, जो दूहा नाम से प्रसिद्ध है। यह दोहा या दूहा अपभ्रंश का प्रिय छन्द रहा है। १३ और ११ मात्राओं की विषम और सम चरणों की दो पंक्तियों का दोहा छन्द होता है। कुछ छन्द शास्त्रियों ने यह क्रम १४ और १२ मात्राओं का बताया है। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त संदेश रासक, सुलोचना चरिउ, वाहुबलि चरिउ और कीर्तिलता जैसे खण्डकाव्यों में भी दोहा छन्द का बीच बीच में प्रयोग मिलता है। अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यों में से यशः कीर्त्ति के पांडव पुराण में भी इस छन्द का प्रयोग दिखाई देता है। हिन्दी साहित्य में अपभ्रंश-मुक्तक साहित्य की आध्यात्मिक और उपदेशात्मक धाराओं के प्रभाव स्वरूप हिन्दी-साहित्य के कबीरादि सन्त कवियों ने दोहा छन्द को अपनाया । उनकी नैतिक और उपदेशात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल तुलसी, रहीम आदि न भी दोहों को अपनाया। अपभ्रंश के शृङ्गार परक दोहों का प्रभाव विहारी पर पड़ा और उसने अपने शृङ्गारिक भावों को अभिव्यक्त करने के लिये दोहा छन्द का ही आश्रय लिया।

दूसरी काव्य पद्धति दोहा-चौपाई की है। इसका प्रयोग जायसी और तुलसी ने अपने प्रबन्ध काव्यों में किया। यह अपभ्रंश के चरित ग्रन्थों की कडवक शैली के अनुकरण पर हिन्दी में प्रचलित हुई। इसमें कडवक की समाप्ति पर घत्ता के स्थान पर दोहा का प्रयोग किया गया है। इन प्रबन्धकारों ने अपने काव्यों में कहीं कहीं दोहा के समान सोरठा का भी प्रयोग किया है। सोरठा का अपभ्रंश में भी प्रयोग हुआ है।[2] अपभ्रंश के कडवक बद्ध शैली में रचित इन चरित ग्रन्थों में छन्दों की विविधता प्रायः नहीं मिलती। इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य में लिखे चरित काव्यों में भी इस विविधता का अभाव सा ही है। सूदन का सुजान चरित इस का अपवाद है।

विद्यापति और सूर की गीत-पद्धति का आदि स्रोत सिद्धों के चर्या गीतों में देखा जा सकता है।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, इंडियन प्रेस प्रयाग, वि० सं० १९९७, पृ० १६२-१६५

२. प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० ५८ पर

को जाणइ तुह नाह चीतु तुहालउं चक्कवइ।
लहु लंकइ लेवाह मग्गु निहालइ करणउत्तु ॥
धाई धौअइ पाय जेसल जलनिहि ताहिला।
तइं जीता सवि राय एकु विभिषणु मिल्हि महु ॥

इसी प्रकार योगीन्द्र के परमात्म प्रकाश में भी सोरठा मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति का छप्पय भी अपभ्रंश म प्रयुक्त हुआ है। छप्पय अपभ्रंश का संकीर्णवृत्त है। छप्पय का प्रयोग १० वीं शताब्दी से पूर्व नहीं हुआ। स्वयंभू छन्द में इसका लक्षण मिलता है।[1] कुमारपाल प्रतिबोधान्तर्गत अपभ्रंश पद्यों में इसका प्रयोग पाया जाता है।[2] संदेश रासक में छन्दों की विविधता मिलती है। छन्दों के आधिक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि छन्दों के उदाहरण स्वरूप इस की रचना की गई। सुदंसण चरिउ, सुलोचना चरिउ और जिणदत्त चरिउ की छन्द विविधता का पीछे निर्देश किया जा चुका है। हिन्दी के वीर काव्यों में भी इस छन्द-बहुलता के दर्शन होते हैं।

अपभ्रंश कवियों ने जिन मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है उनमें उन्होंने स्वतंत्रता का परिचय दिया है। चतुष्पदी छन्दों का कहीं द्विपदी के समान, कहीं अष्टपदी के समान, स्वेच्छा के प्रयोग किया है। किसी बंधन को इन्होंने स्वीकार नहीं किया।

अपभ्रंश कवियों के पादाकुलक, पज्झटिका, हरिगीत, भुजंगप्रयात, ताटंक, छप्पय, रोला, दोहा, सोरठा आदि अनेक मात्रिक छन्दों का प्रयोग हिन्दी के संत और भक्त कवियों ने इन्हीं नामों से या कुछ परिवर्तित नामों से किया है।

अपभ्रंश के छन्दों के प्रभाव के अतिरिक्त छन्दों में आलाप के लिए किसी अक्षर के प्रयोग की शैली भी अपभ्रंश के अनेक छन्दों में मिलती है। जयदेव मुनि के भावना संधिप्रकरण के कुछ पद्यों में इसका आभास मिलता है। वहां ए का प्रयोग इसी उद्देश्य से किया गया है।[3] कुछ रासा ग्रन्थों में तु का प्रयोग भी इसी ओर संकेत करता है।[4]

इसके अतिरिक्त हिन्दी कविता में "कह गिरिधर कविराय" "कहै कबीर" आदि कवि के नाम प्रयोग की प्रणाली भी अपभ्रंश से ही आई। सिद्धों के गीतों में उनके नाम का निर्देश मिलता है। सुप्रभाचार्य ने अपने वैराग्य सार में अनेक पद्यों में अपने नाम का प्रयोग किया है। स्थान स्थान पर "सुप्पउ भणइ" प्रयोग मिलता है।[5]

अपभ्रंश के हिन्दी पर प्रभाव के परिणाम स्वरूप अनेक अपभ्रंश और हिन्दी के कवियों में शब्द साम्य दिखाई देता है। कुछ उदाहरण देखिये --

(i) मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिर मंडिउ चित्तु ण मंडिया।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ॥

(पाहुड दोहा)

केसन कहा बिगारिया जो मुंडो सौ बार।
मन को क्यों नहीं मुंडिये जामे विषै विकार॥ (कबीर)

---

१. श्री विपिन विहारी त्रिवेदी, विशाल भारत, अक्तू० १९५०।
२. देखिये पीछ चौदहवां अध्याय पृ० ३६४।
३. देखिये पीछे नवां अध्याय, पृ० २९३।
४. देखिये पीछे चौदहवां अध्याय पृ० ३६४।
५. देखिये पीछे नवां अध्याय पृ० २७९-२८२।

(ii) जे मइँ दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसंतेण
ताण गणंतिए अंगुलिउ जज्जरिआउ णहेण ॥
(हेमचन्द्र प्रा० व्या०)

सखि मोर पिया अजहुँ न आओल कुलिश हिया।
नखर खोआयलु दिवस लिखि लिखि,
नयन अँधायलु पिय-पथ पेखि ॥ (विद्यापति)

(iii) जहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेस।
तहि बट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेस ॥
(सरहपा)

जिहि बन सीह न संचरै, पंखि उड़ै नहिं जाय।
रैंनि दिवस का गम नहीं, तहँ कबीर रहा लौ लाइ ॥ (कबीर)

(iv) वहु पहरेहिं सूरु अत्थमियउ, अहवा काइ सीसए।
जो वारुणिहे रत्तु सो उग्गुवि, कवणु ण कवणु णासए ॥
(नयनन्दी)

जहीं वारुणी की करी, रंचक रुचि द्विजराज।
तहीं कियो भगवंत बिन, संपति सोभा साज ॥
(केशव)

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के विभिन्न काव्यरूपों, भिन्न भिन्न कालों के प्रतिनिधि कवियों के काव्यों और काव्य-पद्धतियों की रूप रेखा के दर्शन संक्षेप से हमें अपभ्रंश साहित्य में मिल जाते हैं। हिन्दी साहित्य के विविध काव्यरूपों में प्राप्त भावधारा भी बीज रूप से अपभ्रंश साहित्य में मिलती है। हिन्दी साहित्य के काव्यों में कहीं काव्य का बाह्य रूप, कहीं काव्य पद्धति, कहीं भावधारा, कहीं इनमें से एक और कहीं एक से अधिक तत्व, अपभ्रंश काव्यों के आधार पर विकसित हुए, इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं। अपभ्रंश के छन्दों का भी हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ा। हिन्दी साहित्य का कला पक्ष भी अपभ्रंश साहित्य का ऋणी है।

इस विवेचन से अपभ्रंश साहित्य की महत्ता हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है। हिन्दी साहित्य के विकास में अपभ्रंश साहित्य का जो हाथ है उसको ध्यान में रखते हुए अपभ्रंश साहित्य की उपेक्षा करना हिन्दी साहित्य के लिए घातक होगा।

अन्त में इस महत्वपूर्ण विषय की ओर ध्यान दिलाना परम आवश्यक है कि वर्तमान राष्ट्रभाषा का विकास अपभ्रंश से ही हुआ। कतिपय उर्दू भक्तों का यह कथन है कि हिन्दी की खड़ी बोली उर्दू भाषा का रूपान्तर है। उर्दू प्राचीन है और हिन्दी की खड़ी बोली नवीन। कहते हैं कि उर्दू में से फारसी अरबी के शब्द निकाल कर उनके स्थान पर संस्कृत के शब्दों का प्रयोग कर हिन्दीवालों ने खड़ी बोली बना ली। इस मत का खंडन करने के लिए अपभ्रंश से बढ़ कर कोई सबल प्रमाण नहीं। अपभ्रंश भाषा के

अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है कि हिन्दी की खड़ी बोली इस युग में अपभ्रंश भाषा ही का रूपान्तर है। इसका अकाट्य प्रमाण १२ वीं शताब्दी के हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत तथा मुनि राम सिंह के निम्नलिखित पद्य हैं—

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एन्तु॥
(प्राकृत व्याकरण, ८.४.३५१)

तथा चः
विसया चिंति म जीव तुहुं विसय ण भल्ला होंति।
सेवंताहं वि महुर वढ़ पच्छइं दुक्खइं दिंति॥
अक्खर चढिया मसि मिलिया पाढंता गय खीण।
एक्क ण जाणी परमकला कहिं उग्गउ कहिं लीण॥
(पाहुड़ दोहा, पद्य संख्या, १६३, २००.)

इन सब दोहों में आकारान्त पदों का रूप पाया जाता है जैसे भल्ला, मारिआ, भग्गा, चडिया, मिलिया इत्यादि। यह आकारान्त प्रयोग खड़ी बोली का विशेष लक्षण है। यह बोली दिल्ली प्रान्त में अपभ्रंश काल से प्रचलित रही है। परिस्थिति इस प्रकार है कि मुगल शासकों की राजधानी दिल्ली की खड़ी बोली को फारसी अरबी के शब्दों के सम्मिश्रण से उर्दू का स्वरूप दिया गया। यदि इन परदेशी शब्दों को खड़ी बोली से अलग कर दिया जाय और उनके स्थान में स्वदेशी तद्भव अथवा तत्सम शब्दों का प्रयोग जो पहिले से चला आ रहा है, पुनः प्रचलित किया जाय तो खड़ी बोली का स्वाभाविक रूप निखर आयगा।

किसी भाषा के कुल का सम्बन्ध उसकी केवल शब्दावली से नहीं किया जा सकता। शब्द तो उधार भी लिये जा सकते हैं। जैसे हिन्दी की खड़ी बोली ने फारसी अरबी शब्दों को अपने में सम्मिलित करके उर्दू का रूप धारण किया। किसी भाषा के कुल-साम्य का निर्णय उस भाषा की पद-योजना अथवा वाक्य-विन्यास से होता है। खड़ी बोली का यह साम्य अपभ्रंश के आकारान्त प्रयोगों से स्पष्ट है। सारांश यह है कि उर्दू तथा हिन्दी दोनों ही अपभ्रंश के ऋणी हैं। इसलिए यह कहना सर्वथा निर्मूल है कि हिन्दी की खड़ी बोली उर्दू से निकली। तथ्य तो यह है कि उर्दू, हिन्दी की खड़ी बोली से उत्पन्न हुई है। खड़ी बोली जिसको हम नागरी भाषा भी कहते हैं प्राचीन नागर अपभ्रंश से उत्पन्न हुई दिखाई देती है। दिल्ली नगर की भाषा होने के कारण कदाचित् यह अपभ्रंश नागर अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुई हो। संभव है कि नगर की भाषा होने के कारण यह भाषा जिसे हम खड़ी बोली कहते हैं कदाचित् उस समय की खरी बोली हो। निष्कर्ष यह है कि यह खड़ी बोली अथवा खरी बोली नागर अपभ्रंश की सन्तति है, जो अखण्ड रूप से प्रवाहित होती हुई हमारे पास आधुनिक हिन्दी के रूप में पहुँचकर अब राष्ट्रभाषा के रूप में सिंहासनारूढ़ है। हिन्दी भाषा का यह श्रेय वस्तुतः इसकी जननी अपभ्रंश को ही प्राप्त है।

परिशिष्ट (१)

ग्रन्थकार, ग्रन्थ, रचना-काल तथा ग्रन्थ विषय

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	रचना-काल	विषय
सरहपा	दोहाकोष एवं चर्यापद से संगृहीत पद	७वीं – १०वीं शताब्दी	रहस्यवाद, पाखंड-खंडन, सहज-माग, तन्त्र-मन्त्र, देवतादि की व्यर्थता, गुरु महिमा, हठयोग इत्यादि
शबरपा		७वीं – १०वीं शताब्दी	
लुईपा		वि० सं० ८२६ – ८६६	
दारिकपा		? ?	"
कण्हपा		वि० सं० ८६६ – सं. ९०६	"
शान्तिपा		वि० सं० १०५७	"
योगीन्दु-योगीन्द्र	परमप्पयासु योगसार	८वीं – ९ वीं शताब्दी	अध्यात्म-आत्म परमात्म चिन्तन, मोक्ष-स्वरूप
स्वयंभू	पउम चरिउ रिट्ठणेमि चरिउ	८वीं – ९वीं शताब्दी	जैन धर्मानुकूल रामायण और महाभारत की कथा
देवसेन	सावयधम्म दोहा	वि० सं० ९९०	नीति एवं सदाचार संबंधी धर्मोपदेश तथा गहस्थोचित कर्त्तव्यों का उपदेश
पुष्पदन्त	महापुराण-तिसट्ठी महापुरिस गणालंकार, नायकुमार चरिउ, जसहर चरिउ	वि० सं० १०१६–१०२२	जन साहित्य के २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्त्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, और ९ बलदेव-६३ महापुरुषों का चरित्र वर्णन । नागकुमार और यशोधर का चरित्र वर्णन ।
हरिषेण	धम्म परिक्खा	वि० सं० १०४०	नाना पौराणिक आख्यानों की असंगति, ब्राह्मण-धर्म पर व्यंग्य, जनधर्म की महत्ता ।
मुनिराम सिंह	पाहुड़ दोहा	वि० सं० १०५७ के आस-पास	अध्यात्म चिन्तन–बाह्य कर्मकांड की अपेक्षा आत्मानुभूति एवं सदाचरण की महत्ता ।

धनपाल	भविसयत्त कहा	११ वीं–१२वीं शताब्दी	भविष्यदत्त के कथानक द्वारा श्रुत पंचमी व्रत का माहात्म्य-प्रदर्शन
वीर	जम्बुसामि चरिउ	वि० सं० १०७६	अन्तिम केवली जंबू स्वामी का चरित्र-वर्णन
धवल	हरिवंश पुराण	वि० सं० ११वीं शताब्दी	महाभारत कथा
नयनंदी	सुदंसण चरिउ, सकल विधि-विधान काव्य	वि० सं० ११००	सुदशन चरित्र द्वारा पंच नमस्कार का माहात्म्य। नाना विधिविधानों एवं आराधनाओं का विवेचन
मनि कनकामर	करकंड चरिउ	वि० सं० ११२२	करकंडु महाराज के चरित्र द्वारा जैनधर्म के सदाचारमय जीवन का दिग्दर्शन
श्री चन्द्र	कथा कोष तथा रत्न करंड शास्त्र	वि० सं० ११२३	धार्मिक एवं उपदेशप्रद कथाएँ
पद्मकीर्ति	पासचरिउ—पार्श्वपुराण	वि० सं० ११३४	२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्र
धाहिल	पउम सिरी चरिउ	वि० सं० ११९१ से पूर्व	पद्मश्री का जीवन-चरित्र
चन्दवरदाई	पृथ्वीराज रासो	१२वीं – १३वीं शताब्दी	चौहानवंशी पृथ्वीराज तृतीय का जीवन
श्रीधर	पासणाह चरिउ	वि० सं० १२वीं–१३वीं शताब्दी	पार्श्वनाथ का चरित्र
	सुकुमाल चरिउ		सुकुमाल स्वामी के पूवजन्म का वर्णन
	भविसयत्त चरिउ		श्रुत पंचमी व्रत के फल और माहात्य का प्रदर्शन करने के लिये भविष्यदत्त का चरित्र-वर्णन
देवसेन गणि	सुलोयणा चरिउ	वि० सं० १०२९-१३७२	चक्रवर्ती भरत के प्रधान सेनापति जय-कुमार की धर्मपत्नी सुलोचना का चरित्र
जिनदत्त सूरि	उपदेश रासायन रास	वि० सं० ११३२–१२१० वि.	नीति एवं सदाचार संबंधी धर्मोपदेश
	काल स्वरूप कुलक		"
	चर्चरी		जिनदत्त सूरि के गरु जिनवल्लभ सूरि का गुणगान तथा नाना चैत्य विधियों का विधान
सुप्रभाचार्य	वैराग्यसार	११वीं–१३वीं शताब्दी	धर्मतत्त्व विवेचन द्वारा वैराग्य भाव प्रचार
शालिभद्र सूरि	भरतबाहुबलिरास	वि० सं० १२४१	ऋषभ पुत्र भरत और भरत के छोटे भाई बाहुबलि के जीवन-संघष का वर्णन

जिनपद्म सूरि	सिरि थूलिभद्द फाग	वि० सं० १२५७ के आस-पास	स्थूलीभद्र और कोशा की कथा
विनयचन्द सूरि	नेमिनाथ चतुष्पदिका	वि० सं० १२५७ के आस-पास	२२व तीर्थंकर नेमिनाथ की कथा
सिंह	पज्जुण्ण चरिउ	वि० सं० १३वीं शताब्दी	२४ कामदेवों म से २१वें कामदेव कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र
अब्दुल रहमान	सन्देश रासक	वि० सं० १२वीं, १३वीं शताब्दी	एक विरहिणी का अपने प्रवासी प्रियतम को एक पथिक द्वारा सन्देश भेजना
धर्म सूरि	जम्बू स्वामि रास	वि० सं० १२६६	जंबू स्वामी का चरित्र
विजयसेन सूरि	रेवंत गिरि रास	वि० सं० १२८८	रेवंत गिरि की प्रशंसा, नेमिनाथ की स्तुति, गिरिनार के जन मन्दिरों का जीर्णोद्वार
हरिभद्र	सनत्कुमार चरित	वि० सं० १२१६	ऋषि सनत्कुमार का चरित्र-वर्णन
सोमप्रभ	जीवमनः करण	वि० सं० १२४१	धार्मिक कथाबद्ध रूपक-काव्य
	संलाप कथा, स्थूलि भद्र		स्थूलिछभद्र और कोशा की कथा
	कथा, द्वादश भावना		संसार की अनित्यता और क्षणभंगरता बतलाते हुए द्वादश भावनाओं के पालन का महत्त्व
अमरकीर्ति	छक्कम्मोवएस	वि० सं० १२४७	गृहस्थोचित देवपूजा, गुरुसेवा, शास्त्राभ्यास, संयम, तप और दान नामक छह कर्मों के पालन का उपदेश
विनयचन्द्र	उवएस माल कहाणय छप्पय,	१३वीं शताब्दी	प्राचीन तीर्थंकरों और धार्मिक पुरुषों के उदाहरणों द्वारा धर्माचरण का उपदेश
जयदेव मनि	भावना सन्धिप्रकरण	१३वीं–१४वीं शताब्दी	नतिक और धार्मिक जीवन का उपदेश
देल्हण	गय-सुकुमाल रास	वि० सं० १३००	कृष्ण भगवान के छोटे सहोदर भाई गज-सुकुमाल का चरित्र
लाख या लक्खन	जिणदत्त चरिउ	वि० सं० १३१३	जिनदत्त का चरित्र वर्णन
	अणवय रयण पईय		श्रावकोचित व्रतों-अणव्रतों-एवं कर्त्तव्यों के स्वरूप और स्वभाव का वर्णन

लखनदेव या लक्ष्मणदेव	णेमिणाह चरिउ	वि० सं० १५१० से पूर्व	२२ व तीर्थंकार नमिनाथ का चरित्र-वर्णन
अम्बदेव	समरारास	वि० सं० १३७१	संघपति देसल के पुत्र समरसिंह की दान-वीरता का वर्णन
धनपाल	बाहुबलि चरित	वि० सं० १४५४	प्रथम कामदेव बाहुबलि का चरित्र-वर्णन
विद्यापति	कीर्तिलता	वि० सं० चौदह-पन्द्रह शताब्दी	राजा कीर्त्तिसिंह का यशगान
यश:कीर्ति	पांडव पुराण	वि० सं० १४९७	पांडवों की कथा का वर्णन
	हरिवंश पुराण	वि० सं० १५००	महाभारत की जैनधर्मानसार कथा
रयधू	बलभद्र पुराण,		जैनधर्मानुकल पांडवों की कथा
	पद्म पुराण (?)		„ राम कथा
	सुकौशल चरित,	पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी	सुकौशल मनि का चरित्र वर्णन
	आत्म संबोध काव्य,		अध्यात्म
	धनकुमार चरित,		महापुरुषों के चरित्र
	मेघेश्वर चरित,		
	श्रीपाल चरित, सन्मतिनाथ चरित		अन्तिय तीर्थंकर महावीर के चरित्र का वणन
श्रतकीर्ति	हरिवंश पुराण	वि० सं० १४९७	जैन धर्मानकूल महाभारत की कथा
	परमेष्ठि प्रकाश सार	वि० सं० १५५३	धर्मोपदेश
नरसेन	श्रीपाल चरित,	वि० सं० १५१२ से पूर्व ?	श्रीपाल का चरित्र-वर्णन
	वर्द्धमान कथा		तीर्थंकर महावीर की कथा
जयमित्र हल्ल	वर्द्धमान चरित्र	वि० सं० १५४५ से पूर्व ?	तीर्थंकर महावीर का चरित्र-वर्णन
माणिक्य राज	अमरसेन चरित्र	वि० सं० १५७६	अमरसेन का चरित्र-वर्णन
	नागकुमार चरित्र	वि० सं० १५७९	नागकुमार की कथा
महिन्दु	शान्तिनाथ चरित्र	वि० सं० १५८७	शान्तिनाथ का चरित्र-वर्णन
बच्चराय	मयण जुज्झ	वि० सं० १५८९	भगवान् पुरुदेव द्वारा किये मदन-पराजय का वर्णन
भगवतीदास	मृगांकलेखा चरित्र	वि० सं० १७००	चन्द्रलेखा एवं सागरचन्द्र का चरित्र-वर्णन तथा चन्द्रलेखा के शीलव्रत का माहात्म्य

आनन्द या महानन्दी	आनन्दा या आनन्द स्तोत्र	?	?	?	धार्मिक साधना का उल्लेख, अध्यात्म चित्रन्तन
मुनिमहचन्द	दोहा पाहुड़	?	?	?	अध्यात्म-गुरुमहत्ता, आत्मज्ञान, विषय त्याग आदि
महेश्वर सूरि	संयम मंजरी	?	?	?	संयम का महत्त्व
विनय चन्द	चूनड़ी	?	?	?	धार्मिक भावनाओं एवं सदाचारों की रँगी चूनड़ी धारण करने का उपदेश
	कल्याणक रासु	?	?	?	जैन तीर्थंकारों की पंच कल्याणकारी तिथियों का वर्णन
	णिझर पंचमी विहाण	?	?	?	
	कहाणक	?	?	?	
हरिदेव	मयण पराजय चरिउ	?	?	?	मदन पराजय कथाविषयक रूपक कृति
राजशेखर सूरि	श्री नेमिनाथ फागु	?	?	?	नेमिनाथ की कथा
?	धर्म सूरि स्तुतिं	?	?	?	धार्मिक बारहमासे का वर्णन
पउम ?	सालिभद्द कक्क	?	?	?	वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से धार्मिक दोहे
?	दूहा मातृका	?	?	?	वर्णमाला के अक्षरों के क्रम से दोहों में धर्माचरण का उपदेश
अभयदेव सूरि	जय तिहुयण स्तोत्र	?	?	?	

परिशिष्ट (२)

कतिपय प्रसिद्ध लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ तथा वाग्धारायें

"वरि एक्कलओ वि पंचाणणु णु सारंग-णिवहु वुण्णाणणु
वरि एक्कलओ वि मयलञ्छणु ण य णक्खत्त-णिवहु णिल्लंछणु।
वरि एक्कलओ वि रयणायरु णिउ जलवाहिणि-णियरु स-वित्थरु।
वरि एक्कलओ वि वइसाणरू णउ वण-णिवहु सरुक्खु सगिरिवरु।"

परमचरिउ ३८.२

जहिं पहु दुच्चरिउ समायरइ,
तहिं जणु सामण्ण काइ करइ। (रिट्ठणेमि चरिउ)
भुक्कउ छणयंदहु सारमेउ। (महापुराण १.८.७.)
उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण। (वही, १२.१७.६.)
माणभंगु वर मरणु न जीविउ। (वही, १६.२१.८.)
को तं पुसइ णिडालइ लिहियउ। (वही, २४. ८.८.)
भरियउ पुण रित्तउ होइ राय। (वही, ३९. ८.५.)
लूयासुत्तें वज्झउ मसउ ण हत्थि णिरुज्झइ। (वही, ३१.१०.९.)
जो गोवालु गाइ णउ पालइ
सो जीवन्तु दुद्धु ण णिहालइ।
जो मालारु वेल्लि णउ पोसइ
सो सुफल्लु फल कव लहेसइ।। (वही, ५१.२.१.)
इह संसार दारुण वहु सरीर संघारणे।
वसिऊणं दो वासरा के के ण गया णर वरा।। (वही, ७. १.)
मुच्छं गइ दिज्जइ सलिलु पवणु उवसंतहो किज्जइ धम्म सवणु।
किं सुक्कें रुक्खें सिंचिएण अविणीयं किं संबोहिएण।।

(जस० च०, १.२०. १–२)

अणइच्छयइं होंति जिमि दुक्खइं
सहसा परिणवंति तिह सोक्खइं।

(भवि० कहा, ३.१७.८.)

जोव्वण वियार रस वस पसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चल मम्मण वयणु ल्लावएहिं जो परतियहिं न खंडियउ।।

(वही, ३. १८. ९.)

परहो सरीरि पाउ जो भावइ तं तासइ बलेवि संतावइ।

(वही, ६.१०.३.)

अहो चंदहो जोन्ह किं मइलज्जइ दूरि हुअ ॥ (वही, ११.३.१७.)

जहा जेण दत्तं तहा तेण पत्तं इमं सुच्चए सिट्ठ लोएण वुत्तं।

सुपायन्नवा कोद्दवा जत्त माली कहं सो नरो पावए तत्थ साली ॥

(वही, पृ. ८४.)

कच्च पल्लट्टइ को रयणु, पित्तलइ हेमु विक्कइ कवणु।

(जम्बू सामि चरिउ, २.१८.)

को दिवायर गमणु पडिखलइ। जम महिस सिंग क्खणइ।

(वही, ५.४.)

करे कंकणु कि आरिसे दीसए। (सुदं० च०, ७.२.)

जं जसु रुच्चइ तं तस्स भल्लउ। (वही, ७. ५.)

एक्कें हत्थ ताल कि वज्जइ,

किं मारवि पंचम गाइज्जइ। (वही, ८.३.)

पर उवएसु दिंतु बहु जाणउ। (वही, ८.८.)

वर सुवण्ण कलसहो उवरि,

ढंकण किं खप्परु दिज्जइ। (वही, ८.६.)

अह ण कवण णेहें संताविउ। (वही, ७.२)

सग्गु मएवि णरउ किं वंछहि। (वही, ८.५)

तं खज्जइ जं परिणइ पावइ। (वही, ८.५)

दुद्ध सुद्ध किं कंजिउ पूरइ। (वही, ८.८.)

देवहं वि दुलक्खउ तिय चरित्तु। (वही, ९.१८)

जोव्वणु पुणु गिरिणइ वेयतुल्ल,

विद्धत्तें होइ सव्वंगु ढिल्ल। (वही, ९. २१.)

गुरुआणु संगु जो जण वहेइ,

हिय इच्छिय संपइ सो लहेइ। (कर० च० २.१८.७.)

विणु केरइं लब्भइ णाहि मित्त,

एह मेइणि भुंजहुं हत्थमेत्त। (वही, ३.११.१.)

लोहेण विडंविउ सयलु जणु भणु

किं किर चोज्जइं णउ करइ। (वही, २.९.१०.)

ओसहु निरुमिट्ठं विज्जुवइट्ठं,

अहुजण कासु न होइ पिउ। (प० सि० च., २. ७. ८८.)

उइइ चंदि किं तारियहं। (वही, १. १०. ३३.)

अलि वंचेवि केयइ वउले लग्गु,

जं जसु मणिट्ठु तं तासु लग्गु। (वही, २. ५. ५७.)

कउ मित्त-वियोउ न दुक्ख देइ। वही, (३.१.७)
उव्वेव करंडइ फुट्टइ भंडइ
काइ मि किज्जइ घरि थियइं। (वही, १.१४.१८४)
किं तेण पहूवइ बहु धणईं, जं विहडियह ण उद्धरइ।
कव्वेण तेण किं कइयणेण, जं ण छइल्लहं मणुहरइ ॥

(पज्जण्ण चरिउ से उद्धृत)

'किं विज्जए जाए ण होइ सिद्धि'।
'किं णिज्जलेण घण गज्जिएण'।

(बाहु० चरिउ से उद्धृत)

एयाण वयण तुल्लो होमि ण होमित्ति पुण्णिमादियहो।
पियमंडला हिलासी चरइ व चंदायणं चंदो ॥

(जम्बू० चरित, ४. १४)

सयलज्ज सिरेवणु पयडियाइं अंगाइं तीय सविसेसं।
को कवियणाण दूसइ, सिट्ठं विहिणा वि पुणरुत्तं ॥

(संदेश रासक, २. ४०)

उत्तरायणि वड्ढिहि दिवस,
णिसि दक्खिण इहु पुव्व णिउइउ।
दुन्चिय वड्ढहि जत्थ पिय,
इहु तीयउ विरहायण होइयउ ॥ (वही, २. ११२)
सप्पुरिसह मरणाअहिउ पर परिहव संताउ। (वही, २. ७६)
पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन।
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुञ्जिओ धूमो ॥
सो पुरिसओ जसु मानो सो पुरिसओ जस्स अज्जने सत्ति।
इअरो पुरिसाआरो पुच्छ विहूना पसू होइ ॥

(कीर्तिलता, पृष्ठ ६)

अण्णु जि तित्थ म जाहि जिय अण्ण जि गरुअ म सेवि।
अण्णु जि देउ म चिंति तुहुं अप्पा विमलु मुएवि ॥

(पर० प्रकाश, १. ९५)

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजण णाणमउ सिउ संठिउ सम चित्ति ॥
जे दिट्ठा सूरुग्गमणि ते अत्थवणि न दिट्ठ।
तें कारणिं वढ धम्म करि धणि जोव्वणि कउ तिट्ठ ॥

(वही, २. १३२)

बहुएं सलिल-विरोलियइं करु चोप्पडउ ण होइ। (वही, २.७४)
मूल विणट्ठइ तरुवरहं अवसइं सुक्कहिं पण्ण। (वही, २. १४०)

मरगउ जें परियाणियउ तहुं कच्चें कउ गण्णु । (वही, २. ७८)
मुंडिय मुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्तु ण मंडिया ।
चित्तहं मंडणु जि कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥
(पाहुड़ दोहा, पद्य १३५)
वहुयइं पढियइं मूढ़ पर तालू सुक्कइ जेण ।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥ (वही, ९७)
जसु कारिणि धणु संचइं, पाव करेवि गहोरु ।
तं पिछहु सुप्पउ भणइं, दिणि दिणि गलइ सरीरु ॥
(वैराग्य सार, पद्य ३३)
मुवउ मसाणि ठवेवि लहु, बंधव णिय घर जंति ।
वर लक्कड सुप्पउ भणइं, जे सरिसा डज्झंति ॥ (वही, पद्य १०)
जज्झरि भंडइ नीरु जिमु, आउ गलंति पेच्छि । (वही, पद्य २०)
दुज्जण सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण ।
अमिउ विसें वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ॥
(सावय धम्म दोहा, पद्य २)
मणुयत्तणु दुल्लहु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण ।
इंधण कज्जें कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेण ॥ (वही. पद्य २१९)
जहिं साहस तहिं सिद्धि । (वही, पद्य ७१)
अम्मिउ धम्मु कज्जु साहंतउ ।
परु मारइ कीवइ जुज्झंतउ ।
तु वि तसु धम्मु अत्थि न हु नासइ
परम पइ निवसइ सो सासइ ॥
(उपदेश रसायन रास, पद्य २६)

धंमु न करेसि वंछेसि सुह मुत्तिए,
चणय विक्केसि वंछेसि वर मुत्तिए ।
जं जि वाविज्जए तं जि खलु लज्जए,
भुज्जए जं जि उग्गार तस्स किज्जए ॥
(भावना सन्धि प्रकरण, पद्य ५२)
घरि पलित्तंमि खणि सकइ को कूवए ॥ (वही, पद्य ५७)
किं लोहइं घडिउं हियं तुज्झ ॥ (वही, पद्य २५)
गय मय महुअर झस सलह निय निय विसय पसत्त ।
इक्किक्केण इ इन्दियण दुक्खं निरंतर पत्त ॥
इक्किणि इंदिय मक्कलिण लब्भइ दुक्ख सहस्स ।
जसु पुण पंचइ मुक्कला कह कुसलत्तणु तस्स ॥
(संयम मंजरी, पद्य १७-१८)

अम्हे थोवा रिउ बहुअ कायर एम्ब भणन्ति ।
मुद्धि णिहालहि गयणयलु कइ जण जोण्ह करन्ति ॥
(प्राकृत व्याकरण, ८.४.३७६)

जे निअहिं न पर दोस । गणिहिं जि पयडिअ तोस ।
ते जगि महाणुभावा । विरला सरल सहावा ॥
परगुण गहणु स दोस पयासण । महु महुरक्खरहि अमिउ भासण ।
उवयारिण पडिकिओ वेरिअणहं, इअ पद्धडी मणोहर सुअणहं ॥
(छन्दोऽनुशासन)

जे परदार-परम्महा ते वुच्चहिं नरसीह ।
जे परिरंभहि पर रमणि ताहं फसिज्जइ लीह ॥
(कुमारपाल प्रतिबोध, पृष्ठ १५५,)

जइवि हु सूरु सुरूवु विअक्खणु
तहवि न सेवइ लच्छि पइक्खणु ।
पुरिस गणागुण मुणण परम्मुह
महिलह वद्धि पयंपहि जं बुह ॥ (वही, पृ० ३३१)
जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ ।
मंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ ॥ (प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० २४)
कसु करु रे पुत्त कलत्त धी कसु करु रे करसण वाडी ।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथ पग बेहु झाडी ॥ (वही, पृ० ५१)
कुमारपाल ! मन चिंत करि चिंतिहि किंपि न होइ ।
जिणि तुहु रज्ज सप्पप्पिउ चिंत करेसइ सोइ ॥ (प्रबन्ध कोश, पृ० ५१)
उवयारह उवयारडउ सव्वु लोउ करेइ ।
अवगुणि कियइ जु गुण करइ विरलउ जणइ जणेइ ॥ (वही, पृ० ८)
सुरअरु सुरही परसमणि, णहि वीरेस समाण ।
ओ वक्कल अरु कठिण तणु, ओ पसु ओ पासाण ॥ (प्राकृत पैंगल पृ० १३९)

परिशिष्ट (३)

संभव जिणणाह चरिउ

तेजपाल रचित 'संभव जिणणाह चरिउ' का वर्णन अपभ्रंश काव्यों के प्रसंग में असावधाणी से छूट गया। उसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

यह ग्रंथ अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति श्री चन्द्र प्रभु, दिगम्बर जैन सरस्वती भवन श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, दीवाण अमर चन्द जी, जयपुर से प्राप्त हुई थी। इसकी रचना तेजपाल ने थील्हा के आश्रय में की थी।[1] कवि के जीवन और रचना-काल के विषय में कुछ विवरण उपलब्ध नहीं।

ग्रंथ में छह सन्धियाँ और १७० कड़वक हैं। प्रत्येक सन्धि के अन्त में कवि ने अपने नाम का निर्देश किया है। ग्रंथ का आरम्भ निम्नलिखित मंगलाचरण से हुआ है—

ओ३म् नमः सिद्धेभ्यः ॥

सासय सुहकारणु कुगइ णिवारणु चरिउ परम गुण गणणियरु।
संभव जिण केरउ संति जणेरउ भणमि भव्व आणंदयरु ॥

मंगलाचरण के अनन्तर चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। तदनन्तर कवि ने अपने आश्रयदाता थील्हा का परिचय दिया ह। ग्रंथ में परंपरागत सज्जन प्रशंसा और दुर्जन निन्दा भी मिलती है—

घत्ता-अहवा किं दुज्जण धम्म विहजणु जइ विडप्पु वियरंतु णहि।
सोलह कल भासउ ससि अमियासउ णउ चुक्कइ जंतु पहि ॥१.७

तदनन्तर जंब द्वीप और तत्रस्थ भरत क्षत्र का उल्लेख कर कवि मगध देश का वर्णन करता है। वहाँ श्रेणिक महाराज के गणधर से पूछने पर वह जिणसंभव पुराण सुनाना आरम्भ करते हैं।

कवि ने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर इस ग्रंथ का निर्माण किया है। निशि भोजन निषेध, दान, अहिंसा आदि षट्कर्मोपदेश प्रभृति भावना ही प्रमुख है—

घत्ता—
रय रयणि दिवायर गुणरयणायर जो छक्कम्म समायरइ।

---

१. इय संभव जिण चरिए सावयायार विहाण फल सरिए
सिरि तेजपाल विरइए, सज्जण संदोह समणि अणुमण्णिए,
सिरि महाभव्व थील्हा सवण भूसणे सिरिविमल वाह
णिव धम्मायण्णणो णाम पढमो परिछेउं समत्तो ॥
सन्धि १ ॥

सो कम्म वियारिवि सिव बहु धारिवि भवसायरु लीलइं तरइ ॥१.३९

ग्रंथ में कवित्व की प्रधानता नहीं। काव्यमय वर्णनों का प्रायः अभाव है। वर्णन सामान्य कोटि के हैं। एक नमूना देखिये—

इह जंवु दीउ दीवहं पहाणु, गिरि दरि सरि सरवर सिरि णिहाणु।
तहि मज्झि सुदंसण णाम मेरू, णं विहिणा किउ जय मज्झि मेरु।
तहो सेल्लहु दाहिणी दिसि विचित्तु, सिरि संकुल णामें भरहखेत्तु।
तहो मज्झि मगहु णामेण देसु, तहो वण्णहु पारं गउ ण सेसु। इत्यादि १.८

वर्णनों का चलता करने का प्रयत्न किया गया है। मगध देश का वर्णन शेष भी न कर सका अतः कवि ने भी चुप रहना उचित समझा।

अनुक्रमणिका

ग्रन्थ और ग्रन्थकार

(काले टाइप के अंकों पर विशेष विवरण है। अंक पृष्ठ संख्या के सूचक हैं।)

सहायक ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थों के प्राप्ति-स्थान, प्रकाशक आदि का विवरण पाद-टिप्पणियों में यथास्थान दे दिया गया है। यहाँ केवल सूची दी जा रही है। अप्रकाशित ग्रन्थों का इस सूची में निर्देश नहीं किया गया। उनका विवरण भी ग्रन्थ में यथास्थान मिलेगा।

अपभ्रंश काव्य त्रयी (अपभ्रंश)	गायकवाड़ सिरीज, सं० ३७, बड़ौदा, १९२७।
अपभ्रंश पाठावली (अपभ्रंश)	संपादक श्री मधुसूदन चिमनलाल मोदी, १९३५ ई०।
अपभ्रंश मीटर्स (अंग्रेजी)	प्रो० वेलणकर।
इंडो-आर्यन एंड हिन्दी (अंग्रेजी)	डा० सुनीति कुमार चटर्जी, १९४२ ई०।
इंडियन बुधिस्ट आकोनोग्रेफी (अंग्रेजी)	श्री वी० भट्टाचार्य, १९२४ ई०।
इतिहास प्रवेश (हिन्दी)	श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, इलाहाबाद, १९४१ ई०।
उत्तर रामचरित (संस्कृत)	भवभूति।
उत्तरी भारत की संत परम्परा (हिन्दी)	श्री परशुराम चतुर्वेदी, वि० सं० २००८।
उपदेश तरंगिणी	काशी।
ऋतम्भरा (हिन्दी)	डा० सुनीति कुमार चटर्जी, १९५१ ई०।
ओरिजिन एंड डेवलेपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज (अंग्रेजी)	डा० सुनीति कुमार चटर्जी।
कथा कोष प्रकरण	सं० मुनि जिनविजय जी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९४९ ई०।
कबीर ग्रन्थावली (हिन्दी)	संपादक बा० श्यामसुन्दरदास, १९२८ ई०।
करकंड चरिउ (अपभ्रंश)	संपादक डा० हीरालाल जैन, कारंजा, बरार, १९३४ ई०।
कविदर्पण	संपादक प्रो० वेलणकर।
कादम्बरी (संस्कृत)	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२१ ई०।
काव्य मीमांसा (संस्कृत)	राजशेखर कृत, गायकवाड़ सिरीज, संख्या १, बड़ौदा, १९२४ ई०।
काव्यादर्श (संस्कृत)	दण्डिन्, भण्डारकर ओरयंटल इन्स्टिट्यूट, १९३८ ई०।
काव्यालंकार (संस्कृत)	रुद्रट।
काव्यालंकार (संस्कृत)	भामह, चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ ऑफिस, १९२८ ई०।
कीर्तिलता (अपभ्रंश)	विद्यापति, संपादक डा० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग, वि० सं० १९८६।

कुमारपाल प्रतिबोध (प्राकृत) — सोमप्रभ, संपादक मुनि जिन विजय जी, बड़ौदा, १९२० ई०।

कुमारपाल प्रतिबोध (जर्मन) — लुडविग आल्सडर्फ, जर्मनी, १९२८ ई०।

केशव-कौमुदी (हिन्दी) — संपादक ला. भगवानदीन, वि० सं० १९८६ ई०।

कैटेलोग आफ संस्कृत एंड प्राकृत मनुस्क्रिप्टस् इन दी सी. पी. एंड बरार — नागपुर १९२६ ई०।

कैटेलोग आफ मैनुस्क्रिप्टस् इन दि जैन भण्डारस एट पाटण (पत्तन), भाग १ — बड़ौदा १९३७ ई०।

गौडवहो (प्राकृत) — वाक्पतिराज कृत, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२७ ई०।

गाथा सप्तशती (प्राकृत) — बम्बई १९३३ ई०।

जसहर चरिउ (अपभ्रंश) — संपादक डा० पी० एल० वैद्य, कारंजा, वरार, १९३१ ई०।

जायसी ग्रन्थावली (हिन्दी) — संपादक पं० रामचन्द्र शुक्ल, काशी, सन् १९२४।

जिन रत्न कोष, प्रथम भाग (अंग्रेजी) — संपादक प्रो. हरि दामोदर वेलणकर, पूना, १९४४ ई०।

जैन गुर्जर कवियो प्रथम भाग (गुजराती) — संपादक, मोहनलाल दलीचन्द देसाई, श्री जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेंस, बम्बई वि० सं० १९८२।

जैन साहित्य और इतिहास (हिन्दी), — पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई, १९४२ ई०।

णायकुमार चरिउ (अपभ्रंश) — पुष्पदन्त कृत, संपादक डा० हीरालाल जैन, कारंजा, वरार, सन् १९३३ ई०।

दोहा कोष (अपभ्रंश) — संपादक प्रो० प्रबोधचन्द्र बागची।

दोहा पाहुड़ (अपभ्रंश) — संपादक डा० हीरालाल जैन।

धूर्ताख्यान (प्राकृत) — संपादक प्रो० आ० ने० उपाध्याय, बम्बई, १९४५ ई०।

नाट्य-दर्पण (संस्कृत) भाग १ — गायकवाड़ सिरीज़ संख्या ४८, १९२९ ई०।

नाट्यशास्त्र (संस्कृत) भरतकृत — बड़ौदा, १९२६ ई०।

नाट्यशास्त्र (संस्कृत) भरतकृत — काशी, १९८५ वि० सं०।

नाथ संप्रदाय (हिन्दी) — श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाहाबाद, १९५० ई०

पउम चरिउ, स्वयंभूदेव विरचित (अपभ्रंश) प्रथम भाग—विद्याधर-कांड द्वितीय भाग-अयोध्या कांड एवं सुन्दर कांड — संपादक डा० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी, सिंघी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, वि० सं० २००९।

पउम चरिय (प्राकृत)	विमल सूरि कृत, भावनगर, १९१४ ई० ।
पउम सिरी चरिउ (अपभ्रंश)	संपादक श्री मोदी और श्री भायाणी बम्बई, वि० सं० २००५ ।
पत्तन भंडार, ग्रन्थ-सूची	
परमप्पयासु (अपभ्रंश)	संपादक प्रो० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, बम्बई, १९३७ ई० ।
पाहुड दोहा (अपभ्रंश)	संपादक प्रो० हीरालाल जैन, कारंजा, बरार, वि० सं० १९९० ।
पुरानी हिन्दी (हिन्दी)	पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, काशी, वि० सं० २००५ ।
पुरातत्व निबन्धावली (हिन्दी)	श्री राहुल सांकृत्यायन, १९३७ ई० ।
पुरातन प्रबन्ध संग्रह	संपादक श्री मुनि जिन विजय, कलकत्ता, वि० सं० १९९२ ।
पृथ्वीराज रासो	नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण, काशी ।
पेम प्रकाश	डा० लक्ष्मीधर शास्त्री, दिल्ली, १९४३ ई० ।
प्रबन्ध चिन्तामणि	मेरुतुंगाचार्य विरचित, संपादक श्री जिन विजय मुनि, शान्ति निकेतन, वि० सं० १९८९ ।
प्रबन्ध कोश	राजशेखर सूरी कृत, संपादक श्री मुनि जिन विजय, शान्ति निकेतन, वि० सं० १९९१ ।
प्रशस्ति संग्रह	श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल द्वारा संपादित, जयपुर, १९५० ई० ।
प्राकृत व्याकरण (संस्कृत)	हेमचन्द्र कृत, संपादक डा० परशुराम वैद्य, पूना १९२८ ई० ।
प्राकृत-अपभंश-साहित्य और उसका हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव (हिन्दी)	डा० रामसिंह तोमर (अप्रकाशित) ।
प्राकृत लक्षण	चंड ।
प्राकृत पैंगल	संपादक श्री चन्द्रमोहन घोष, १९००-१९०२ ई०
प्राकृत लैंग्वेज एंड देअर कन्ट्रीब्यूशन टु इंडियन कल्चर, (अंग्रेजी)	डा० एस. एम. कत्रे, बम्बई, १९४५ ई०
प्राचीन गुर्जर काव्य-संग्रह	गायकवाड़ सिरीज़ संख्या १३, १९२० ई० ।
प्राचीन हिन्दी	चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वि० सं० २००५ ।
प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ	
बृहत्कथा कोष (संस्कृत)	संपादक प्रो० आ० ने० उपाध्याय ।
बौद्धगान ओ दोहा (अपभ्रंश)	संपादक म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ।

भरत बाहुबलि रास (अपभ्रंश) — संपादक पं० लालचन्द्र भगवान गान्धी, अहमदाबाद, वि० सं० १९९७।

भविसयत्त कहा (अपभ्रंश) — धनपाल कृत, संपादक श्री दलाल और श्री गुणे, बड़ौदा, १९२३ ई०।

भाव प्रकाशन (संस्कृत) — शारदातनय कृत, गायकवाड़ सीरीज़ संख्या ४५, बड़ौदा, १९३० ई०।

भावना संधि प्रकरण (अपभ्रंश) — संपादक एम० सी० मोदी।

मदन पराजय (संस्कृत) — नागदेव कृत, प्रो० राजकुमार जैन, काशी, वि० सं० २००४।

महापुराण–तिसट्ठिमहापुरिस गुणालकार, (अपभ्रंश) — पुष्पदन्त भाग १–३, संपादक डा० पी० एल० वैद्य, बम्वई।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (हिन्दी) — श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, प्रयाग, १९२८ई०

मानसांक (हिन्दी) — कल्याण, गोरखपुर।

मालती माधव (संस्कृत) — भवभूति।

मेघदूत-कालिदास (संस्कृत)

मोह पराजय — यशःपाल, गायकवाड़ सिरीज़, बड़ौदा।

योगसार (अपभ्रंश) — संपादक प्रो० आ० ने० उपाध्ये, बम्वई, १९३७ ई०।

रघुवंश (संस्कृत) — कालिदास कृत।

रत्नावली नाटिका (संस्कृत) — श्री हर्ष कृत।

राम कथा (हिन्दी), — रेवरेंड फादर कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद् वि० वि० प्रयाग, १९५० ई०।

रामायण (संस्कृत) — वाल्मीकि।

रावण वहो–सेतुबन्ध (प्राकृत) — लंदन, १८८० ई०।

लाइफ आफ हेमचन्द्र (अंग्रेजी अनुवाद) — डा० मणिलाल पटेल, १९३६ ई०।

लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया (अंग्रेजी) — ग्रियर्सन, १९२७ ई०।

लीलावती कथा (प्राकृत) — कौतूहल कृत, संपादक प्रो० आ० ने० उपाध्याय, बम्वई १९४९ ई०।

वाग्भटालंकार (संस्कृत), — श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।

विक्रमोर्वशीय (संस्कृत) — कालिदास कृत।

विद्यापति की पदावली — रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा संकलित, द्वितीय संस्करण, पुस्तक भंडार, लहेरिया सराय और पटना।

वैराग्यसार (अपभ्रंश) — सुप्रभाचार्य कृत, संपादक प्रो० वेलणकर।

षड्भाषा चन्द्रिका (संस्कृत) — लक्ष्मीधर रचित, संपादक राव बहादुर कमला प्राण शंकर, बम्बई, १९१६ ई०।

सनत्कुमार चरित (अपभ्रंश) — संपादक डा० हरमन याकोबी, जर्मनी, १९२१ ई०।
साधनमाला — गायकवाड़ सिरीज़, संख्या ४१।
सामान्य भाषा विज्ञान (हिन्दी) — डा० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग, वि० सं० २००६।
सावयधम्म दोहा — देवसेन कृत, संपादक डा० हीरालाल जैन, वि० सं० १९२९।
साहित्यदर्पण (संस्कृत) — निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ई०।
सुपासणाह चरिउ (प्राकृत) — लक्ष्मणगणि कृत, संपादक श्री गोविन्ददास सेठ, काशी, १९१८ ई०।
संदेश रासक (अपभ्रंश) — संपादक श्री मुनि जिन विजय तथा श्री हरिवल्लभ भायाणी, बंबई, वि० सं० २००१।
संयम मंजरी (अपभ्रंश) — महेश्वरी सूरि कृत, संपादक श्री गुणे तथा श्री दलाल
स्वयंभू छन्द — प्रो. वेलणकर द्वारा संपादित।
हर्ष चरित (संस्कृत) — बाण कृत, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१८ ई०।
हिन्दी काव्यधारा (हिन्दी) — श्री राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९४५ ई०।
हिन्दी साहित्य की भूमिका (हिन्दी) — श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९४०।
हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास (हिन्दी) — डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ, वि०सं० २००५।
हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग (हिन्दी) — श्री नामवरसिंह, साहित्य भवन लिमिटेड इलाहाबाद, १९५२ ई०।
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास (हिन्दी) — श्री कामताप्रसाद जैन, काशी, १९४६ ई०।
हिन्दी भाषा का इतिहास (हिन्दी) — डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रयाग, १९४० ई०।
हिन्दी साहित्य (हिन्दी) — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, सन् १९५२ ई०।
हिन्दी साहित्य का आदिकाल (हिन्दी) — डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पटना सन् १९५२ ई०।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (हिन्दी) — डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९४८ ई०।
हिन्दी साहित्य का इतिहास (हिन्दी) — पं० रामचन्द्र शुक्ल, प्रयाग, वि० सं० १९९७।
हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (अंग्रेजी) — मैकडोनेल, १९२८ ई०।
हिस्ट्री आफ बंगाल, (अंग्रेजी) भाग १, — डा० रमेशचन्द्र मजुमदार।
हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, भाग १–२ — मौरिस विन्टरनिज़, (अंग्रेजी अनुवाद) कलकत्ता, १९३३ ई०।
हिस्ट्री आफ मिडीवल हिन्दू इंडिया (अंग्रेजी) भाग २ — श्री सी० बी० वैद्य पूना, १९२४ ई०।
वही भाग ३ — १९२६ ई०।
हिस्टोरिकल ग्रैमर आफ अपभ्रंश (अंग्रेजी) — डा० तगारे, पूना, १९४८ ई०।
हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण — डा० परशुराम वैद्य, पूना, १९२८ ई०।

पत्र-पत्रिकाएँ

अनेकान्त
इलाहाबाद युनिवर्सिटी स्टडीज़ भाग १
इंडियन एंटिक्वेरी
इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली
एनल्स आफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, भाग २३
ओरियन्टल जर्नल, कलकत्ता
कारनाटिक हिस्टोरिकल रिव्यू
गंगा पुरातत्त्वांक
जर्नल आफ दि डिपार्टमेंट आफ लैटर्स, कलकत्ता
जर्नल आफ दि रौयल एशियाटिक सोसायटी
जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, बाम्बे ब्रांच
जनल आफ दि युनिवर्सिटी आफ बाम्बे
जैन एंटिक्वेरी
जैन सिद्धान्त भास्कर
नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल, १९४२ ई०
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
प्रोसीडिंग्स ओरियंटल कान्फरेन्स
भारतीय विद्या
राजस्थान भारती
विशाल भारत

हमारे अन्य प्रकाशन

उपन्यास

विश्वास का बल	भगवतीप्रसाद बाजपेयी	५।।)
मल्ल-मल्लिका	यादवचन्द्र जैन	३।।)
चट्टानें	परदेशी	३)
रास्ते का मोड़	श्रीराम शर्मा 'राम'	५।।)
दिगम्बरी	सूर्यकुमार जोशी	(प्रेस में)

नाटक-एकांकी

सिद्धार्थ-बुद्ध	बनारसीदास करुणाकर	२)
सरजा-शिवाजी	गोपालचन्द्र देव	१।।)
जागीरदार	उदयसिंह भटनागर	२)
चन्द्रगुप्त मौर्य	डा० लक्ष्मण स्वरूप	१।।)
एकांकी	सं० डा० नगेन्द्र	२)
एकांकी-संगम	क्षेमचन्द्र 'सुमन'	१।।)
पाँच एकांकी	राजेश्वर गुरु	१।)
दस एकांकी	देवदत्त अटल	२)

रेखा-चित्र

वे	हर्षदेव मालवीय	।।)
पुराने	,,	।।)
मुरली बादशाह	,,	।।)
भुन खलीफ	,,	।।)
ढुलंगते इक्के, पके आम	,,	२।।)

भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली